विज्ञान हस्तामलक

चित्र १—इन्द्र-धनुष

जहां-कहीं जल-सीकर-राशि पर सामने से सूर्य्य-किरणें पड़ती हैं, वहीं इन्द्र-धनुष बन जाता है। आकाश में कभी-कभी इन्हीं कारणों से दीखता है। प्रत्येक सीकर, त्रिपार्श्व कांच की तरह, श्वेत किरण को सातों रंगों की किरणों में विभक्त कर देता है। सफेद किरण वस्तुतः असंख्य विविधि रंगों की किरणों से बनी हुई है।

[विज्ञान हस्तामलक, पृ० १७ के सामने] [सौर-परिवार से

विज्ञान हस्तामलक

अर्थात्

सीधी-सादी भाषा में रोचक क्रम से अठारह विज्ञानों की कहानी

लेखक

श्रीकाशी हिन्दू-विश्वविद्यालय और गुरुकुल-कांगड़ी के
भूतपूर्व रसायनाचार्य तथा "विज्ञान" के
प्रधान सम्पादक

रामदास गौड़, एम्० ए०

"विज्ञानं ब्रह्म"

—तै० उ०।३।५

प्रयाग

हिन्दुस्तानी एकेडमी

१९३६

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडमी, यू० पी०
इलाहाबाद

मूल्य दस रुपये

मुद्रक—भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव्य
कायस्थ पाठशाला प्रेस
इलाहाबाद

श्रीसीतारामाभ्यां नमः

प्रस्तावना

यस्यैवायोगयोगौहि कारणं बन्धमोक्षयोः
विज्ञानं तमहं वन्दे तपसा विद्यया धृतम्

विज्ञान एक ऐसा महासागर है जिसका वारपार नहीं है, जिसकी गहराई की थाह आज तक नहीं मिली। मोती की खोज में मरजीवे नित्य डुबकियां लगाते रहते हैं। पार की तलाश में कितने जहाज मारे-मारे फिरे। वह आज भी चक्कर में फँसे हुए हैं। इधर-उधर बरसों की यात्रा करके उनपर के सवार इसी किनारे लौट आते हैं। मरजीवों के साहस की हम सराहना करते हैं, उनके मोती के आब को देख अचरज करते हैं, गुणग्राहक उनका आदर करते हैं, परंतु सैर करनेवालों में यह हिम्मत कहां कि गहराई में जायँ और मोती लावें। वह तो माला की शोभा देखकर ही सुखी होते हैं। सागर के ऊपरी तल पर जहां-जहां चक्कर का भय नहीं है, जहां भयानक जलजंतु नहीं हैं वहां-वहां घूमकर सैर कर सकते हैं। दूर से ऐसे तमाशे भी देख सकते हैं जिनके पास न जाकर भी उनका कुछ आनंद मिल सकता है। यह पुस्तक पाठकों की इसी तरह की सैर के लिये बजरा-स्वरूप तैयार है।

हाथ में आँवला हो तो उलट-पलटकर जैसे-चाहे-वैसे उसके बाहर-बाहर का तल आदमी देख सकता है। उसी तरह इस पोथी से विज्ञान का ऊपरी विस्तार कुछ समझ में आ जाता है। कुछ थोड़ा-बहुत तह के भीतर का भी अनुमान हो जाता है। इसी लिये यह "विज्ञान हस्तामलक" है।

इस पोथी का यह दावा नहीं है कि इसके पढ़नेवाले को किसी विशेष विज्ञान का संपूर्ण ज्ञान हो जायगा, क्योंकि किसी एक शाखा का संपूर्ण ज्ञान तो उसे भी नहीं होता जो अपना जीवन उसके संपादन में निछावर कर देता है। इस पोथी से अवश्य ही अनेक विज्ञानों का इतना थोड़ा-थोड़ा ज्ञान हो जायगा कि पढ़नेवाले को यह समझ में आ जाय कि अब तक मनुष्य कहां तक उन्नति कर सका है और उसके ज्ञानवृक्ष की भिन्न-भिन्न शाखाएं किस तरह आपस में मिली-जुली हैं और किस तरह सब के मूल का मार्ग एक ही तना है जिससे सभी शाखाएं निकली हुई हैं। पाठक इस पोथी में विज्ञान के विविध अंगों को यथा-स्थान देखेंगे और उनके प्रायः पूरे शरीर का एक साथ दर्शन करेंगे। यह सुभीता उन्हें किसी विश्व-विद्यालय में नहीं मिल सकता।

विद्यालयों में पढ़नेवाले यदि इस पोथी को पढ़ेंगे तो उनकी विद्या-संबंधी संस्कृति का वर्त्तमान काल के अनुरूप विकास हो जायगा, संसार के संबंध में उनकी दृष्टि अधिक दूरगामी और विस्तृत हो जायगी। यह पोथी सांस्कृतिक शिक्षा के लिये अत्यंत उपयोगी होनी चाहिये। विज्ञान के विद्यार्थी भी जितना कुछ पढ़ते हैं, उसी में उनका ज्ञान सीमित रहता है। मुझे दृढ़ आशा है कि आनुषंगिक विज्ञानों के बोध की इच्छा वे इस पुस्तक द्वारा सहज में पूर्ण कर सकेंगे। जिन्होंने पन्द्रह-बीस बरस पहले वैज्ञानिक शिक्षा पायी है वह इधर के वैज्ञानिक विकास की जानकारी इस पुस्तक से प्राप्त कर के वर्त्तमान काल से सम्बन्ध जोड़ लेंगे।

विश्वविद्यालय की शिक्षा के दो उद्देश्य होते हैं। पहला यह कि थोड़ा-थोड़ा सभी विषयों को मनुष्य जाने, दूसरा यह कि किसी एक विषय को पूर्णतया जाने। यह पोथी पहले उद्देश्य को दृष्टि में रखकर लिखी गयी है।

इस पोथी में सृष्टि की वह कहानी है जो मनुष्य ने उसी की जबानी सुनी है। इसमें पहले तो यह बताया गया है कि सब विश्वों में हमारे विश्व की क्या स्थिति है, फिर उस विश्व में हमारी दुनिया की क्या हैसियत है। उसमें क्या-क्या है, उसमें की शक्ति के क्या-क्या रूप हैं और वह कैसे-कैसे काम करती है। उसमें वस्तु की क्या दशा है और उसके क्या-क्या रूप हैं, मनुष्य की परिस्थिति कैसी है, स्वयं मनुष्य क्या है, कैसा है, किस तरह की उसकी मनोवृत्ति है, वह किस तरह परिस्थिति के साथ विकास करता रहा है। वह अपनी परिस्थिति पर कितना काबू कर पाया है। उसने किस तरह जल, स्थल, और आकाश पर विजय पायी है और उसने पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश को कैसे अपने वश में कर लिया है। विकास के क्रम से जितनी बातें विज्ञान को अब तक पक्की तौर से मालूम हो चुकी हैं, उन्हीं को सिलसिलेवार रोचक और सुबोध रूप में इस पोथी में वर्णन करने की कोशिश की गयी है।

थोड़े में इस पुस्तक में निम्न-लिखित अठारह मुख्य विषयों की ऐसी चर्चा की गयी है कि पाठक को उन विषयों का स्थूल ज्ञान अवश्य हो जाय—

१ ज्यौतिष	१० सापेक्षवाद
२ भौतिक भूगोल	११ रसायन-शास्त्र
३ भूगर्भ-विज्ञान	१२ सागर-विज्ञान
४ जीव-विज्ञान	१३ अंतरिक्ष-विज्ञान
५ विकास-शास्त्र	१४ जीवाणु-विज्ञान
६ मानव-शरीर-विज्ञान	१५ वनस्पति-शास्त्र
७ मानोविज्ञान और मनोविश्लेषण	१६ शिपल-शास्त्र
८ मरणोत्तर-जीवन-विज्ञान	१७ स्वास्थ्य-विज्ञान
९ भौतिक विज्ञान	१८ विज्ञान-विधान

फिर भी इसमें गणित-विज्ञान, तर्क-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, इतिहास-शास्त्र, स्थित्यंक-शास्त्र आदि आवश्यक शास्त्रों का समावेश नहीं हो सका है।

ऐसी पुस्तक लिखने की मेरी बहुत काल से अभिलाषा थी। इसके प्रकाशन की व्यय-साध्यता ही मेरे मार्ग में भारी बाधा थी। मेरे कभी के शिष्य और अब योग्य मित्र डाक्टर ताराचन्द जी प्रेरणा के लिये कृतज्ञता के पात्र हैं और हिन्दुस्तानी अकेडेमी अपने इस साहस के लिये बधाई के योग्य है।

जहां तक मुझे मालूम है, इस ढंग की पुस्तक अभी तक किसी भारतीय भाषा में प्रकाशित नहीं हुई है।

अंग्रेजी में टामसन की "औटलैन आफ सायंस" और "हार्म्सवर्थ पाप्युलर सायंस" इसी तरह की अच्छी पुस्तकें हैं। विषय-क्रम निर्धारण में इन्हीं पुस्तकों का आदर्श रखा गया है। हिन्दी पाठकों के लिये विदेशी भाषा में होने से ये ग्रंथ दुर्गम और दुर्लभ हैं। प्रस्तुत पोथी ने हिन्दी में एक साथ अठारह विषयों को सुलभ कर दिया है। इन में से अनेक विषयों पर अलग-अलग पोथियां हिन्दी में भी छप चुकी हैं, परंतु एक तो उनका ढंग रोचक और सुबोध नहीं है, दूसरे उन से विज्ञान के अलग-अलग अंगों का दर्शन होता है। सब अंगों को यथास्थान जोड़कर विज्ञान-शरीर का पूरा ढांचा एक साथ दिखाने का किसी भारतीय भाषा में शायद यह पहला प्रयास है।

इस कार्य्य में मैंने अनेक ग्रंथों से सहायता पायी है। उन में से प्रमुख का स्थान-स्थान पर उल्लेख है। यहाँ विस्तार-भय से सब का नामोल्लेख न करके मैं संसार के सभी वैज्ञानिकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाश करता हूँ। विषय सभी औरों के हैं, शब्द-योजना मेरी है। फूल सभी विज्ञान-वाटिका के हैं, चुनाव मेरा है, और अपनी भाषा और भाव के सूत्र में उन्हें गुंफित करके सुविज्ञ पाठकों की भेंट करने की धृष्टता मेरी है।

इस पुस्तक में विषय को हृदयंगम कराने के लिये आवश्यक चित्र भी दिये गये हैं।

मैं सब से अधिक विज्ञान-परिषत् का कृतज्ञ हूँ जिससे इस ग्रंथ के लिये बहुत से चित्रों के ब्लाक मिले हैं। मंगलाप्रसाद-पारितोषिक विजेता मेरे प्रिय शिष्य मित्रवर डा० त्रिलोकीनाथजी वर्म्मा ने अपने अनुपम ग्रंथ "हमारे शरीर की रचना" से यथेष्ट चित्रों के लेने की सहर्ष अनुमति और कई अत्यंत उपयोगी परामर्श दिये इसके लिये मैं उनका परम कृतज्ञ हूँ। पंडित-प्रवर विद्याभूषण श्री दीनानाथ शास्त्री चुलैट का मैं चार नकशों के लिये आभारी हूँ। "सौर-परिवार" तो अकेडेमी परिवार की चीज़ है और मंगलाप्रसाद-पारितोषिक विजेता मित्रवर डा० गोरखप्रसाद जी एक कुटुंबी सदृश हैं। उनसे तो अपनापे के नाते मैं ने बहुत सारे चित्र ले लिये हैं। एतदर्थ मैं उनका कम कृतज्ञ नहीं हूँ।

विदेशी प्रकाशकों का भी मैं ऋणी हूं। एक चित्र के लिये मकमिलन का, दो चित्रों के लिये विलियम्स-ऐंड-नारगेट का, तीन चित्रों के लिये सीली-सर्विस कम्पनी का, और एक दर्जन से अधिक चित्रों के लिये ज्यार्ज-न्यून्स का भी मैं अनुगृहीत हूँ। ये परोक्ष चित्र प्रायः सभी अनुवर्त्तन में, कुछ परिवर्त्तन के साथ, चित्रकार द्वारा फिर से तैयार कराये गये और इस सम्बन्ध में सारा व्यय प्रकाशक ने किया। रेलवे इंजन के रंगीन चित्र के लिये, जब वह विज्ञान में छपनेवाला था, मेरे मित्र पं० ओंकारनाथ शर्म्मा ने रेलवे-बोर्ड से विशेष आज्ञा ले ली थी। उसके ब्लाक परिषत् की कृपा से मिले।

पाठक इस पुस्तकमें वर्त्तनी की असमानता एवं अनेक छापे की भूलें पावेंगे। उसके कारण कई हैं। अकेडेमी के अपने नियम इस सम्बन्ध में और हैं और मेरा अपना चालीस बरसों का अभ्यास उनसे नितान्त भिन्न है इस के अतिरिक्त विशेष प्रकार के टाइपों की अपर्य्याप्तता भी एक कठिनाई थी। इन सब बातों के सिवा मेरी आंखों की कमजोरी, निश्चित अवधि में छपवाने की उतावली, प्रूफ-संशोधन में सहायता का अभाव, और मेरी मानव-सुलभ सब तरह की दुर्बलताएं, भूलों के लिये जिम्मेदार हैं। यह सब होते हुए भी मैनेजर श्री श्यामसुन्दरजी श्रीवास्तव्य एवं उनके अधीन प्रेस के कर्म्मचारियों ने दिन और रात निरन्तर काम करके इस पुस्तक को अवधि के भीतर निकाल देने के लिये जो जीतोड़ परिश्रम किया है उसके लिये मैं कृतज्ञ हूं और रहूंगा। एक अपरिचित प्रेस से इस कोटि की सहकारिता की आशा न थी।

गणिताचार्य मित्रवर स्वर्गीय डा० गणेशप्रसाद साहब कई महत्त्व की सलाहों के लिये, भौतिकाचार्य मित्रवर प्रोफ़ेसर सालिगराम जी भार्गव, एम० एस-सी०, कई तरह की सहायता के लिये, भौतिकाचार्य मित्रवर प्रोफ़ेसर चंद्रीप्रसाद जी एम्०, ए०, बी० एस्-सी०, विद्युद्वाणी संबंधी कई ताजे नोटों के लिये, एवं परम मित्र और प्रिय शिष्य पंडित महावीरप्रसादजी श्रीवास्तव्य, बी० एस्-सी०, एल्० टी०, विशारद, आर्य्यभट की जीवनी के लिये, अत्यंत कृतज्ञता-पूर्वक स्मरणीय हैं।

अन्ये च बहवो विज्ञाः ज्ञानविज्ञानपारगाः।
पथप्रदर्शका ये स्युः तेभ्योऽपीह नमो नमः॥

बड़ी पियरी, बनारस शहर
कुशोत्पाटिनी ३०, १९९२

रामदास गौड़

विषयानुक्रमणिका

पहला खंड

विश्व-विज्ञान

दूसरा खंड

जीवन-विज्ञान

तीसरा खंड

जीव-विद्या और मानव-शरीर-विज्ञान

चौथा खंड

मनोविज्ञान

पांचवां खंड

शक्ति-विज्ञान और सूक्ष्म प्रकृति के रहस्य

छठा खंड
रसायन-विज्ञान

सातवां खंड

परिस्थिति-विज्ञान

आठवां खंड

परिस्थिति पर विजय

पहला खंड

विश्व-विज्ञान

चित्र २—मार्गशीर्ष मास की रात का दृश्य

[परिषत् की कृपा
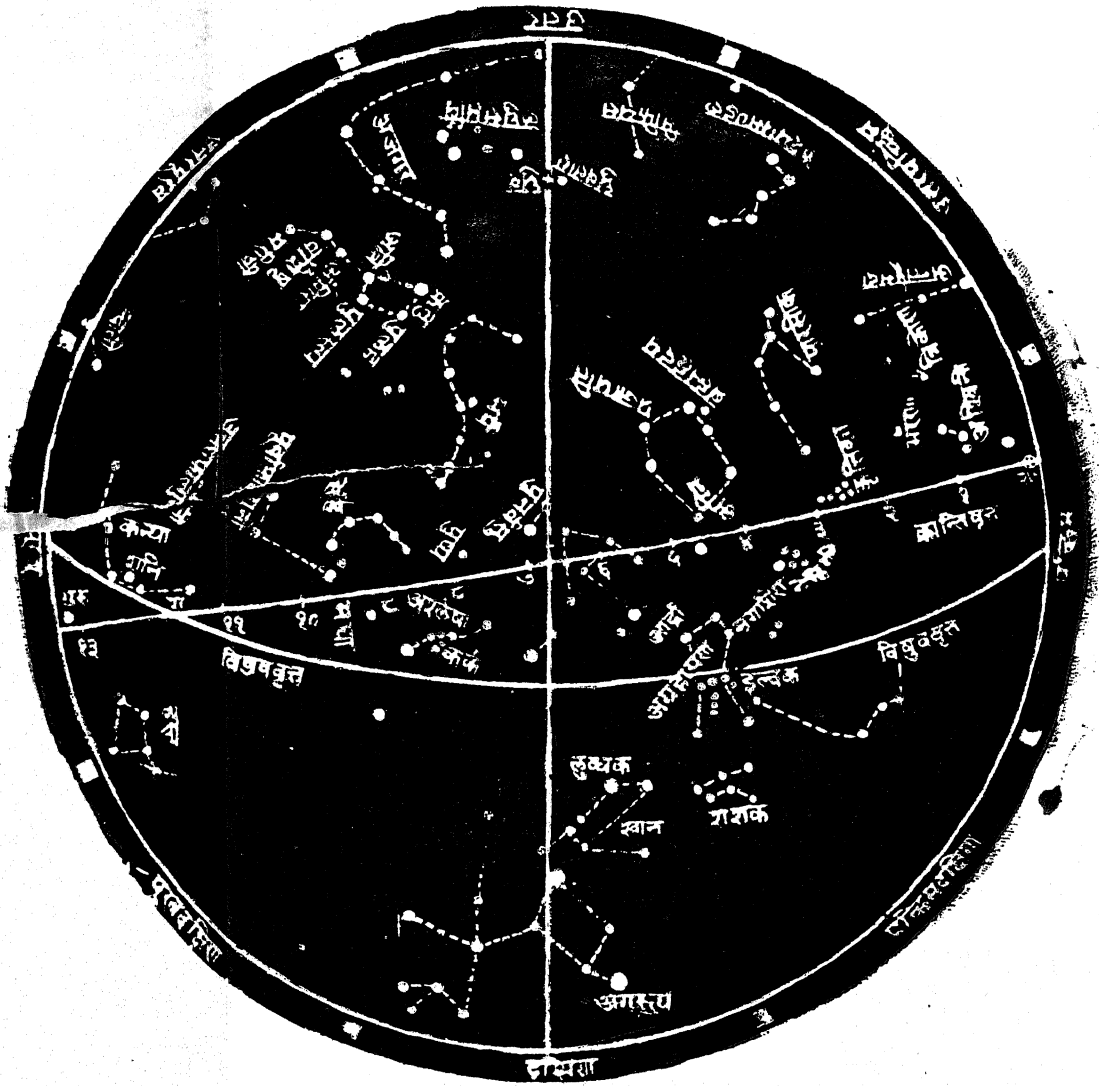
चित्र ३— फाल्गुन मास की रात का दृश्य

[परिषत् की कृपा

पहला अध्याय

विश्व-दर्शन

१–हमारी जानकारी

संसार-भर में सब से सुंदर, सब से अद्भुत और सब से बड़ा तमाशा हमारी आंखों के सामने होता रहता है, पर नित्य की बात होने से हम उस पर ध्यान कम देते हैं। उषा काल की अपूर्व शोभा, सूर्य का तड़के उदय होना, उस की मनोमोहक किरणों का दशों दिशाओं में छिटिकना, उस का तेजोमय रूप, तरणि की तरुणाई, फिर दिन का ढलना, सूर्य का अस्त होना, सायंकाल की विचित्र छबि, फिर चांद और तारों से सजी सजायी रात का आना और अपनी छटा दिखाना—यह सब नित्य का तमाशा है जो प्रकृति में हमारे सामने होता रहता है। तारों से जड़े हुए आकाश का परदा तो बराबर बदलता रहता है। घटाओं का छा जाना, बिजली का कौंदना, बादल की गरज, इन्द्रधनुष की छबि, उत्तरी दक्षिणी विद्युन्माला की आभाएं, वर्षा, कुहरा आदि नये-नये दृश्य बदलते रहते हैं। उस का तमाशा नित्य नये ढंग पर परंतु बड़े नियम और नाप से होता रहता है।

मनुष्य यह तमाशा अनादि काल से देखता आया है। उस ने काल का अनुमान और हिसाब इन्हीं परदों में होनेवाले फेर-फार से किया है। इसी लिये यह कोई अचरज की बात नहीं है कि उस ने इन तारों और चंद्रमा और सूर्य के बारे में भांति भांति की कल्पनाएं की हैं और तरह तरह के विचार पक्के किये हैं। अधिक विचार और विवेक वालों ने इन को समझने के लिये बारीक से बारीक हिसाब लगाये हैं। इन की जांच के लिये विविध यंत्र बनाये हैं। भारत में तो अत्यंत प्राचीनकाल से, और भारत के बाहर के देशों में भी बहुत काल से इस विषय की खोज होती आयी है। हिसाब करने के लिये भारत में अनेक मानमंदिर, यंत्रमंदिर, और वेधशालाएं बनीं। युरोप और अमेरिका में भी बड़े बड़े विशालकाय दूरबीन, दूरदर्शक यंत्र, लगाये गये, और इधर तो कई सौ बरसों से पच्छांह के देशों ने बड़ी उन्नति की और ज्यौतिष विद्या की खोजों में उस भारत

को भी पीछे छोड़ दिया जो पहले संसार में ज्यौतिष का सब से बड़ा जानने वाला गिना जाता था।

सब से पहला विज्ञान यही है। देश काल और वस्तु का ज्ञान इसी विद्या से आरंभ हुआ। मान और नपना ज्यौतिष ने ही आरंभ किया और इसी ज्यौतिष के आधार पर भारत में मनुष्य के वैदिक और लौकिक सारे काम अवलंबित हुए।

संसार के सभी सभ्य देशों के विद्वानों ने आकाश-मंडल को नित्य देखते हुए खगोल को नापने के उपाय किये। सारे खगोल को सत्ताईस नक्षत्रों में बांटा जिसमें महीने भर में चंद्रमा घूमता है और बारह राशियों में बांटा जिसमें साल भर में सूरज चक्कर लगाता है। ३६० अंशों में बांटा जिस के ३०-३० अंशों की एक-एक राशि हुई। राशियों और नक्षत्रों के रूपों की भी कल्पना देखने के सुभीते के लिये की। पाश्चात्यों और प्राच्यों की रूप-कल्पना में बहुत सादृश्य है, फिर भी भेद हैं। आज भी उन कल्पनाओं और नामों से काम लेते हैं। उदाहरण की भांति हम मेष राशि और श्रवण और धनिष्ठा नक्षत्रों के काल्पनिक चित्र देते हैं।
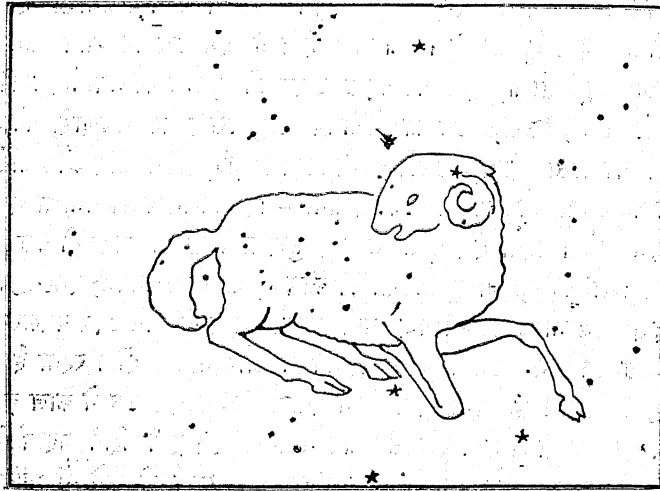
चित्र ४—मेष-राशि [विज्ञान-परिषत् की कृपा से

इन्हीं राशियों और नक्षत्रों में ग्रहों और उपग्रहों के प्रवेश और यात्रा से भारतीय पंचांग में दिन, तिथि, नक्षत्र, योग और करण की गणना हुई। अनादि काल से इस प्रकार की गणना चली आ रही है। संसार के सब से प्राचीन ग्रंथ वेदों में इनकी चर्चा है और ज्यौतिष विद्या वेद के छः अंगों में से एक प्रधान अंग समझी जाती है।

संसार के सभी पुराणों ने इसी विज्ञान के आधार पर सृष्टि और लय की भांति भांति की

कल्पनाएं की हैं। वह आज हमें चाहे कैसी ही लगें परंतु ये नित्य नियम वाले दृश्य हमारे लिये उतने ही अद्भुत हैं जितने कि करोड़ों बरस पहले हमारे पूर्वजों के लिये थे।

आज पच्छाहीं ज्यौतिष विज्ञान ने जितनी उन्नति कर रखी है उस से यह न समझना चाहिये कि वह विज्ञान की पराकाष्ठा को पहुँच चुका। बेशक, उस ने बहुत सी उलझनें सुलझायी हैं, परंतु अनेक समस्याएँ हैं जिनका हल होना बाकी है, और शायद उतनी ही या उस से भी अधिक उलझनें आज ऐसी हैं जो अछूती पड़ी हैं। सब से महत्व का प्रश्न उस के सामने यह है कि इस विश्व की रचना कैसे हुई है और यह कब तक बना रहेगा। जिस रूप में विश्व आज है क्या वही रूप बराबर बना रहेगा या बदलेगा, या इस में उस के विनाश के बीज मौजूद हैं, और कभी वह नष्ट भी हो जायगा, अथवा आज जिस रूप में हैं उससे धीरे धीरे अथवा कभी बड़े भयानक वेग से बदल कर बिलकुल भिन्न आकार प्रकार का हो जायगा? यह प्रश्न बड़े पुराने हैं और इनके उत्तर के लिये कल्पनाओं से आरंभ
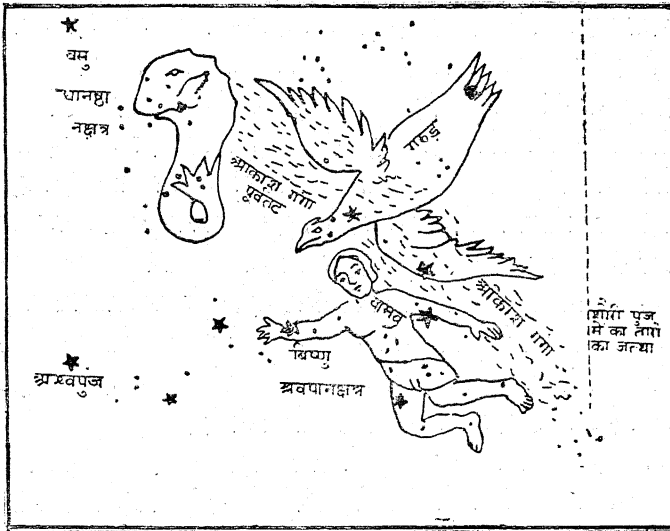
४—श्रवण और धनिष्ठा नक्षत्र [विज्ञान-परिषत की कृपा से

कर के आजकल के बारीक से बारीक प्रयोगों से काम लिया गया है। परंतु अब तक इन प्रश्नों का प्रामाणिक उत्तर नहीं मिल सका है। अभी तक जो कुछ मालूम हुआ है अधिकांश उन थोड़े से आकाश पिंडों के बारे में जाना गया है जिन से हमारा दूर या पास का ही कोई संबंध अवश्य है।

हम जिन वस्तुओं को जानते और समझते हैं उनका संबंध हम अपनी दुनियां से लगाते हैं। आकाश में हम दो तरह के पिंड मानते हैं। एक तो ग्रह हैं दूसरे तारे। हम

ग्रह उन पिंडों को कहते हैं जो बराबर सूरज के चारों ओर चक्कर लगाते रहते हैं। सूरज का अत्यंत बड़ा और भारी पिंड जिस मंडल का अधीश्वर है उस के सदस्य के रूप से जो पिंड ग्रहण किये जाते हैं उन्हें हम "ग्रह" कहें तो उचित ही है। सभी ग्रह सूर्य की परिक्रमा करते हैं। हमारी धरती भी ऐसा ही एक ग्रह है। जितने बड़े बड़े पिंड सूरज की परिक्रमा करते हैं और अब तक जाने गये हैं इस पृथ्वी को छोड़ कर आठ हैं। उनके नाम हैं बुध, शुक्र, मंगल, बृहस्पति, शनि, उरण, (इंद्र), वरुण और कुवेर। यह सब क्रम से सूर्य से अधिकाधिक दूरी पर हैं। इन में से बुध का दिखाई पड़ना अत्यंत कठिन है क्योंकि यह सूर्य-मंडल के बहुत पास है। इसी तरह वरुण और कुवेर का पिंड भी आंखों से नहीं दीखता क्योंकि ये सूर्य से सब से अधिक दूर है। उरण भी अदृश्य सा ही है। पृथ्वी ग्रह शुक्र की अपेक्षा सूर्य से अधिक दूर है और मंगल की अपेक्षा सूर्य के पास है। पृथ्वी के चारों ओर चंद्रमा परिक्रमा करता रहता है। पृथ्वी के एक ही चंद्रमा है परंतु और ग्रहों के कई कई हैं। बृहस्पति के चार चंद्रमा हैं, शनि के दस हैं, और मंगल के दो। जिन जिन ग्रहों के जो चंद्रमा हैं उन उन ग्रहों की परिक्रमा करते हैं। सूर्य, ये नव ग्रह, और इन ग्रहों के चंद्रमा यह सब पिंड एक ही कुटुंब के से हैं जिस का सब से बड़ा कर्त्ता धर्त्ता और मालिक सूर्य है। हमारी दुनियां का इन सब से आपस का घना संबंध है।

इतना घना संबंध होते हुए भी इनकी आपस की दूरी बहुत है। इनका चक्कर सूर्य्य के चारों ओर अंडाकार लगता है, इस से कभी यह सूर्य्य से कुछ अधिक दूर हो जाते हैं और कभी अधिक पास। सबसे पास का चक्कर लगाने वाला बुध है, सब से दूर का और बड़ा चक्कर लगाने वाला कुवेर ग्रह है। इस के चक्कर के एक ओर से अगर तोप से एक गोला चला दिया जाय तो दूसरी ओर तक सीधे पहुँचने में उसे सात सौ बरस से कम न लगेंगे। इतनी बड़ी दूरी के भीतर ही भीतर सूर्य्य और उसका सारा परिवार चक्कर काटता रहता है। परंतु यह दूरी भी इस विस्तीर्ण आकाश मंडल के भीतर बहुत नहीं है।

हमारी आंखों के सामने आकाश में अनगिनत तारे दीखते हैं। यह छोटे छोटे तारे कितनी कितनी दूरी पर हैं, इस बात की कल्पना भी कठिन है।

हमारे सूर्य्य-मंडल से सबसे समीप जो तारा जाना गया है मूल नक्षत्र का आल्फा-केंटारी है। वही तोप का गोला जो पांच सौ बरसों में वरुण के चक्र को आर-पार कर लेता, करोड़ों बरसों में कहीं आल्फाकेंटारी तक पहुँच सकेगा! मतलब यह कि सूर्य्य-परिवार का

*** भारतीय ज्यौतिषी उरण (इन्द्र) और वरुण इन दो ग्रहों को नहीं जानते थे। वह चंद्रमा के दोनों पातों को राहु और केतु नाम देकर दो ग्रह गिनते हैं। सूर्य्य और चंद्रमा को भी "ग्रह" मानते हैं। भारतीय ज्यौतिषी का ग्रह शब्द व्योमचारित्व से कोई संबंध नहीं रखता। यहाँ ग्रह शब्द इस लिए आया है कि फलित के विचार से दुनियाँ के प्राणियों की दशा को यह अपने अधिकार में रखते हैं, "ग्रहण" करते हैं। भिन्न अर्थों में एक ही शब्द के लिये जाने से भारतीय और पाश्चात्य ज्यौतिष में कोई विरोध नहीं है।**

मंडल बहुत बड़ा है, सही, पर उस के चारों ओर बहुत विशाल देश खाली पड़ा है। सब से पास का एक तारा ढाई नील मीलों की दूरी पर है। श्रवण नक्षत्र का प्रधान तारा

सौर ब्रह्मांड
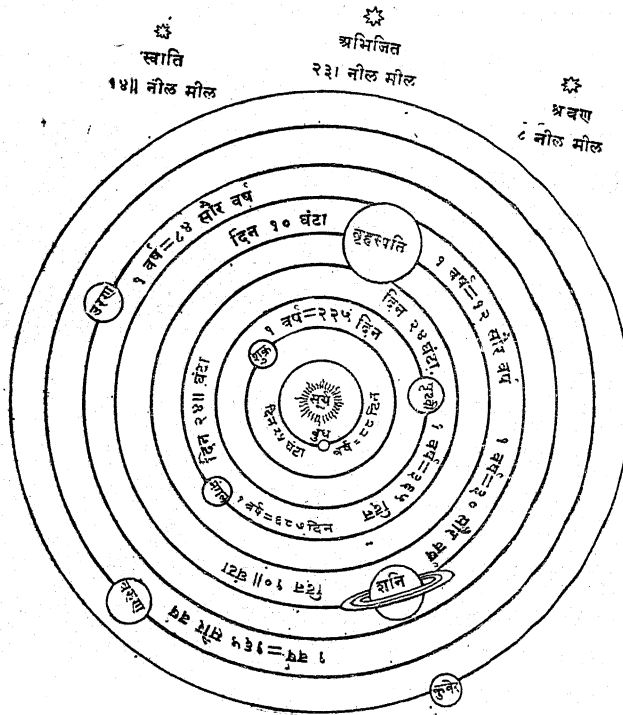
चित्र ६—[वास्तविक चक्र अंडाकार हैं। इन का स्केल के अनुसार बनाया जाना असंभव है]

८ नील १० खरब मील है। स्वाती लगभग १४॥ नील मील है। अभिजित सवा तेईस नील मील है। यह हम से निकट से निकट वाले तारे हैं। सूर्य्य मंडल से इन्हीं की दूरी अनंत सी लगती है। और तारों की दूरी की तो क्या कथा है। उनकी दूरी तो अंकगणित की बड़ी से बड़ी संख्या के बाहर है, कल्पना में आ नहीं सकती।

२—अनंत दूरी

फिर यह छोटे छोटे तारे जो नित्य टिमटिमाया करते हैं क्या हैं? यह वह बड़े बड़े पिंड हैं जो सूर्य्य से कहीं अधिक ज्योति और ताप रखते हैं और कई तो इतने बड़े हैं

कि उनके सामने हमारा सूर्य्य एक कण सा होगा। इनकी दूरी का तो हिसाब ही नहीं लग सकता। प्रकाश एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील चलता है। साठ सेकंडों का एक मिनट, साठ मिनटों का एक घंटा और २४ घंटों का एक दिन रात होता है। ३६५ दिनों का हम एक साल मानते हैं तो एक साल में प्रकाश साढ़े सत्ताइस खरब मील से भी अधिक दूरी तय करता है। आल्फाकेंटारी से प्रकाश के आने में नव बरस से अधिक लगते हैं। अनेक तारे आकाश में ऐसे हैं जिनका प्रकाश हमारी धरती पर लाखों करोड़ों बरसों में पहुँच पाता है। यह तो इतनी बड़ी दूरी हुई कि इस की दूरी मीलों में गिनायी नहीं जा सकती। इस लिये मीलों की गिनती की परिपाटी तारों के संबंध में उठ गयी है। अब कहने का ढंग यह है कि अमुक तारा हम से इतने प्रकाश-वर्षों की दूरी पर है। आल्फाकेंटारी हम से नौ प्रकाश वर्षों की दूरी पर है।

ऐसे विशाल आकाश देश में दूरी कल्पना के बाहर हो जाती है। इस दूरी के सामने काल भी कल्पना से बाहर चला जाता है। देश और काल के इस अनंत विस्तार में यह छोटे छोटे तारे आपस में कितनी दूरी पर हैं? इस प्रश्न का उत्तर भी सहज नहीं है। देखने में जो तारे एक दूसरे से सटे से जान पड़ते हैं उन में परस्पर की दूरी इतनी अधिक हो सकती है कि सूर्य्य और उसके पास के आल्फाकेंटारी की दूरी भी उसके सामने कुछ नहीं के बराबर हो सकती है। यह तारे बड़े भारी भारी सूर्य्य हैं। हमारा सूर्य्य भी वास्तव में एक छोटा सा तारा है। कहीं हम आल्फाकेंटारी पर चले जायं तो ग्रह तो देख न पड़ेंगे और हमें सूर्य्य भी दीखेगा तो आकाश गंगा में एक अत्यंत नन्हा सा मंद ज्योति का तारा दीखेगा।

यह बहुत संभव है कि धरती से जो नन्हें नन्हें तारे दीखते हैं वह केवल अत्यंत बड़े बड़े सूर्य्य ही नहीं बल्कि हमारे सूर्य्य की तरह उनके भी अनेक ग्रहों और उपग्रहों के परिवार हों जो दूरी के कारण हमें बिल्कुल नहीं दीखते और जिस तरह अंडाकार वृत्त में हमारे सूर्य्य के चारों ओर उसके ग्रह घूमते हैं, उसी तरह उन के चारों ओर भी उन के ग्रह चक्कर लगाते रहते हों। फिर, जैसी धरती हमारी है, और जिस तरह असंख्य और अनंत प्राणी इस धरती पर रहते हैं उसी तरह उनकी भी दुनियां हो। परंतु यह कोरी कल्पना है। निश्चय रूप से हमें इस संबंध में कोई ज्ञान अब तक नहीं हुआ है।

३—सृष्टि में हमारा पता ठिकाना। अनंत देश

दूरबीन के सहारे जब इन तारों को देखते हैं तो भी सिवाय कुछ अधिक तेज के इन का आकार बढ़ा हुआ नहीं दीखता, क्योंकि यह दूरबीन के लिये भी अत्यंत दूर हैं। दूरबीन के सहारे एक और तरह के पिंड भी दीखते हैं जो तारों की तरह विंदु के आकार के नहीं हैं। बल्कि फैले हुए ज्योति समूह की तरह लगते हैं। किसी किसी का आकार कुंडली का सा है जिसके चारों ओर असंख्य नन्हें नन्हें तारे भी दीखते हैं। इस समूह को नीहारिका
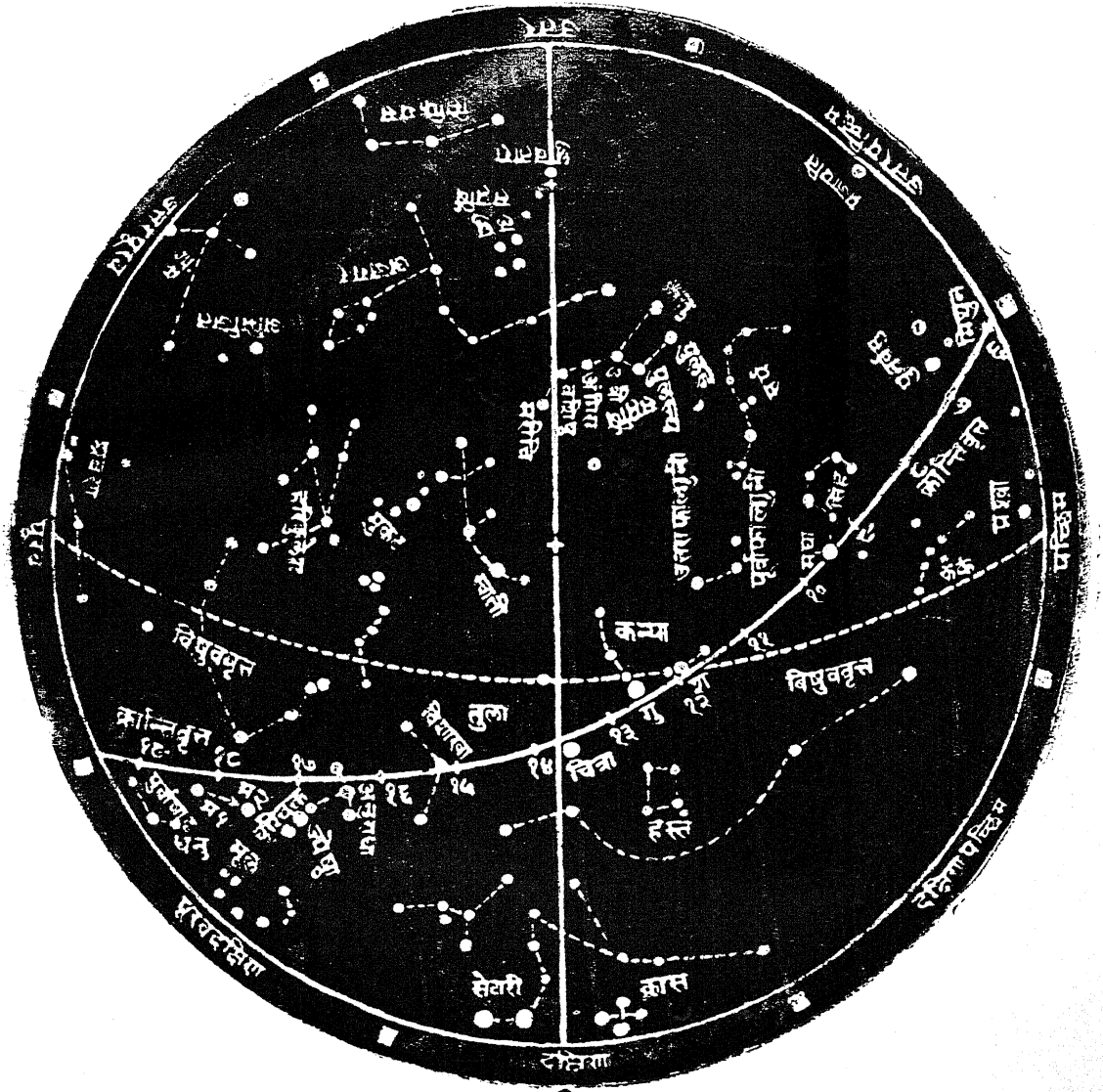
चित्र ७—ज्येष्ठ मास की रात का दृश्य

[परिषत् की कृपा

चित्र ८—आकाश-गंगा

हार्वर्ड-कालिज वेधशाला] [सौर-परिवार से
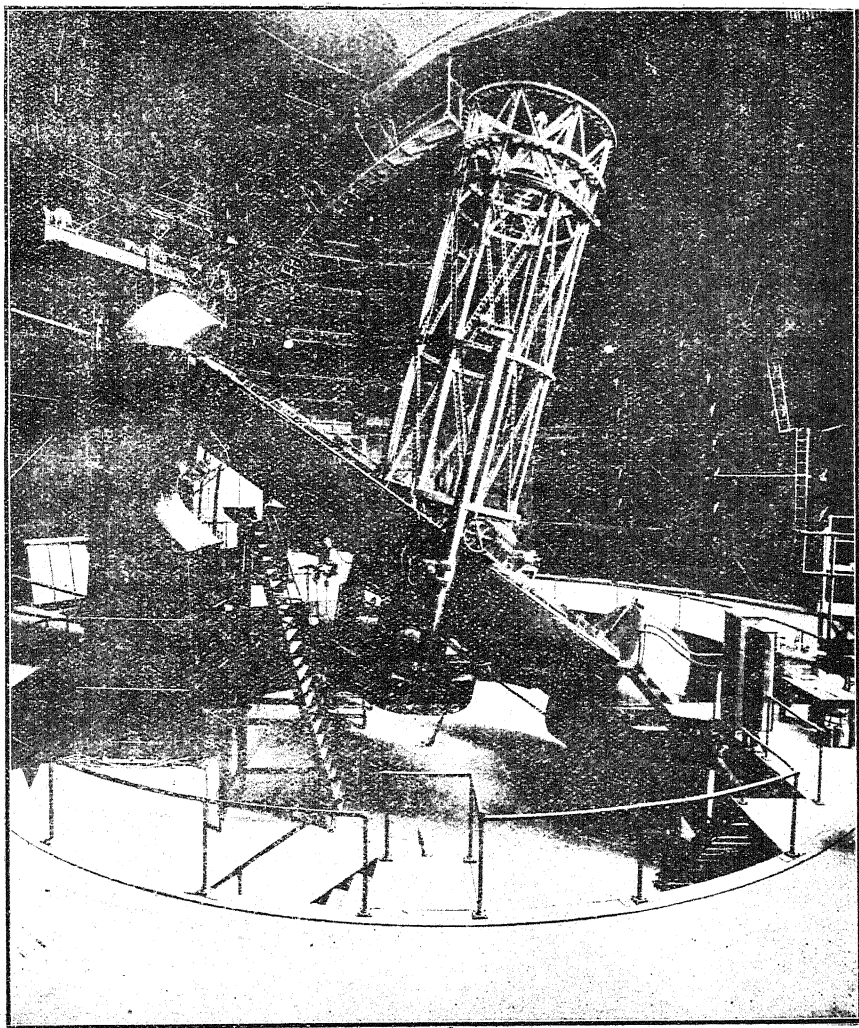
चित्र ६—संसार का सब से बड़ा दूर-दर्शक। इसका व्यास आठ फुट से भी अधिक है। मौंटविल्सन वेधशाला] [सौर-परिवार से

कहते हैं। इंद्रमाता तारा-समूह में ऐसी एक नीहारिका कभी-कभी नंगी आंखों से भी देख पड़ती है जो कुंडली के आकार की है। जिस उजले डहर को आकाश-गंगा कहते हैं वह भी एक विशाल नीहारिका ही है। रात को उत्तर से दक्खिन की ओर पसरी हुई तारों भरी दूध के रंग की पगडंडी दो हैं जो एक दूसरे से मिली हुई हैं और एक दूसरे के आमने-सामने जान पड़ती हैं। यह एक समय में एक ही दीखती है। जान पड़ता है कि हमारा सौर-मंडल इसी आकाश-गंगा वाली नीहारिका के बीच में कहीं स्थित है। उस के दोनों ओर आकाश-गंगा है। अनेक ज्योतिर्विज्ञानियों का अनुमान है कि यह आकाश-गंगा भी एक नीहारिका की कुंडली का अंश है जो हमें भीतर से देख पड़ता है। हम किसी कुंडली के भीतर घूमने वाले एक विंदु हों तो कुंडली का फेरा हम को दोनों ओर से उसी तरह घूमा हुआ दीखेगा जैसे आकाश-गंगा की दोनों धाराएं दीखती हैं। यह भी अनुमान किया जाता है कि इसी तरह की जो कुंडलियां हम को दूर-दूर कहीं-कहीं दीखती हैं, वह उसी तरह ताराओं और सूर्य-मंडलों का समूह हैं, जैसे हमारा आकाश-

चित्र १०—हमारी धरती और चंद्रमा की तुलना। [सौर-परिवार से
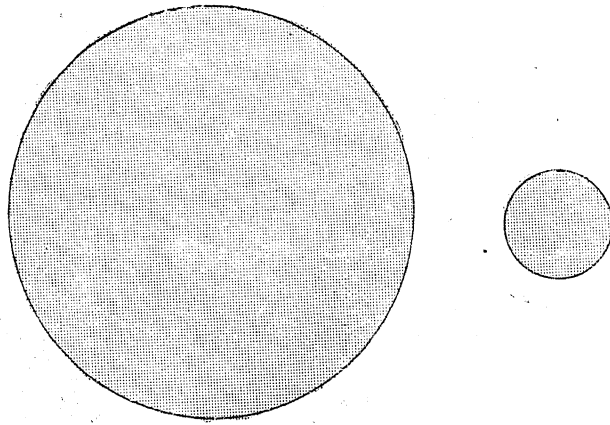
गंगावाला समूह। रात में जो तारा-मंडल हम सारी दिशाओं में बिखरा हुआ देखते हैं, वह सब आकाश-गंगावाली कुंडली के भीतर का है, और वास्तव में जैसे एक सूर्य-मंडल से दूसरे सूर्य-मंडल की दूरी कम से कम कई खरब मील की है, उसी तरह एक कुंडली से दूसरी कुंडली की दूरी तो अनंत देश है, जिन में एक से दूसरे तक प्रकाश के पहुँचने में भी असंख्य वा अनंत प्रकाश-वर्ष लगते हैं। हम अगर आकाश-गंगाओं से घिरे अनंत व्योम देश को अपना एक विश्व मानें तो अन्य नीहारिका-कुंडलियां अन्य विश्व मानी जा सकती हैं। इस तरह हम व्योम-मंडल में अनेक विश्वों का दर्शन कर लेते हैं। साधारणतया
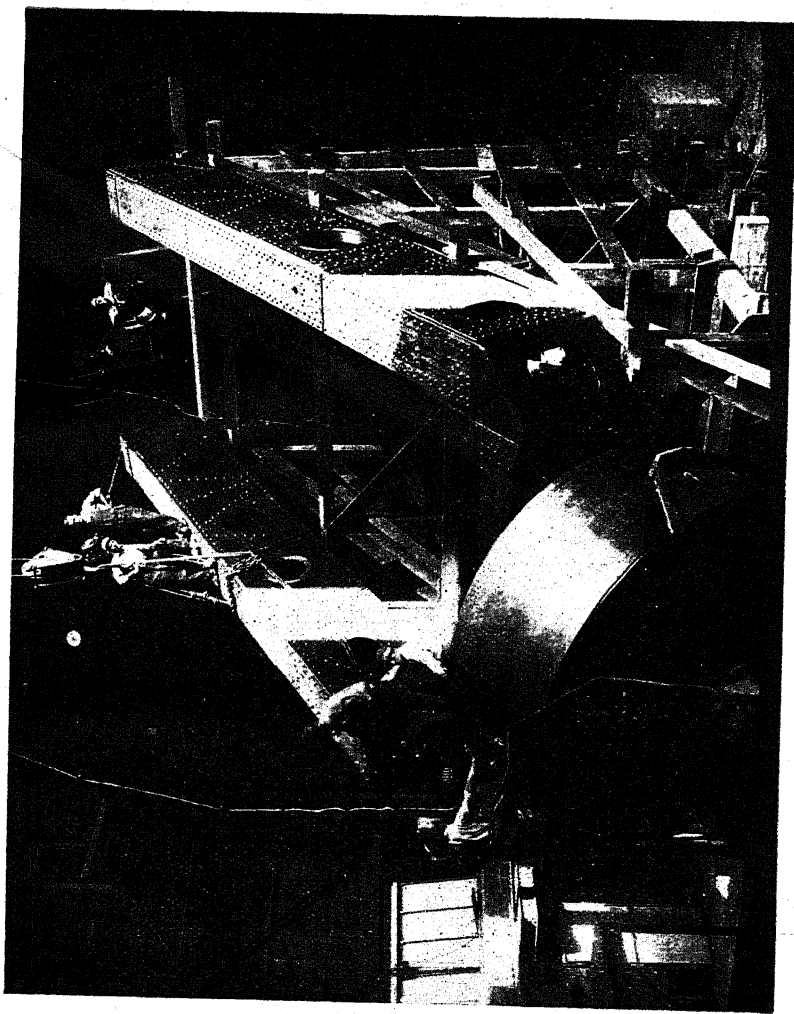
चित्र १० अ—संसार के सब से बड़े दूरदर्शक को धुरी स्थापित की जा रही है। इस बड़े भारी यंत्र की डील-डौल का अनुमान मनुष्यों के चित्र से किया जा सकता है। [सौर-परिवार से माउंट विल्सन वेधशाला]
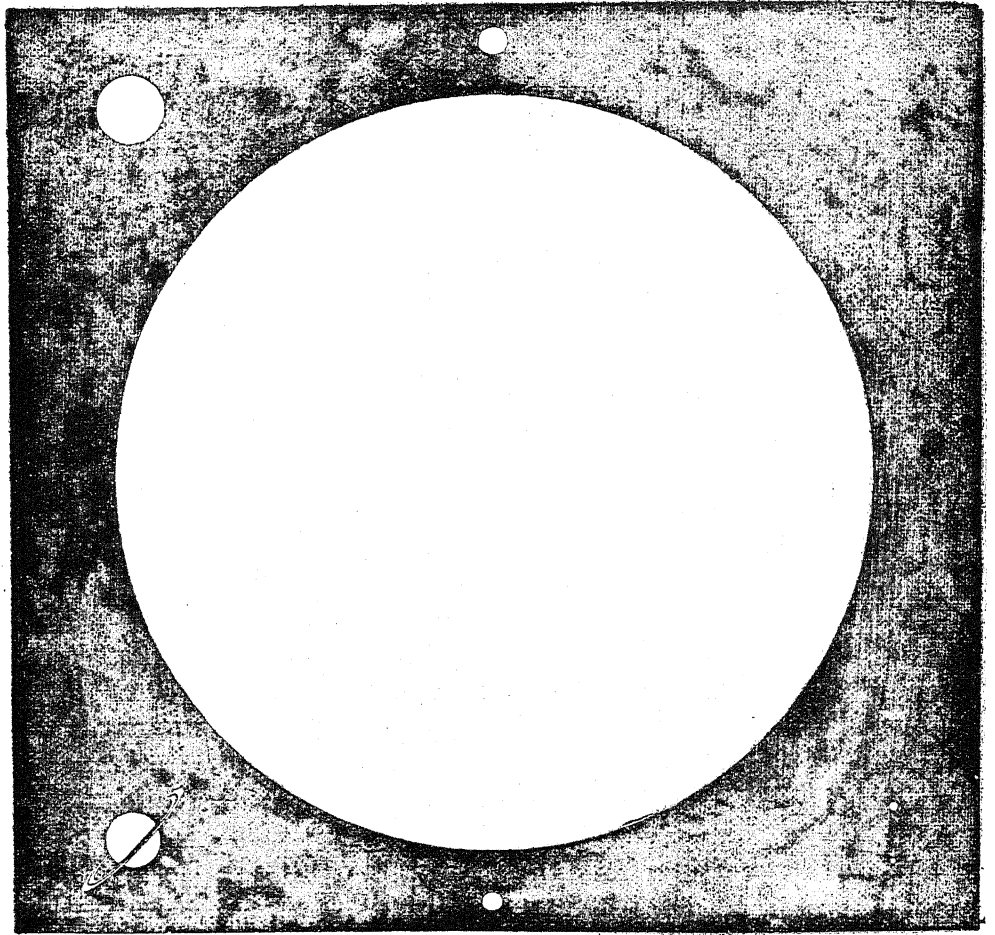
चित्र १३—ग्रहों की सापेक्ष छुटाई-बड़ाई। सूर्य बीच में है। ऊपरवाले दाहिने कोने में बृहस्पति और बायें में शनि हैं। इन से नीचे पृथ्वी और शुक्र हैं।

[सौर-परिवार से

देखने में नीहारिकाएं तो असंख्य नहीं जान पड़तीं, परंतु असल में अनंत नीहारिकाएं हैं, और दूरी के कारण नहीं देख पड़तीं या अब तक हम लोगों के पास उन के प्रकाश के पहुँचने की नौबत नहीं आयी। दूरबीन से देखने पर तारों की तरह नीहारिकाएं भी असंख्य जान पड़ती हैं।

इस तरह हम जिस तारों-भरे आकाश को स्वच्छ रात्रि में देखते हैं, वह वस्तुत: अनंत देश है। इस अनंत देश में अनंत विश्व हैं। इन्हीं विश्वों में से एक विश्व आकाश-गंगा नाम की नीहारिका से घिरा हुआ है। इस आकाश-गंगावाले विश्व में भी अनंत ब्रह्मांड हैं। हर एक ब्रह्मांड का नायक कोई सूर्य है। हमारा ब्रह्मांड उन सब में से एक है जिस का नायक विवस्वन् है। इसी ब्रह्मांड में हमारी यह धरती है जिसपर खड़े खड़े अनंत विश्वों और अनंत ब्रह्मांडों का हम तमाशा देख रहे हैं।

इस अनंत देश में, इन विश्वों के असंख्य समूह में, इन अनंत ब्रह्मांडों के बीच में हमारा ब्रह्मांड है जिस में नौ पिंड सूर्य के चारों ओर चक्कर लगा रहे हैं, जिस में से बुध से गिनते हुए हमारी धरती तीसरा पिंड है, जिसे हम अपनी दुनियां या जगत या संसार कहते हैं।

४—हमारी दुनियां। पृथ्वी का पिंड

साधारणतया जब आँधी नहीं चलती होती तब यह भू-मंडल हमारे लिये एक अत्यंत शांत जगत जान पड़ता है। रात को जब बादल नहीं होते और शुद्ध स्वच्छ आकाश दिखाई देता है उस समय रात-रात आकाश का तमाशा देखनेवाले के लिये एक अद्भुत बात सामने आती है। वह यह है कि धीरे-धीरे बड़ी निश्चित गति से यह अनंत विश्वाकाश पच्छिम की ओर बढ़ता जाता है और पूरब की ओर से परदे का नया नया हिस्सा आंखों के सामने आता जाता है। आकाश की इस गति को मनुष्य अनादि काल से देखता आया है। यह गति ऐसी नियमित है कि इसी के आधार पर मनुष्य ने काल का हिसाब लगाया और इसी निरीक्षण के बल पर संसार में ज्यौतिष-शास्त्र का आरंभ हुआ। पच्छिम के पुराने लोगों ने भी समझा था कि आकाश घूमता है परंतु भारत के प्राचीन और युरोप के पीछे के ज्योतिर्विदों ने इस संबंध में जो अनुमान किया वह आज-कल के ज्यौतिष-शास्त्र की सब से पहली खोज है। वह यह है कि सारा विश्व-मंडल जो पूरब से पच्छिम की तरफ़ निरंतर घूमता हुआ दिखाई पड़ता है, उस का कारण यह है कि हमारी धरती अपने धुरे पर बराबर पच्छिम से पूरब की ओर घूमा करती है[१]। सूर्य और

---

[१] हिंदू ज्यौतिषी आर्यभट्ट ने, जो विक्रम की छठी शताब्दी में हुआ था, अपने ग्रंथ 'आर्यभटीय' में पृथ्वी की अपने धुरे पर दैनिक गति पच्छिम से पूरब की ओर मानी है। हाल की खोजों से यह भी पता चला है कि तीन लाख बरस पहले वैदिक ऋषियों ने यह देख कर कि नक्षत्रों की पारस्परिक स्थिति अनंतकाल तक एक सी बनी रहती है और

दूसरे तारे पृथ्वी की परिक्रमा नहीं कर रहे हैं। पृथ्वी ही चौबीस घंटे में बड़े वेग से अपने धुरे पर एक बार घूम जाती है। इस विचार-परिवर्तन से हिसाब में अंतर नहीं पड़ता, क्योंकि यह समझ का ही फेर है। सापेक्ष गति में परिवर्त्तन नहीं है।

धरती की इस चाल के सिवाय सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाली चाल भी है। पृथ्वी एक मिनट में एक हज़ार मील के ऊपर के वेग से सूर्य के चारों ओर घूमती है। साल भर में यह चक्कर अट्ठावन करोड़ मील के लगभग होता है। पृथ्वी से सूर्य का पिंड तीन लाख तैंतीस हज़ार गुना अधिक भारी है। इस लिये पृथ्वी के पिंड पर सूर्य के पिंड का बहुत भारी खिंचाव पड़ता है। इसी से पृथ्वी बराबर तीन सौ पैंसठ दिन के चक्कर लगाती रहती है। पृथ्वी की गति में बाहर फेंके जाने की बड़ी भारी प्रवृत्ति है। एक क्षण के लिये भी सूर्य अपना खिंचाव बंद कर दे तो पृथ्वी सीधी रेखा में आकाश के अनंत देश में सीधे उड़ती चली जाय। सूर्य के खिंचाव और पृथ्वी के भागने की प्रवृत्ति दोनों के बीच ऐसी समान गति स्थापित है कि पृथ्वी एक विशेष वृत्त में निरंतर घूमती रहती है। इसी तरह और आठों ग्रह भी घूमते रहते हैं।

जैसे पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है, वैसे ही चंद्रमा पृथ्वी की परिक्रमा करता रहता है। कभी कभी इसी परिक्रमा में सूर्य और पृथ्वी के बीच में चंद्रमा आ पड़ता है। इस से सूर्य की किरणें रुक जाती हैं और 'सूर्य-ग्रहण' लग जाता है। जैसे सूर्य की रोशनी धरती पर पड़ती है उसी तरह चंद्रमा पर भी धूप पड़ती है। इसी धूप को हम चंद्रमा की रोशनी समझते हैं। जब कभी चंद्रमा और सूर्य के बीच में पृथ्वी पड़ जाती है अर्थात् चंद्रमा पृथ्वी की छाया के भीतर आ जाता है तभी 'चंद्र-ग्रहण' लग जाता है। उसी तरह जब धरती और सूर्य के बीच चंद्रमा आ जाता है तो 'सूर्य-ग्रहण' लग जाता है।

चित्र १४—ग्रहों की सापेक्ष दूरी
[सौर-परिवार से

सूर्य, चंद्रादि ग्रहों की स्थिति निश्चित समयों पर बदला करती है, आकाश के दृश्यार्ध को आजकल की घड़ी के चेहरे की तरह अचल और सूर्य चंद्रादि को घंटे और मिनिट की सूइयों की तरह चल मान कर "सुपर्णचिति" नामक शाश्वत पंचांग की रचना की। देखिये, पं० दीनानाथ शास्त्री चुलैट-रचित "वेदकाल-निर्णय", पृ० ७६-६१ (हिंदी-साहित्य-समिति, इंदौर, सं० १६८७)।

सूर्य का पिंड इतना विशाल है कि नवो ग्रहों को और उपग्रहों को इकट्ठा कर लिया जाय तो भी सूर्य के पिंड की बराबरी को सब मिल कर नहीं पहुँच सकते। यह ग्रह इतने
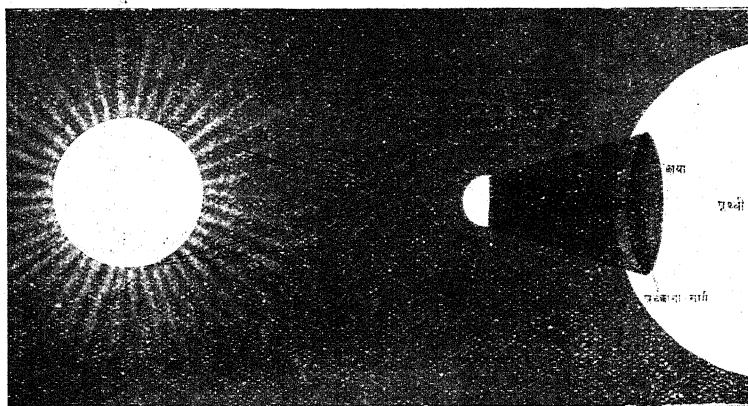
चित्र १४—चंद्रमा की प्रच्छाया और उपच्छाया [सौर-परिवार से

छोटे हैं तोभी इन का महत्व बहुत है क्योंकि हमारी दुनिया से इन से बहुत कुछ मेल है और शायद हमारा-सा जीवन इन पिंडों में भी पाया जा सके।

५—दूरी नापने की विधि

पृथ्वी से सूर्य की औसत दूरी सवा नौ करोड़ मील के लगभग है। इस का यह मतलब है कि आज से छः महीने में पृथ्वी साढ़े अट्ठारह करोड़ मील की दूरी पर चली जायगी। अब यदि हम आकाश के किसी भाग की फ़ोटो आज लें और फिर छ महीने बाद उसी भाग की फ़ोटो लें तो हम साढ़े अट्ठारह करोड़ मील दूर के दो बिंदुओं से तारों की स्थिति देखते हैं। इस तरह निरीक्षण करके देखा जाता है तो जो तारे हम से बहुत निकट हैं वह कुछ तनिक-सा खसके हुए दीखते हैं। इसी खसकने के द्वारा सब से पासवाले तारों की दूरी नापी गयी है। अभी हाल में एक तारे का पता लगा है जो साढ़े बाईस नील मील की दूरी पर है। अब तक कुल तीस तारे ऐसे देखे गये हैं जो एक पद्म मील की दूरी के भीतर-भीतर के हैं।

इस प्रकार नापने से भी बहुत काम नहीं चलता। पांच पद्म मीलों की दूरी के भीतर-भीतर दो चार सौ तारों से अधिक नहीं हो सकते। इतनी दूरी का हिसाब करना बहुत मुश्किल है क्योंकि खसकने की मात्रा इतनी कम है कि निश्चित अंक नहीं मिलते। इस लिये ज्योतिषी को दूसरा उपाय करना पड़ता है। वह तारों की भिन्न-भिन्न प्रकार से जांच करता है और उन की ज्योति की कमी और बेशी से थोड़ा बहुत अटकल कर लेता है

कि कौन तारा कितनी दूर होगा। उस के पास ज्योति को नापने के लिये यंत्र है। इस क्षेत्र में बीस बरस तक काम करने के बाद अब यह मालूम हो गया है कि आकाश-गंगा के रहने वाले तारे सूर्य से कम से कम दस संख मील की दूरी पर हैं।
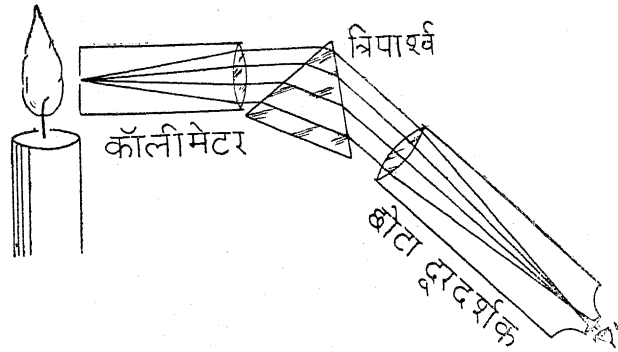
चित्र १६—रश्मि-विश्लेषक यंत्र की बनावट। **[सौर-परिवार से**

आकाश-गंगावाले विश्व में हमारा सूर्य बीचो-बीच के लगभग है। अगर ठीक बीच में नहीं है तो ठीक केंद्र से दस बीस पद्म मीलों से ज़्यादा दूरी पर न होगा। बाक़ी जितने तारे हैं हमारे सूर्य-मंडल से बाहर विश्व में चारों ओर फैले हुए हैं। इन का फैलाव इतना विशाल है कि एक सिरे से दूसरे सिरे तक चलने में प्रकाश की एक किरण को पचास हज़ार बरस से कम नहीं लगेंगे। हमारे विश्व का विस्तार इतना समझना चाहिये।

६—पिंडों की जांच के लिये यंत्र

हमने अपनी धरती से सूर्य का संबंध समझा और सूर्य से अपने विश्व का संबंध समझने की कोशिश की। अब यह देखना है कि सूर्य की तथा उस के परिवार वालों की क्या दशा है, आपस में कैसा संबंध है? कहां कैसा जीवन है या हो सकता है? प्रत्येक का जीवन कितना है?

सूर्य और तारों में हर तरह की अवस्था के पिंड हैं। ग्रहों में भी यही तारतम्य है। इन बातों को बारीकी से जानने के लिये ज्यौतिषी रश्मि-मापक यंत्र से काम लेता है। इस यंत्र में एक तिपहला कांच लगा रहता है।

लोगों ने देखा होगा कि तिपहले कांच से [देखो चित्र १६] जब सूर्य की रोशनी निकलती है तो इंद्र-धनुष के सात रंगों में बँट जाती है। सूरज की किरणों में यही सात रंगों की किरणें हैं। इंद्र-धनुष ही क्या है? [देखो मुख-पृष्ठ का रंगीन चित्र] जब सूरज के सामने की दिशा में कहीं बारीक बूंदें पड़ती रहती हैं और सूरज की रोशनी सामने से आती है तो पानी की हर बूंद तिपहले कांच का काम करती हैं और हर किरण को

इन्हीं सात रंगों में बांट देती है। किरणें गोलाकार पिंड से आती हैं इस लिये आकाश में धनुष का आकार दिखाई पड़ता है। चंद्र-मंडल भी इसी तरह बनता है। एक ओर रश्मि रेखाओं को समानांतर करने वाली नलिका (कालिमेटर) लगा देते हैं और दूसरी ओर किरण-मापक यंत्र में एक तिपहला कांच लगा कर उस के सामने एक छोटी दूरबीन लगा देते हैं। समरश्मिकनलिका (कालिमेटर) के लंबे धज्जीनुमा छिद्र या शिगाफ के सामने तेज़ जलती हुई दशा में कोई गैस रक्खी जाय या दीपशिखा रहे तो यंत्र के भीतर किरणों का चित्र आता है। उसमें भिन्न-भिन्न रंगों के पट पर कम या अधिक
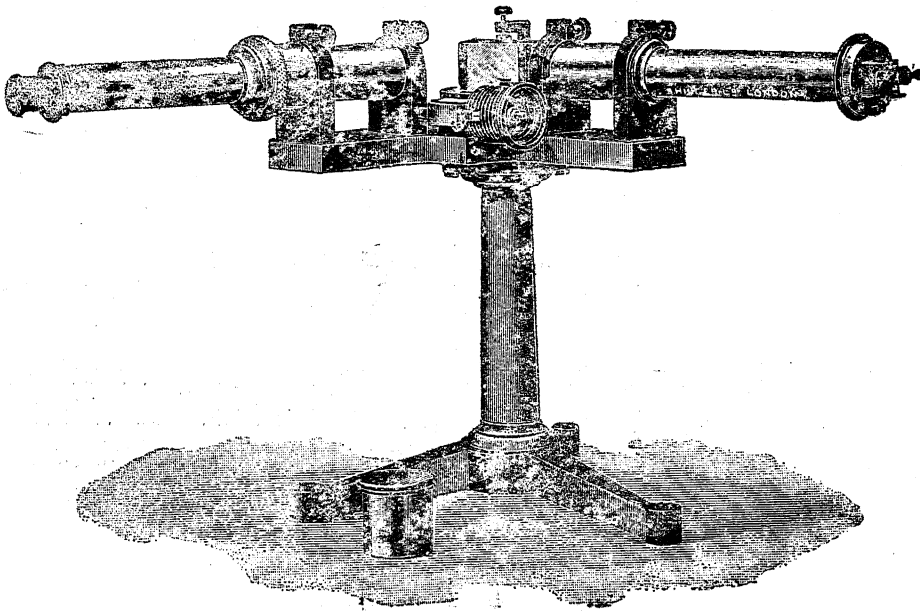
चित्र १७—रश्मि-विश्लेषक यंत्र [सौर-परिवार से

दूरी पर विशेष चमकीली रेखाएं देख पड़ती हैं। हर धातु की रेखाएं विशेष रंग की और विशेष स्थानों में पायी जाती हैं। जितने मौलिक पदार्थ इस विश्व में हैं उन में से हर एक की रेखाएं अलग-अलग रंग की और किरणों के पट पर अलग-अलग सदा अपने विशेष स्थानों पर ही दिखाई पड़ती हैं। जब एक तेज जलती हुई शिखा की किरणें उसी पदार्थ की ठंडी दशा में से होकर निकलती हैं तो किरण-पट पर रंगीन और चमकीली रेखाओं के बदले काली रेखाएं देख पड़ती हैं। इस यंत्र में जब सूर्य की किरणों की जांच की जाती है तो पता लगता है कि जितने पदार्थ हमारे धरती पर हैं सब अत्यंत उत्तप्त और मूल-पदार्थ के रूप में सूर्य के पिंड में भी मौजूद हैं। जब सूर्य का सर्वग्रहण लगता है और हम इस यंत्र के सहारे देखते हैं तो हमें सूर्य के बिंब से ऊपर उठती हुई लाल-लाल शिखाएं देख

पड़ती हैं। रश्मि-यंत्र हम को यह बताता है कि यह उज्ज्वल वायु की शिखाएं हैं जो खटिकम की वायु से मिल कर लाल-लाल बन कर सूर्य के पिंड से बहुत ऊंचे कभी-कभी पांच-पांच लाख मील तक उठती हैं। यद्यपि सूर्य का पिंड हमसे नौ करोड़ मील से ज़्यादा दूर है तो भी इस यंत्र के सहारे हम यह जान लेते हैं कि सूर्य का पिंड किन-किन पदार्थों से मिल कर बना है। आकाश में जितने पिंड प्रकाश देते हैं वह सब किन-किन मसालों को मिला कर
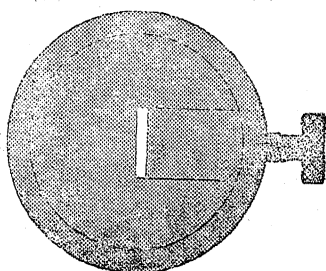
चित्र १८—शिगाफ जो रश्मि-विश्लेषक यंत्र में प्रकाश देने वाली वस्तु के सामने पड़ता है **[सौर-परिवार से**

बनाये गये हैं, यह बात इस यंत्र से मालूम होती है। दूरबीन से हम दूरी नाप सकते हैं, बहुतों की चाल की कुछ अटकल कर सकते हैं। परंतु यह नहीं जान सकते कि ये पिंड किन-किन चीज़ों के बने हुए हैं। किरण-मापक यंत्र से तो उन तारों के बारे में भी हम यह पता लगा सकते हैं कि वह पिंड किन वस्तुओं के बने हुए हैं जिनकी दूरी और चाल का पता दूरबीन आदि किसी और साधन से नहीं लगता।

७—सृष्टि और लय

ज्यौतिषियों ने यह भी अनुमान किया है कि यह सारा विश्व जो आकाश-गंगा के अंतर्गत है कभी किसी अत्यंत सुदूर और अनंत काल में बना होगा। सृष्टि-रचना के संबंध में उन के अनुमान अद्भुत हैं और वह अनुमान भी दिखी हुई घटनाओं के आधार पर हैं। उन्हों ने कभी-कभी किसी नये तारे का जन्म भी देखा है। ज्यौतिषी लोग अक्सर नये तारे के देखे जाने की सूचना छपवाया करते हैं। आकाश-मंडल में संवत् १९८० में एकाएकी एक तारा निकल पड़ते देखा गया। वह नित्य-नित्य चमक में बढ़ने लगा और थोड़े ही दिनों में सैकड़ों गुना ज़्यादा तेज़ हो गया। यंत्रों के द्वारा जांचते और नापते हैं तो पता लगता है कि इस की रोशनी जो आज हमारे पास पहुँची है तीन सौ बरस पहिले उस तारे के पिंड से चल चुकी थी। जब हम यह सोचते हैं कि रोशनी एक सेकंड में एक लाख छियासी हज़ार मील के वेग से चलती है तो उस तारे की दूरी कितनी अनंत होगी
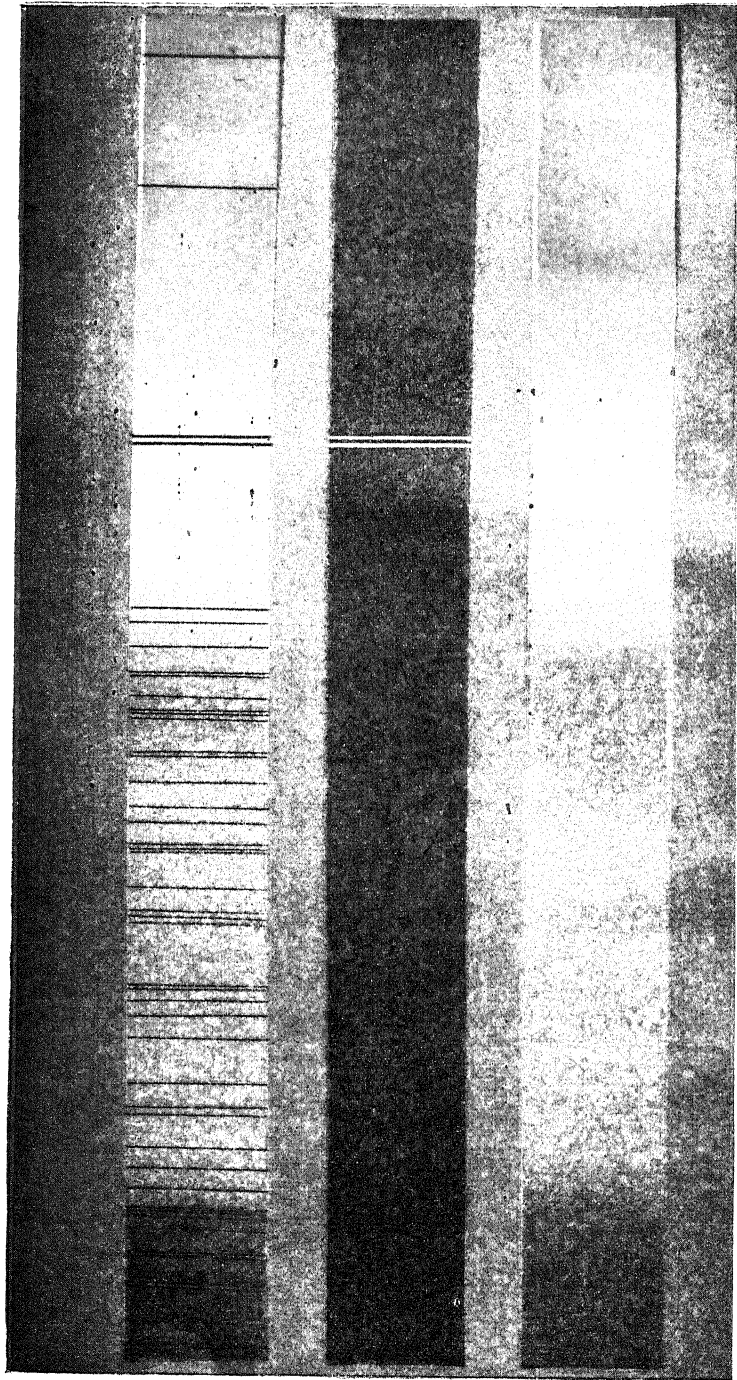
चित्र १६—रश्मि-चित्र

नीचे मोम बत्ती के प्रकाश का रश्मि चित्र है, बीच में सोडियम प्रकाश का, और ऊपर सौर प्रकाश का। जहां सोडियम रश्मि चित्र में दो चमकदार पीली रेखाएं हैं, ठीक वहीं सौर रश्मि-चित्र में दो काली रेखाएं हैं। इससे सूर्य्य में सोडियम का होना सिद्ध है।

[विज्ञान हस्तामलक पृ० ३९ के सामने]

[सौर-परिवार से

जहां से रोशनी को चल कर वहां पहुँचने में तीन सौ बरस लगते हैं* । पर इस से भी अधिक अचरज की बात यह है कि हम अपनी जगह पर बैठे-बैठे तीन सौ बरस पहले हो चुकी
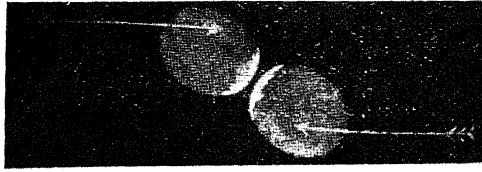
चित्र २०—दो तारे चलते-चलते पास पहुंचे और खिंचाव से

घटनाएं आज प्रत्यक्ष देख रहे हैं, पर और भी अधिक कुतूहल की बात यह है कि हम असल में एक नये सूर्य की सृष्टि देख रहे हैं। हमारे अनंत विश्व के किसी भाग में कोई शिथिल
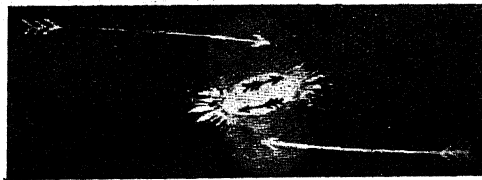
चित्र २० क—दोनों लड़ गये [सौर-परिवार से

मरा हुआ ज्योतिहीन और शक्तिहीन पिंड था, जिसने किसी और ऐसे ही पिंड से अनंत देश की अंधी यात्रा में टक्कर खायी और दोनों के घिस-पिस जाने से एक प्रज्वलित और
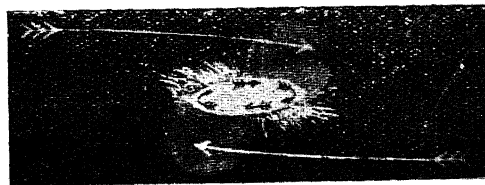
चित्र २० ख—तीसरा पिंड बनने लगा [सौर-परिवार से

सजीव सूर्य उत्पन्न हो गया। जिस व्योमदेश में यह घटना हुई होगी उस में अरबों मील के चौगिर्दे में महा भयानक शब्द हुआ होगा और वह प्रचंड प्रकाश हुआ होगा कि सूर्यों की

---

* हिसाब से इस तारे की दूरी हमारी धरती से लगभग तिरासी नील मीलों के होती है।

आंखें चौंधिया गयी होंगी और वह भीषण ताप निकला होगा जिस में पास के अनेक ग्रह और तारे पिघल कर और खौल कर हवा हो गये होंगे। कई दिनों में उस की रोशनी जो बढ़ती
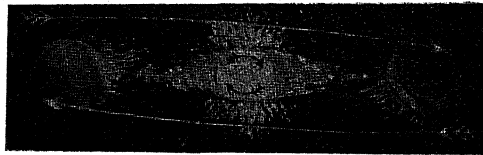
चित्र २० ग—तीसरा पिंड अलग हो गया [सौर-परिवार से

[चित्र २०, २० क, २० ख, २० ग सौर-परिवार में ए० डबल्यू० विकरटन की पुस्तक "बर्थ अफ़ वर्ल्ड्स ऐंड सिस्टम्स" से लिये गये हैं]

गयी वह उसी भारी घटना का पता दे रही थी, और हमारे लिये जो एक मामूली सी बात थी, वही तीन सौ बरस पहिले हो चुकी किसी ब्रह्मांड की सृष्टि थी।

ज्योतिषियों का अनुमान है कि जो अत्यंत सूक्ष्म ज्योतिर्मय पदार्थ नीहारिकाओं (नेब्युली) के भीतर देख पड़ता है उसी से नीहारिकाओं का आरंभ होता है। [देखो नीहारिकाओं के चित्र] यह ज्योतिर्मय पदार्थ अनंत देश में बहुत दूर-दूर तक पसरा और फैला हुआ रहता है। किसी अज्ञात कारण से इस अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ के भीतर आंदोलन पैदा होता है, और बड़े बेग से यह पदार्थ चक्कर खाने लगता है और घना होने लगता है। यह भयानक चक्कर जो अनंत देश में फैल जाता है अंत में कुंडली का आकार ग्रहण करता है। इस आकार के ग्रहण करने में जितना समय लगता होगा उस के लिये हम महाशंख महाकल्प की इकाई मान कर भी कहना चाहें तो गिनती द्वारा बता नहीं सकते। इस कुंडली का बनना विश्व का बनना हुआ। इस विश्व के भीतर अनगिनती सूर्य-मंडलों की रचनाएं, उन का विकास और उन का महाप्रलय होता रहता है। विश्व बना रहता है और यह सूर्यमंडल बनते बिगड़ते हैं। इस विश्व का महाप्रलय कब और कैसे होता है, इसका पता नहीं है।*

---

* **पच्छाहीं सृष्टि-पुराण में लिखा है कि ईश्वर की आत्मा नारा पर बह रही थी और अंधकार छाया था। हिन्दू पुराणों में प्रायः सभी जगह सृष्टि की कथा कुछ इस तरह पर दी हुई है। अनंत और अपार क्षीरसागर में शेषनाग की शय्या पर नारायण शयन कर रहे हैं। उन की नाभि से कमल निकलता है और कमल पर चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट होते हैं। कमल-नाल की जड़ का पता लगाने के लिये ब्रह्मा जी कमल से नीचे उतरते हैं। हजारों बरस तक नीचे उतरते चले जाते हैं परंतु नाभि तक नहीं पहुँच पाते। लौट कर फिर कमल पर आते हैं। फिर तपस्या करते हैं। इसी समय मधु और कैटभ दो भीषणाकार दानव**

चित्र २१ — सूर्य के कलंक जो कभी-कभी बिना दूरबीन के भी देखे गये हैं । [सौर-परिवार से

इस विश्व के भीतर हमारे सूर्य के परिवार की तरह अनगिनतियों परिवार हैं। हमारे सूर्य की गिनती उन में से बहुत छोटे सूर्यों में है। हम नहीं जानते कि और तारों के भी, जिन में से प्रत्येक अपने-अपने मंडल का सूर्य है,—उसी तरह ग्रह और उपग्रह हैं जैसे हमारे सूर्य के गिर्द घूमने वाले हैं, क्योंकि वह तारे इतनी दूरी पर हैं कि बड़ी से बड़ी दूरबीन से भी हम उन्हें नहीं देख सकते। जो तारा हमारे लिये सब से पास है वहां से अगर दूरबीन के द्वारा हमारे सौर-मंडल को वहां का कोई आदमी देखे तो वह भी हमारे सूर्य के परिवार के सब से बड़े ग्रह बृहस्पति को भी नहीं देख सकेगा। परंतु ऐसा नहीं हो सकता कि विश्व भर में केवल हमारे ही सूर्य के पास ग्रहों का परिवार हो और उस में भी केवल हमारी धरती पर ही प्राणियों की बस्ती हो और इस सारे विश्व में केवल हम ही लोग इसे आबाद करते हों और बाकी सारा अनंत देश सूना हो। ऐसा अनुमान करना बुद्धि के अनुकूल नहीं मालूम होता। इस लिये हम देखते भी नहीं, तो भी हमारा पक्का अनुमान है कि हर तारे के चारों ओर उस के ग्रह और उपग्रह चक्कर लगाया करते हैं और उन ग्रहों और उपग्रहों में से किसी-किसी में तो अवश्य ही प्राणियों की आबादी होगी।

हमारे सूर्य के चारों ओर जितने ग्रह और उपग्रह चक्कर लगाते हैं सब ही अंडाकार घूमते हैं। सूर्य को मध्य में मान कर वरुण और कुवेर ग्रह को अंतिम चक्कर लगाने वाला देख कर हम यह कह सकते हैं कि विश्व के भीतर हमारे सूर्य का परिवार इस अनंत देश में अंडाकार स्थान घेरता है। हम इस संपूर्ण परिवार के चक्कर लगाने के देश को और उस देश में चक्कर लगाने वाले पिंडों के समूह को ब्रह्मांड कह सकते हैं और हमारे सूर्य का नाम यदि विवस्वन् माना जाय तो हम अपने ब्रह्मांड को वैवस्वत ब्रह्मांड कह सकते हैं। जैसा हमारा ब्रह्मांड है वैसा ही ब्रह्मांड हर एक तारे का है और जिस तरह हमारे विश्व में असंख्य तारे हैं उसी तरह असंख्य ब्रह्मांड भी हैं। हम रात को जो आकाश में दोनों आकाश-गंगाओं के बीच और आस-पास तारों को देखते हैं तो सचमुच अगणित ब्रह्मांडों के नायक सूर्यों के दर्शन करते हैं। और जिन-जिन नीहारिकाओं को हम देखते हैं हम वस्तुत: अपने विश्व के सिवाय और बाहर के विश्वों की एक झलक देख लेते हैं। आकाश-गंगा में स्थित इस विश्व को हम क्षीराब्धि-विश्व कह सकते हैं।

प्रकट होते हैं। शक्ति भगवती की माया से वह दोनों लड़ कर मर जाते हैं। उन के मेद से मेदिनी बनती है। आज कल के ज्यौतिषियों के अनुमानों को पुराणों की इन कथाओं से मिलाना बड़ा कौतूहल-जनक है। आधुनिक ज्यौतिर्विद भी नीहारिका की कुंडली के भीतर ही विश्व-निर्माण का अनुमान करता है, और तमोमय पिंडों के लड़ जाने पर नये पिंड की रचना बताता है। साथ ही इस कुंडली का विस्तार भी अनंत और अपार दिखाता है। सृष्टि के गूढ़ तत्व पुराण के इन रूपकों में प्रतिध्वनि रूप से निहित हैं।

चित्र २२—सौर परिवार। इसमें डेढ़ हज़ार के लगभग नन्हें-नन्हें अवांतर ग्रह भी हैं, जो दिखाये नहीं जा सके हैं [सौर-परिवार से
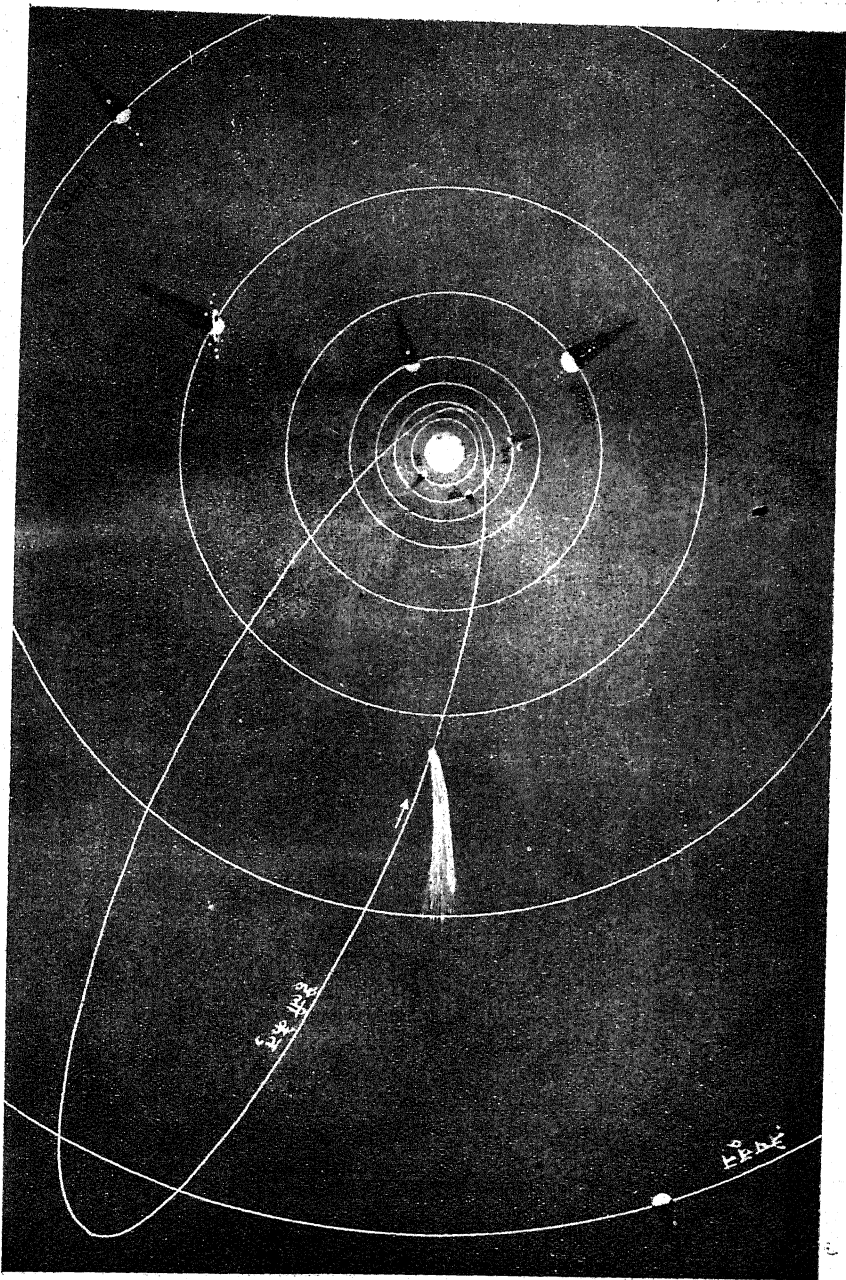
दूसरा अध्याय

हमारा ब्रह्मांड

१—सूर्य

हम ने यह देखा कि इस अनंत सृष्टि में हमारी क्या स्थिति है। अब यह देखना है कि इस ब्रह्मांड में सूर्य के परिवार के लोगों की क्या दशा है।

पहले सूर्य को ही लीजिये; सूर्य एक अत्यंत विशाल गोला है जिस का व्यास ८,६६,४०० मील है। इस के ऊपरी तल का क्षेत्र फल २३ खरब ६० अरब वर्ग मील है। इस का घनफल २४ शंख घन-मील के लगभग है। सूर्य के पिंड के भारी होने का अनुमान करने की कोशिश में दिमाग़ चकरा जाता है। थोड़ी देर के लिए मान लीजिये कि ऐनक और घड़ी लगाये पृथ्वी का एक भला मानुस जो वज़न में डेढ़ मन होगा सूर्य के पिंड पर पहुंच गया है। सूर्य पर अब उस का वज़न बयालीस मन हो गया। उस के एक-एक हाथ का वज़न जो पृथ्वी पर दो-दो सेर रहा होगा तो सूर्य पर डेढ़-डेढ़ मन के लगभग हो जायगा और उस की कलाई में अगर लगभग आधी छटांक के वज़न की रिस्ट वाच हुई तो वह भी साढ़े तीन पाव के लगभग भारी हो जायगी। एक तोले वज़न की ऐनक डेढ़ पाव के लगभग हो जायगी। अगर वह हाथ उठाना चाहेगा तो उसे डेढ़ मन वज़न उठाना पड़ेगा। वह संयोग-वश गिर पड़ा तो फिर उठ न सकेगा।

परंतु उस के पहुंचने ही की बात लीजिये। पृथ्वी से सूर्य, ९॥ करोड़ मील दूर है। पृथ्वी से ८ करोड़ मील चलने पर ही वह आंच से घबड़ाने लगेगा। आगे बढ़ने में कुशल नहीं है, क्योंकि उस का शरीर आंच से जलने लगेगा। जब दो लाख मील की दूरी रह जायगी तभी उस का शरीर जल कर और पिघल कर परमाणु-परमाणु अलग हो चुका रहेगा। लगभग १७ प्रकार के परमाणु मनुष्य के शरीर में संयुक्त दशा में हैं। वह सब के सब अलग हो चुके रहेंगे। और प्राण? उस की तो बात ही न पूंछो। वह तो कभी का निकल चुका होगा। धरती पर कुछ वायव्यों के और सोना आदि धातुओं को छोड़ सभी पदार्थ संयुक्त दशा में हैं। परंतु सूर्य पर इतनी प्रचंड आंच है कि संयुक्त दशा में कोई पदार्थ रह नहीं सकता। घन दशा में भी
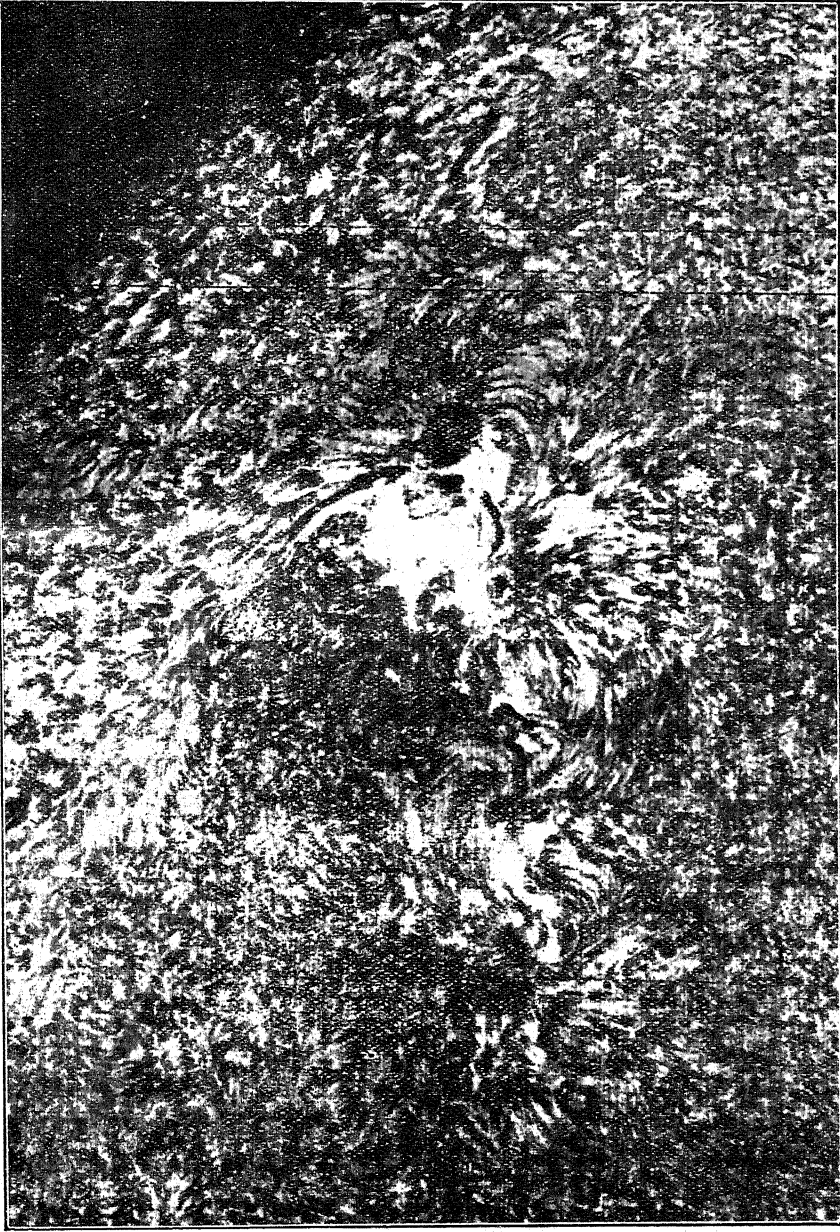
चित्र २३—सूर्य के भंवर जो विशेष यंत्र से ही देखे जा सकते हैं [सौर-परिवार से

किसी पदार्थ का रहना असंभव है। उस में जितने पदार्थ हैं सब के सब मौलिक हैं। सभी वायु-रूप में हैं और वह वायु भी ऐसे प्रचंड ताप पर है कि आंच के कारण ज्योतिर्मय हैं। जो कुछ हमें सूर्य का ऊपरी तल मालूम होता है उसका तापक्रम पांच हज़ार से लेकर सात हज़ार शतांश तक आँका गया है। उसकी आँच का यह हाल है कि सर्वग्रहण के समय में उस के किनारों पर पांच लाख मील की ऊँचाई तक प्रज्वलित उज्जन वायु की लाल शिखाएं लहराती रहती हैं। यह शिखाएं लाल इस लिये हैं कि इस में खटिकम धातु से वायव्य की शिखा साथ ही साथ मिली-जुली लहरा रही है। साधारण समय में यह दिव्य दर्शन नहीं हो पाता क्योंकि उस की सफ़ेद चमक इतनी तेज़ होती है कि इन लाल शिखाओं को छिपा लेती है।

इसी चमक के कारण साधारणतया यह समझ में नहीं आता कि सूर्य का पिंड कैसा होगा। दूरबीन से देखने में कभी-कभी सूर्य के बिम्ब के ऊपर काले काले धब्बे दिखाई पड़ते हैं। ये धब्बे काले होते हैं और खसकते हुए भी मालूम होते हैं। अनुमान किया जाता है कि तेज़ सफ़ेद रोशनी सूर्य के पिंड के ऊपर के अग्निमय बादलों से आती होगी और पिंड का भीतरी भाग काला होगा जो बादलों के फट जाने से काले धब्बे सा दीखने लगता है। अनुमान है कि भीतरी भाग भी प्रचंड तापमय है परंतु वह भी वायव्य पदार्थ का बना हुआ है। बड़ी तेज़ आंच पर हवाई चीज़ के होते हुए भी गैस इतनी घनी होगी कि यहां के सीसे से भी ज्यादा उसकी घनता अनुमान की जा सकती है। यही प्रचंड ताप और प्रकाशवाला वायव्यों का महापिंड जो आत्यंतिक वेग से अपनी धुरी के चारों ओर घूम रहा है और अपने महाकाय के खिंचाव से करोड़ों मील की दूरी पर के ग्रहों को अपने चारों ओर नचा रहा है, सूर्य का पिंड है। यही सूर्य अपने प्रचंड ताप को लगातार अपने ब्रह्मांड भर में बिखेरता रहता है। करोड़ों नहीं शायद अरबों बरस से बिखेरता आया है। तब भी इस के ताप में कोई कमी नहीं दीखती। इस का प्रकाश घटता नहीं दीखता। यह अद्भुत तेज़ कहां से आया? इस संबंध में कई मत हैं। अगर कहा जाय कि सूर्य बहुत धीरे-धीरे ठंढा हो रहा है, इतने धीरे कि हमें पता नहीं लगता, तो इस दलील की गुंजाइश इस लिये नहीं है कि अगर ठंढे ही होने की बात है तो सूर्य जैसे पिंड के ठंढे होने में लाखों बरस नहीं लग सकते। इस लिये यह नहीं कहा जा सकता कि सूर्य बहुत धीरे-धीरे ठंढा हो रहा है। पृथ्वी पर अनेक ऐसी धातुएं हैं जो सूर्य में भी पायी जाती हैं .जिन की आयु निश्चित रूप से सात आठ अरब बरस से कई गुना अधिक है। इस से अनुमान होता है कि जिस मसाले के ये पिंड बने हुए हैं वे चाहे जहां से आये हों पर हैं बहुत पुराने। यदि सूर्य अरबों नहीं, केवल करोड़ों ही बरस से इस ब्रह्मांड का नायक होता तो भी कब का ठंढा हो चुका होता। इस लिये वैज्ञानिकों का कहना है कि सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति जो बड़ी प्रचंड है उसे सुकड़ा रही है। सुकड़ने से ही उस में से बराबर आंच निकलती आती है। यदि प्रत्येक परमाणु दूसरे परमाणु को गुरुत्वाकर्षण से खींचता है और यदि सूर्य का व्यास चारों ओर से इस तरह एक मील सुकड़ जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि अरबों मन पदार्थ चारों ओर से केंद्र की ओर एक मील के लगभग डूब गया, परंतु बात इतनी ही नहीं है। एक मील नीचे का अरबों मन पदार्थ भी अपने से और नीचे एक मील से कुछ कम डूब
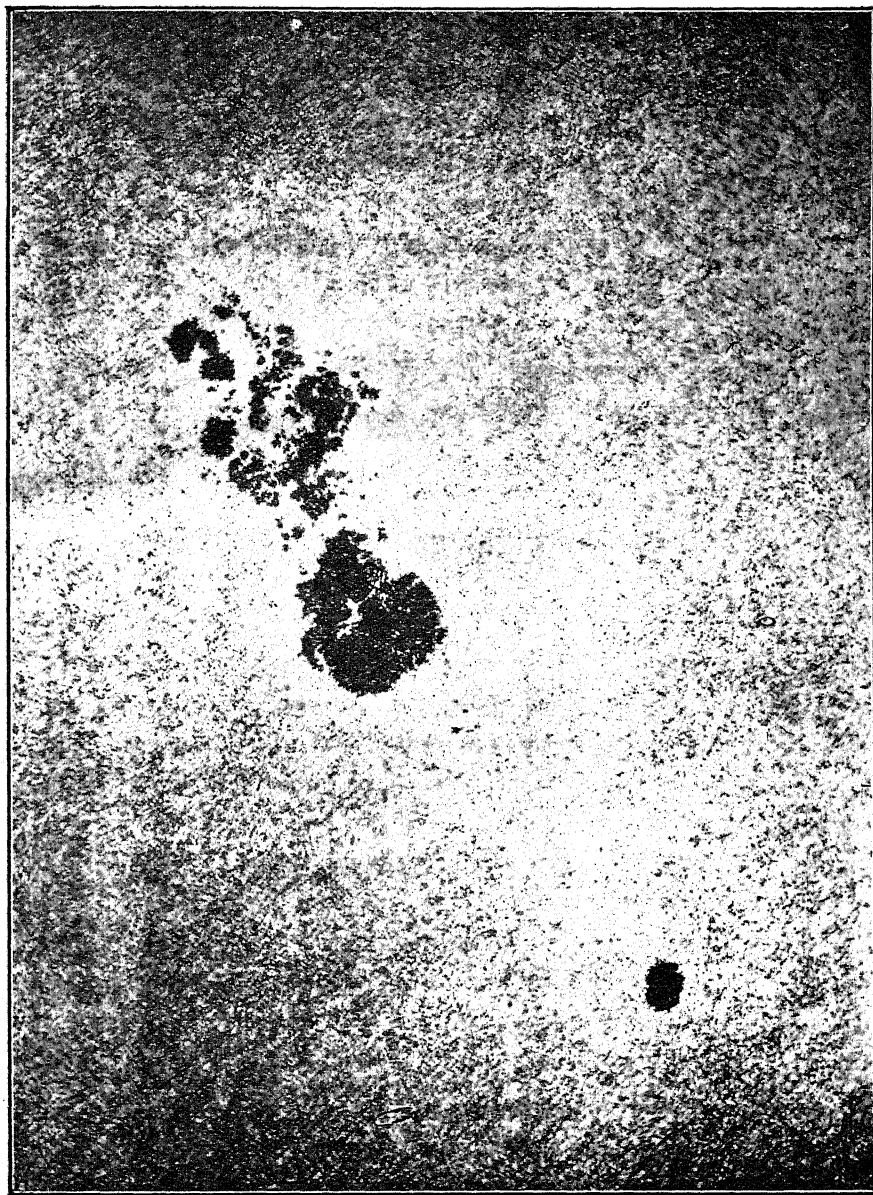
चित्र २४—सूर्य का तल। इस पर अनेक चमकीले दाने और दो चार बड़े-बड़े कलंक दिखाई पड़ते हैं [सौर-परिवार से

गया होगा। इसी तरह केंद्र तक कुछ थोड़ा-थोड़ा घटते हुए परिमाण में सुकड़न होगी। यह सुकड़न अरबों बरस तक अत्यंत धीरे-धीरे होती हुई भी, और प्रचंड ताप देते हुए भी समाप्त न होगी।

कोई तीस बरस हुए इसी धरती पर ऐसे अनेक पदार्थों का पता लगा है जिन के परमाणु खंड-खंड होते रहते हैं और इस क्रिया में लगातार आँच निकलती रहती है और हिसाब लगाया गया है कि कोई कोई पदार्थ ऐसे भी हैं जिन के परमाणुओं का खंड अरबों बरस तक बराबर होता रहेगा और लगातार आंच निकलती रहेगी। इस तरह के पदार्थ सूर्य में भी बहुत भारी परिमाण में पाये जाते हैं। इन से लगातार ऐसी आँच निकल सकती है जो असंख्य कल्पों तक क्षय न होगी। बहुत संभव है कि सूर्य का भीतरी पिंड इन्हीं पदार्थों का बना हो और इसी लिये सूर्य का तेज कभी क्षीण नहीं होता।

सूर्य के पिंड के भीतर इतना प्रचंड ताप है कि दोनों बातें संभव हैं। परमाणुओं का बनना भी संभव है और उन का खंड-खंड होना भी संभव है। वह खंड-खंड होते हों तो अपरिमित काल तक आँच में कमी नहीं हो सकती।

२—और ग्रह

सूर्य से सब से पास बुध है और सब से दूर वरुण और कुबेर हैं। पिछले दोनों तो शायद इतना तप रहे हैं कि उन के बारे में विचार करना व्यर्थ है। बुध उतने ही दिनों में अपने धुरे की परिक्रमा करता है जितने में सूर्य की, इस लिये उस का एक ही भाग सदा सूर्य के सामने बना रहता है। बुध के पिंड पर जिधर धूप बनी होगी उधर निरंतर धूप रहती होगी। कभी न तो सूर्य का उदय होता होगा, न अस्त। बुध की दूसरी ओर लगातार रात ही बनी रहती होगी। कभी दिन हुआ ही न होगा। बुध के जिस भाग में लगातार के रात और दिन का मेल होता होगा अर्थात् लगातार साँझ बनी रहती होगी वहीं शायद कोई प्राणी रहते होंगे। क्योंकि जिस देश में बराबर धूप रहती होगी वह ऐसा तपता होगा कि वहां धरती के से प्राणी रह न सकेंगे। और जिधर लगातार रात बनी रहती है उधर इतना ठंढा होगा कि वहां भी कोई प्राणी रह न सकेगा। बुध के कोई चंद्रमा नहीं है इस लिये वहां चाँदनी रात भी नहीं हो सकती। धूप की ओर तो इतनी गरमी होगी जिस से कि पानी खौलता रहता होगा और रात वाली ओर बरफ़ से दो तीन सौ दरजा नीचे की सरदी होगी।

बुध के बाद सूर्य से सब से अधिक पास शुक्र है। हम लोग बुध को तो मुश्किल से कभी देख सकते है पर शुक्र तो सबेरे तड़के या शाम को रात में, बहुत चमकीला दिखाई पड़ता है। इस का पिंड लगभग पृथ्वी के ही बराबर है। शुक्र का वायुमंडल भी अच्छा ही है। उसके ऊपर निरंतर बादल घिरे रहते हैं। इस लिये उसका ऊपरी तल कभी दिखाई नहीं देता और यह पता नहीं लग सकता कि वह अपने धुरे पर कितने समय में घूमता है। कुछ ज्यौतिषी समझते हैं कि हम ने पता लगा लिया है कि वह बुध की तरह अपनी धुरी के
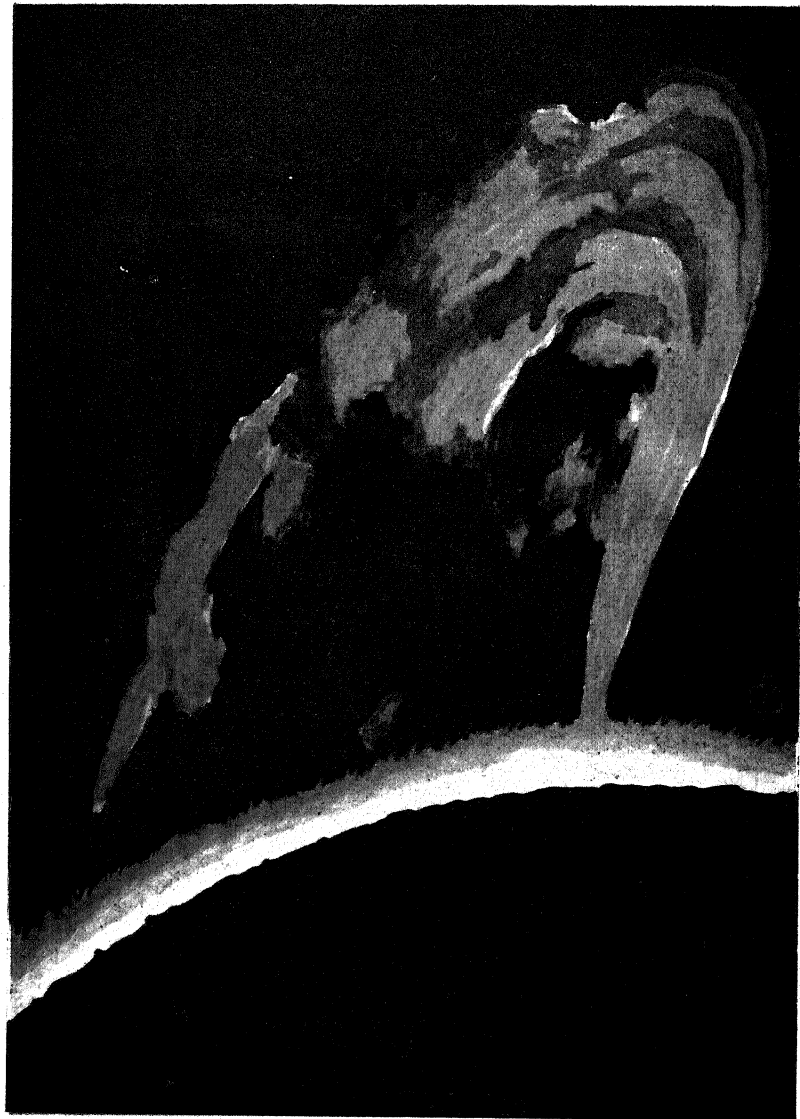
चित्र २५—सूर्य्य की रक्त ज्वालाएं

लाखों मील की ऊंचाई तक पहुँचनेवाली, सर्व-ग्रहण के समय सूर्य्य के पिंड से निकलती दीखनेवाली, खटिकम की रक्त ज्वालाएं।

[विज्ञान हस्तामलक, पृ० ४९ के सामने] [सौर-परिवार से
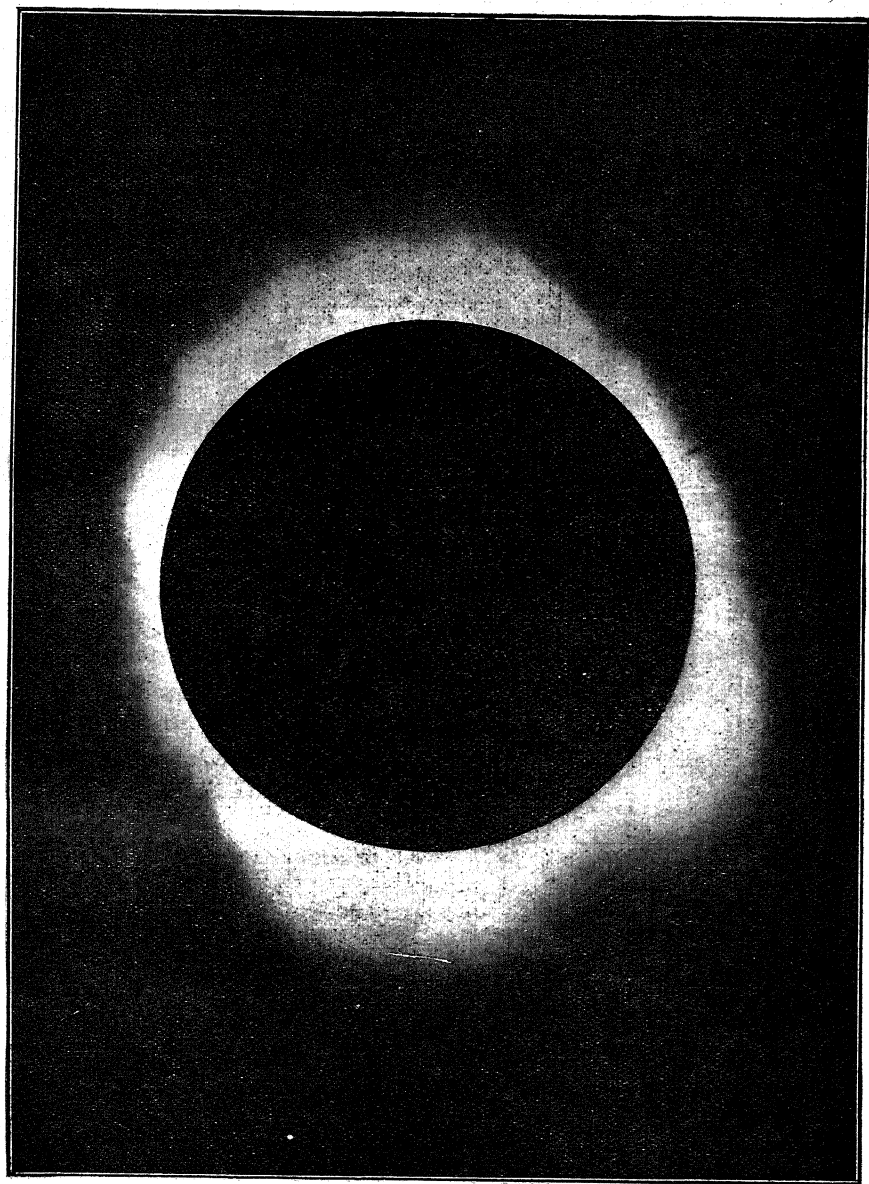
चित्र २६—सूर्य-सर्वग्रहण

चारों ओर उतने दिनों में घूमता है जितने दिनों में सूर्य की परिक्रमा करता है। अगर यह ज्यौतिषी ठीक कहते हैं तो शुक्र की दशा भी सब बातों में बुध की सी होगी। परंतु अधिकांश ज्यौतिषी इस मत के नहीं हैं।

मंगल ग्रह पृथ्वी से बहुत छोटा है और इसी लिये यह माना जाता है कि इस का पिंड पृथ्वी की अपेक्षा जल्दी ठंढा हुआ होगा। जिस पिंड पर पानी को उबालने वाली आँच हो उस पर पृथ्वी पर रहने वाले सरीखे प्राणी न हो सकते हैं और न जी सकते हैं। इस लिये ज्यौतिषियों का अनुमान है कि मंगल पर प्राणियों का निवास और विकास पृथ्वी से लाखों बरस पहिले हो चुका होगा और इस समय जो प्राणी मौजूद होंगे उन्हें अपने विकास में मनुष्यों से कहीं अधिक आगे बढ़ा-चढ़ा होना चाहिये। इस तरह का अनुमान कर के जो वैज्ञानिक मंगल ग्रह पर खोज करते हैं वह यह भी कहते हैं कि मंगल ग्रह पर का जीवन पृथ्वी पर के जीवन से ज़रूर भिन्न होगा क्योंकि वहां वायु और जल की इस समय उतनी काफ़ी मात्रा नहीं है, जितनी पृथ्वी पर के से जीवन के लिये चाहिए।
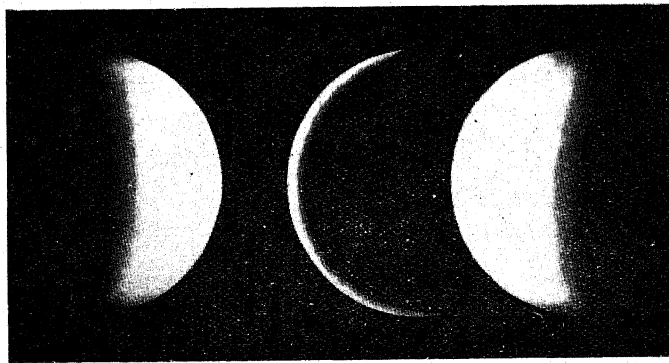
चित्र २८—बुध

चित्रकार श्रेटर] [सौर-परिवार से

प्रोफ़ेसर लोवेल ने दूरबीन से देखा कि मंगल के पिंड पर सैकड़ों सीधी रेखाएं बनी हुई हैं, जिस के लिये उन्होंने अनुमान किया कि ये नहरें होंगी जिन से खेतों की सिंचाई होती होगी। मंगल के धुरों पर सफेद सफ़ेद बरफ़ की तहें जमी हुई देखी गयी हैं जिस से जल का अनुमान किया जाता है। परंतु मंगल के वायुमंडल में कहीं बादल या जलवाष्प नहीं दीखता।

हमारे दूरबीनों से इन बातों का ठीक फ़ैसला नहीं हो सकता क्योंकि मंगल ग्रह पृथ्वी से तीन करोड़ चालीस लाख मीलों से कम फ़ासलों पर नहीं रहता और यह नज़दीकी भी पंद्रह या सत्रह बरसों में एक बार ही होती है। बड़े बड़े दूरबीनों से मंगल ग्रह की जो फ़ोटो
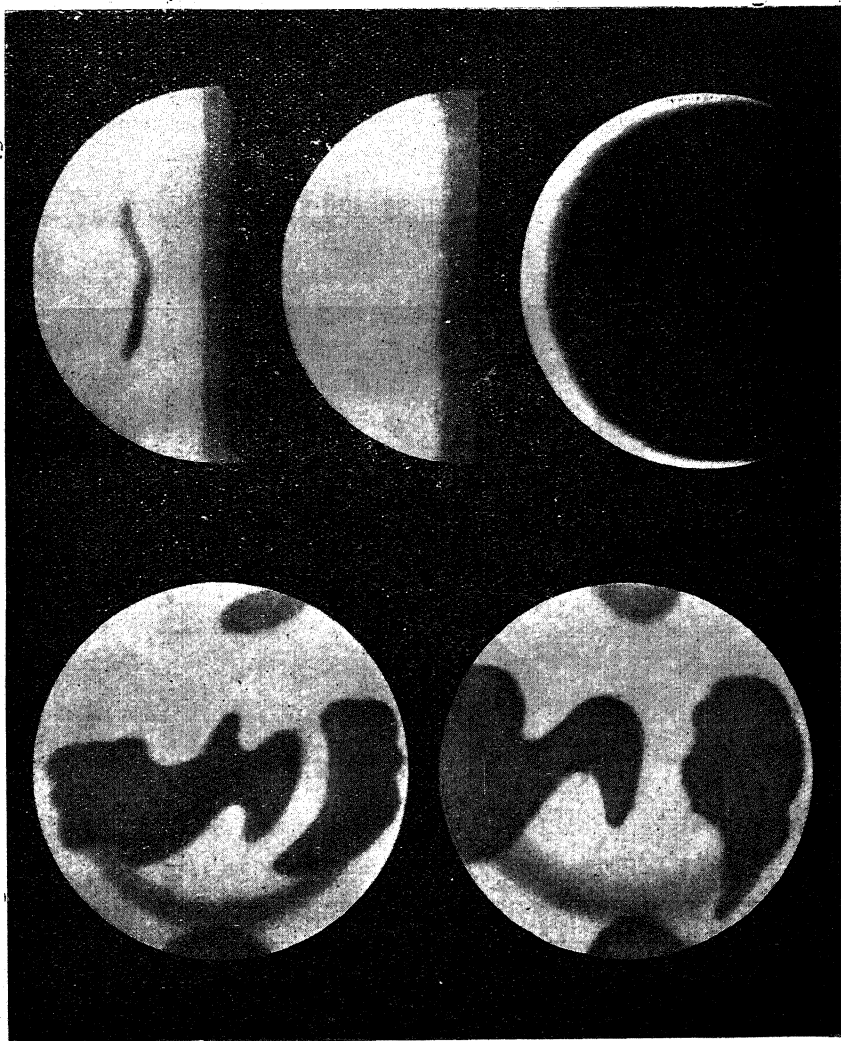
चित्र २९—शुक्र की कलाएं

[सौर-परिवार से

खींची जाती है वह अत्यंत छोटी होती है। आँखें फ़ोटो के ताल से ज़्यादा अच्छा देख लेती हैं। इस लिये यह झगड़ा आसानी से सुलझ नहीं सकता। हम तो भी देखते हैं कि हमारी धरती पर अफ़रीक़ा के सहारा जैसे मरुस्थल में और ध्रुवप्रदेश जैसी ठंढी से ठंढी जगह में प्राणी होते हैं और रहते हैं। उसी तरह जहां अनुकूल जलवायु नहीं, है वहां भी प्राणियों का होना बहुत संभव है।

यदि मंगल ग्रह में प्राणियों का निवास है तो उन की रातें बड़ी मज़ेदार होती होंगी क्योंकि मंगलके दो चंद्रमा हैं और साथ ही साथ और कभी एक के बाद दूसरे चंद्रमा का उदय होता होगा, जिससे रात की रमणीयता बढ़ जाती होगी।
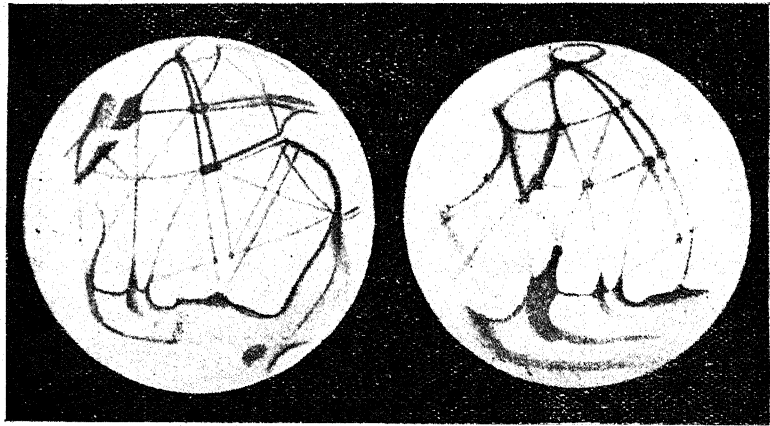
चित्र ३०—मंगल का दृश्य बड़ी दूरबीनों से

शायापरेली] [सौर-परिवार से

बृहस्पति इस परिवार में सब से बड़ा ग्रह है। मंगल और बृहस्पति के बीच में लगभग तीस करोड़ मील के आकाश-मंडल ख़ाली-सा है। कोई बड़ा ग्रह इस बीच में नहीं है। आज-कल के ज्यौतिषियों ने इस विस्तृत व्योम-देश में लगभग नौ सौ के छोटे-छोटे ग्रहों का पता लगाया है। इन में से जो बहुत छोटे हैं, उनका व्यास पांच मील से ज़्यादा नहीं है और जो सब से बड़े हैं उन का व्यास पांच सौ मील से ज़्यादा नहीं है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बृहस्पति सरीखे विशालकाय पिंड के पास होने के कारण विश्व के इस व्योम भाग में जो पदार्थ बिखरा हुआ था मिल कर कभी एक पिंड न बन पाया।

इस विशालकाय पिंड के भार का खिंचाव चारों ओर आकाश में बहुत बड़ा प्रभाव डालता होगा, क्योंकि यह पृथ्वी से तेरह सौ गुना बड़ा है। इस के नौ चंद्रमा हैं जिन में से सब से बाहर वाले उल्टी दिशा में उस की परिक्रमा करते हैं। अनुमान होता है कि बृहस्पति

के पिंड पर अभी तक प्राणियों का निवास नहीं हुआ होगा क्योंकि अभी तक धरती का ठोस चिप्पड़ बृहस्पति पर बना हुआ नहीं जान पड़ता। इस की फोटो में यह बराबर बादलों से या भाफ से घिरा मालूम होता है। इस का पिंड आंच से लाल मालूम होता है। पिछले पचास बरसों से इस के भीतर एक लाल धब्बा सा दिखाई पड़ रहा है जो लगभग २४ हजार मील लंबा होगा। इस का अंतर्हृदय संभव है कि ठोस या द्रव हो पर यह समूचा पिंड अभी वायव्य दशा में जान पड़ता है। इस पिंड के भिन्न भिन्न देश भिन्न वेगों से अपने धुरों की

चित्र ३२—बृहस्पति

एन्टोनिआडी] [सौर-परिवार से

परिक्रमा करते हैं। इस का औसत वेग दस घंटा है। तो भी यह ग्रह अपने तेज से नहीं चमकता। आकाश में बृहस्पति और शुक्र बड़े चमकीले हैं, पर यह तेज सूर्य का है।

शनि की भी वैसी ही दशा है। उस के ऊपर वाले हिस्से में भाफ के बादल हैं और भीतर के पिंड में प्रचंड ज्वाला है। इतनी तेज़ आंच है कि पानी जमा नहीं हो सकता। यह भी दस घंटे में अपने धुरे पर घूम जाता है।

दूरबीन में शनि बड़ा ही सुंदर दिखाई पड़ता है। जान पड़ता है कि सफाचट मुंड़े हुए सिर पर महाजनों की सी पगड़ी रक्खी हुई है। उल्काओं के झुंड के झुंड निरंतर एक ही तल में बड़े वेग से उसके चारों ओर घूमते रहते हैं, इसी कारण ऐसा मालूम होता है। शनि के दस चंद्रमा हैं। सूर्य से अत्यंत दूर होने के कारण उस पर सूर्य की आंच का

कम प्रभाव पड़ता है। तो भी उल्का के झुंडों के ऊपर जो धूप पड़ती है उसी से यह पगड़ी सा मालूम होता है। यह पदार्थ-समुद्र कई मील गहरा है और इस पिंड के ऊपरी तल से लेकर बाहर की ओर एक लाख बहत्तर हज़ार मील तक पसरा हुआ है। कुछ ज्योतिषियों का कहना है कि इसी ग्रह के पिंड में से ज्वालामुखी पर्वतों के फटने से इस के चारों ओर छल्ला सा बन गया है। औरों का कहना है कि ग्यारहवां चन्द्रमा बननेवाला पदार्थ चन्द्रमा न
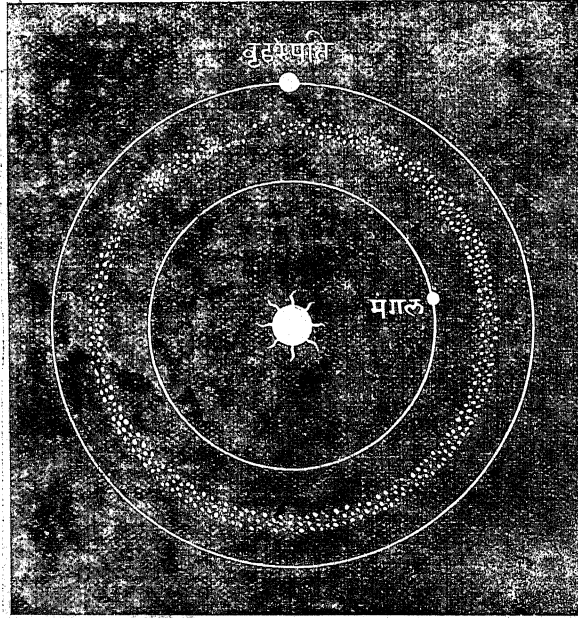
चित्र २३—मंगल और गुरु के बीच असंख्य छोटे अवांतर ग्रह हैं [सौर-परिवार से

बन पाया बल्कि इसी तरह बिखरा हुआ चक्कर लगा रहा है। इस ग्रह की दशा ऐसी है कि इस पर भी हमारी धरती के से प्राणियों का होना सम्भव नहीं है। शनि की अपेक्षा अधिकाधिक दूरी के चक्कर लगाने वाले क्रम से उरण, वरुण और कुवेर ग्रह हैं। उरण और वरुण का पता तो युरोप वालों ने पहले लगाया था परंतु अभी संवत् १९८८ में कुवेर का पता लगा है जो हमारे ब्रह्मांड की सीमा को कुछ और बढ़ा देता है। चित्र में कुवेर ग्रह भी दिखाया गया है।

३—उपग्रह

मंगल और शुक्र यही दो ग्रह हमारी धरती के सिवा ऐसे मालूम होते हैं जिन पर इस दुनियां केसे प्राणियों के होने की संभावना है। परंतु इन दोनों में से भी शुक्र पर फिर

चित्र ३९—चंद्रमा। अमावस्या के बारह दिन बारह घंटे बाद का चित्र

पेरिस वेधशाला] [सौर-परिवार से

भी कम है। अब रही इन के चांदों की बात। उरण के चार चंद्रमा हैं। वरुण के एक ही है, मंगल के दो हैं। पृथ्वी के एक है और बुध और शुक्र के कोई चंद्रमा नहीं है। मंगल के चंद्रमा दस दस मील से अधिक व्यास के न होंगे। परंतु बृहस्पति और शनि के एक एक चंद्रमा तीन तीन हज़ार मील व्यास के हैं, अर्थात् बड़ाई में सब से छोटे ग्रह बुध के बराबर हैं जिस का व्यास तीन हज़ार तीस मील है। संभव है कि इन बड़े बड़े चंद्रमाओं में हमारी धरती के से प्राणी रहते हों। हम इस बात पर अपने चंद्रमा को ही उदाहरण रूप लेकर विचार करेंगे।

कहा जाता है कि इसी पृथ्वी के बहुत उत्तप्त दशा में किसी प्राचीन युग में इस के दक्षिण भाग से कुछ चिप्पड़ सा पदार्थ कटकर दूर हो गया और वही पृथ्वी का चंद्रमा हुआ। यही बात है कि पृथ्वी के गोले में उत्तर ध्रुव की ओर सूखी धरती का भाग बहुत ज्यादा है और दक्षिण ध्रुव की ओर गहरे समुद्र का ही भाग ज्यादा है। परंतु जान पड़ता है कि पृथ्वी का पिंड बहुत बड़ा होने से बहुत काल में सिकुड़ा और आज कल की दशा तक ठंडा हुआ। परंतु चंद्रमा का पिंड तो बहुत छोटा था इस लिये यह बहुत जल्दी सिकुड़ गया और ठंडा हो गया। यह पिंड शायद उस दशा में पृथ्वी से अलग हुआ है कि जब पृथ्वी के तल पर जल नहीं बना था क्योंकि चंद्रमा के पिंड पर जल का अभाव मालूम होता है।

चंद्रमा ही एक आकाश पिंड है जो पृथ्वी से बहुत पास है और दूरबीन के द्वारा जिसे हम बहुत अच्छी तरह देख सकते हैं। एक तरह से दूरबीन से चंद्रमा इतने पास हो जाता है कि मानों उसे हम पचीस कोस की दूरी ही से देख रहे हों। अगर चंद्रमा पर कोई विशाल हवाई जहाज चलता होता तो हम उसे उस के तल पर चलते हुए बिन्दु की तरह से देखते। परंतु चंद्रमा पर कोई चलता हुआ पदार्थ हम नहीं देख पाते। इस से जान पड़ता है कि इस पिंड पर कोई इस तरह का बड़ा काम नहीं होता होगा। कुछ ज्यौतिषियों का अनुमान है कि चंद्रमा के ऊपर किसी तरह के जीवन के चिन्ह जरूर मिलते हैं। प्रोफेसर पिकरिंग का ख्याल है कि चंद्रमा के ऊपर ज्वालामुखी पर्वत फटा करते हैं। उन का यह भी ख्याल है कि चंद्रमा पर हरियाली के भी मैदान हैं। परंतु यह हरियाली काई आदि की तरह नीच प्रकार की होगी, और चंद्रमा की धरती में कुछ नमी भी होगी क्योंकि वहां के पतले वायु-मडल में कभी कभी बरफ भी गिरता है और कुछ प्रकार के परिवर्तन भी उस के तल पर होते रहते हैं।

हवा इतनी पतली है कि चंद्रमा पर शब्द बहुत कम होते होंगे। शायद न होते होंगे। क्योंकि वायु की तरंगें ही शब्द हैं। वहां धूल नहीं हो सकती, गन्ध नहीं हो सकती। आकाश घोर काला होगा और तारे दिन और रात दोनों में दिखाई देते होंगें। सूर्य का लाल मंडल और उठती हुई ज्वालाएं जो हम केवल सूर्य-ग्रहण में कठिनाई से देखते हैं वहां बराबर दिन में दिखाई पड़ते होंगे। चंद्रमा पर हमारे एक पाख का दिन और एक पाख की रात होती है। परंतु दिन में पड़ने वाली धूप चंद्रमा के ऊपरी तल को इतना गरम भी नहीं करती होगी कि बरफ को पिघला सके क्योंकि आंच तुरंत निकल जाती होगी। रात
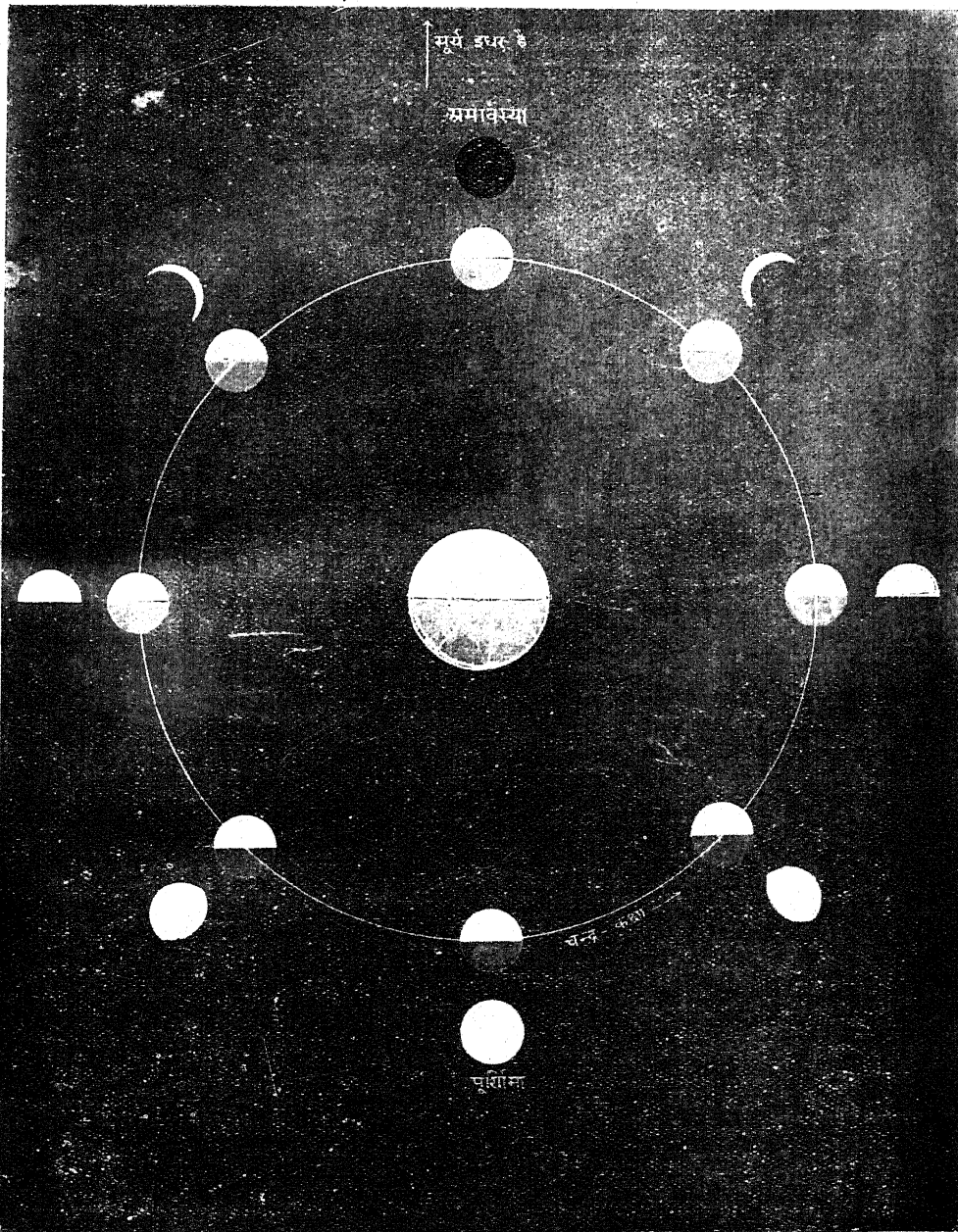
चित्र ३६—चंद्रमा की कलाएं

[सौर-परिवार से

चित्र ३८—चंद्रमा पर अनेक पहाड़ पहाड़ियाँ

लिक वेधशाला] [सौर-परिवार से

चित्र ३९—चंद्रमा पर के गड्ढे

यरकिज वेधशाला] [सौर-परिवार से
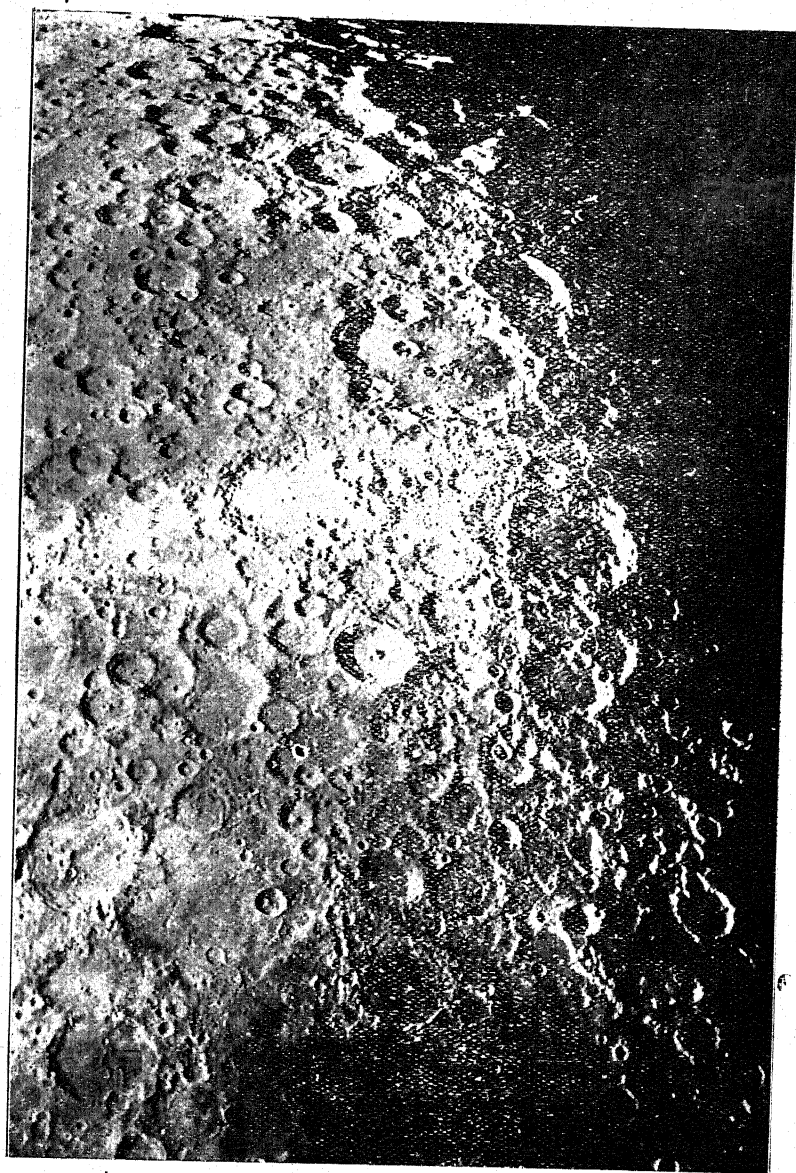
बहुत ठंढी होती होगी। कुछ लोगों का यह भी ख्याल है कि दिन के समय चंद्रमा का तल इतना गरम हो जाता होगा कि पानी खौलने लगे।

चित्र ४०—गिरी हुई उल्का की चट्टान

[सौर-परिवार से

देखने में चंद्रमा के तल पर लाखों की संख्या में गोल गोल आकार हैं। ज्यौतिषियों का अनुमान है कि भयंकर उल्कापातों के कारण यह विवर से बन गये हैं जिनके मुँदने की कभी नौबत नहीं आयी। यह उल्कापात तब हुए होंगे जब चंद्रमा का तल आंच के कारण बहुत नरम था। औरों का विचार है कि जिस समय चन्द्रमा पिघली हुई दशा में था उसी

समय ज्वालामुखी गैसों के फूट पड़ने से यह गोल गोल बड़े बड़े छेद बन गये हैं, और बहुतेरे यह समझते हैं कि ये ज्वालामुखी के मुख हैं जो शांत हो गये हैं। इन में से सब से बड़े का व्यास एक सौ तेईस मील है।

चंद्रमा पर के पहाड़ बहुत उँचे हैं और बड़े ही ऊबड़-खाबड़ हैं। कोई कोई २६।२७ हजार फीट ऊंचे हैं। हमारी धरती के पहाड़ पानी और बरफ की क्रियाओं से टूटते और बदलते रहते हैं पर वहां के पहाड़ ज्यों के त्यों बने रहते हैं। जान पड़ता है कि चंद्रमा एक प्रकार का मृत पिंड है। संभव है कभी इस में जीवन रहा हो पर अब मर गया है।

हम ने देखा कि सूर्य में पिंड की विशालता के कारण हमारे यहां की एक छटांक की चीज़ सूर्य में सत्ताईस छटांक की हो जाती है। परंतु चंद्रमा में उस के पिंड के छोटे होने के कारण यहां की भारी से भारी चीज़ वहां हलकी से हलकी हो जायगी। सूर्य में गिर कर उठना मुश्किल है। चंद्रमा में इस दर्जे की हलकाई आ जायगी कि एक आदमी सहज में उछल कर गंगा पार कर सकेगा।

हम ने अपने ब्रह्मांड में देखा कि उरण वरुण शनि और बृहस्पति सरीखे ऐसे ग्रह हैं जो इतने ठंढे नहीं हुए हैं कि उन के ऊपरी तल पर जल रह सके। वे ठंढे हो रहे हैं और शायद लाखों बरस में हमारी पृथ्वी की तरह प्राणियों के रहने के योग्य हो जायँगे। हम ने देखा कि बुध और शुक्र की दशा हमारी धरती की दशा के लगभग है। हमारी धरती में लाखों बरस पहिले से प्राणियों का निवास है। मंगल ग्रह में जो दशा हमारी धरती के प्राणियों की आज है वह लाखों बरस पहिले हो चुकी होगी। मंगल की जो दशा शायद लाखों बरस बाद होगी चंद्रमा की वही दशा वर्तमान समय में है। सूर्य के इस परिवार में सभी अवस्थाओं के कुटुम्बी हैं उन में से उरण,वरुण, शनि और बृहस्पति होनहार बच्चे हैं। बुध, शुक्र, पृथ्वी और मंगल मध्य अवस्था के प्राणी हैं। और सत्ताईसों चंद्रमा प्रायः मरे लोक हैं अथवा इस समय मर रहे होंगे।*

४—धूम्रकेतु और उल्कापात

आकाश में कभी-कभी हम टूटते हुए तारे देखते हैं। एका-एकी एक जगह से दूसरी जगह को ज्योति की एक रेखा सी दौड़ जाती है। यह रेखा किसी छोटे से पिंड के कारण दिखाई पड़ती है। बाहरी आकाश से जब यह छोटा सा पिंड हमारे वायुमंडल में प्रवेश करता है तो वायु से रगड़ खाकर जल उठता है। बीस या तीस मील प्रति सेकंड के वेग

---

* हिंदू पुराणों में चंद्रमा में पितरों का अर्थात् मरे हुए लोगों का निवास बताया जाता है। बृहस्पति और गुरु दोनों नाम साभिप्राय हैं। दोनों का अर्थ है बड़ा और भारी। बृहस्पति ऐसा ही पिंड है।

से वह चला आ रहा था। धरती से ७०।८० मील पहिले ही वह सुलग कर चमकने लगा और ज्यों ज्यों वह घने वायुमंडल में आता गया उस की आंच बढ़ती गयी। धरतीतक पहुंचने के २०।२५ मील ही रह गये तभी वह आंच से गैस बनकर उड़ गया। लगभग एक करोड़ से लेकर दस करोड़ तक इस तरह के टूटते तारे नित्य हमारे वायुमंडल में प्रवेश करते हैं और जल कर समाप्त हो जाते हैं। उन में से बहुतेरे तो छटांक आधी छटांक से ज्यादा नहीं होते और दिखाई भी नहीं पड़ते परंतु कुछ २५।३० मन तक के होते हैं जो हमारे वायुमंडल के जाल में फँस कर समाप्त हो जाते हैं। वह प्रायः छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट कर बिना कोई हानि पहुंचाये धरती पर गिर जाते हैं। जान पड़ता है कि इस ब्रह्मांड के भीतर जितनी जगह ग्रहों और उपग्रहों से खाली है उस में ये छोटे-छोटे पिंड भरे हुए हैं। यह उसी तरह झुंड के झुंड हैं जैसे समुद्र में मछलियां होती हैं। बहुतेरे अकेली रहनेवाली मछलियों की तरह भी हैं। उल्कापात या टूटते हुए तारे इसी तरह के अकेले घूमने वाले पिंड हैं। नन्हे-नन्हे पिंड जो झाड़ू या पुच्छल तारे के अंग में पसरे हुए हैं झुंड में चलने वाली मछलियों की तरह हैं।

चित्र ४१—ऊँचे से ऊँचा पहाड़ ९ मील ऊँचा है। परंतु साधारण से साधारण उल्काएं ४१ मील से भी अधिक ऊँचाई की होती हैं। [सौर-परिवार से

धूम्रकेतु क्या है? इन की भी कथा सुनिये। हमारे विश्व में ऐसे छोटे बड़े असंख्य पिंडों का झुंड-का-झुंड चक्कर मारता हुआ कहीं दूर से चला आ रहा है। इस में लोहा पत्थर आदि पदार्थ हैं। यह झुंड कभी कभी हजारों मील चौड़ाई का होता है। जब हमारे ब्रह्मांड के सूर्य के आकर्षण के प्रभाव में पड़ता है तब उसे सूर्य की परिक्रमा करनी पड़ती है। तब तक यह पुच्छल तारा धूम्रकेतु या झाड़ू नहीं है क्योंकि इस के पूछ नहीं होती।
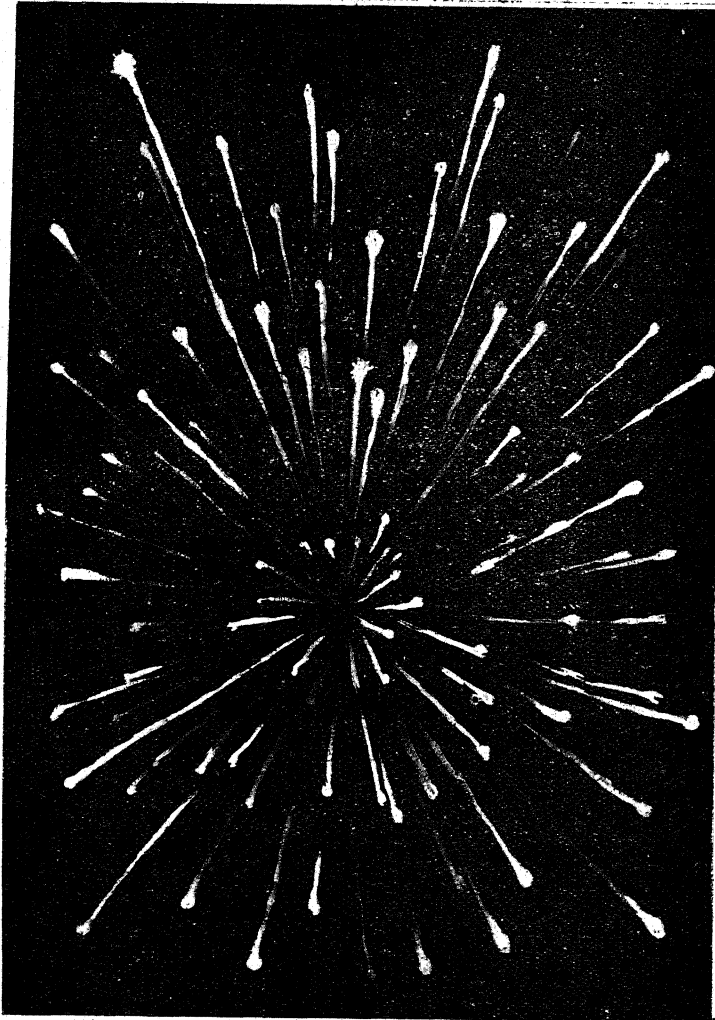
चित्र ४२—उल्का झड़ी में उल्काएं एक केंद्र से बरसती दीखती हैं, परंतु असल में वे समानांतर रेखाओं में चला करती हैं।

[सौर-परिवार से

चित्र ४३—काली नीहारिका

[सौर-परिवार से

बारनार्ड] चित्र ४४—केतु का छाया चित्र लेते समय सभी तारे लम्बोतरे से चित्रित हो जाते हैं [सौर-परिवार से

परंतु जब यह झुंड सूर्य के पास पहुंचता है और इस का वेग बढ़ता है तो आपस में यह पिंड रगड़ खाते हैं। इस से एक बहुत बड़ा भाग आंच से तप उठता है और प्रचंड ताप से सफ़ेद चमकने लगता है। इस से बहुत सूक्ष्म भाफ सा पदार्थ इस में से निकलने लगता है और सूर्य से बड़ी तेज रोशनी इस के ऊपर आकर पड़ती है तो इस की भाफ को एक लंबी पूंछ की शकल में प्रगट कर देती है। पुच्छल तारा चाहे जिस दशा में यात्रा कर रहा हो उस की पूंछ सूर्य से सदा दूर की दिशा में जाती हुई दिखाई पड़ती है। ज्यों ज्यों वह सूर्य के पास जाता है त्यों त्यों उस की पूंछ की लंबाई बढ़ती जाती है। संवत् १६०० विक्रमी में जो पुच्छल तारा दिखाई दिया था उस की पूंछ बीस करोड़ मील लंबी थी। परंतु पूंछ जिस वाष्प की बनी होती है उस की सूक्ष्मता कल्पना में नहीं आ सकती। वह इतनी सूक्ष्म है कि शायद किसी बिजुली की ही शक्ति से उस में चमक है। जो हो धूम्रकेतु बहुधा तीन चार सौ मील के वेग से सूर्य का चक्कर लगा कर हमारे ब्रह्मांड से फिर बाहर चला जाता है। फिर कुछ काल या बहुत काल के बाद यही झुंड इस ब्रह्मांड के नायक की परिक्रमा करने आता है। इस तरह केतुओं की परिक्रमा भी समय समय पर हुआ करती है परंतु यह सूर्य के परिवार के लोग नहीं हैं। ये ब्रह्मांड के बाहर से यात्रा करते हुए आते हैं और कुछ दिन मेहमानी करके लौट जाते हैं।

ग्रहों से सूर्य का दर्शन
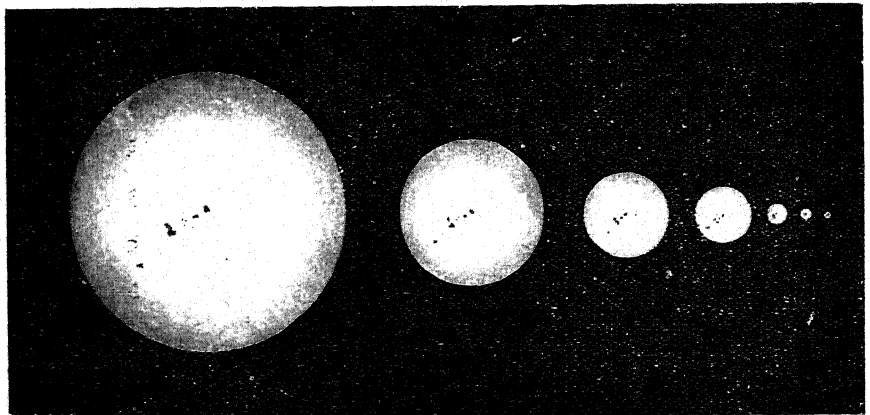
बुध से शुक्र से पृथ्वी से मंगल से गुरु से शनि से उरण से

चित्र ४५—विभिन्न ग्रहों से सूर्य का सापेक्ष आकार। [सौर-परिवार से

तीसरा अध्याय

हमारी धरती

१—पृथ्वी-पिंड का दिग्दर्शन

हमारी पृथ्वी नजदीकी में सूर्य से तीसरा ग्रह है। इस का व्यास ध्रुव से ध्रुव तक, जहां दोनों ओर कुछ चिपटी हो गयी है, ७८६९ मील है। मध्य में उस की लपेट पर पूर्व-पश्चिम का व्यास लें तो वह २७ मील और होगा। उस का घेरा लगभग २५००० मील के है। उस के भीतर जो कुछ पदार्थ है उस का औसत घनत्व पानी का पंच गुना है। इस के मुकाविले में अगर शनि और वरुण का घनत्व लें तो उन का पदार्थ इतना हलका ठहरेगा जैसे पानी पर काग। वृहस्पति पृथ्वी से इतना वड़ा है जितना मटर के सामने एक कद्दू हो सकता है। अपने ५८ करोड़ मीलों के चक्कर को वह ३६५ दिनों में पूरा करती है। इस तरह सूर्य की परिक्रमा वह वड़े भयानक वेग से कर रही है अर्थात् १ सेकेंड में १८ मील चलती है। बन्दूक की गोली से ५० गुनी और डाकगाड़ी से हजार गुनी ज्यादा तेज है। वड़ा वेग है! परंतु शुक्र और बुध पृथ्वी से भी ज्यादा तेज चलते हैं। और स्वाती नाम का तारा तो लगभग २०० मील प्रति सेकेंड चलता है। पृथ्वी की परिक्रमा चंद्रमा करता है। और सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी करती है। सूर्य भी अपने धुरे के चारों ओर तो घूमता ही है पर शायद वह भी किसी परिक्रमा में ही लगा हुआ है। वह अपनी परिक्रमा में पृथ्वी की अपेक्षा सुस्त है अर्थात् १० मील प्रति सेकेंड। इस समय जान पड़ता है कि वह अभिजित नक्षत्र की तरफ वड़े वेग से वढ़ता जा रहा है। परंतु अनुमान किया जाता है कि इस व्योम मंडल में वह कृत्तिकाओं की परिक्रमा करता होगा। वह करोड़ों वरस में शायद अभिजित के पास पहुंच जाय। यह पता नहीं है कि वह इस रास्ते पर कितने दिनों से चल रहा है। वह हर साल तीस लाख मील के लगभग अपनी राह में आगे वढ़ जाता है। ये नक्षत्र ग्रह और तारे एक दूसरे के खिंचाव के सहारे अनंत देश में चक्कर लगा रहे हैं।

पृथ्वी का धुरा उस के परिक्रमा की रेखा से कुछ झुका हुआ है। इसी से इस बड़ी परिक्रमा में वसंत ऋतु और शरद् ऋतु में जब कि भूमंडल सूर्य के ठीक सामने पड़ जाता है

दिनरात बराबर हो जाते हैं। और समयों में ऐसा नहीं होता। धुरे के झुके होने से कभी उत्तर ध्रुव सूर्य के अधिक पास होता है कभी दक्खिन। जिस ध्रुव के पास सूर्य होता है
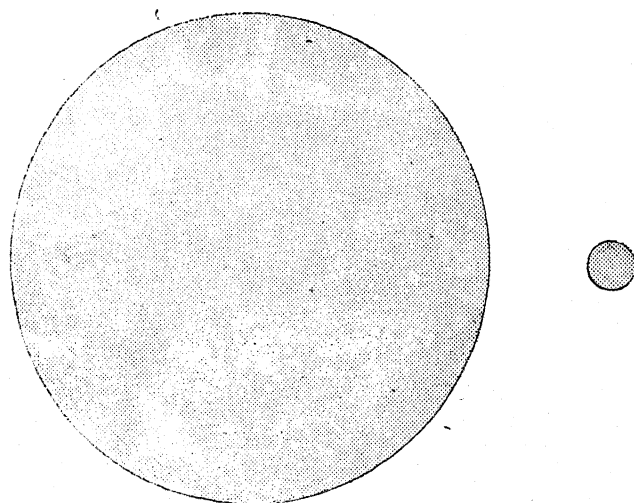
चित्र ४६—बृहस्पति और पृथ्वी की तुलना। पृथ्वी कितनी छोटी है! [सौर-परिवार से

उस की ओर पृथ्वी पर गरमी ज्यादा पड़ती है और जिस से दूर होता है उधर कम। इसी से पृथ्वी पर भिन्न-भिन्न ऋतुएं होती हैं और दिन-रात के परिमाण बदलते रहते हैं। जैसे लट्टू अपने धुरे पर घूमता है तो साथ ही साथ कुछ जरा सा मंडलाता भी है, उसी तरह पृथ्वी घूमती हुई मंडलाती भी है। पुराने हिंदू ज्यौतिषियों ने इस मंडलाने का हिसाब लगाया था कि पृथ्वी २६ हज़ार बरसों में मंडलाने वाला एक चक्कर लगा लेती है। आजकल के कुछ ज्यौतिषियों ने इस काल को २१ हज़ार बरस ठहराया है। इस भेद का कारण यह भी हो सकता है कि मंडलाने के वेग में कमी वेशी भी होती रहती है।

सूर्य के चारों ओर पृथ्वी का चक्कर ठीक वृत्त के रूप में नहीं है। वह एक प्रकार का दीर्घवृत्त बनाती है जिस की एक नाभि पर सूर्य को ठीक स्थित समझा जा सकता है। इस तरह से वह कभी सूर्य के पास आती है और कभी दूर चली जाती है। जब सब से पास होती है तो नव करोड़ साढ़े बारह लाख मील होती है और जब सब से दूर होती है तो नव करोड़ पैंतालीस लाख मील होती है। यह हम वर्तमान काल की गणना बताते हैं, क्योंकि बृहस्पति और शुक्र के खिंचाव से अंतर पड़ जा सकता है। दो दो तीन तीन लाख बरसों में ऐसे अंतर पड़ जाते हैं कि सब से दूर और सब से पास की स्थितियों में डेढ़ करोड़ मील तक का अंतर पड़ सकता है। सूर्य की दूरी के घटने बढ़ने से जाड़े और गरमी पर असर नहीं पड़ता। पृथ्वी के धुरे के झुकने से इस तरह का अंतर पड़ता है।

इन तीनों गतियों के कारण पृथ्वी पर की गरमी में घटबढ़ होता रहता है। वायु-मंडल की गति में भी अंतर पड़ता रहता है। इसी लिये जाड़ा गरमी बरसात बसंत शरद और
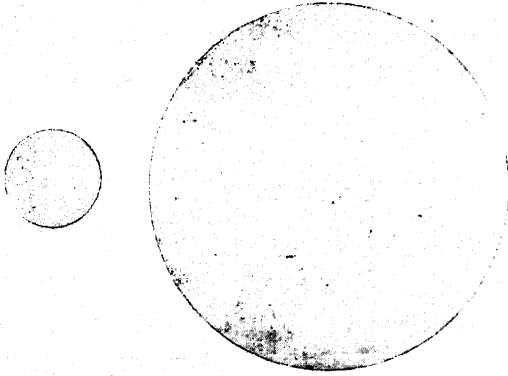
चित्र ४७—पृथ्वी और उरण (इंद्र) की तुलना। पृथ्वी कितनी छोटी है ! [सौर-परिवार से

शिशिर आदि ऋतुओं के भेद ही नहीं पड़ते बल्कि बिजली और चुम्बकत्व में भी तथा प्रकाश और रसायन की क्रिया में भी बड़ी अनुकूलता आ जाती है। और हम इस भूतल पर बड़ी
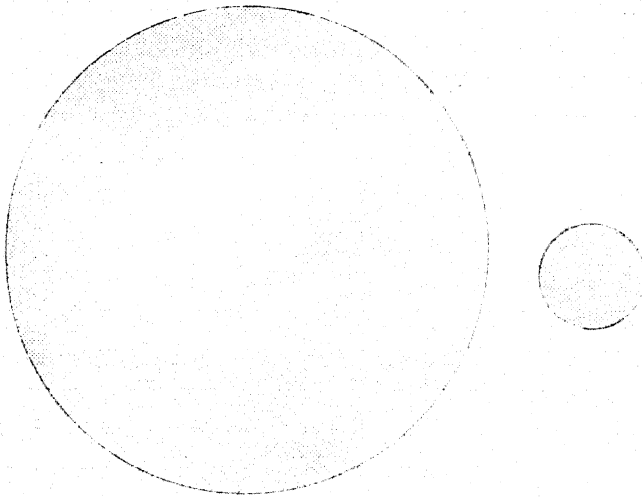
चित्र ४८—वरुण और पृथ्वी की तुलना-वरुण बहुत बड़ा है [सौर-परिवार से

सुहावनी फुलवाड़ियां, वन, पर्वत आदि के सुंदर दृश्य देखते हैं। और अनंत प्रकार के प्राणियों का जन्म विकास और मरण होता रहता है। यह बातें और ग्रहों पर नहीं मालूम

होतीं क्योंकि वर्तमान काल में परिस्थिति की ऐसी अनुकूलता और किसी पिंड पर नहीं दीखती। हम वर्तमान काल इसलिये कहते हैं कि इस ग्रह परिवार में बहुत से ग्रह अभी बच्चे हैं उन में भविष्य के लिये तैयारियां हो रहीं हैं और लाखों करोड़ों बरस बाद जब शायद पृथ्वी शांत हो चुकी होगी तब इन आजकल के तप्त पिंडों के ऊपर भी हमारे सरीखे प्राणियों के जीवन के अनुकूल परिस्थितियां बन गयी रहेंगी। किसी समय इन बच्चे ग्रहों की तरह पृथ्वी को भी आबाद दुनियां बनने की उम्मेदवारी करनी पड़ी होगी।

२–पिंड का आरंभ

वैज्ञानिकों ने इस संबंध में कल्पना के घोड़े बहुत दौड़ाये हैं कि पृथ्वी कैसे बनी और कब बनी, परंतु आज तक कोई सिद्धांत ठहराया नहीं जा सका है। इस में तो संदेह नहीं कि किसी समय धरती बिलकुल वायव्य के रूप में थी, जब उस का पिंड सिकुड़ा न था और उस में आंच बहुत प्रचंड थी। उस समय शायद इस का पिंड लग भग उतना बड़ा रहा हो जितना बड़ा आज सूर्य का पिंड है। यद्यपि सूर्य का पदार्थ जितना घना इस समय है उतना घना पृथ्वी का पदर्थ उस समय न होगा बल्कि घनत्व उसी तरह कम रहा होगा जिस तरह आज कल वरुण या शनि का है। इस वायव्य पिंड में बड़ी भयानक आंच रही होगी और इस की परिक्रमा का वेग भी उस समय भयानक रहा होगा। आज कल की पृथ्वी अपने उस समय के आकार से कई लाख गुनी छोटी हो गयी है।

पृथ्वी के आरंभ के संबंध में वैज्ञानिकों का विचार इसी वायव्य के गोले से शुरू होता है परंतु यह गोला कहां से आया और किस तरह बना, कोई नहीं कह सकता। आकाशमंडल में इसी विश्व में सर्वथा शून्य देश कहीं नहीं है। मरे हुए जगत और नष्ट ब्रह्मांडों के शांत ठंढे और निर्जीव सूर्य जिन में न आंच है न ज्योति है और उन्हीं के वह ग्रह उपग्रह जो बिलकुल बरबाद हो चुके हैं, निरंतर बेठिकाने परंतु आकर्षण शक्ति के सहारे लगातार घूमते रहते हैं। उल्कापातों और धूम्रकेतुओं के वर्णन में हम इसी तरह के पदार्थों की चर्चा कर चुके हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि इस तरह के शिथिल और मृत पिंडों के आपस में टकरा जाने से ऐसी भयंकर आंच निकल सकती है जिस से कि दोनों पिंडों से निकले हुए ठोस पत्थर और लोहा गलकर द्रव और द्रव से हवा के रूप में बदल गये और इसी टक्कर का परिणाम एक नया वायव्य पिंड बन गया। यह बहुत संभव है कि उस समय नीहारिका की कुंडली में मौजूद पदार्थ के पिंडों के सब ओर से खिँचाव होने के कारण ऐसा बना हुआ पिंड किसी तरह का चक्कर लगाने लगा हो। इसी प्रकार के मृत पिंडों के संघर्ष से ही सूर्य और उस के और ग्रहों की रचना हो गयी होगी। नीहारिका जब तक कुंडली के आकार में नहीं आयी है, जब तक वह केवल किसी मरे हुए या महाप्रलय के बाद के विश्व के मसाले का बिखरा हुआ क्षेत्र है, तब तक समझना चाहिये कि वह नये विश्व के निर्माण के लिये सामग्री का गोदाम है। जैसे कोई किला या बहुत बड़ा महल तोड़वा दिया जाय और उस की सामग्री इधर उधर बेकार कहीं कम कहीं अधिक गँजी पड़ी हो और आसपास कहीं इमारत बनने के लिये उस का मसाला ढुलवाकर जाने लगे और कोई दूसरा महल बनने
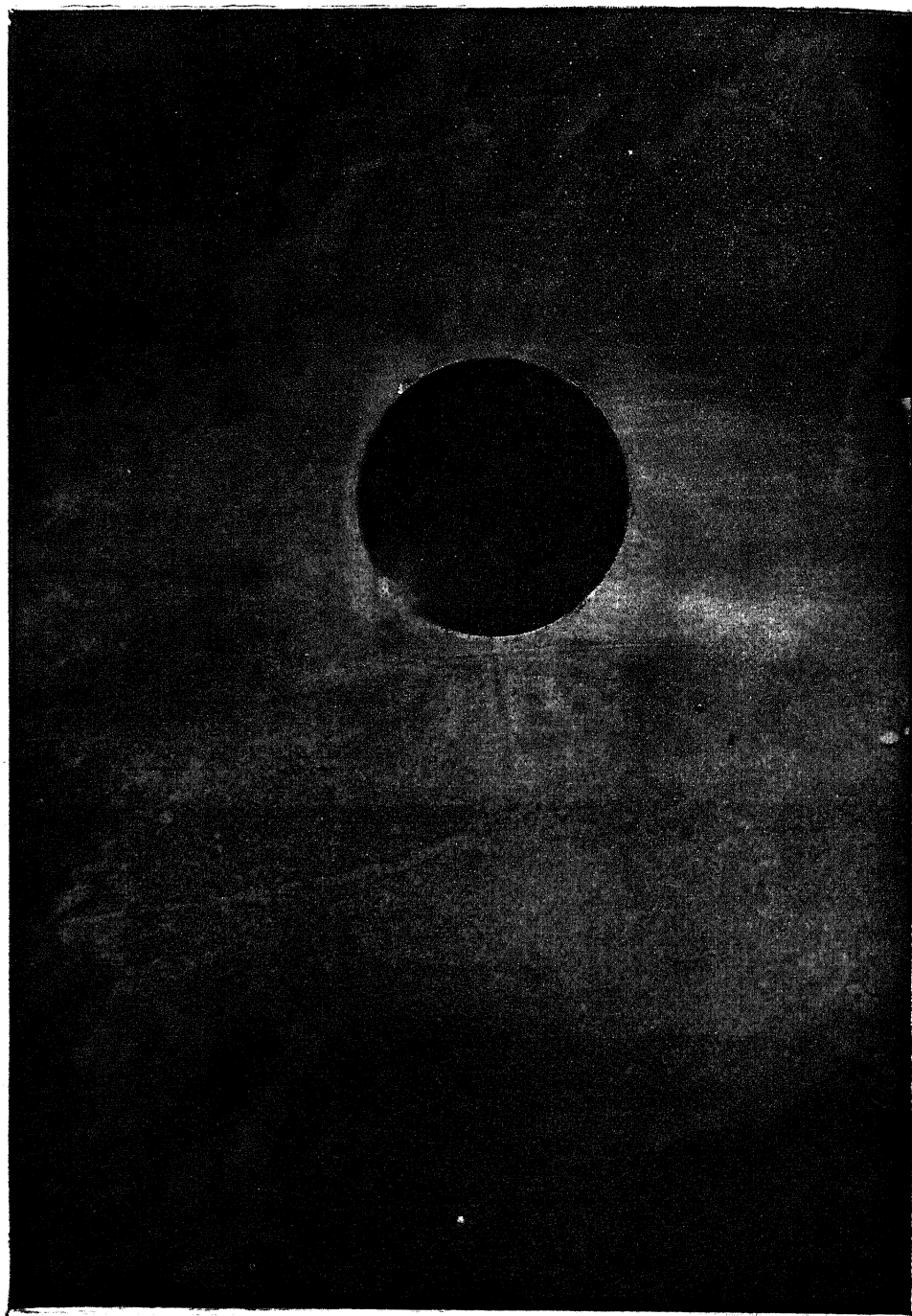
चित्र २७—सूर्य्य का सर्वग्रहण, ८ जून, १९१० ।

कोलम्बिया युनिवर्सिटी प्रेस की कृपा] [सौर-परिवार से

इस में कारोना और रक्त ज्वालाएं बड़ी सुन्दर रीति से अंकित हैं । आकाश के हलके बादलों ने दृश्य की शोभा बढ़ा दी है । चित्रकार श्री बटलर ने ओरीगन अमेरिका में इसे देखा था ।

[विज्ञान हस्तामलक पृ० ६७ के सामने]

लग जाय तो देखते ही देखते उस खंडहर के तो पुराने ढूहे गायब होने लगेंगे और नयी इमारतें देखने में आने लगेंगी। सूर्य, पृथ्वी और दूसरे ग्रहों का निर्माण कुछ ऐसे ही ढंग पर हुआ होगा। [चित्र २०-२० ग]

इस तरह की घटना हुए कितने बरस हुए होंगे यह कौन कह सकता है ? स्वयं यह घटनाएं जिन में भिन्न भिन्न ग्रहों की उत्पत्ति शामिल है, बहुत संभव है कि करोड़ों या अरबों बरस में हुई हों। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मांड के प्रसव होते होते करोड़ों या अरबों बरस लग गये होंगे।*

---

*पुराणों में सृष्टि की कथा बड़ी विलक्षण है। भगवान के नाभिकमल पर बैठे ब्रह्मा इस विचार में मग्न होते हैं कि मैं कौन हूं कहाँ हूं और किस लिये आया हूं कि इतने में भगवान के कानों के मैल से दो विशाल शरीरवाले दानव उत्पन्न होते हैं। आपुस में लड़ जाते हैं और दोनों मर जाते हैं। उनके शरीर का मैल उसी क्षीरसमुद्र में जल में बहता है और उसी से मेदिनी बनती है। इस मेदिनी से कुछ काल पीछे मंगल नामक एक ग्रह उस का पुत्र उत्पन्न होता है और बहुत काल पीछे मेदिनी के समुद्र का मंथन होता है और उस में से चंद्रमा निकलते हैं। यह चंद्रमा समुद्र के पुत्र हैं। इस तरह यह पृथ्वी तो आरंभ में मधुकैटभ के मेद से बनी और इसके पिंड से मंगल और चंद्रमा धीरे धीरे अलग हो गये। ब्रह्मा ने पृथ्वी की रचना नहीं की। उन्होंने मरीचि और भृगु नाम मानसिक पुत्र उत्पन्न किये। मरीचि के पुत्र कश्यप ने सूर्य को उत्पन्न किया। मरीचि के बृहस्पति नाम का पुत्र भी उत्पन्न हुआ। और भृगु के शुक्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। सूर्य के शनि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। बृहस्पति की पत्नी तारा के औरस से चंद्रमा ने बुध को उत्पन्न किया। इस तरह ग्रहों के परिवार की उत्पत्ति बतायी गयी है। हम पहिले भी क्षीरसागर में नारायण के शयन करने और कमल और ब्रह्मा की उत्पत्ति की बात टिप्पणी में दे चुके हैं। क्षीरसमुद्र शायद दूध सरीखा चमकनेवाला वह पदार्थ है जो नीहारिकाओं और आकाशगंगाओं में देख पड़ता है। इस तेजोमय पदार्थ का नाम नारा है। शेषनाग की कुंडली अनंत देश में पसरी हुई नीहारिकाओं की कुंडली है जिस पर भगवान शयन करते हैं।

सोना अकर्मण्य अवस्था बताता है। नारायण की नाभि से कमल उत्पन्न होता है जिस के दल चारों ओर फैले हुए हैं। केंद्र से नीहारिका के भीतर बड़े वेग की गति आरंभ होकर सब दिशाओं में छिटकती है। कान के मैल से दो दैत्यों का निकलना अनंत देश की या आकाश की किसी गुहा से दो मरे हुए पिंडों का निकल कर टक्कर खाना है और उन के मेद से अर्थात् टक्कर की प्रचंड आंच से पिघले हुए पदार्थ से मेदिनी बन जाती है। मेदिनी से ही लगभग उस के बराबर का टुकड़ा टूटकर मंगल उस का पुत्र उत्पन्न होता है। बहुत काल पीछे समुद्र के मंथन से चंद्रमा उत्पन्न होता है अर्थात् पृथ्वी का एक टुकड़ा निकलकर अलग हो जाता है। इसी तरह यदि हम पुराणों में

इस बात में सभी वैज्ञानिकों का अनुमान एक सा है कि इस दुनियां की सृष्टि के आरंभ में हमारी पृथ्वी का पिंड वर्तमान काल के हमारे सूर्य के पिंड सरीखा अत्यंत विशाल धधकता गोला रहा होगा और उस में बड़ी उत्तप्त दशा में पत्थर और धातुएं भी वायु रूप में रही होंगी। ज्यों ज्यों अनंत देश में उस समय आंच बिखरती जाती थी त्यों त्यों पिंड सिकुड़ता और घना होता जाता था। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि एक अरब बरस से अधिक हुए होंगे कि पृथ्वी से एक भाग कट के निकलकर चंद्रमा बन गया।*

उस समय पृथ्वी गले पदार्थों की,नासपाती की शकल की,धधकती हुई एक विशाल-काय चीज़ थी जो इस से पहिले बन चुके सूर्य के पिंड के चारों ओर भनायक वेग से घूम रही थी। एकाएकी सूर्य के भयानक खिंचाव से नासपाती का नुकीला हिस्सा इस महापिंड से चुँथकर अलग हो गया और धरती में कोई २७ मील गहरा गड्ढा हो गया जिस के भीतर आज महासागर लहरा रहा है। उस समय तो जल का कहीं नाम न था। उस की जगह गली हुई धातुओं और पत्थरों का ही तरल द्रव था और उसी की भाफ के धधकते हुए बादल थे। पृथ्वी भयानक वेग से चक्कर मारती थी। दो दो चार चार घंटों के दिन रात होते थे। इस लिये टूटते हुए चंद्रमा को भी वही वेग मिला। वह भी दिन रात में छः छः बार पृथ्वी की प्रदक्षिणा करने लगा। उस समय चंद्रमा देखने में बहुत बड़ा सा दीखता होगा क्योंकि पृथ्वी से केवल दस हजार मील की दूरी पर था। यदि उस समय मनुष्य होते तो वह चंद्रमा पर की ज्वालामुखियों की धधकती शिखाओं को देख सकते। आज हम को चंद्रमा के एक ही ओर का भाग देख पड़ता है परंतु उस समय चंद्रमा का दूसरा भाग भी दिखाई पड़ता था। चंद्रमा के पास रहने से उस समय अग्नि के समुद्र का ज्वारभाटा अत्यंत ऊंचा होगा। सर राबर्ट बाल ने हिसाब लगाया है कि ६०० फुट से ज्यादा ऊंची लहरें उठती होंगी। अब तो चंद्रमा २ लाख ३८ हजार मील दूर है।

बतायी सृष्टि का अनुमान करें तो पुराणों की कथा बहुत जगह विज्ञानियों के अनुमान से मेल खा जायगी। अनुमान कितना ही साधारण हो फिर भी अनुमान ही है। पुराणों के रूपकों में भी इसी तरह सृष्टि की सच्ची घटनाओं का अनुवाद हो सकता है।

* हिंदुओं की कल्पना है कि वर्तमान ब्रह्मांड के तैयार हुए कम से कम दो अरब बरस जरूर गुज़र गये हैं और चंद्रमा आदि पिंडों के निर्माण में जो कल्प के उदय के काल में बहुत पहले ही हुआ होगा अवश्य ही बहुत काल लगा होगा। प्रोफेसर रेले के अनुसार तो इस भूतल पर जीवन का उदय हुए एक अरब बरस के लगभग हो गये और चंद्रमा के अलग हुए या और पिंडों के बने तो कई अरब बरस हो चुके हैं। हिंदुओं के अनुसार सृष्टि के हुए आधे कल्प के लगभग हुए। क्योंकि वर्तमान काल सातवें मन्वंतर का अट्ठाईसवां कलियुग है। यह कुछ कम दो अरब बरस होता है, जो रेले के अनुमान के निकटतम है।

उसके ज्वालामुखी पर्वत बुझ गये हैं। फ़ुरसत में चलता है। ज्वारभाटा बहुत साधारण उठाता है।*

४—जलस्थल का आरंभ

जब पृथ्वी इतनी ठंडी हो गयी कि उस के ऊपरीतल पर केवल १२०० दर्जे की आंच रही तो उस के ऊपर ठोस चिप्पड़ बनने लगे और जब आंच घटते घटते ३७० दर्जे तक पहुँची तो भयानक दबाव के कारण उस समय के वायुमंडल में जल की भाफ कुछ कुछ घनी होने लगी और पानी बनने लगा। यह भी बड़े भयानक दिन थे। सारी धरती गली हुई धातुओं का एक महा भीषण कड़ाहा था जिस की धधकती हुई आंच आकाश में बहुत ऊंचे तक पहुँचती थी। जगह जगह बिजली कौंद रही थी। बादल कड़क रहे थे। धरती कांप रही थी।+ ज्वालामुखी उबले पड़ते थे। ज्यों ज्यों आंच घटती जाती थी त्यों त्यों धातुओं के बादल द्रव बनकर बरसने लगते थे। धरती आवे गले हुए पत्थरों और चट्टानों की बनी हुई थी और उसी दहकती हुई आंच के ऊपर पिघली हुई धातुओं और पत्थरों की मूसलाधार अग्निवर्षा होती थी। जब आंच कुछ और घटी तब आजकल हम जिसे पानी कहते हैं उस की बूंदें धरती पर गिरनी शुरू हुईं, परंतु ज्यों ही गिरती थीं त्यों ही भाप बनकर उसी तरह उड़ जाती थीं जैसे आज भी लाल तपते हुए तवे पर पानी की बूंदें गिरती हैं और उड़ जाती हैं। धीरे धीरे धरती की आंच और भी घटी और किसी जगह जहां गलते हुए चट्टानों ने बहुत ही विस्तीर्ण गढ्ढा कर दिया था वहां शतांश के १२५ और १५० दर्जों पर भयानक रीति से खौलते हुए जल का पहिला विशाल समुद्र बना। इतनी भारी आंच पर भी जल द्रव के रूप में बना रहा। उस का कारण यही है कि उस समय का वायुमंडल ऐसा घना था और उस का दबाव ऐसा भयानक था कि सौ दर्जे के बदले १५० से लेकर २०० दर्जे पर पानी उबलता था। यह समुद्र धीरे धीरे घटती हुई आंच के साथ बढ़ता गया और बढ़ते बढ़ते सारी धरती में फैल गया और पृथ्वी के समस्त ऊपरी तल को उस ने ढक लिया। इस समय जल अत्यंत उत्तप्त अवस्था में था। हर जगह पर लगातार उबल रहा था और मेघ धरती पर निरंतर छाये रहते थे, और बराबर बरसते रहते थे। लाखों बरस तक इसी तरह जल के उबलने और बरसते रहने से आंच धीरे धीरे घटती गयी। धरती के ऊपर अत्यंत उत्तप्त अवस्था में रहनेवाले सभी पदार्थों के ऊपर अत्यंत गरम जल जो ढके हुए

---

* यदि खौलते अश्मद्रव से पृथ्वी के एक खंड का निकल कर अलग होना ही समुद्र के मंथन से चंद्रमा का निकलना कहा समझा जाय तो चंद्रमा की पौराणिक उत्पत्ति यथार्थ मानी जा सकती है।

+ ज़मीनज़ तपोलर्ज़ः आमद सितोह। फ़रोकोफ़्त बर दामनश मेख़े कोह। (बोस्तां-सादी)। ताप और कंपन से धरती घबड़ा गयी, तो (ईश्वर ने) उस के अंचल में पहाड़ का खूंटा ठोक दिया (कि वह स्थिर रहे)।

था बराबर अपने में सैकड़ों चीज़ें घुलाता जाता था। पदार्थों में हजारों तरह के फेर बदल कराता जाता था और इस तरह अनेक जगह धरती सुकड़कर नीची होती जाती थी और बहुत जगह धरती बढ़कर ऊंची भी होती जाती थी। अनंत देश में धरती की आंच बड़ी तेज़ी से बिखरती जाती थी, परंतु साथ ही सुकड़ने के कारण प्रचंड आंच धरती के तल पर बढ़ती जाती थी। यह क्रिया आज तक जारी है, परंतु दोनों क्रियाएं आज परिमाणतः बहुत घटी हुई हैं। उस समय दोनों क्रियाएं अत्यंत उग्र थीं।

इस तरह आंच घटती जा रही थी, परंतु बहुत धीरे-धीरे। बहुत काल पीछे धीरे-धीरे जल के ऊपर थल भी दिखाई पड़ने लगा। इस समय बड़ी भयानक आंधियों और तूफानों का कुछ ठिकाना न था। जैसे बादल लगातार छाये रहते थे और बरसते रहते थे वैसे ही आंधी और तूफान लगातार धरती पर स्वच्छंद विचरते थे।

जिस समय धरती से चंद्रमा अलग नहीं हुआ था उस समय इस के विचित्र वायु मंडल का दबाव ६०-७० मन प्रति वर्ग इंच रहा होगा। ज्यों ज्यों आंच घटती गयी त्यों त्यों दबाव भी घटता गया। यही दबाव घटते घटते आज ७॥ सेर प्रति वर्ग इंच रह गया। उस समय की आंच जो दो हज़ार दर्जों से कम न रही होगी घटते घटते आज औसत २०दर्जे की हो गयी है। जिन दिनों पृथ्वी अश्मद्रव से ढकी हुई थी उन दिनों लगातार बादल छाये हुए रहते थे, इसी से सूर्य का दर्शन दुर्लभ था। जल के बन जाने पर भी यही दशा बनी रही।

धीरे-धीरे भूकंप ज्वालामुखी और लगातार की वर्षा घटी और सूखी भूमि कड़ी पड़ने लगी और नयी गीली भूमि निकलने लगी। बार-बार के सुकड़ने से और ऊपर के तल के अनेक पदार्थों के न घुल सकने से ऊँचे और कड़े चट्टान पैदा हो गये। उस समय यह नहीं जाना जा सकता था कि यह उबलते हुए जल के छिछले तालों से ढकी धरती और ऊबड़-खाबड़ चट्टानें जो इधर उधर निकली हुई हैं, इन से ही बड़े बड़े गहरे महासागर और ऊँचे ऊँचे पहाड़ों की चोटियां बन जांयगी। यह सब चीज़ें बनीं परंतु बहुत धीरे-धीरे बनीं और करोड़ों बरसों के समय में बनीं।

धरती बराबर सुकड़ती गयी। पहिले तो दूध पर की मलाई की तरह धरती की तह पर एक चिप्पड़ जमा। फिर वही धीरे-धीरे मोटा होता गया। उस के भीतर दहकती हुई आग पिघली हुई चट्टानें और बिलकुल गर्भ के भीतर को अत्यंत घनी और उत्तप्त लोहे की वायु भरी हुई रह गयीं, जिस में कि निरंतर महाभयानक तूफान उठते रहते हैं, जिन से आज भी धरती का ऊपरी चिप्पड़ कहीं-कहीं और कभी-कभी कांप जाया करता है और कहीं-कहीं ज्वालामुखी के रूप में फूट पड़ा करता है।

सूखी धरती धीरे-धीरे बढ़ने लगी। ऊँचे-ऊँचे चट्टानों पर वर्षा होने से जल की धारा बड़े वेग से नीचे की ओर बहती थी और उसी के साथ-साथ चट्टानें कट-कट कर बालू और मिट्टी बहती हुई चट्टान के नीचे समुद्र में पहुँच जाती थी। भूगर्भ विद्या के खोजियों ने सोलह हजार फीट की ऊँचाई पर हिमालय की पर्वत-माला में, घोंघे, शंख और सीपियों का पता लगाया है। इस से सिद्ध होता है कि किसी युग में धरती का वह भाग
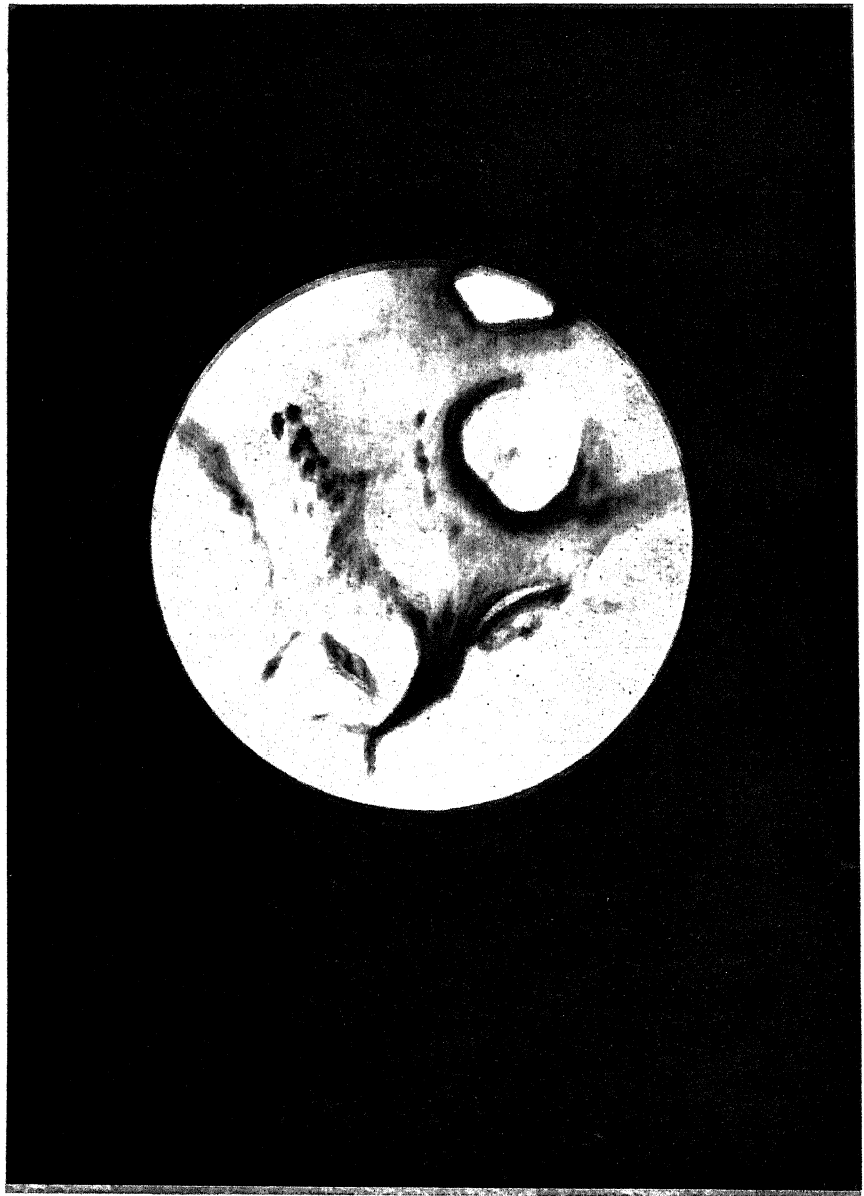
चित्र २१—मंगल

छोटा सा सफेद भाग बर्फ से ढका दक्षिणी ध्रुव-प्रदेश है। कुछ ज्योतिषियों का अनुमान है कि नहरों द्वारा यहाँ के बरफ़ का पानी और भागों में जाता है।

[विज्ञान हस्तामलक पृ० ७१ के सामने] [सौर-परिवार से

समुद्र के नीचे था। उस समय नदियों का बहाव शायद ठीक उसी दिशा में न होगा जिस में आज है। उन की संख्या भी कम रही होगी।

५—धरातल का विकास

धरातल का विकास बहुत धीरे-धीरे और अत्यंत सुदीर्घ-काल में हुआ है। विज्ञानियों का अनुमान है कि पृथ्वी पर एशिया वा जम्बूद्वीप ही सब से प्राचीन महाद्वीप है जिस पर जीवन की सृष्टि आरंभ हुई। जिसे पौराणिक पाताल कहते आये हैं और जो एशिया या जम्बूद्वीप के ठीक दूसरी ओर इसी धरती के गोले पर का स्थल है, जो आज अमेरिकन महाद्वीपों के नाम से प्रसिद्ध है, जम्बूद्वीप की ही तरह आदि युग से ही परिवर्त्तन शील रहा होगा, परंतु उस के संबंध में प्रागैतिहासिक काल की बातें बहुत कम मालूम हो पायी हैं।

धरातल का परिवर्त्तन तो वास्तव में निरंतर होता रहता है। सृष्टिकाल से लेकर आज तक परिवर्त्तन होता आया है और होता रहेगा। परंतु यह इतने धीरे-धीरे होता रहता है कि लाखों बरस लग जाते हैं और मनुष्य इतने वृहत्काल के इतिहास को भूल जाता है। अनेक जातियों का उत्थान विकास और पतन देखनेवाला तो उन से भी अधिक आयु का होना चाहिये। फिर भी चट्टानों पर प्रकृति की कलम से अंकित कथा हमें कुछ पता बताती है और प्राचीन जातियों के पुराणों से उन का समर्थन भी होता है।

जब धरती इतनी दृढ़ हो गयी कि समूचा गोला एक साथ अपनी धुरी पर पच्छिम से पूरब को ओर, या घड़ी की सुई की उलटी दिशा में, घूमने लगा, उस समय यद्यपि उस का पूरा घूर्णन लगभग चौबीस घंटे का होने लगा था। तो भी उस की मंडलानेवाली गति के कारण सभी देशों और कालों में दिन रात सदैव एक ही मान के नहीं हो सकते थे। लट्टू जिस तरह मंडलाता है उसी तरह यह धरती भी मंडलाती है। इस मंडलाने की क्रिया इतनी सूक्ष्म है कि इस का चक्कर आजकल की गति के हिसाब से छब्बीस हजार बरसों में पूरा होना चाहिये। इतने दीर्घकाल का इतिहास भी मानव जाति के पास कहां है और यह पता कैसे लगे कि इस मंडलाने से इस भूतल पर क्या क्या परिवर्त्तन हुए? सौभाग्य से भूतल पर के चिह्न, पत्थर पर के अंकन और वैदिक और पौराणिक साहित्य इन का पता देते हैं।

वैज्ञानिकों का अनुमान है कि अब से आठ दस लाख बरस पहले जम्बूद्वीप में अफ्रिका, अरब, शाम पूर्व दक्खिणी युरोप का अंश तुर्किस्तान, तिब्बत, चीन, भारतीय द्वीप समूह बरमा आदि सभी देश एक में मिले हुए महाद्वीप थे। [देखो मानचित्र सं० ४६] इस समय भारत के उत्तर में समुद्र नहीं था। किंतु बहुत दूरी पर अक्षांश ५५ तक धरती थी। उस के उत्तर में ध्रुव तक समुद्र था। ज्यौतिष की गणना से पता लगता है कि उस काल में सूर्य की परमक्रान्ति ८० अंश से अधिक होगी और इसी कारण सारे भूतल पर छः महीने की रात और छः महीने का दिन होता होगा। आज कल का मंगोलिया, सैबेरिया, मंचूरिया युरोप आदि देश महासागर की तली में थे।

इस काल के बाद छः लाख बरस का धरती का नकशा बदला हुआ था। भारतवर्ष के उत्तर में हिमालय प्रदेश उत्तरी महासागर का तट था। मंगोलिया का उत्तरी अंचल और सैबेरिया का दक्षिणी भाग उभरकर स्थल बन गया था। पूरा तिब्बत और चीन का अधिकांश सागर के अंदर था। मंचूरिया उभर ही रहा था। इस समय भारत में जो नदियां
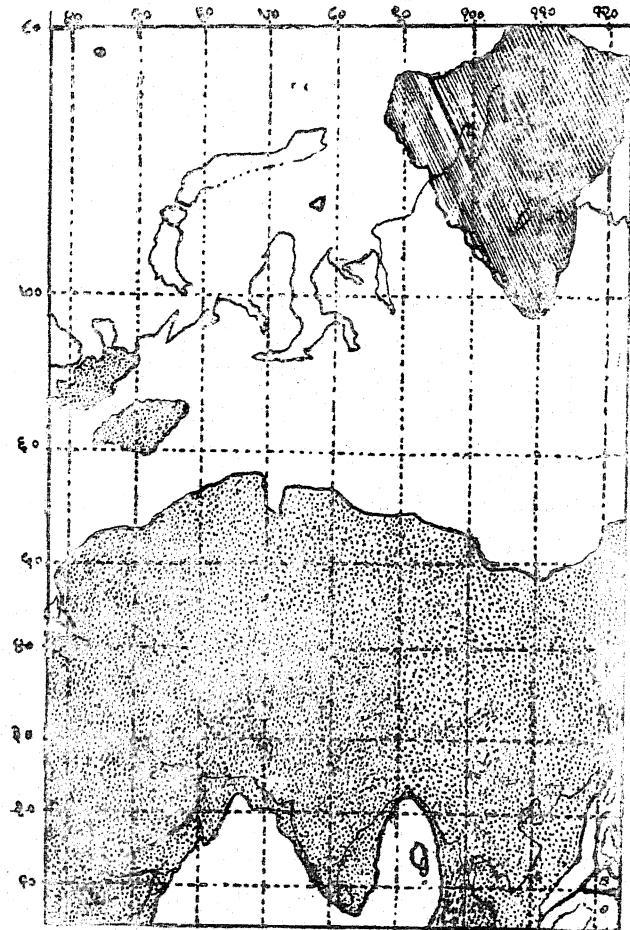
चित्र ४६—जंबू द्वीप, दस लाख से आठ लाख वर्ष पूर्व तक

अंधकार की कृपा] **[वेद-काल-निर्णय से**

हिमालय से निकलकर दक्षिणी समुद्रों में गिरती हैं वे शायद उस समय उत्तर समुद्र में गिरती होंगी। यह हिमप्रलय के पहले की अवस्था है। इस काल में जम्बूद्वीप में अहोरात्र का मान २४ घंटों के लगभग का रहा होगा। परंतु उत्तरी प्रदेशों में छः—छः मास का अहोरात्र होता होगा। इस काल का आनुमानिक मान चित्र सं० ४६ में दिखाया गया है।

हिमप्रलय से पहले हिमालय पर्वत कम ऊँचा रहा होगा। यह उत्तरगिरि कहलाता होगा और इस के उत्तर में समुद्र होगा। इसका प्रमाण ब्राह्मण ग्रन्थों में भी मिलता है।
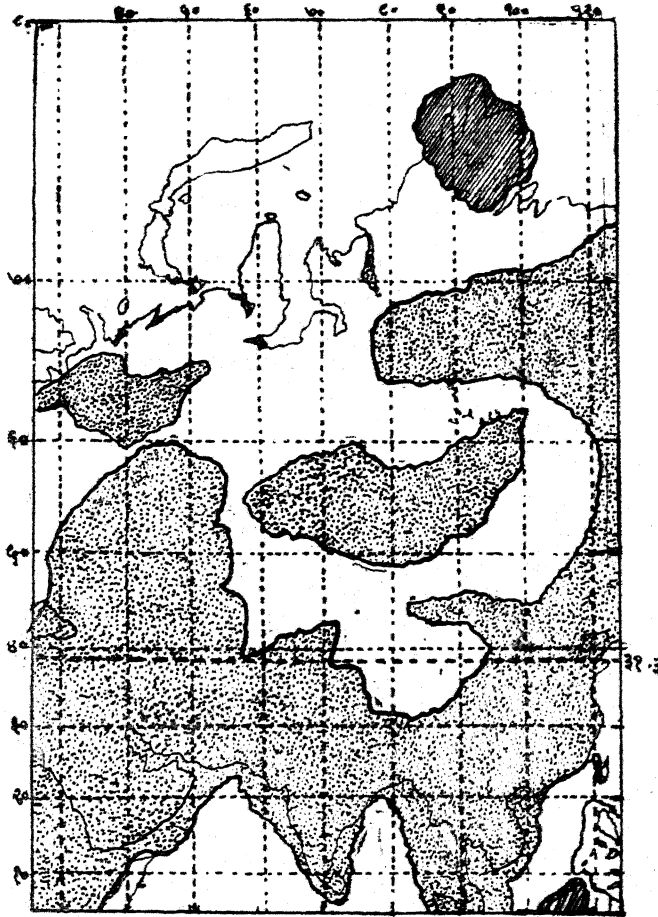
चित्र १०—जंबू द्वीप आठ लाख से दो लाख वर्ष पहले तक

ग्रंथकार की कृपा] [वेद-काल-निर्णय से

अब से अस्सी हजार से लेकर दो लाख बरस पहले तक जैसे जैसे हिमालय के उत्तर का समुद्र सूखता गया वैसे ही वैसे उस पर बरफ गिरती गयी। यह भूमंडल कुछ ऐसी स्थिति में पहुंचा कि सारा उत्तर गिरि बरफ से ढक गया। इसी समय इसी उत्तर गिरि का उभार भी हुआ होगा जिस से इस की ऊंचाई बढ़ गयी होगी और तिब्बत का प्रदेश ऊंचा उठकर समुद्र के ऊपर हो गया होगा। उसके भी उत्तर की ओर समुद्र का अंश बड़े लम्बे चौड़े सरोवर की तरह रह गया होगा जिस की जगह आज गोबी का वालुका

समुद्र है। इसी बालुका समुद्र का वर्णन महाभारत में आया है, जिससे पता चलता है कि बीस हजार बरस पहले यह महा सरोवर भी सूख चुका था।

ये परिवर्त्तन नक्शा ४६ और ५० में दिखाये गये हैं।
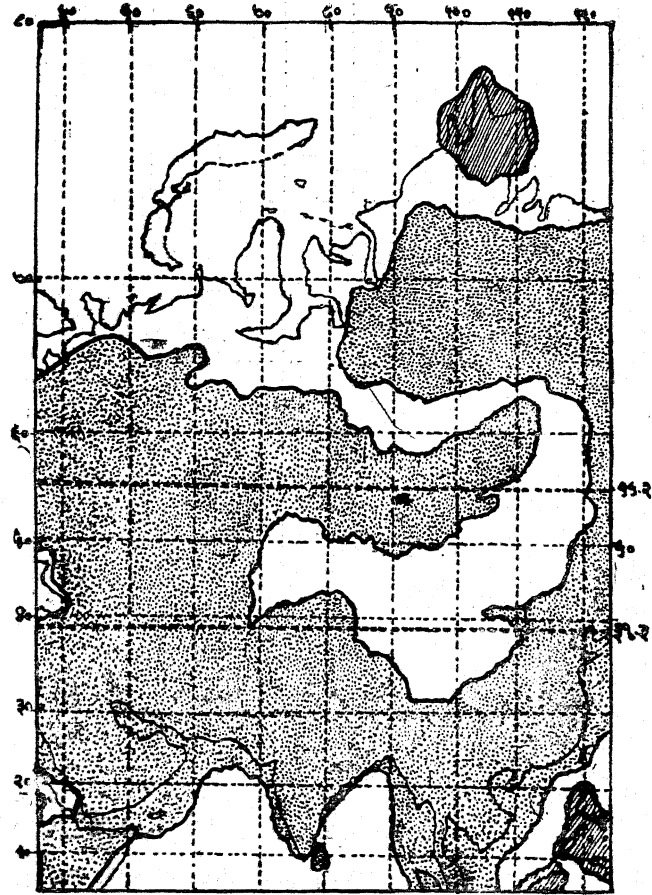
चित्र २१-जंबू द्वीप दो लाख से अस्सी हजार बरस पहले तक

अंधकार की कृपा] [वेद-काल-निर्णय से

अब से पचीस हजार बरसों से लेकर अस्सी हजार बरसों तक का समय अंतिम हिमप्रलय के बाद का है जब कि अन्तिम मत्स्यावतार का समय पुराणों में बतलाया जाता है। अस्सी हजार बरस पहले के समय में धरती में घोर परिवर्त्तन हुए होंगे। हिमालय उभर कर आजकल की सी ऊंचाई का हो गया होगा। उस के दक्षिण का मैदान धँसकर नीचे

चला गया होगा। राजस्थानवाली धरती भी नीचे चली गयी होगी। सारा भारत जलमय हो गया होगा। संसार का पूरा नकशा बदल गया होगा। भारत में सरहिंद के आस-पास की धरती उभर कर ऊँची हो गयी होगी। जब जलप्लावन और हिमप्रलय बीतने पर आया तब

चित्र ४२—जंबूद्वीप अस्सी हजार से ६।। हजार बरस पहले तक

[वेद-काल-निर्णय से ग्रंथकार की कृपा]

भी हिमालय के दक्षिण का मैदान जल से भरा था और गंगा जी कहीं हरद्वार से नीचे ही समुद्र से मिलती थीं। मथुरा, अयोध्या, प्रयाग, काशी आदि तीर्थ समुद्र के गर्भ में थे। आज से सत्तर हजार बरस पहले यह समुद्र भी प्रायः बालू से भर गया होगा। गंगा जमुना आदि नदियां फिर से अपने पुराने बहाव के क्षेत्रों से बहने लगी होंगी। उधर राजस्थान

जिस प्रदेश में है वहां विशाल झील होगा जो धीरे धीरे सूख रहा होगा। सरस्वती और दृषद्वती नदियां उसी में जाकर गिरती होंगी। हिमप्रलय से पहले यह सरस्वती प्रयाग में गंगा जमुना से मिलती होगी, परंतु बाद को सरहिंदवाले प्रदेश के उभार से इस का रुख बदल कर पश्चिम-दक्षिण-गामी हो गया होगा। यही सरस्वती कोई दो-तीन हजार बरस में उस बड़े सरोवर के साथ ही साथ सूखती गयी होगी। हमारा अनुमान है कि अब से ६०,००० बरस पहले सरस्वती-दृषद्वती का लोप हो गया होगा और राजस्थान का बालुका-क्षेत्र बन कर सांभर नाम का एक विशाल सरोवर बन गया होगा। उस समय ही हिमालय के दक्षिण का मैदान नदियों से लाये हुए रेते से पटकर मैदान हो चुका होगा। संयुक्त प्रांत और बिहार का प्रदेश नये सिरे से वनमय हो गया होगा। पुराणों से पता लगा कर अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, प्रयाग, गया आदि तीर्थ फिर से बसे होंगे। बहुत संभव है कि आज जिस भूखंड पर यह बसे हैं ठीक ठीक वे ही भूखंड न हों जिन पर वे पहले बसे थे। बंगाल का पूर्व-दक्षिण भाग तो महाभारत-काल में भी सूखा स्थल न था जिस को कि सब से नयी खोज आज से २१,००० बरस पहले ठहराती है जो लगभग दो मानव चतुर्युगियों से कुछ ही कम समय होता है।

भूविज्ञानियों का अनुमान है कि दो महाद्वीपों को अलगानेवाली पर्वतमालाएं इस प्रकार बनी हैं। पहले दो महाद्वीपों के बीच बहुत बड़ा भूभाग गहरा सपाट हो जाता है। सैकड़ों, हजारों मील की लबाई चौड़ाई में यह खड्ड बनता है जैसा कि चित्र ५३ में दिखाया गया है।
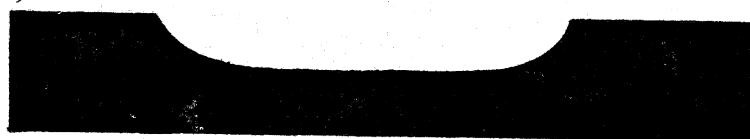
चित्र ५३—दो महाद्वीपों के बीच की गहराई

इस समुद्र में नदियां गिरती हैं और पत्थर बालू आदि ला-लाकर इस गहराई को पाटती चलती हैं। इस में लाखों बरस लग जाते हैं। फिर धीरे-धीरे पानी के दबाव से यह कड़ी चट्टानें बन जाती हैं और परतीली हो जाती हैं। ये परत बड़े कड़े और ऊँचे ऊँचे लहरीले आकार के बन जाते हैं।

काल पाकर ये परतीली चट्टानें शिखर के पास अधिक नोकदार और तेज ढलवां हो जाती हैं और ऊपर को अधिक उभर आती हैं, ऊंची हो जाती हैं।

फिर धीरे-धीरे काल पाकर ये परत टूट-टूटकर शिखरों में गोलाई आ जाती है और ऊंचाई में कुछ कमी आ जाती है। फिर इसी दशा से धीरे-धीरे उभाड़ होता है और ऊंचाई

फिर बढ़ती है। इस क्रिया से जो पहले गहरा समुद्र था अब ऊँचा पहाड़ बन जाता है। परंतु फिर भी उस का उभरना जारी रहता है। धरती के भीतर का बड़वानल उसे उभारता रहता है जिस से बारंबार भूचाल आता रहता है।
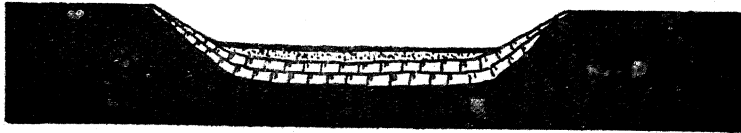
चित्र ५४-बालूपत्थर आदि से पट रही है

यह तो पहाड़ों की वृद्धि की क्रिया हुई। ह्रास भी बराबर जारी रहता है। हवा पानी से रासायनिक परिवर्त्तन होकर पत्थर घुलता रहता है, पानी जमकर उसे तोड़ता रहता है, हिमसरिता अपने किनारों को तोड़कर बहाती रहती है।
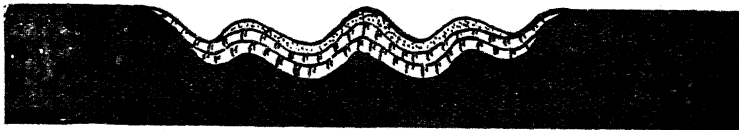
चित्र ५५-कड़े परतोंवाली चट्टानें बन रही है

पर्वतों के बनने का यह एक ही क्रम नहीं है। ज्वालामुखी से धरती की सामग्री सिमटकर इकट्ठी हो जाती है। पहाड़ इस तरह भी बनते हैं। धरती के उभाड़ से भी पहाड़ बन जाते हैं। चित्र ५८ में कई तरह के पहाड़ों के नमूने दिखाये गये हैं।
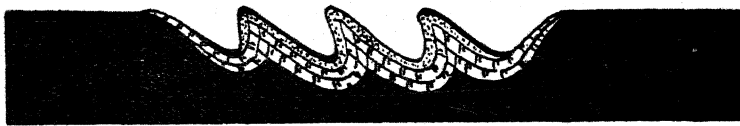
चित्र ५६-चट्टानों का अधिक उभार

कुछ भूविज्ञानियों का अनुमान है कि भारत में जो नदियां आज हिमालय से उतर कर पूरब और पच्छिम की ओर बहकर सागर में जा गिरती हैं वे पहले हिमालय से उत्तर

की ओर पच्छिम पूरब दिशाओं में बहकर उत्तर समुद्र में गिरती थीं। जब उधर धरती उभरी और समुद्र ने बदलकर ऊंचे मैदान का रूप धारण किया तो नदियों का रुख भी उलट गया। गंगा-जमुना आदि उलटकर अब दक्खिन की ओर चली आयीं। हमारे मत
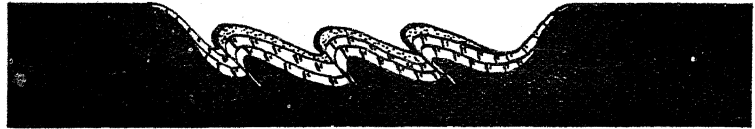
चित्र ४७ शिखर गोलहोकर मिल रहे हैं

से ये वैज्ञानिक उलटी गंगा बहाते हैं। गंगा जमुना आदि नदियां के उलटे बहने की आवश्यकता नहीं है। हिमालय के दक्षिण में गहरे समुद्र होने के प्रमाण से और वैदिक प्राक्प्रालेय प्रमाणों से उनके अनुमान निराधार ठहरते हैं। हां, ब्रह्मपुत्र महानद का उलट
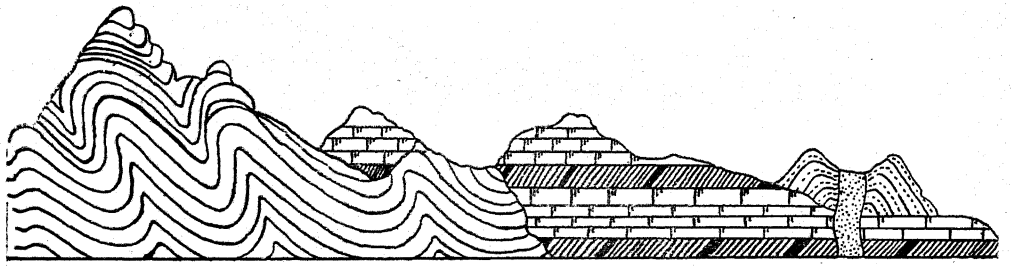
चित्र ४८-कई प्रकार के पहाड़ों के नमूने। बायीं ओर से पहले परतीले पहाड़ हैं। इसके धँसने से नये पटतल बने। फिर उभार होने से ऊंचा पठार जिसके विभक्त होने से भी पहाड़ बने। फिर परतीले पहाड़ दाहिनी ओर दिखाई देते हैं जो कभी जलमग्न नहीं हुए। अंत में दाहिने किनारे पर ज्वालामुखी से बना हुआ पहाड़ दिखाया गया है।

कर इधर बहने लग जाना ज़रूर संभव है। इसी तरह हिमालय का नया पर्वत होना भी निराधार सिद्ध होता है। यों तो सभी पर्वतों के बनने का इतिहास अलग-अलग है, परंतु किसी भूखंड का उभरने और धँसने की क्रिया का कोई निश्चित क्रम नहीं है, और न काल का ठीक अनुमान किया जा सकता है। अटकलपच्चू जो अनुमान किये जाते हैं, उन का भरोसा हम नहीं कर सकते।

हमारा यह भी अनुमान है कि अंतिम हिमप्रलय के लगभग भूतल में जो-जो परिवर्त्तन हुए होंगे वे परिवर्त्तन पहले-पहल नहीं हुए होंगे। ऐसे अनेक परिवर्त्तन पूर्व महा-युगों में अनेक बार हो चुके होंगे। पृथ्वी धँसी होगी और उभरी भी होगी। सृष्टि और प्रलय का इतिहास बारंबार दोहराया जाता है। इसी लिये हमारा अनुमान है कि इस विशाल भारतवर्ष देश में सृष्टि के आदि युग में किसी समय सरहिंद और सहारनपुर से लेकर कलकत्ते तक की उपजाऊ धरती समुद्र के भीतर थी। एक ओर से हिमालय और
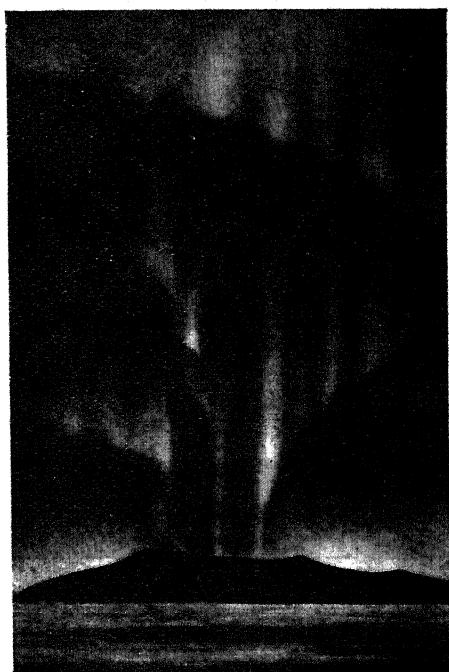
चित्र ९९ क—उत्तरीय विद्युज्ज्योति जो सुमेरु खंड की लंबी रातों में उजाला रखती है।

रायल सोसैटी] **[सौर-परिवार से**

दूसरी ओर से विन्ध्यगिरि समुद्र के दो किनारे थे। सारा संयुक्त प्रांत उस युग में भी समुद्र के भीतर था। इस महाविशाल गड्ढे को भरने का काम गंगा-जमुना आदि महानदियों ने तब भी किया होगा। नदियां ही आज भी बंगाल की खाड़ी के उत्तरी किनारे के सुंदर-बन की जमीन को बढ़ाती जाती हैं और जल से निकाल कर थल रचती जाती हैं। सचमुच नदियों ने ही इस संसार को बसाया है और रहने के योग्य बनाया है। जिस समय नदियां आजकल की मिट्टीवाली धरती बना रही

थीं उसी समय तिब्बत से उत्तर में रहनेवाले वालुका समुद्र वा गोबी का मरुस्थल भारत के राजस्थान और अरवस्थान के मरुस्थल और अफ्रीका का सहारावाला महामरुस्थल स्थल से चारों ओर घिरा हुआ समुद्र रह गया था जो लाखों वरस में धीरे-धीरे सूख कर वालुका समुद्र बन गया है। संसार के बहुत बड़े-बड़े समुद्र इसी तरह से घिरे हुए जलाशय हैं जो
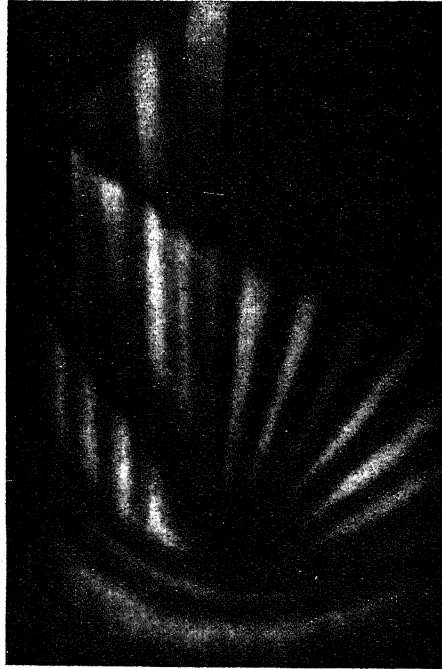
चित्र ४१ ख—उसी विद्युज्ज्योति का दूसरा रूप।

रायल सोसैटी] रूप क्षण-क्षण बदलता रहता है। [सौर-परिवार से

सिकुड़ते-सिकुड़ते आज झील का कम रुतबेवाला नाम पाये हुए हैं। जिस तरह आज समुद्र का जल भाफ बनकर आकाश की मेघमाला का पोषण करता है और मेघमाला बरसकर नदियों का पोषण करती है, और नदियां फिर समुद्र का पोषण करती हैं, ठीक यही क्रम कई लाख बरसों से धरती की रचना में सहायक हो रहा है।

६—पृथ्वी के भीतर भूगर्भ विज्ञान

ऊपर के चिण्पड़ के निर्माण की क्रिया तो हम ने देखी पर हमें चिण्पड़ के भीतर का भी हाल जानने की कोशिश करनी चाहिये।

फ्रांस के प्रसिद्ध ज्योतिषी महाशय फ्लामारियां ने भूगर्भ की वास्तविक अवस्था जानने के लिये पांच मील गहरा और साढ़े तीन सौ गज के व्यास का एक छेद धरती में

धरती के चिप्पड़ की खड़ी काट
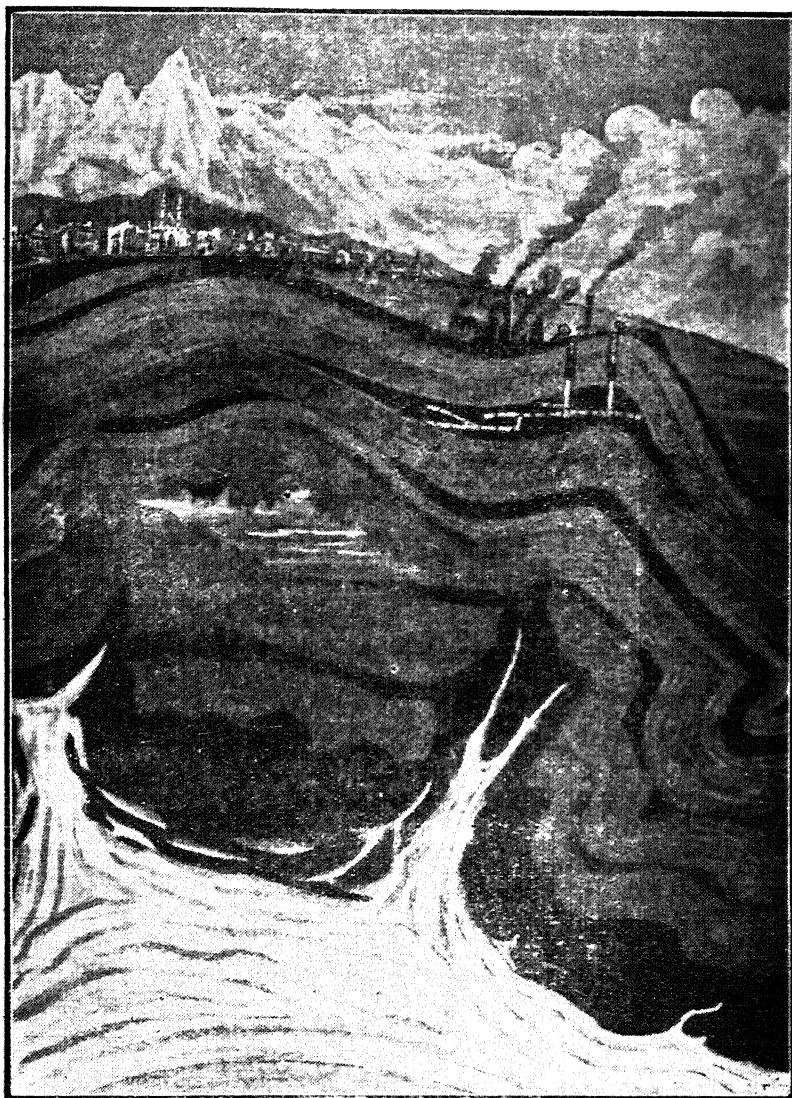
चित्र ६०—पचास मील गहराई की काटका काल्पनिक दृश्य

तैयार करने की योजना बनायी थी। इस घड़ी तक सब से गहराई का गड्ढा जो धरती में खोदा गया है एक मील से कुछ अधिक का है। इस लिये फ्लामारियां के पचगुने गहरे गर्त की तैयारी में बहुत बरसों का समय और करोड़ों रुपयों का खर्च लग जायगा। फ्लामारियां का तो कहना है कि यह शुद्ध वैज्ञानिक काम है, इस में बैठे-ठाले रहनेवाले संसार के लोग लगा दिये जाने चाहिये। परंतु यह योजना अभी तक काम में नहीं आयी है। तौ भी स्वीडन के प्रसिद्ध रासायनिक स्वांते अरीनिउस ने हिसाब लगाकर और इस विषय पर पूरा विचार करके यह निश्चय किया है कि धरती धातु का एक भारी गोला है, भीतर प्रचंड आंच से उत्तप्त है और गर्भ में वायव्य रूप में है। उस के अत्यंत गहरे भागों में भार के खिंचाव से खिंच कर सोना चांदी प्लेटिनम आदि धातुएं जमा हो गयी हैं। नीलों और पद्मों

ठोस धरती के भीतर का काल्पनिक दृश्य
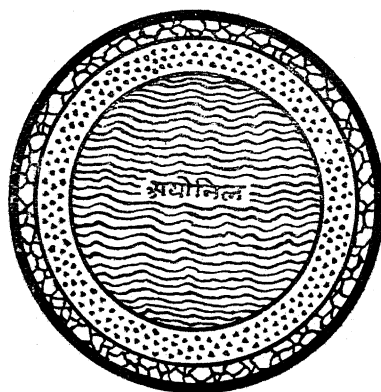
चित्र ६१—पृथ्वी-मात्र की खड़ी काट (काल्पनिक)

[मार्टिन का अनुवर्तन

मन सोना धरती के केंद्र में इस तरह खिचकर बढ़ गया है। फ़ारसी-अरबी सभ्यतावाले कहते हैं कि क़ारूं अपने खजाने को लेकर धरती में धंस गया है और दिनों-दिन धंसता जाता है। वह कारूं का ख़ज़ाना सचमुच यहीं है। इस कारूं के ख़ज़ाने के चारों ओर बहुत बड़ा विस्तार वायव्य रूप में लोहे का है। वायव्य रूप में होते हुए भी यह फौलाद या ईस्पात से भी अधिक घना है। इसी फौलादी सेफ़ या तिजोरी के भीतर कारूं का खजाना बंद है। पृथ्वी का लगभग आधा पिंड लोहे का है। जिन लोगों ने तातानगर में लोहा गलानेवाले भट्ठे की उजली धधकती हुई आंच देखी होगी उन लोगों को समझना चाहिये कि भूगर्भ के भीतर की आंच के सामने वह कुछ भी नहीं है। इस आंच के कारण तो लोहा भूगर्भ में वायव्य दशा में रहता है। परंतु महाभयंकर दबाव के कारण यह वायु इतनी घनी हो जाती है कि फौलाद भी उसके सामने दब जाता है। पृथ्वी के आठ हजार मील के व्यास में ६ हजार मील

के लगभग इस वायव्य लोहे का, अयोऽनिल का, मंडल है। इस के ऊपर छः सौ मील मोटा चट्टानों के वायव्यों का स्तर है। इस के ऊपर १६० मील मोटा धधकती आंच से सफेद गले हुए पत्थरों का तल है। इन सब के ऊपर अधिक-से-अधिक सौ मील और कम-से-कम पचीस-तीस मील मोटा चिप्पड़ है जिस पर हम लोग रहते हैं। हमारे चिप्पड़ के ऊपरी तल पर कुल दस-ग्यारह मील की ऊंचाई नीचाई है, जिस में से ऊंचे-से-ऊंचे पहाड़ गौरीशंकर की ऊंचाई ५ मील है और समुद्र की साधारण गहराई ५।६ मील है।

६—ऊपरी तल

नदियां बहुत काल तक बहती-बहती गड्ढों को पाटती रहीं, परंतु साथ ही पानी एक और जरूरी काम बराबर करता रहा। बड़े-बड़े चट्टानों को पीस कर भुरभुरी मिट्टी और रेत तैयार करता रहा। इस काम में आदि के संसार के केंचुए सरीखे असंख्य बेरीढ़वाले उभय-चारी और स्थलचर रेंगनेवाले प्राणियों ने बड़ी सहायता की। यह नमकों के लिये चट्टानों को रेजे-रेजे कर कर के खाते जाते थे और महीन मिट्टी बीट करते थे। इस से नरम मिट्टी ऊपरी तल पर जमा होती गयी। अब पहाड़ों की ऊंची चोटियों पर बहुत काल पीछे बरफ गिरना शुरू हो गया। मेघ से बरसने वाला पानी चट्टानों की दरारों में समाया और छोटी छोटी गुहा-गह्वरों में भर गया। परंतु अब सरदी पड़ने लगी थी। इसी सरदी के कारण पानी जमकर बरफ हुआ। बरफ का आयतन पानी से अधिक होता है अर्थात् बरफ अधिक स्थान लेता है। इसी लिये गुहाओं के भीतर जब बरफ जमा तो उस ने एकाएक चट्टान को तोड़कर चूर-चूर कर डाला और अपने निकल भागने की राह बना डाली।

इस तरह पहाड़ से बड़ी मंथर गति से, जो देखने में गति मालूम नहीं होती, बरफ के टुकड़ों की धारा बह चली। यही बड़ी दूर पहुँचकर गल-गलकर पानी की धारा बनती गयी। बड़ी-बड़ी पहाड़ी नदियों का, जो कभी नहीं सूखतीं, इन्हीं बरफ की धाराओं से सिल-सिला जारी रहता है। बहुत काल पीछे जब धरती पर जीवन का पूरा विकास हो चुका था, दुनियां हरी-भरी रंजी-पुंजी थी, पहली बार बरफ का ऐसा प्रलय आया कि जैसे किसी समय सारा संसार जल से ढक रहा था, इस बार सारा जगत बरफ से ढक गया। इस में उस समय की बड़ी भारी आबादी तबाह हो गयी, पर बरफ ने अपने चूरा करने वाली चक्की के बल से जगत का नकशा बदल दिया। पहले सारे संसार में एक सी गरमी थी, ध्रुव प्रदेश भी आबाद थे, सदा वसंत ऋतु बनी रहती थी, अब इस हिम-प्रलय के पीछे ध्रुवों से बहुत दूर तक विषुवत रेखा की ओर सरदी बढ़ गयी और भूतल के बीच के ही भाग में गरमी अधिक रही। यह हिम-प्रलय लगभग चार बार हो चुके हैं। प्रलय के पीछे संसार बसता है। फिर प्रलय में अधिकांश आबादी नष्ट हो जाती है।

आज भूगर्भ-विद्या के खोजी पृथ्वी को खोद-खोदकर उस के विविध स्तरों की जांच करते हैं और उन के समय की अटकल लगाते हैं। इन्हीं अटकलों से उन्हों ने पता लगाया है कि पृथ्वी के विविध स्तर कब-कब के बने होंगे, कौनकौन सा अंश किस-किस दशा में

होगा और पूर्व काल में किस-किस दशा में हो सकता था। इन्हीं खोजियों के आधार पर हम ने इस धरती की कथा इन पृष्ठों में संक्षेप से दी है।

यद्यपि यह अटकल आनुमानिक है और आगे चलकर समय की गणना में बहुत कमी-बेशी पड़ सकती है, तथापि धरती के विकास का क्रम तो पत्थर के चट्टानों से स्पष्ट होता है, मानों पत्थर पर लिखा है। काल में मतभेद हो सकता है, परंतु सृष्टि और विकास के क्रम में मतभेद नहीं हो सकता। पढ़ने और अर्थ लगाने में विद्वानों में मतांतर हो सकते हैं, परंतु क्रम तो पत्थर की लीक है, उसे कौन मिटा या बदल सकता है! पत्थर के वरकों पर लिखे हुए इसी वर्णन को विज्ञान प्रमाण मानता है, क्योंकि मनुष्य बहुत पीछे पैदा हुआ है, उसकी पोथियां पहले का इतिहास नहीं बता सकतीं। फिर भी प्रत्येक मत या संप्रदाय के पुराणों ने सृष्टि का वर्णन किया है। इन वर्णनों से मिलान करना बड़ा ही रोचक होगा।

७—सृष्टि का क्रम। विज्ञान और पुराण का समन्वय

सृष्टि-क्रम के संबंध में सृष्टि-विज्ञानियों का जहां प्रायः मतैक्य है वहां उस के युग परिमाण और काल के संबंध में अब तक विचारों का विकास होता चला आया है। ईसाई तो सृष्टि को कुल छः हजार बरस की समझता था। मिस्र और बाबुल देश की खुदाइयों और इतिहास के परिशीलन से यह अवधि बढ़ गयी। भूतत्त्ववादियों ने इस कालावधि को लाखों की संख्या में गिनना शुरू किया। भौतिक विज्ञानियों ने धरती के सुकड़ने, ताप के निकलने और बढ़ने, समुद्र में नमक के घुलने, धरती के विविध स्तरों के बन नने आदि का लेखा लगाकर इसे और बढ़ाया। उनके सिरमौर लार्ड केल्विन ने दो करोड़ बरस धरती की आयु बतायी। उनके बाद रश्मि विकीरक तेजोमय धातुओं का पता लगा जिन से पृथ्वी की आयु अत्यंत बढ़ गयी। अब तो यह संभावना समझी जाती है कि धरती अधिकाधिक गरम होती जाती होगी। ब्रिटिश असोसिएशन के संवत् १९७८ वि० के व्याख्यान में प्रोफेसर लार्ड रेले ने कहा कि इस धरती पर आज से एक अरब बरस पहले से जीवन का होना हमारे ज्ञान के विकास ने अधिक संभाव्य बना दिया है और पृथ्वी का बनना तो इस के दो तीन या चार गुने अधिक समय की बात जान पड़ती है। निदान, हिंदुओं के इस पौराणिक कथन से कि सृष्टिके आरंभ हुए लगभग दो अरब बरस हुए हैं, रेले की इस अटकल का पूरा समन्वय हो जाता है। हर हिंदू-पंचांग पर अहर्गण दिये हुए होते हैं। सृष्टि की आदि से लेकर आज तक जितने दिन बीत चुके हैं उन की पूरी संख्या का ही नाम "अहर्गण" है। अहर्गण के हिसाब से १ अरब ९८ करोड़ से कुछ अधिक वर्ष आते हैं। अतः हिंदू भी प्राचीन काल से वहीं सृष्ट्यब्द बतलाता आया है जिस का अनुमान प्रोफेसर रेले करते हैं।

सृष्टि-विज्ञानियों ने सृष्टि के विकास के अनेक युगों की भी कल्पना की है। उन की कल्पना यह है कि सौर ब्रह्मांड की स्थापना से लेकर महाद्वीपों और महासागरों की तलियों के निर्माण तक का काल अत्यंत दीर्घ रहा होगा। दूसरा अन्तर आदिम-जीवन-युगान्तर है। तीसरा अंतर बिना रीढ़ के प्राणियों का आरंभ है। ये तीन अंतर बड़े बड़े दीर्घ काल हैं।

इन के बाद तीन महायुग आते हैं, जिन में सामुद्रिक प्राणियों से लेकर मानव प्राणियों के आरंभ तक की सृष्टि आती है। सातवां युग वही मानव सभ्यता का युग है जिस में हम मौजूद हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक भी उसी तरह सात अंतरों की कल्पना करता है जैसे एक कल्प में हिंदू पौराणिक सात मन्वंतरों की कल्पना करता है।

वैज्ञानिक सृष्टि-काल विभाग समान नहीं हैं, परंतु हिंदू-सृष्टि-काल-विभाग समान है। वैज्ञानिक रेले का कहना है कि जीवन का आरंभ हुए एक अरब बरस के लगभग बीता होगा और भूपिंड की रचना कई अरब बरस पहले से आरंभ हुई होगी तब यह धरती जीवन के उदय के लिये उपयुक्त हुई होगी। सृष्टि के आरंभ से अंत तक चार अरब बत्तीस करोड़ बरसों का समय पौराणिक बतलाता है परंतु वर्त्तमान सृष्टि से अब तक का काल, अहर्गणों के हिसाब से एक अरब पौने निन्नानवे बरसों का हो चुका है। सूर्योदय से सूर्योदय तक का काल एक "सावन" दिन कहलाता है। अहर्गण सावन दिनों की गणना है और यह तभी से संभव है, जब लगभग चौबीस घंटों का अहोरात्र होने लगा था। यह उसी समय संभव है जब धरती का ऊपरी चिप्पड़ सारे धरातल पर समान रूप से दृढ़ हो गया और पृथ्वी का घूमना नियमित और इकट्ठा एक पिंड की तरह होने लगा। इस समय सागर जल से भर गया होगा परंतु तप्त रहा होगा। जीवन का आरंभ इस घटना के बहुत बाद हुआ होगा। यदि रेले के कथन का समन्वय पुराण के साथ किया जाय तो हम कह सकते हैं कि जीवन का आरंभ धरती पर २४ घंटे के अहोरात्र होने लगने के तीस करोड़ बरसों के भीतर ही भीतर हुआ होगा, जब स्वायंभुव मन्वन्तर की समाप्ति होती है। इस तरह आदिम जीव लगभग पौने दो अरब बरस हुए प्रकट हो चुका होगा।

आदिम जीवों से बहुत धीरे-धीरे बे-रीढ़वाले बड़े प्राणियों का विकास हुआ होगा। समुद्र ही पहले-पहल इन प्राणियों से बसा होगा। जलचरों में बे-रीढ़वालों से धीरे-धीरे रीढ़वाली मछलियां बनी होंगी। यह समय पहले मन्वंतर का अंत होगा। प्रत्येक मन्वंतर के अंत और आदि का समय प्रलय का होना समझा जाता है। भूकंप, जलप्लावन अग्निवर्षा, हिमवर्षा बहुत काल तक चलते रहने से धरातल के रहनेवाले सभी प्राणी समाप्त हो जाते हैं। गहरे समुद्रों में ही शायद कुछ जीव बचे रह जाते होंगे, जिन में से अनेक छिछले अंशों से भाग कर अपने जीवन की रक्षा करनेवाले प्राणी होंगे। इन में से भी वे ही गहरे समुद्रों में भी बच सकते होंगे जो अपने से बड़े प्राणियों के द्वारा उदरस्थ न कर लिये गये होंगे। इस तरह अत्यंत सूक्ष्म प्राणी ही बच रहे होंगे जिन्हें हम प्राथमिक जीव कह सकते हैं। ये आदि जीव की अपेक्षा अधिक विकसित होंगे, परंतु अब ठीक-ठीक वही ईंटें नहीं बच रही हैं जिन पर पहली इमारत की बुनियाद रखी गयी थी। अब प्रकृति के पैजावे में फिर से नयी ईंटें पकेंगी जिन से कि प्रलयकाल के विनाश की कमी पूरी हो सकेगी। ठीक मार्ग से काम न हो सकने के कारण फिर समय अधिक लगेगा। परंतु जब एक बार पहले के से बेरीढ़ और रीढ़वाले प्राणी बन गये तो विकास की गाड़ी कुछ अधिक वेग से चलने लगती होगी। लगभग बीस करोड़ बरसों में प्रलय की संधि, प्राथमिक जीवों का विकास, बेरीढ़ों का विकास, रीढ़वालों का विकास, जल-वनस्पतियों का

उद्भव और विकास-निदान सारे जल-समुद्र का विविध प्राणियों से बस कर फिर से रँजा-पुँजा हो जाना बहुत संभव है। इसे हम दूसरा मन्वंतर कहेंगे। जब रीढ़ों और बेरीढ़ों का पूर्ण विकास हो लेता है तब फिर पुराणों का मत्स्यावतार होता है। यह वह मत्स्यावतार नहीं है जो प्रलयकाल में होता है। यह वह है जो शंखासुर को मार कर वेदोद्धार करता है। रीढ़वाले प्राणी बेरीढ़वालों को परास्त कर के विकास रूपी वेद-मार्ग की स्थापना करते हैं। इसी अवतार से विकास की रुकी हुई गाड़ी आगे बढ़ती है।

प्रलय की लंबी संधि के अंत में जब स्थल के फिर से दर्शन होते हैं, छिछले जल की आबादी रेंग कर धीरे-धीरे स्थल पर आती है, और उभयचरों और स्थलचरों का इस बार साथ ही विकास शुरू होता है। कछुए, ह्वेल आदि उभयचरों में और कीड़े-मकोड़े आदि पतली कमरवाले एवं रेंगनेवाले सांप और छिपकली आदि स्थलचर प्राणियों तक का विकास होने में चार करोड़ बरस और लग जाते हैं। कूर्म्मावतार इसी समय में होता है। परंतु यह वह कूर्म्मावतार नहीं है, जिस की पीठ पर मंदराचल को टिकाकर देवासुरों ने समुद्र का मंथन किया था। वह तो चंद्रमा के पृथ्वी से अलग होने के समय का रूपक है, जब आठ दस ही घंटों का अहोरात्र होता था। इस कूर्म्मावतार ने मुख्य चरित चाहे जो किये हों, परंतु उभयचर प्राणियों के विकास की यह अंतिम सीमा थी।

धरती पर रेंगनेवाले छोटे जीवों का अब दो दिशाओं में विकास हुआ। प्रकृति ने कीटों को सपंख कर के पतंगों की उत्पत्ति कर ली थी, और पंखों से वायु-समुद्र में कैसे जीवन विताया जा सकता है, सीख लिया था। रेंगने वालों को पहले पेट के बल चलाया, और यह परीक्षा की कि मुख दोनों ओर रखा जाय कि एक ओर। फिर टांगें निकालीं, फिर अनेक टांगें बना कर देखा, फिर चार-चार टांगें रखीं, लंबाई ऊंचाई बढ़ायी। फिर विकास के दो मार्ग कर दिये। एक स्थलचारी दूसरा व्योमचारी।

सामुद्रिक विकास में शैवाल तक वनस्पतियों का विकास हो पाया था, परंतु स्थल बिना वनस्पति-विकास की गाड़ी भी रुकी हुई थी। जब स्थल का उभार हुआ, तब घास उगने लगी और धीरे-धीरे उस का भी विकास हुआ। पहले फूल नहीं होते थे। वनस्पति-जीवन के प्रसार का यह साधन स्थल पर ही तब विकसित हुआ जब उस के फैलानेवाले सहायक जीव कीट-पतंगों का विकास हुआ। धीरे-धीरे पौधे बढ़े। फूल और फल होने लगे। ऊंचाई बढ़ने लगी। स्थल जीवन के दो करोड़ बरसों में ही बहुत ऊंचे-ऊंचे आकाश से बातें करनेवाले पेड़ निकले। उस समय दो-दो सौ फुट की ऊंचाई के अत्यंत घने जंगल थे जो भांति-भांति के छोटे-बड़े जीवों से भरे थे। साथ ही उरग भी इतने ऊंचे कद के होने लगे जो इन ऊंचे पेड़ों की पत्तियां अपनी लंबी गर्दन बढ़ा कर आसानी से चुग लेते थे। महोरगों और महाव्यालों के इसी युग में दिग्गजों का और वासुकि आदि महानागों का अवतार हुआ। नाग, व्याल, महोरग, दिग्गज आदि केवल पर्य्यायवाची शब्द ही नहीं हैं, बल्कि एक ही जाति के विविध विशालकाय प्राणियों के नाम हैं। इन के विकास काल में ही छोटे उरगों से दो शाखाएं फूटीं। एक से तो चार पांववाले स्थलचारी पशु विविध आकारों और प्रकारों के हुए। दूसरी से पक्षियों का विकास हुआ। पीछे की दोनों टांगें तो बनी रहीं,
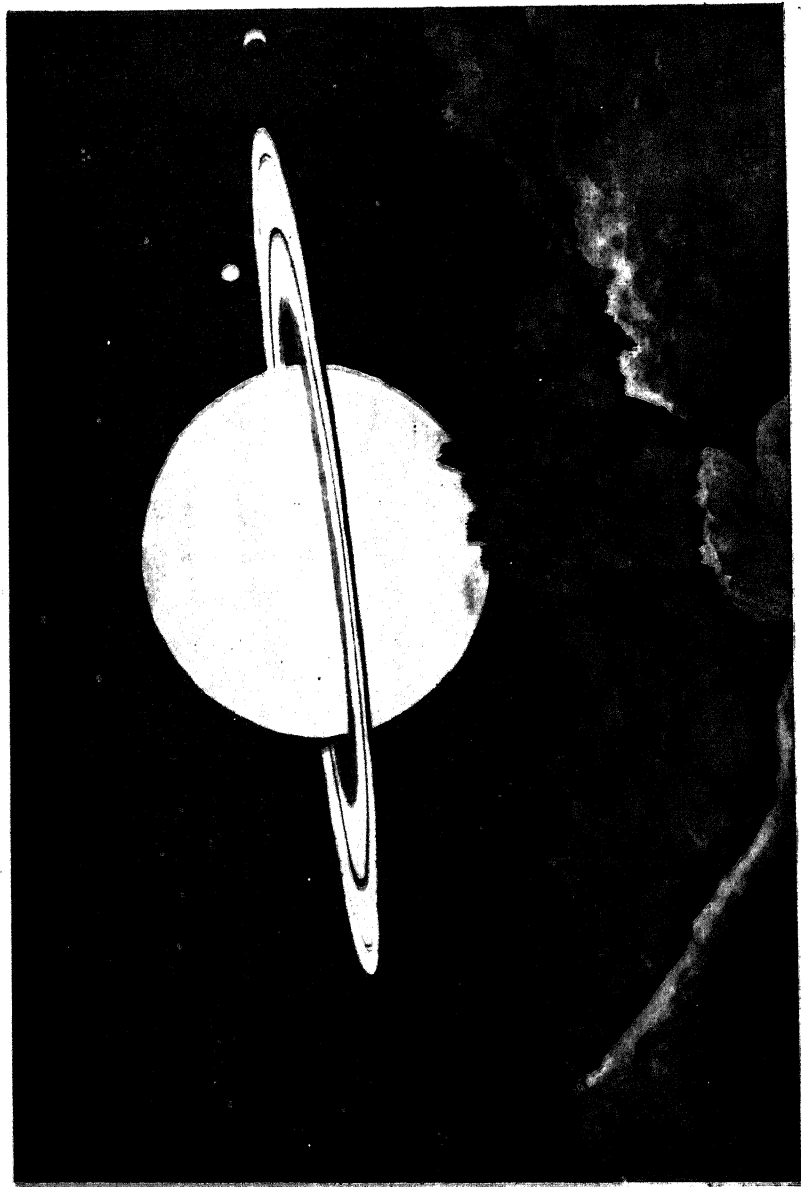
चित्र ३४—शनि के ही उपग्रह से शनि का एक काल्पनिक दृश्य इस में शनि के दो उपग्रह भी दिखाई पड़ रहे हैं। [सौर-परिवार से

[विज्ञान हस्तामलक, पृ० ८७ के सामने]

परंतु आगे की दोनों टांगों ने डैने का रूप धारण कर लिये और पर जमे। प्रकृति ने कीटों पतंगों के पांव अलग रखे थे और पर भी निकाले थे। उस परीक्षा पर विकास करके उस ने पावों में किफायत की और डैनों पर पर लगाकर उड़ने की क्रिया में सुभीता कर दिया स्थलचारियों की पूंछ गति में विशेष सहायक न थी। परंतु पक्षियों की पूंछ बड़े काम की चीज बनी। पक्षियों का विकास बहुत दूर तक हुआ। इसी जाति में गरुड़ और हंस के अवतार हुए। निदान, व्यालों और पक्षियों का विकास प्रायः एक ही युग में हुआ। यह सब साढ़े-चार करोड़ बरसों में हुआ होगा।

स्थलचारियों में उरग और उरगों से विकसित पक्षी शाखावाले प्राणी अंडज होते आये, परंतु स्थलचारियों का विकास भिन्न ढंग पर हुआ। माता अपने भ्रूण का विकास अंडों के रूप में अपने शरीर से अलग अब नहीं करती। अब वह अपने भ्रूण को गर्भाशय के भीतर रखकर पूरा-पूरा विकास करने देती है, तब उसे बाहर निकालती है। बाहर आने पर भी अपने स्तन के दूध से कुछ काल तक बच्चे का पालन करती है। यही पिंडज हुए। पिंडजों के विकास तक का आरंभ-काल ऊपर बतलाये हुए साढ़े चार करोड़ बरसों के अंत का काल समझना चाहिये। इन की अंतिम सीमा को सूचित करनेवाली पिंडज जातियों में महावराह शरीरवाले प्राणियों को समझना चाहिये। वराहावतार का यही समय होगा।

अगले डेढ़ करोड़ बरसों में पिंडजों का विकास और भी वेग से हुआ होगा। इसी युग के मध्यकाल में प्रकृति ने चाहा कि वन के सब से बड़े बलवान पिंडज सिंह से मनुष्य का विकास किया जाय। इसी कोशिश में नृसिंह-जाति के प्राणियों की रचना हुई। इस भयंकर जाति का ही प्रतिनिधित्व करनेवाले भगवान नृसिंह का अवतार इसी बात की सूचना देता है। फिर भी प्रकृति का यह प्रयोग सफल नहीं हुआ। उस ने और भी प्रयोग किये। उस ने पहले-पहल मानव प्राणियों के निर्म्माण में हाथ लगाकर पहला मानवाकार प्राणी जो बनाया वह बहुत छोटा था, वानर के आकार से मिलता-जुलता था। परंतु इस में भी सफलता न मिली। पुरुष ने वामनावतार धारण करके इस प्राणी के भी भावी विकास का रूपक दिखाया। यह भी डेढ़ करोड़ बरसों का काल जब समाप्ति पर आया और दूसरे स्वारोचिष मन्वंतर की अवधि भी पूरी हुई तो दूसरा प्रलय आरंभ हुआ। यह दूसरा प्रलय संभवतः अग्नि की प्रचंड ज्वालाओं के कारण हुआ होगा जो बाहर के सूर्य से और धरती के गर्भ से निकली होगी। इस से थोड़े ही काल में इस धरती पर का सर्वनाश हो गया होगा और प्रकृति के विकास का रथ फिर लौटकर वहीं खड़ा कर दिया गया होगा जहां पहले मन्वंतर के आरंभ में था। इस प्रकार सृष्टि के साठ करोड़ वर्ष बीत गये होंगे।

यह प्रलयकाल बहुत समय तक रहा। बड़वानल के शांत होने पर समुद्र के भीतर ही नये जीवन की बुनियाद फिर से रखी गयी, और फिर सृष्टि उसी क्रम से चली। जिन कामों को अनुभव की कसौटी पर कसकर प्रकृति ने अभ्यास कर लिया था उन्हें फिर से कर डालने में उसे पहले की अपेक्षा कम ही समय लगा। इस बार एक करोड़ बरस के भीतर ही प्रलयकाल की अवधि बीत गयी और प्राथमिक जीवों का शीघ्र ही विकास हुआ और बनस्पतियों का जल में आरंभ हुआ और इस काल के बाद स्थल के

उभरते ही घास और बड़े पौधे प्रकट हुए। स्थलचरों, उभयचरों, कीटों, पतंगों, फूलवाले पौधों और बड़े-बड़े कीटों का आरंभ हुआ। फिर ७ करोड़ बरसों के बीच ही इन का विकास हुआ। पहले सात करोड़ बरसों में मत्स्यावतार दूसरे सात करोड़ बरसों में कूर्म्मावतार हुआ। तीसरे सात करोड़ बरसों में महोरग, पक्षी, आदि पिंडज, फूलवाले पौधे और बड़े-बड़े कीड़े हुए और बढ़े। इसी काल में वासुकी, गरुड़ और हंसावतार हुए। इस के बाद के चार करोड़ बरसों में पिंडजों का विकास हुआ और इस बार विशालकाय विचित्र मानवाकार दैत्य, दानव, गंधर्व यक्ष, वेताल आदि उपजे और इन का विकास हुआ। ये ही मानवाकार प्राणी उस समय जीवन-विकास के शिखर पर समझे गये। इन्हीं आठ करोड़ बरसों में क्रम से वराह नृसिंह वामन और परशुराम तक के अवतार हुए। इसी अवधि या युग के अंत में परशुराम के द्वारा संहार के अनंतर शायद उत्तम मन्वंतर का अंत और अंतर-प्रलय हुआ जिस की अवधि एक करोड़ या ५० लाख बरसों की होगी। परंतु यह शायद जल-हिम-प्रलय हुआ होगा।

तामस मन्वंतर के आरंभ में जब हिमाच्छाद गलकर जल बन गया और जल से धीरे-धीरे फिर स्थल पहाड़ आदि निकले तो जलचरों का विकास जल्दी हुआ। स्थलचारी उभयचारी आदि भी शीघ्र ही हुए। कीटों और उरगों का पहले की अपेक्षा अधिक विस्तार हुआ। पिंडज प्राणियों के प्रकार बहुत बढ़ गये। प्रत्येक जाति का विस्तार विशाल हुआ। क्रम वही पहले मन्वंतरों का था। भेद विस्तार में ही था। अवतार भी क्रम से वे ही हुए। आदर्श की स्थापना भी उसी प्रकार होती रही। इस बार विविध जातियों के राक्षस और असंख्य प्रकार के लांगूली, वानर आदि प्राणी उत्पन्न हुए। इन के प्रकार बढ़े, इन का विकास हुआ। इन्हीं की एक शाखा में वे मानवाकार प्राणी हुए जो आगे चलकर बढ़े और तामस मन्वंतर के अंत में जिन से उस समय के राक्षसों से घोर संघर्ष हुआ। इसी मन्वंतर के अंत की किसी चतुर्युगी में परशुराम और फिर रामावतार हुआ जिस ने आदर्श पुरुषोत्तम की स्थापना की। ये अवतार प्रत्येक मन्वंतर में होते आये। संभवतः इसी रामावतार के अंत में या कुछ काल पीछे तामस मन्वंतर का अंत हुआ और दूसरा हिम-प्रलय हुआ।

इस प्रकार नब्बे करोड़ बरसों के बाद रैवत मन्वतंर का आरंभ हुआ। इस मन्वंतर में भी थोड़े बहुत भेद और विस्तार के अंतर के साथ सृष्टि का वही क्रम चला जो पिछले मन्वंतरों में था। इस में और चाक्षुष मन्वंतरों में क्रम से राक्षसों और वानरों का अधिकाधिक विकास हुआ और दोनों में आदर्श पुरुषोत्तम रामावतार तक सभी सृष्टि-विधायक और संरक्षण-सहायक अवतार हुए। इन दोनों मन्वंतरों के अंत में महाहिमप्रलय हुआ जो दीर्घ काल तक रहा।

हिमप्रलयों में जो दीर्घ काल तक जारी रहते होंगे धीरे-धीरे ही सृष्टि का नाश होता होगा। कई लाख बरसों में कहीं जाकर वह नाश पूर्णता को पहुंचता होगा।

चाक्षुष मन्वंतर के अंत में जल-प्लावन द्वारा प्रलय हुआ। यह प्रलय पर्वत शिखरों तक को निमग्न करनेवाला हुआ। इसी प्रलय के आरंभ में मनु की सहायता करनेवाला मत्स्यावतार हुआ जो वैवस्वत मन्वंतर के आरंभ तक विद्यमान था। इस मन्वंतर का

आरंभ कल्प-सृष्टि के आरंभ से एक अरब अस्सी करोड़ बरस बाद हुआ। सृष्टि कर्त्री प्रकृति के पहले के अनुभवों के कारण इस सातवें मन्वंतर में सारा विकास बड़ी जल्दी जल्दी हुआ। पहले तो चौदह करोड़ बरसों का काम अर्थात् जलचरों के पूर्ण विकास तक तो प्रलय में ही बचा रह गया। मन्वंतर के आरंभ से स्थलपर वनस्पति, स्थलचर और उभयचरों के विकास का क्रम चला। इसीलिये इस बार सत्रह करोड़ बरसों में ही मानव-विकास तक का पूर्ण क्रम चला आया। साथ ही राक्षस और उच्च प्रकार के वानरों का, रामावतार के समय जिन का प्रबल संघर्ष देखा गया, एक दम लोप हो गया। इस मन्वंतर में भी किसी पिछली चतुर्य्युगी में जिस के कई लाख बरस हो चुके हैं, रामावतार तक हो चुका है। इधर कोई इक्कीस हजार बरस हुए कृष्णावतार भी हुआ और ढाई हजार बरसों के लगभग हुए कि बौद्धावतार भी हो चुका है।

हम ने काल के संबंध में लार्ड रेले के अनुमान को ठीक माना है और सृष्टिक्रम तो विकास-विज्ञानियों का ही माना है। पुराणों का विषय सृष्टि है, अतः हम ने पुराणों के सृष्टिक्रम और कालक्रम का वैज्ञानिकों के विचार के साथ समन्वय करके यहां दिखाया है। यह सच है कि पुराणों में ठीक-ठीक इस तरह का क्रम कहीं एक जगह नहीं दिया है और विज्ञान के किसी विद्वान् ने कभी पौराणिक शब्दों में सृष्टिक्रम या विकास का विज्ञान से इस प्रकार समन्वय नहीं किया है। हम ने यह समन्वय इन शब्दों में इस लिये दिया है कि हमारे देश के पाठक विज्ञान के इस दुर्बोध विषय को इस रूप में सहज में ही हृदयंगम कर लेंगे।

काल की अवधि गिनने में हिंदू ज्योतिष में कुछ मत-भेद है। प्रायः सभी शास्त्र इस बात में सहमत हैं कि धार्म्मिक कृत्यों के लिये कलियुग १२०० वर्ष का, द्वापर उस का दूना, त्रेता तिगुना और सतयुग चौगुना अर्थात् ४८०० वर्षों का होता है। इस तरह पूरी चतुर्य्युगी १२ हजार वर्षों की होती है। एक सहस्र चतुर्य्युगियों का अर्थात् १ करोड़ २० लाख वर्षों का एक कल्प होता है। यह मान हम ने "धार्म्मिक" कृत्यों के लिये इस लिये कहा है कि पंचांगों में आम तौर पर ये दिव्य वर्ष माने गये हैं। ३६० मानव वर्षों का एक दिव्य वर्ष माना जाता है। इसी लिये पंचांगों में ऊपर बताये अंकों के ३६० गुने मान दिये गये हैं और सृष्टि के दिन "अहर्गण" उस कल्प के आरंभ से गिने हैं, जो १,२०,००००० × ३६० अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ बरसों का होता है। प्रोफेसर रेले के अनुमान से यही अंक अधिक उपयुक्त समझे जाते हैं, और हम ने भी ऊपर इन्हीं के आनुपातिक अंक दिये हैं। परंतु जो लोग उपर्युक्त शास्त्रीय काल-परिमाण ही मानव बर्ष मानते हैं, वे यदि उन्हीं के अनुसार अंक चाहें तो हमारे ऊपर के अनुमानों का ३६० वां अंश कर दें। इस तरह प्रत्येक मन्वंतर साढ़े आठ लाख बरसों का ही हो जायगा।

दूसरा खंड

जीवन-विज्ञान

चौथा अध्याय

जीवन का उदय

१—जलवायु की उत्पत्ति

पिछले अध्याय में धरती की जैसी उत्तप्त दशा का हम दिग्दर्शन कर आये हैं वैसी दशा में वर्तमान जगत् में रहनेवाले जैसे प्राणियों के रहने की कोई संभावना नहीं है। जब उस की औसत आंच घटते-घटते शतांश के पचास साठ दरजे तक पहुंची होगी तब भी आजकल के जैसे प्राणी तो नहीं हो सकते। पर कुछ निचले दरजे के बहुत आंच सहने-वाले जीवों का गुजारा संभव हो गया होगा। बीसों हजार बरसों तक ठंडे होने पर भी इस धरती पर कोई प्राणी रह नहीं सकता था। शायद जीवन का आरंभ होने में कुछ देर थी।

इस जगत् के अनुरूप जीवन के लिये सब से बड़ी ज़रूरत पहले वायु की है और फिर जल की। वायु को प्राण कहते हैं और जल को जीवन। पहले जब वर्तमान प्रकार के वायु के बदले सोना चांदी लोहा आदि की धातुओं की वायु इस भूमंडल को आजकल के वायुमंडल की तरह घेरे हुए थी और जब पृथ्वी पर दृढ़ धरती थी ही नहीं, पिघली हुई चट्टान ही "सलिल" (पानी) था उस समय आजकल का-सा तो कोई प्राणी हो ही नहीं सकता। और लोहे आदि के विशाल भट्टों में भी जो सैकड़ों बरस से बराबर जल रहे हैं किसी तरह का प्राणी कभी देखा नहीं गया। इस से यह अनुमान किया जाता है कि ऐसी उत्तप्त दशा में शायद किसी प्राणी की रहाइश हो ही नहीं सकती। परंतु यह अनुमान ही अनुमान है। कोई भट्ठा चाहे कितना ही पुराना हो जीवन के लिये उसी तरह स्वाभाविक अवस्था नहीं कहला सकता जिस तरह प्राचीन काल में धातुओं का वायुमंडल होता और जैसे वर्तमान परिस्थिति में भी जीवन के उदय और अस्त में करोड़ों बरस लगते हैं, उस परिस्थिति में आज से नितांत भिन्न प्रकार के जीवन का उदय और विकास और अस्त हो गया हो, कौन कह सकता है? फिर यह भी कोई नहीं जानता कि जब पृथ्वी दृढ़ नहीं थी और जब आंच और दबाव इतना प्रचंड था और जब वायुमंडल नितांत भिन्न प्रकार का था

और जब जल पत्थर का बना रहा होगा उस समय के जल-वायु में इस धरती पर किसी तरह के आग्नेय जीव रहते थे या नहीं जिनका रहन-सहन उस आग्नेय परिस्थिति के अनुकूल था। अग्नि की पूजा करनेवाले और उस काम के लिये अग्नि की निरंतर रक्षा करनेवाले पारसी कहते हैं कि आग में एक तरह का कीड़ा पैदा होता है जिसे समंदर कहते हैं। परंतु वर्तमान काल में जहां तक लेखक को मालूम है कहीं वह समंदर देखा नहीं गया है। यदि उस आग्नेय युग में तपती हुई धरती पर कोई प्राणी रहें होंगे तो अब उन का किसी तरह का चिन्ह मिलना संभव नहीं है। उन का प्राण और उन का जीवन आजकल से बिलकुल भिन्न रहा होगा। उन का शरीर आधे गले हुए रेते का होगा। उनका जल प्लेटिनम आदि पिघली हुई धातुओं का होगा और उन का प्राण और वायु सीसा रांगा सोडियम पोटेसियम आदि धातुओं का वायव्य होगा।

जब आंच घटी तभी इस धरती के वायुमंडल में उज्जन और ओषजन दो वायव्यों के मिलने से जल बना जो भाफ के रूप में वायुमंडल में बना रहा। इस अवस्था में वायु-मंडल में ओषजन और नोषजन आजकल की अपेक्षा भिन्न परिमाणों में थे। जितने समय में वायुमंडल में इकट्ठी भाफ जमकर जल के रूप में धरती के महासागरों में बदल गयी थी उतना समय लार्ड केल्विन के हिसाब से सौ बरस से अधिक न होगा और स्वांते अरीनिउस का कहना है कि कई हज़ार बरसों से ज्यादा न लगा होगा। यह तो मतभेद की बात है। एक लाख बरस भी इतने ही परिवर्त्तन में लग सकते हैं, क्योंकि ताप के विकिरण के साथ ही रश्मि और ताप की निरंतर देनेवाली धातुएं भी तो उस समय धरती में अधिक रही होंगी। पहले तो ३७० दरजे पर गले हुए लोहे की वर्षा हुई होगी। यह वर्षा भी ऐसी-वैसी न होगी, जैसे किसी बड़े झरने से पानी की धारा गिरती हो जिसे मूसलाधार नहीं बल्कि नदियाधार कहना चाहिये। पानी की धाराएं तो इस के हजारों लाखों बरस बाद गिरनी शुरू हुई होंगी। उस समय के बादलों ने एक साथ नदी सा उँडेल दिया होगा और लाल लोहे की सी तह पर पड़ते ही भाफ की बड़ी भयानक आंधी उठकर फिर आकाश में लौट गयी होगी और इस आंधी के साथ-साथ जगह-जगह फटने और धातुओं से मिलकर भयानक धड़ाकों की कड़क और गरज और गली हुई धातुओं और पत्थरों का गर्द-गुबार, कूड़ा-करकट इस ऊपर को उठती हुई आंधी में शामिल होगा। भूमंडल पर यह दृश्य ऐसा भीषण होगा कि इस की कल्पना करके हृदय कांप उठता है। यह सब घटनाएं तो असल में तब शुरू हुई होंगी जब लगभग एक हजार दर्जे पर धरती का पहला चिप्पड़ बंधा होगा, और उस समय से लेकर कम-से-कम कई हजार बरस तक जारी रही होंगी, जब तक कि घटकर सौ दरजे तक ठंढक नहीं पहुँची। इस ठंढक तक पहुँचते-पहुँचते धरती पर महासागर अच्छी तरह बन गये थे। फिर सौ दर्जे से ५५ दर्जे तक पानी बहुत जल्दी-जल्दी ठंढा हुआ। अरीनिउस की राय में समुद्रों के बन जाने के कुछ काल बाद ही जीवन के उदय के लिये यह भूतल उपयुक्त हो गया होगा परंतु जीवन का यहां कोई विकसित रूप न समझे। जीवन का उदय हो जाने के बाद कम-से-कम करोड़ों बरस के विकास के पीछे हम उस का वर्तमान विकसित रूप देखते हैं।

पृथ्वी हमारे लिये आज काफी ठंडी है परंतु कोई ऐसा न समझे कि यह बिल्कुल ठंडी हो गयी है। इस आकाशमंडल में बाहरी शून्य-स्थान या अन्तरिक्ष जितना ठंडा है उस के मुकाबले आजकल भी हमारी पृथ्वी ३०० दर्जे ज़्यादा गरम है। सूर्य से अत्यंत दूर इस ब्रह्मांड के बाहर जहाँ वरुण और कुबेर ग्रह भी अदृश्य हो जाते हैं उस देश में यदि कोई प्राणी रहते हों,—और ऐसे प्राणी तो लगातार अंधकार और लगातार बेरोशनी और बेगरमी के संसार में रहते होंगे,—तो उन के लिये हमारी दुनियां इतनी गरम धधकती होगी जैसे हमारे लिये गली हुई कांच। यह भी भूलना न चाहिये कि धरती का ऊपरी तल इतना गरम है कि उस का तीन चौथाई भाग आज भी बिलकुल गली हुई हालत में है, क्योंकि आखिर पानी भी तो गली हुई चट्टान है और जिस तरह स्फटिक (बिल्लौर) चकमक और साधारण पत्थर चट्टान का हिस्सा है उसी तरह बरफ भी तो है और पूर्व युग में इन पत्थरों का भी सागर उसी तरह लहरें मारता था जैसा कि आज जल का सागर है। पृथ्वी का ठंडा होना समाप्त भी नहीं हुआ है। वह धीरे-धीरे अब भी ठंडी होती जाती है और कोई समय आवेगा—और वह शायद करोड़ों बरस बाद आवे—जब पृथ्वी एक दम ठंडी हो जायगी। या शायद पृथ्वी के एक दम ठंडे होने में अरबों बरस लग जायें। पृथ्वी का कुछ भाग तो आज भी इतना ठंडा हो गया है कि जल जमकर चट्टान के रूप में बराबर बना रहता है। यही ठंडक बढ़ते-बढ़ते कभी सारे संसार में फैल जा सकती है।

२—जीवन की उत्पत्ति

ऐसा जान पड़ता है कि जब समुद्र का जल गरमी के पचपनवें दर्जे तक ठंडा हो गया उस समय इस धरती पर पहिले-पहिल जीवन का उदय हुआ होगा। आज से इस घटना को कितने बरस हुए यह कहना बहुत मुश्किल है। वैज्ञानिकों का मत इस विषय में एक नहीं है। परंतु यह अंदाज़ा किया जाता है कि जीवन का पहिला उदय इस ब्रह्मांड में एक अरब बरस से पहिले कभी हो चुका होगा और उस उदय से चराचर संसार के वर्तमान ढंग के विकास तक पहुँचने में और आदिम मनुष्यों तक की सृष्टि के होने में कई करोड़ बरसों से लेकर लगभग एक अरब बरस तक का अंतर पड़ा होगा। हिंदुओं के मत के अनुसार जीवन का विकास भी दो अरब बरस पहिले से शुरू हो चुका है। यह कहना बहुत मुश्किल है कि वर्त-मान प्रकार का जीवन इस धरती पर कैसे आरंभ हुआ और कब आरंभ हुआ। वैज्ञानिक लोग जीवन का विकास अत्यंत छोटे-छोटे जीव कणों से मानते हैं परंतु यह एक कठिन गुत्थी है कि इस जगतीतल पर पहिले-पहिल वह जीवकण कहां से आये। यदि यह माना जाय कि ताप, चाप और आवश्यक वस्तुओं के संघात से आरंभिक जीवकण अपने-आप बन गये और फिर उन के बीजों का सिलसला बँध गया तो यह कल्पना-मात्र है, क्योंकि अभी तक इस तरह से ताप, चाप और वस्तु के संघात से कोई जीवकण या उस का बीज बनाया नहीं जा सका है। यह असंभव नहीं है कि भविष्य में कोई वैज्ञानिक उस की रचना में समर्थ हो जाय परंतु जब तक ऐसा हो नहीं सका है तब तक विज्ञानी इस विधि से जीवन का निश्चय उदय मानने के लिये तैयार न होंगे।

कुछ वैज्ञानिकों का कहना है कि बहुत सीधे-सादे एक सेल या कणवाले प्राणी किसी निर्जीव पदार्थ से भी उत्पन्न हो गये होंगे जैसे कर्बन के अर्द्ध द्रव यौगिकों पर खमीर की क्रिया से हो सकता है। परंतु खमीर के द्वारा आदिम जीव अभी तक उत्पन्न नहीं हो सका। इस लिये इस से प्रश्न नहीं सुलझता।

ऐसा जान पड़ता है कि जीवन के उदयवाले प्रश्न को शायद भविष्य में रसायन विज्ञान सुलझा सके। क्योंकि यह पता चल चुका है कि बहुत परमाणु निरंतर अपने आप टूटते रहते हैं और अपने से छोटे परमाणु बनाते रहते हैं जिस में मनुष्य का कोई हाथ नहीं है और जिस में परमाणुओं की भीतरी शक्ति काम करती रहती है। इस भीतरी शक्ति के चलाने की क्रिया को भी हम एक तरह की जीवन की क्रिया कह सकते हैं, परंतु इस से भी अधिक चमत्कारिक बात यह मालूम हुई है कि कुछ परमाणु ऐसे हैं जो ख़मीर का-सा काम कर सकते हैं और बहुत शक्तिशाली और जीवाणुरूपी परिवर्तन पैदा कर सकते हैं। इस प्रकार कुछ ख़मीर कृत्रिम रीति से भी बनाये गये हैं। और इन ख़मीरों के द्वारा कई तरह की रासायनिक क्रियाएं बराबर चलती रह सकती हैं। इस तरह से एक प्रकार से कृत्रिम रूप से जीवन की रचना की जा सकी है। रसायन और भौतिक शास्त्र की दृष्टि से जीवनमात्र ख़मीरों की उठान की-सी क्रिया है। सभी प्राणियों में ख़मीर है और जब उन में के ख़मीर काम करने लायक नहीं रह जाते तो जीवन की क्रिया का अंत हो जाता है। प्रौढ़ व्यक्तियों में जो मुख्य विशेषताएं हुआ करती हैं उन के बारे में यह मालूम हो गया है कि वह विशेषताएं उन प्रौढ़ व्यक्तियों के जनन-बीजों के भीतर कुछ विशेष प्रकार के खमीरों के न होने, होने या मिलने से पैदा होती हैं। परंतु ख़मीरों के संबंध में अभी बहुत कुछ खोज होना बाकी है और यह विद्या अभी अपनी आरंभिक अवस्था में है। इस से कोई बात निश्चित रूप से नहीं कही जा सकती।

जीवन के उदय के साथ-साथ उसकी रक्षा के लिये भोजन की आवश्यकता होती है और उस समय यह भोजन निर्जीव से ही मिल सकता था क्योंकि उस समय जीवित सत्ता बनी ही न थी। जिन्हें हम आज प्राथमिक जीव कहते हैं उन्हें यदि हम आदिम प्राणी समझ लें तो भारी भूल होगी। वह आदिम प्राणी तो करोड़ों बरस पहिले हो चुके। उन्होंने विकास के क्रम में अपने कर्तव्यों का पालन किया और शायद अब वह इस भूमंडल पर न हों। जिस अमीबा को हम प्राथमिक प्राणी समझते हैं उसकी रचना तो ऐसी विकट है कि आदिम प्राणी से विकसित होकर अमीबा तक पहुंचने में ही बहुत संभव है कि लाखों या करोड़ों बरस लग गये हों।

यह समझ में नहीं आता कि धरती की ऊबड़-खाबड़ और कठोर परिस्थिति में जीवन का अत्यंत सुकोमल बीज कैसे पड़ा परंतु जो हो इस का आरंभ हुआ है कठोर और कठिन परिस्थितियों में। उस समय कर्बन, उज्जन, ओषजन, नोषजन, गंधक और स्फुर आदि कई मौलिक पदार्थ इस जगतीतल पर पास ही पास मौजूद थे और ताप और चाप की परिस्थिति इनके संयोग के अनुकूल थीं। परंतु आज भी ऐसी अनुकूलता के होते हुए जीवन का बीज न तो कोई उत्पन्न कर सका है और न अपने आप कहीं उपन्न होता पाया

जाता है। लार्ड केल्विन का कहना है कि इस संघात को आरंभ करने के लिये उस समय किसी उल्का से किसी और मृत संसार के जीवनकण या उस के बीज आ गये होंगे और उन्हीं से यहां के जीवन-संघात का उदय हुआ होगा। इस में संदेह नहीं कि उल्कापात की बदौलत, जो पृथ्वी पर भयानक अधिकता से होता रहता है, करोड़ों मन धूल और अनेक तरह के पदार्थ इकट्ठे होते जाते हैं। और यह उल्का वस्तुतः किसी मरे हुए ब्रह्मांड की सामग्री है जो छिन्न-भिन्न होकर और अनंत देश को पार कर अनंत देश और अनंत काल की यात्रा पूरी करके हमारे संसार को समृद्ध कर रही है। इसी उल्का से हमारे संसार में यदि जीवन के कण भी इसी समाग्री में मिलकर आये हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परंतु जीवन का वास्तविक उदय किसी और ब्रह्मांड में हुआ होगा अथवा मूलप्रकृति के मूल परमाणुओं की तरह जीवन के परमाणु भी अनादि अनंत हैं और सृष्टिक्रम की अनुकूल अवस्था में जड़ परमाणुओं की तरह उन का
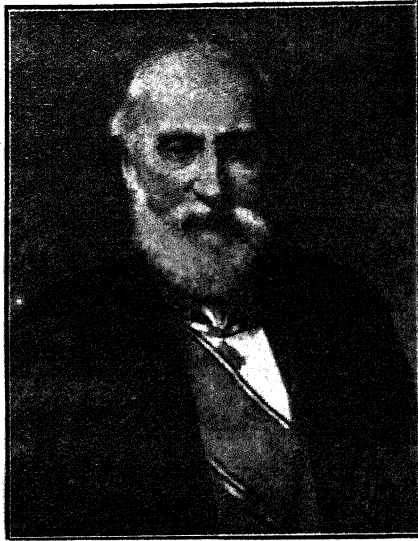
चित्र ६२—लार्ड केल्विन [सं० १८८१—१९६४ वि०]

भी विकास होता है। इन दोनों में कोई अनुमान ठीक है, या नहीं, ऐसा भी कहा नहीं जा सकता। परंतु इस मनोधारणा से कि इस धरती पर किसी और ब्रह्मांड से जीवन के कण—और सामग्री के साथ,—यहां आये, इतना अवश्य निश्चय हो जाता है कि इस भूतल पर जीवन का उदय किस प्रकार हुआ। परंतु उस के वास्तविक जन्म या आरंभ का प्रश्न ज्यों का त्यों रह जाता है। निदान यह पता नहीं कि जीवन का आरंभ कब और कैसे हुआ।

लार्ड केल्विन की इस युक्ति से यह प्रश्न कि जीवन पहिले-पहिल कैसे जन्मा, ज्यों-का-त्यों रह जाता है। इस का उत्तर अभी तक विज्ञान नहीं दे सका है।*

जब इस भूतल पर जीवन (जल) और प्राण (वायु) अनुकूल दशा में हो गये और जीवनकण के बनानेवाले मौलिक उपादान भी पास-पास मौजूद हो गये तो चाहे किसी मृत ब्रह्मांड का जीव-बीज हो और चाहे भगवान की परा प्रकृति हो, किसी शक्ति से, जो अभी तक वैज्ञानिक के सामर्थ्य से बाहर है,—इन सब के संघात से पहिले-पहिल जीव कण की उपत्ति समुद्र के जल में हुई। आरम्भ में पहले-पहल एक सेलवाले प्राणी रहे होंगे। अमीबा नाम का ऐसा ही एक प्राणी आज भी मौजूद है जो यंत्र से देखा जाता है और जो मनुष्य के शरीर में भी है, जो एक ही कण का है और लम्बोतरे रूप में बढ़ता है। बढ़ते-बढ़ते जब अपने आयतन के दूने के लगभग हो जाता है तो अपने-आप एक से दो हो जाता है। दोनों की सत्ता और व्यक्तिता अलग-अलग होती है। यह एक जीवकणवाले प्राणी बराबर इसी तरह बढ़ते चले जाते हैं। पहले-पहल इस प्रकार के प्राणी जल के भीतर जो उपजे होंगे वह न तो उद्भिज्ज के रूप में होंगे और न जंतु के बीज-रूप में†, यह निश्चय रूप से तो नहीं कहा जा सकता। परंतु ऐसा बहुत संभव मालूम होता है कि यह आदि प्राणी आज-कल के कीटाणुओं की तरह से बहुत सीधे-सादे रहे होंगे और हवा पानी और घुले हुए नमकों के सहारे जीते होंगे। शायद ऐसे ही बीजों से एक जीवकण-वाले जलीय प्राणी बने होंगे जो हरियाली या उसी की तरह की हरे रंग की चीज़ तैयार कर सकते हैं जिनसे कि पौधे सूर्य की किरणों को खींचकर कर्बन-द्वयोषिद के टुकड़े कर डालें और मंड और शकर की तरह के पदार्थ बना सकें। पहले इन जीवाणुओं के शरीर सेलुलोज वा छिद्रोज की बनी थैलियों में रहे होंगे जो बाहर नसें फेंककर उसी के सहारे

---

* पुराणों में सृष्टि के प्रकरण में इस गुत्थी को और तरह से सुलझाया है और गीता में भगवान् की परा प्रकृति का जीवन होकर इस जगत का धारण करना बताया गया है। अन्यत्र यह भी कहा है कि जीव मेरा अंश है और सनातन है। "अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्। भ० ७। ५ ममैवांशोजीवलोके जीवभूतः सनातनः। १५। ७।, परंतु यह दार्शनिक धारणा है।

† वैज्ञानिक खोजों में जीवकण की रचना में जो प्रयोग किये गये हैं उन में स्पष्ट ही इतना काफ़ी समय नहीं लगाया गया जितना लंबा समय प्रकृति की प्रयोगशाला में लगाया जा सका होगा और बहुत संभव है कि पास्च्यूर आदि ने परख-नलियों में कई सप्ताह तक रखकर जीवकण के बनने की जो असंभावना पायी उस में काफ़ी समय नहीं दिया गया। संभव है उसी परख-नली में अनुकूल परिस्थिति के बने रहते सैकड़ों या हजारों बरस के समय में किसी क्रिया में जीवकण बन जाता। प्रकृति ने आदि में जो जीवकण इस तरह बनाये वह ऐसे सूक्ष्म थे कि किसी यंत्र से देखे न जा सकते अतः आज भी वह मौजूद हों तो कोई आश्चर्य नहीं है।

पानी में इधर उधर डोलते फिरते होंगे। आज भी इस तरह के जीव जल में पाये जाते हैं जिनमें से कई तो बरसात में पत्थर की पटियों और पेड़ों के तनों को हरा बना देते हैं। प्रोफेसर चर्च तो कहते हैं कि जब धरती जल से ढकी थी, स्थल बना ही न था, तभी यह हरी चीजें, उस सागरमय पृथ्वी की हरी झंडियां,—समुद्र में भरी पड़ी थीं। इन्हीं से आगे की उद्भिज्ज जाति पैदा हुई।*

इस प्रकार अमीबा जैसे जीवाणुओं से, जो अर्धद्रव दशा में चेप जैसे, बिना छिद्रोज आदि के आवरण के सूक्ष्म प्राणी होते हैं, जो अपने पड़ोस के प्राणियों को भोजन कर जाते हैं और हरियाली आदि अन्य कर्बनवाले पदार्थों के बीज नहीं बनाते, जन्तु-जाति का आरंभ हुआ। इस तरह एक बीजकण वाले जीवाणु जो पहले-पहल न पौधे जान पड़ते थे, न जानवर, आगे की होनेवाली उद्भिज्जों (पौधों में) और जन्तुओं (जानवरों) की सृष्टि की बुनियाद बने। उनमें के एक प्रकार से तो इस भूमंडल की लहलहाती हरियाली की बुनियाद पड़ी और दूसरे प्रकार से इस धरती पर के कीटपतंगों से लेकर हाथी ऊंट घोड़े और मनुष्य तक की रंजी-पुंजी घनी आबादी बनी थी।

जिन उद्भिज्जाणुओं और कीटाणुओं की हम ने ऊपर चर्चा की है उनमें से किसी एक का किसी यंत्र के सहारे देख पाना असंभव है। जीवन के जिन बीजों की हम ने चर्चा की है वह बहुतेरे अणुओं से भी बहुत छोटे हैं। कई वैज्ञानिकों का मत है कि साधारण पदार्थकणों की अपेक्षा अणु जितने छोटे हैं अणुओं की अपेक्षा उतने ही यह जीव-बीज छोटे होंगे।†

३—आदि जीव

जीवन का आरंभ इस तरह जल के भीतर ही हुआ। जल के भीतर आदि जीवाणु घुले हुए नमकों को खींच-खींचकर अपने शरीर में पचाने लगे और उसे बढ़ाने लगे। सूर्य की किरणों से काम लेकर जो कुछ पदार्थ उद्भिज्जाणुको मिल जाते, उन का भेदन

*** धार्मिक पुराणों में भी कुछ ऐसी ही मिलती जुलती बात सृष्टि के आरंभ के संबंध में कही गयी है। मूसाई, ईसाई और मुहम्मदी तीनों धर्मवाले हजरत मूसा के लिखे पांचों पुराणों को मानते हैं। उन में पहला पुराण "सृष्टि" है। उस के आरंभ के दूसरे ही पद्य में लिखा है "और ईश्वर का अंश जल पर विचरता था।" हिन्दू पुराणों का ठीक यही भाव है। "नारायण" शब्द का यही अर्थ है। संभवतः जीवन की उत्पत्ति का रहस्य इस वाक्य में निहित है।**

† इस विषय में वैज्ञानिकों में अभी तक भारी मतभेद है। परंतु हमने इस संबंध में जो कुछ यहां दिया है, वह अधिक-से-अधिक विद्वानों की सहमति और समर्थन प्राप्त कर चुका है। मार्टिन ने "ट्रायम्फ्स में" इस का रोचक विवरण दिया है।

करके अपने शरीर की सामग्री तैयार करने लगे। स्वभाव से ही पौधे अपने शरीर के भीतर अपनी जरूरत-से-ज्यादा पोषक पदार्थ बनाया करते हैं। परंतु छिद्रोज के थैले में बंद रहने के कारण वह चल-फिर नहीं सकते और व्यायाम के अभाव में उन की शक्ति कम खर्च होती है और इस तरह वह जितनी कमाई करते हैं उतना खर्च नहीं कर पाते। साथ ही अपने शरीर से नोपजनीय कूड़ा-कर्कट मैला आदि वह दूर नहीं कर पाते। शायद इसी से वह सुस्त बने रहते हैं। इसी के विपरीत जंतुओं का भोजन बड़ी मात्रा में कर्बोज (मंड और शर्करा) और प्रत्यामिन या प्रोटीन (ग्लूटन अलबूमेन और केसीन) है जो आरंभ में वह उद्भिज्जों से और फिर और जंतुओं से लेते हैं। उन के कण या शरीर छिद्रोज सरीखे किसी कोष के भीतर बंद नहीं रहते और अधिकांश जंतुओं में हर तरह की गति की स्वाधीनता है। इसी लिये जंतु जितनी कमाई करते हैं लगभग उतना ही खर्च भी करते हैं। कोई कोई बड़ी उदारता से खर्च करते हैं और काफ़ी आमदनी भी कर लेते हैं। ऐसा मालूम होता है कि वनस्पति-संसार बारूद तैयार करता है और जंतु-संसार उसे छोड़ता रहता है। इस प्रकार जानवरों की सारी दुनियां सूर्य के किरणों द्वारा बनाये हुए कणों पर जी रही है। जीवन के आरंभिक काल में इसी लिये शायद वनस्पतियों का विकास पहिले हुआ जिसमें कि आगे होनेवाली जानवरों की सृष्टि के लिये खाने की सामग्री की कहीं किसी तरह कमी न रहे। इसी लिए आरंभ में जो थोड़े से जंतु भी बने वह भी सुस्त और प्रायः गतिहीन बने। गतिहीन प्राणियों को "अचर" और गतिवाले प्राणियों को "चर" कहते हैं। इसी लिए चराचर शब्द से सारे संसार का बोध होता है। आरंभिक चर प्राणियों को भी मलमूत्र विसर्जन करने की आवश्यकता न थी और अधिकांश इतनी कम गतिवाले थे कि चर होते हुए भी उन्हें अचर कहना अनुचित न होगा। स्पंज मूंगे समुद्रफेन आदि इसी तरह के जंतुओं के उदाहरण हैं जो चर होते हुए भी अचर हैं। यह वनस्पतियों की तरह एक ही जगह पर उगकर बढ़ते हैं। अचर पौधों में भी थोड़ी बहुत गति है। जैसे हर पौधा अपनी जड़ों को दसों दिशाओं में फेंकता है और लताएँ तो नसों के सहारे पकड़ते हुए जिधर को अनुकूलता पाती है बढ़ती जाती है। इस तरह अचर में भी कुछ न कुछ चर के गुण मौजूद हैं। आरंभ में जीवन की दशा ऐसी थी कि चर और अचर में भेद करना असंभव था! भेद की इतनी कमी होते हुए भी आरंभ से ही दोनों खानियों वा आकरों का विकास भिन्न-भिन्न दिशाओं में हुआ। आरंभ से वनस्पतियों की हरियाली की वह शक्ति जिससे की वनस्पति का शरीर बनता है वह काम करती आयी है जिस पर आज कल की सारी सभ्यता निर्भर है।

अनेक युगों तक सारी पृथ्वी जल से ढकी रही और उस आदि युग की वनस्पति केवल बहनेवाली हरियाली वा काई से अधिक कोई चीज नहीं थी। परंतु काल पाकर धरती धीरे धीरे सिकुड़ती गयी और समुद्र की तह के भीतर ऊँचाई और नीचाई बनती गयी। कहीं बहुत गहरे गडढे हुए और कहीं ऊँची चट्टानें बन गयीं जिनसे की पानी छिछला हो गया और बहते हुए पौधे ऐसी जगहों पर इकट्ठे होने लगे और बिल्कुल ऊपरी तल पर न रहते हुए भी रोशनी पाने लगे। पहले इन्हीं छिछली जगहों में सिवार आदि की तरह

के सामुद्रिक पौधों का विकास हुआ। इन छिछली जगहों में धीरे-धीरे पानी हटने लगा और धरती ऊपर को उठने लगी। होते-होते सूखी धरती निकल आयी और किनारे पर होनेवाले सवार आदि बढ़े। इस सूखी धरती पर भी इन जलीय पौधों को बढ़ने का मौका मिला क्योंकि धरती बहुत आर्द्र थी और नीचे जल का समुद्र ही था। धीरे धीरे सूखी धरती बढ़ी और पौधे भी बढ़ने लगे। आरंभ की सूखी धरती ज्यों-ज्यों जल से बाहर उठती जाती थी त्यों-त्यों उसके ऊपर उस प्राचीन रूप के स्थलीय पौधे भी विकास पाते जाते थे।

स्पंजों से नीचे की कोटि के जंतु प्राथमिक जीव कहलाते हैं। आज लोग जिन्हें प्राथमिक जीव समझते हैं उनके शरीर की रचना इतनी विषम और विकट है कि बिलकुल स्पष्ट है कि यह वस्तुतः "आदि जीव" नहीं है। वास्तविक आदि जीव के शरीर में एक से अधिक कण या कोष या सेल न होना चाहिये। आज-कल के प्राथमिक जीव बिना अनुवीक्षण यन्त्र के देखे तो नहीं जा सकते पर उन के शरीर एक कण या सेलवाले होते हुए भी स्वयं ऐसे महल हैं जिनकी रचना में आदि जीवों की ईंटें लगी होंगी। अनुवीक्षण यंत्र से भी आदि जीवका पता नहीं लग सकता था।

यह आरंभिक आदि जीव तीन जातियों में बँटे हुए कहे जा सकते हैं।

(१) कुछ तो बड़े ही चंचल और कर्मशील थे जिन्हें हम क्वाथ-जीवी* कहेंगे। इन्हीं में से आजकल की एक जाति ऐसी होती है जो रात को रोशनी देती है और एक जाति भयंकर निद्रा-रोग उत्पन्न करती है जिस में आदमी सोते-सोते मर जाते हैं।

(२) दूसरे प्रकार के आदि जीव बड़े सुस्त होंगे। इन्हीं की जाति में से परसत्वाद* रेणु-जीवी होते हैं जैसे कि मलेरिया का वह कीटाणु जो मच्छड़ के दंश के साथ मनुष्य के शरीर में प्रवेश करता है।

(३) तीसरी जाति ऐसी थी जो न बहुत चंचल थी न बहुत सुस्त। इन्हीं में से मूलपदी* होते होंगे जिन से कि जीवित पदार्थ बनते और निकलते रहते हैं। इसी की एक जाति अमीबा है जिस की चर्चा हम पहिले कर चुके हैं। और वह कीटाणु भी हैं जो खड़िया मिट्टी और चकमाक के से पदार्थ अपने शरीरद्वारा बनाते हैं।

एक कणवाले प्राणियों से अनेक कणवाले प्राणियों का बनना एक बहुत भारी बात थी। परंतु अत्यंत प्राचीन युग में इन एक कण वा सेलवाले जीवों में से ही स्पंज और डसनेवाले और साधारण कीड़े बन चुके थे। यह पहले ही शरीर होंगे जिन की तैयारी में असंख्य कणरूपी ईंटें जोड़ी गयीं। ठीक-ठीक किस प्रकार यह क्रिया हुई यह कोई नहीं जानता।

---

* क्वाथजीवी को अंग्रेज़ी में Infusoria कहते हैं, रेणुजीवी को Sporozoa कहते हैं और मूलपदी को Rhizopods कहते हैं।

४—प्राथमिक जीव

अमीवा के टुकड़े हो जाते हैं और हर टुकड़ा अलग-अलग जीवन बिताता है। परंतु कुछ प्राथमिक जीव ऐसे हैं जिन से बन-जानेवाले सजीव टुकड़े एक दूसरे से मिले-जुले रहते हैं, बिलकुल अलग नहीं होते। इस तरह यह कण या सेल एक शरीर सा बनाते हैं, परंतु यह एक ही प्रकार के कण या सेलवाले शरीर होते हैं। कुछ प्राथमिक जीव ऐसे भी होते हैं कि उन के एक (सेल) कण के भीतर का बीज उसी (सेल) कण में अनेक बीजों में बँट जाता है। यदि इन का जीवित पदार्थ हर बीज के चारों ओर इकट्ठा हो जाय तो इसे ही शरीर बनने का आरंभ समझना चाहिये। किसी रचना में अगर काम और अधिक बँट जाय और अंडेवाले और वीर्यवाले सेल मिलकर अलग स्वतंत्र-रचना में लग जायँ तो समझ लेना चाहिये कि साधारण शरीर की रचना आरंभ हो गयी। वैज्ञानिकों का यह अनुमान है कि पहले-पहले पौधों और जंतुओं के शरीर इसी तरह बने होंगे। यह बात भी विचारने की है कि स्त्री के एक ही डिंब-सेल में पुरुष के एक सेलवाले वीर्याणु के प्रवेश से आरंभ होकर स्पंज से लेकर मनुष्य तक के शरीर की रचना होती है। इस से यह प्रकट है कि शरीर के के बनाने में विविध प्रकार और जाति के कण मिलते हैं और संघठन में अपना-अपना उचित स्थान लेते हैं। यह बात भी बिसराने की नहीं है कि कोई साधारण कण या सेल विकास पाकर केंचुवा या तितली या हंस या मनुष्य नहीं बना सकता। जो कण जिस तरह के प्राणी को बनाता है उस कण में युगों से और कल्पों से कुछ ऐसे संस्कार या कारण उपस्थित रहा करते हैं जिन से कि उस विशेष प्रकार के प्राणी को छोड़ कोई दूसरा प्राणी बन ही नहीं सकता। यह संस्कार किसी अज्ञात रीति से युगों की इकट्ठी की हुई उन्नति और विकास को बीज रूप से उस कण में धारण करता है। इन बीजाणुओं के बिलकुल अलग-अलग विशेषता रखने का कारण अत्यंत प्राचीन युगों से होते आनेवाले विकास के गर्भ में छिपा हुआ है। इस का पता अभी विज्ञान नहीं लगा सका है।

———
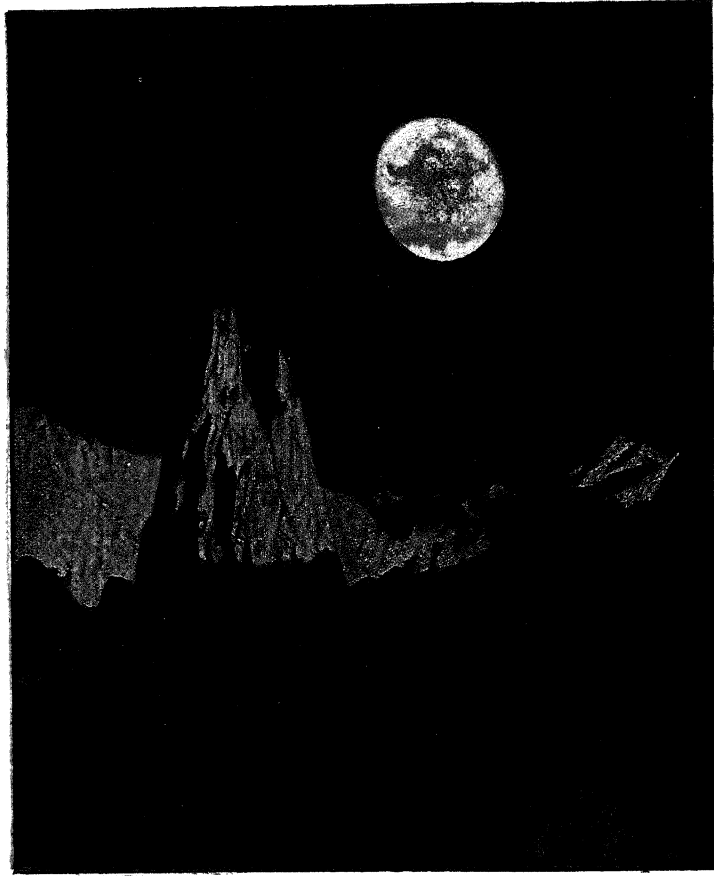
चित्र २७—चन्द्रमा का एक दृश्य

गिन कम्पनी की कृपा] [सौर-परिवार से

चन्द्रमा के किसी ज्वालामुखी पर्वत से पृथ्वी कैसी देख पड़ेगी, इस बात का काल्पनिक चित्र।

[विज्ञान हस्तामलक, पृ० १०३ के सामने]

पांचवां अध्याय

जीवन का आरंभिक विकास

१—दाम्पत्य-जनन

जैसा हम पहिले कह चुके हैं अमीबा की तरह के प्राथमिक प्राणी जैसे बढ़ते हैं और बढ़कर अलग-अलग प्राणी बन जाते हैं उसी तरह जीवन के उदय के समय भी जीवों के आदि कण पहिले लंबोतरे होते थे और फिर धीरे-धीरे अपनी अधिक-से-अधिक बाढ़ को पहुंचकर दो या अधिक टुकड़ों में बंट जाते थे जिन से कि आदि प्राणियों की संख्या बढ़ती जाती थी। यह एक कणवाले प्राणी बढ़ते-बढ़ते बहुत बड़े क्यों न होते गये? उन की बाढ़ क्यों रुक गयी? प्राणियों की संख्या बढ़ने के लिये यदि इस तरह जल्दी जल्दी टूटकर अलग होने की आवश्यकता थी तो इन आदि जीवों के बहुत बड़े हो जाने पर टूटकर अलग हो जाने में क्या बाधा थी? इन प्रश्नों का उत्तर विज्ञान यों देता है कि इन शरीरधारियों का पोषण जल में घुले हुए नमकों से होता है जिसे यह अपने शरीर के ऊपरी तल के द्वारा बराबर खींचते और सोखते रहते हैं। जब शरीर बढ़ता है तब उस की भीतरी सामग्री बाहरी तल की अपेक्षा बहुत ज्यादा बढ़ती है। पोषण की सामग्री ऊपरी तल या त्वचा से ही पहुंचती है। यह ऊपरी तल जब तक कि भीतरी सामग्री के पोषण के लिये काफ़ी भोजन खींचकर पहुंचाता रहता है तब तक शरीर बढ़ता जा सकता है। परंतु जब शरीर की सामग्री इतनी ज्यादा बढ़ जाती है कि त्वचा के द्वारा सोखा हुआ भोजन उस के लिये काफ़ी नहीं होता तो शरीर का आगे बढ़ना बंद हो जाता है। इसी लिये कोई शरीर अपने निश्चित परिमाण से बाहर बढ़ नहीं सकता। आदि कणों या अमीबा जैसे प्राणियों के बढ़ने में भी यही बात लगती है।

आरंभ के शरीर सीधे-सादे थे। त्वचा के सिवाय और कोई इंद्रिय न थी और प्रबंध ऐसा था कि पोषण के लिये जिन वस्तुओं की जितनी आवश्यकता थी वही और उतनी ही जल में से खींच ली जाती थी। किसी पदार्थ के त्यागने की जरूरत न पड़ती थी। इसलिये

शरीर के भीतर से मल-त्याग का झंझट न था। परंतु आगे चलकर जब जीवन का विकास होने लगा, जब अनेक जीवकणों के सहारे शरीर बनने लगे, जब उस पहली सादगी से हट कर शरीर की रचना में विषमता आयी, काम बढ़ा, तो विविध जीवकणों को भिन्न-भिन्न काम करने पड़े। आदि युग में इन आदि प्राणियों का शरीर बढ़ता था। और बढ़कर अनेक प्राणियों में परिणत हो जाता था। यह अयोनिज सृष्टि थी। स्त्री-पुरुष का भेद अभी तक पैदा नहीं हुआ था। परंतु विकास-क्रम में इस आसानी से काम चल नहीं सकता था। यह संभव न था कि एक गौरैया या एक कोयल बढ़ कर दो गौरैया या दो कोयल हो जाय। यदि अयोनिज रचना का यही क्रम बड़े जीवों के उपजाने में रहता तो उपजानेवाले जीव में जितने दोष होते वे उपजे हुए जीवों में भी पाये जाते और विकास या उन्नति के मार्ग में यह भारी बाधा पड़ जाती। इसलिये जब काम बढ़ा और शरीर की रचना में अनेक तरह के जीवकण लगने लगे तब एक प्रकार के जीवकण डिंब या अंडेवाले हुए और दूसरे प्रकार के जीवकण वीर्याणु या बीजवाले हुए। और जब अंडेवाले कण या डिंबाणु में वीर्याणु या बीजवाले कण ने प्रवेश किया तो दो मिलकर एक सेल बन गया और एक नयी व्यक्ति के लिये उस ने शरीर की बुनियाद डाली, जिस के चारों ओर और-और प्रकार के जीवकण इकट्ठे हो हो कर उस के विविध अंग बनाने लग गये। डिंबाणु स्त्री का पहिला रूप हुआ और वीर्याणु पुरुष का पहिला उपादान हुआ। स्त्री पुरुष का इस तरह का भेद पहिले-पहल इन जीवकणों के द्वारा पैदा हुआ। अब तक जो अयोनिज सृष्टि होती थी योनिज हो गयी। परंतु इस से यह न समझना चाहिये कि जिन डिंबाणु और वीर्याणुओं ने नयी व्यक्ति के शरीर की रचना में मिलकर उस की बुनियाद डाली वे उस शरीर के भीतर और कुछ करने लगे। यह जीवकण अपने सरीखे जननकणों की रचना करने में लग गये। जिन शरीरों में डिंबाणुओं की रचना की विशेषता हुई वह स्त्री-शरीर कहलाये और जिन में वीर्याणु की विशेषता हुई वह पुरुष-शरीर कहलाये। जब वह शरीर प्रौढ़ हुआ तो इन्हीं जनन-कणों ने मिलकर वैसे ही अनेक शरीरों की बुनियाद डाली।

प्रकृति में इस रीति के चल जाने से बहुत से लाभ हुए और जीवन का विकास सहज और सुगम हो गया।

(१) पहिला लाभ तो यह हुआ कि प्रजा की उत्पत्ति में खर्च कम पड़ने लगा क्योंकि आधे शरीर को अलगा देने की अपेक्षा पानी में जनन-कणों को छोड़ देना अधिक सुभीते की बात है।

(२) दूसरा सुभीता यह हुआ कि इस विधि से एक बारगी बहुत से नये जीव बन सकते हैं और यह उस समय बड़े महत्व की बात है जब जीवन का रगड़ा बड़ा विकट हो और जननी-जनक द्वारा रक्षा असंभव हो।

(३) तीसरा सुभीता यह है कि जननी-जनक के शरीर में जो दोष मौजूद हैं उन के जनन-कणों में आ जाने की बहुत कम संभावना होती है।

(४) चौथा लाभ यह है कि जनन-कण दो प्रकार के हो गये, एक प्रकार, डिंबाणु में तो भोजन और बढ़ने की सामग्री में प्रचुरता हुई, परंतु यह जनन-कण अचर हुआ।

दूसरा प्रकार वीर्याणुओं का हुआ जो चर प्राणी हैं, नलों और रसों में चल-फिर सकते हैं और दूर से डिंबाणु का पता लगा सकते हैं और इस तरह विकास में जो भिन्न जनन-कणों के मिलने से सुभीते होते हैं वह सहज हो गये।

स्त्री-पुरुष में जो अंतर पैदा हो गया वह भी विकास-क्रम में बड़े महत्व की बात हुई। एक ही घोसले के भीतर दो अंडे हों उन में से एक से नर बच्चा हो और दूसरे से मादा, तो जरूर ही अंडों के भीतरी संगठन में गहरा भेद होगा। किसी-किसी प्राणी के अंडो में भी अंतर होता है।

चित्र ६३—व्यक्तिगत जीवन का आरंभ

प्रोफेसर रिडिल का कहना है कि कबूतरों के अंडे नर और मादा दो प्रकार के होते हैं। परंतु कोई-कोई प्राणी ऐसे भी होते हैं कि बाहर से उन में स्त्री और पुरुष का कोई भेद नहीं दीखता परंतु असल में एक मादा होती है जिस के डिंबाशय होता है और दूसरा नर होता है जिस के वीर्यकोष होते हैं। इस भेद का कोई विशेष प्रभाव सारे शरीर के गठन में नहीं पड़ता; केवल जननेंद्रियों पर ही इस भेद का विशेष प्रभाव पड़ता है।

बहुत से शरीरों में स्त्री और पुरुषों का ऊपरी भेद भी होता है जैसा कि आम तौर पर लोग मुर्गा मुर्गी या बारहसिंहा और उस की हरिनी में देखते हैं। इन प्राणियों के शरीरों में पुरुषपन और स्त्रीपन का प्रभाव एकदम समा गया है। जान पड़ता है कि जननेंद्रियों की ओर से रक्त के प्रवाह में सारे शरीर में कुछ सूक्ष्म पदार्थ ऐसे फैलते हैं जो रूप में, शब्द में, व्यवहार में और रहन-सहन तक में अंतर डाल देते हैं। कहीं-कहीं स्त्री में पुरुषपन का और पुरुष में स्त्रीपन का भाव गुप्त पाया जाता है। यह बहुत संभव है कि किसी मुर्गी में मुर्गे का भाव अधिक हो और किसी मुर्गे में मुर्गी का भाव अधिक हो।

२—जीवन के लक्षणों का विकास

हमने देखा की जीवकरण भोजन करते हैं, बढ़ते हैं, अपनी प्रजा या संतान को बढ़ाते हैं, और विकसित अवस्था में शरीर से मल का त्याग भी करते हैं। यह बातें जीवन के संबंध में सभी जगह देखी जाती हैं। परंतु जैसे हमने आदिम प्राणियों का जन्म लेना देखा पे ही यदि आदिम नहीं तो विकसित प्राणियों का ही मरना भी हम देखते हैं। मरने से कोई बच नहीं सकता। मरने सभी प्राणी हैं। इस लिये सभी प्राणियों का या जीवन-मात्र का एक पांचवां लक्षण मरण भी समझना चाहिये।

विश रूप से मरना तीन तरह से हुआ करता है।

(१) प्राणियों की अधिकांश संख्या हिंसा से ही मरती है, या तो दूसरे उसे खा जाते हैं या उन की परिस्थिति में एक-बारगी बहुत फेरफार होने से वे मर जाते हैं।

(२) जब वह नयी परिस्थिति में पहुंचते हैं तो और प्राणियों के साथ उन्हें रहना पड़ता है ऐसी दशा में बहुत बार कीटाणु या परसत्वाद उन्हें लग जाते हैं। उन से छूटने का उपाय न जानने के कारण उन की मृत्यु हो जाती है।

(३) तीसरा प्रकार साधारण मृत्यु है। यह भी प्रायः नये शरीर के लिये बलिदान सा समझना चाहिये। शरीर जब पुराना हो जाता है, तो नित्य की होती हुई मरम्मत अंत में बेकार हो जाती है और बुढ़ापा बाजी मार ले जाता है। कई जानवरों में मृत्यु से ही आगे की संतान होती है। इसलिये मरने में ही सुभीता है।

यह एक अचरज की बात है कि आदि जीवकरण स्वाभाविक मृत्यु से मरते नहीं जान पड़ते। उन की रचना इतनी सीधी सादी है कि उन के लिये मरम्मत और आराम काफी है और प्रजा की वृद्धि में भी वे बड़ी जल्दी एक से अनेक होते हैं। इस लिये उन के जीवन की कोई हानि नहीं होती। इनसे अमरता का भी विकास दिखाई पड़ता है। और कुछ जीव ऐसे भी हो सकते हैं जो मृत्यु से बच सकें। जैसे मूंगों का वह कीड़ा पल्वल कीट (पालोलो वर्म) जिस का शरीर तो जननकणों के विसर्जन में लग जाता है पर सिर मूंगों की एक दरार में पड़ा रह जाता है और समय पाकर अपने लिये नया शरीर उगा लेता है। इसी विकास में दीर्घजीवी होने के भी सब तरह के उपाय शामिल हैं।

३—शरीर के अवयवों का विकास

विकास का क्रम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों प्राणियों में जीवन की इन पांचों आवश्यकताओं के सिवाय और और विशेषताएं भी आती जाती हैं। आरंभ में शरीरों की रचना इस ढंग की होती थी,—प्रायः गोलाकार,—कि जिधर से चाहो उधर से आधा कर लो परंतु इस तरह की रचना अचर प्राणियों की ही हो सकती थी। चरों को तो किसी-न-किसी दशा में चलना ही था इस लिये वह अपने शरीर का एक भाग आगे करके चलने लगे। यही सिर हो गया और शरीर में दहना बांयां भाग भी बन गया। अब शरीर की लम्बी डील होना जरूरी हो गया। इसी तरह सिर में दिमाग का बनना भी शुरू हुआ। धीरे-धीरे सिर का विकास हुआ, इंद्रियों का विकास हुआ, पाचन और शोषण-संस्थान बने, रक्त और रक्त-संस्थान बने, मांस-पेशियों के बंधन और हिलाने-डुलाने की नाड़ियां बनीं, शरीर में इंद्रियों के नाड़ीजाल का ताना-बाना तन गया। और विशेष कर रीढ़वाले प्राणियों के शरीर में भीतरी रसों को बनानेवाली गांठें बन गयीं जो वह सूक्ष्म रस बनाती हैं जिन्हें हारमोन कहते हैं जो रक्त के साथ शरीर भर में चक्कर लगाते हैं और प्राण की क्रिया को सुसंगत रखते हैं।

इन में से कुछ ऐसे भी हैं जो शरीर के विशेष भागों को बनाते हैं, जैसे दूध पिलानेवाले प्राणियों में दूध की ग्रंथियां।

सोच-विचारकर सुख-दुःख की प्रतीति और अनुभव, और इच्छा-शक्ति जो हमारे जीवन की विशेषताएं हैं, कब और किस प्रकार वे जीव में पहले-पहल पैदा हुईं, कहना बहुत मुश्किल है। यह बात तो पक्की है कि बीज रूप से यह मानसिक शक्तियां जीवन की आदिम अवस्था में उसी तरह मौजूद रही होंगी जिस तरह वशिष्ट व्यास कालिदास और तुलसीदास जैसे विशाल बुद्धि और विवेकवाले लोगों के विकास के बीज उन के अत्यंत अबोध लाचार नवजात शिशु-शरीर में मौजूद थे। वास्तव में बहुत से हेतु ऐसे हैं जिन से इस नतीजे पर पहुंचना पड़ता है कि जहां-कहीं जीवन है वहां मानसिक शक्ति की कोई न कोई मात्रा अवश्य मौजूद है। पौधे तक मानसिक शक्तियों से सर्वथा रहित नहीं हैं।

४—मन का विकास

विकसित प्राणियों में यह विशेषता देखी जाती है कि वह बात-बात में परीक्षा करते हैं और जब चूक जाते हैं तो उस भूल-चूक से सीखते हैं। प्रत्येक प्राणी अपने को अनुकूल या प्रतिकूल दशाओं से घिरा हुआ पाता है। इन दशाओं को परिस्थिति कहते हैं। हर प्राणी को किसी न किसी परिस्थिति से मुकाबला करना पड़ता है, जूझना पड़ता है। वह जिधर बढ़ता है उधर कभी तो उस की गति में रुकावट नहीं पड़ती और कभी उसे ठोकरें खानी पड़ती हैं। जहां उस की गति रुकती है या ठोकर लगती है वहां झट वह पीछे को हटता है और अपने को संभाल लेता है। वह प्रत्येक गति में अपनी राह को परखता है और हर ठोकर से वह सीखता है। मार्ग बदलने पर भी जब-जब उसे रुकावट होती है तब-तब वह

मुड़ता है और भूल-चूक से हर बार नयी बात सीखता है। यह बात बहुत छोटे-छोटे प्राणियों में भी देखी जाती है कि उन को छेड़ा जाय तो वह छेड़-छाड़ का किसी न किसी तरह का उत्तर अवश्य देते हैं। जब सफलता होती है तब प्राणी उत्साह से आगे बढ़ता है।

किसी क्रिया का यदि उत्तर मिले तो उसे प्रतिक्रिया कहते हैं। कोई कीड़ा रेंग रहा हो उसे जरा सा किसी तिनके से छू दीजिये तो वह तुरंत मुड़ जाता है, दोहरा हो जाता है, अपनी दिशा बदल देता है या भागने लग जाता है। यह प्रतिक्रिया हुई। उदाहरण के लिये एक केंचुए को लीजिये। एक चिड़िये के पैर की धमक से जो उस के फुदकने से धरती में पैदा होती है केंचुए के नाड़ीजाल को खबर हो जाती है और वह तुरंत सुकड़ जाता है। ज्ञाननाड़ी और कर्मनाड़ी दोनों केंचुए में भी बिजली की तेजी से काम करती हैं। इन नाड़ियों का विकास भी आदि प्राणियों से होता हुआ हम लोगों की दशा को पहुंचा है।

५—अभिमुखता या बान पड़ जाना

प्रत्येक शरीर और उस के इंद्रियों को धरती के खिंचाव और जल-मंडल या वायु-मंडल के दबाव का, धाराओं का, आर्द्रता का, सर्दी और गर्मी का, प्रकाश का, बिजली का और छूनेवाले तलों का मुकाबिला करना पड़ता है और इन के प्रभाव को सहकर भी अपनी सत्ता की रक्षा करनी पड़ती है। इसी रक्षा के उद्देश्य से स्वभाव से ही हर एक शरीर में इन के सहने की और इन की बढ़ती-घटती के अनुसार अपनी अवस्था को बनाये रहने की ज़रूरत पड़ती है। इस के लिये हर एक प्राणी लाचार होकर अपनी गति-विधि अनुकूल बनाता है। इसी को "अभिमुखता" कहते हैं। इसी अभिमुखता से न केवल प्राणी अपनी रक्षा करता है, बल्कि परिस्थिति के अनुसार उस का विकास भी होता है। परंतु यह शारिरिक सामंजस्य प्रकृत अवस्था में ही स्थिर होता है। अस्वाभाविक अवस्था में भी सामंजस्य की स्थापना करने को शरीर अभिमुख होता है। पतंग जब दिये को देखता है तो उस की एक ओर की ही आंख में प्रकाश जाता है। दूसरी आँख में प्रकाश डालकर सामंजस्य लाने के लिये वह प्रकाश की ओर उड़ता है। स्पृहा के मोह में वह बहुधा दीप-शिखा में जल मरता है। यदि प्रकाश इतने फैलाव में हो कि उस की दोनों आखें प्रकाशित हो जायँ तो वह इस धोखे में न आये। प्रकृति में उसे इस विषम अवस्था का कभी अनुभव नहीं होता। उस की परिस्थिति में दीपशिखा बिल्कुल कृत्रिम है और इस अस्वाभाविकता से उस की आदत पड़ जाने की आशा उस से कोई नहीं कर सकता।

६—नैसर्गिक व्यवहार

प्राणियों के विकास के तिर्यक् धरातल की ऊपर जानेवाली राह में प्राणियों का नैसर्गिक स्वभाव अद्भुत रीति से विकसित दिखाई पड़ता है। चीटियों में, मधुमक्खियों में,

---

*** भारतीय प्राचीन विद्वानों ने सब प्राणियों को ऊर्ध्व, तिर्यक् और अर्वाक् इन तीन स्रोतों में बांटा है। ऊर्ध्व सीधे खड़े होनेवाले मनुष्यादि प्राणी हैं। अर्वाक् वृक्षादि एवं जीवाणु हैं। शेष तिर्यक् स्रोत में गिने जाते हैं।**

और भिड़ों में ऐसी योग्यता देख पड़ती है जो बिल्कुल भीतरी है और जिसे सीखने की ज़रूरत नहीं पड़ती। यद्यपि यह अभ्यास और अनुभव से बिल्कुल स्वतंत्र है तथापि इन दोनों से उन के व्यवहार में सुधार हो सकता है। एक ही जाति के नरों में एक सी योग्यता पायी जाती है। मादों की योग्यता नरों की योग्यता से प्रायः भिन्न हुआ करती है। चींटियां, मधुमक्खियां और भिड़ें जन्मते ही अपने-अपने स्वाभाविक काम में अद्भुत चतुराई और होशियारी से लग जाती हैं। उन्हें सीखने की कोई ज़रूरत नहीं पड़ती। साधारण शरीर-विज्ञान की दृष्टि से तो जान पड़ता है कि मानों उन का सारा काम भीतर से प्रेरित होनेवाली एक तरह की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। परंतु कई बातें ऐसी देखने में आती हैं जिनसे लाचार हो यह मानना पड़ता है कि वह जो कुछ करते हैं उस से वह सचेत हैं और उसे पूरा करने से लिये जान-समझकर प्रयत्न करते हैं। जब कोई विशेष अवस्था आ जाती है जो उन की साधारण परिस्थिति में अंतर डाल देती है या उन के काम में बेसोची हुई आकस्मिक रुकावट आ जाती है तब वह ठीक उपाय करके परिस्थिति का मुकाबिला करते हैं और अपने काम में सफल होते हैं। परंतु असफलता के भी बहुत से अवसर आ पड़ते हैं जिन से वह शिक्षा भी ग्रहण करते हैं। यह बात ऊपरवाले प्राणियों में अधिक देखी जाती है। अंडजों में पक्षी और पिंडजों में पशु अनुभव से बहुत सीखते हैं। पर जिस तरह चींटी आदि छोटे प्राणियों में नैसर्गिक बुद्धि की अधिकता है और विवेक का बहुत ही थोड़ा-थोड़ा विकास देखा जाता है उसी तरह बड़े प्राणियों में विवेक की बढ़ती हुई मात्रा के साथ साथ कभी-कभी नैसर्गिक व्यवहार के काम भी विवेक का स्थान ले लेते हैं। शायद कोई नैसर्गिक व्यवहार विवेक की यत्किंचित मात्रा के विना न होता हो और विवेक का कोई काम नैसर्गिक बुद्धि के विना न होता हो। पुराना ख्याल तो ऐसा है कि नैसर्गिक बुद्धि पहले के विवेक का जमा हुआ ठोस रूप है। अथवा विवेक से आचरण करते-करते जब वह आचरण स्वाभाविक हो गया तो उस ने नैसर्गिक बुद्धि का रूप ग्रहण कर लिया। यह बात मनुष्य के साधारण जीवन में देखी भी जाती है। परंतु यह इस प्रसिद्ध अनुमान पर कहा जाता है कि व्यक्तियों के अनुभव से जाति-की-जाति लाभ उठाती है। परंतु अब के विकासवादी निश्चय-पूर्वक नैसर्गिक बुद्धि और विवेक दोनों का विकास अलग-अलग मानते हैं।

७—समझ-बूझ

तिर्यक् मार्ग में और ऊंचे चढ़ने पर सची समझ-बूझ या बुद्धि दिखाई पड़ती है। जान पड़ता है कि बड़ा प्राणी इंद्रियों से अनुभव करके कुछ नतीजा भी निकालता है। केवल अनुभव से ही लाभ नहीं उठाता बल्कि सोच-विचार से भी सीखता है। समझ-बूझ के जितने काम होते हैं उन में आपस में, और उन के करनेवाले प्राणियों में, बहुत अंतर दिखाई पड़ता है। इन कामों में फेरफार होने पर भी या परिस्थिति के बदल जाने पर भी कठिनाई नहीं पड़ती और सहज ही ठीक कर लिये जाते हैं। नैसर्गिक बुद्धिवाले काम का क्रम जरा भी बदला कि करनेवाला प्राणी बिलकुल किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है।

इस तिर्यक् मार्ग के सब से ऊंचे शिखर पर पहुंचे हुए मनुष्य प्राणी में भीतरी नैसर्गिक बुद्धि अंतरात्मा के आदेश या भीतरी अविज्ञात कर्म करनेवाले मन की प्रेरणाओं में
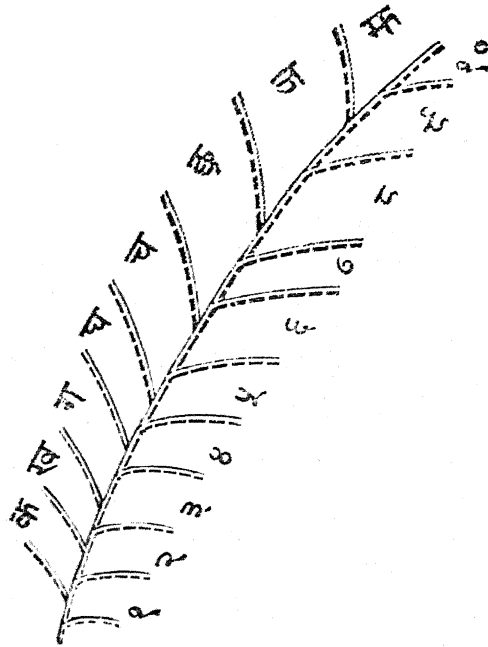
चित्र ६४—प्राणि-स्वभाव की तीर्य्यक् गति। बुद्धि और विवेक का विकास
[परिषत् की कृपा

तिर्य्यक् रेखा का ऊपरी भाग विवेक और निचला भाग सहज बुद्धि प्रकट करता है। ऊपरी भाग में (क) उद्योग (ख) साधारण जांच (ग) जांच और चूक की विधि (घ) बेसमझी की जांच (च) जांच से सीखना (छ) प्रसंग से सीखना (ज) समझदारी का बर्ताव (झ) विवेकयुक्त आचरण (मनुष्य में)।

निचले भाग में (१) परिस्थिति के साथ प्रतिक्रिया (२) बाह्य-प्रदर्शित प्रतिक्रिया (३) सरल प्रतिक्रियात्मिका क्रियाएं (४) मिश्रित प्रतिक्रियात्मिका क्रियाएं (५) आभिमुख्य (६) बाह्य प्रदर्शित अनुक्रियाएं (७) सरल निसर्ग (८) श्रृंखलाबद्ध निसर्ग (९) विवेक से प्रभावित नैसर्गिक क्रियाएं (१०) प्रत्यगात्मा की अंतः प्रेरणा (मनुष्य में)।

अत्यंत प्रबल देखी जाती है। वह इंद्रियों से अनुभव करके जो निष्कर्ष निकालता है, बाहरी तजुर्बे से जिन नतीजों पर आता है, उन्हें भीतरी आवाज से जांचता और परखता है, दोनों का मिलान करता है और फिर अपने व्यवहार के लिये ठीक मार्ग निश्चय करता है। इस दर्जे का विवेक केवल मनुष्य में पाया जाता है।

इस बात में तो संदेह नहीं रह जाता कि ज्यों-ज्यों प्राणियों का विकास होता है त्यों-त्यों उन के शरीर की रचना अधिक-से-अधिक विकट होती जाती है। स्वभाव और बर्त्ताव पर प्राणी का अधिकार बढ़ता जाता है वह अधिक संयमी होता जाता है और अधिकाधिक स्वाधीनता से काम करने लगता है। क्रम से परीक्षा चिंतना वृत्ति और आकांक्षा अधिकाधिक बढ़ती जाती है।

ज्यों-ज्यों विकास की गति में प्राणी ऊपर उठता है त्यों-त्यों संतति की रक्षा प्रकृति की बाहरी परिस्थिति के हाथों से निकलकर माता-पिता के उत्तरदायित्वमें आती जाती है। सृष्टि में प्रजा के द्वारा ही वृद्धि और विकास होता है। प्रजा संतान को कहते हैं और "संतान" शब्द का यौगिक अर्थ है "फैलाने-की-क्रिया।" अंडजों में छोटे-छोटे कीड़े एक साथ लाखों और करोड़ों की संख्या में अंडे देते हैं। पानी में अनेक जंतु इस तरह अनगिनत अंडे देते हैं कि मानों एक विशाल क्षेत्र में बीज बोते हों। संतान की रक्षा के लिए ऐसी दशा में माता-पिता को किसी तरह की चिन्ता नहीं होती क्योंकि बहुत से नष्ट हो जाने पर भी उन में से कुछ अंडे तो ज़रूर बच ही जाते हैं। जो जीव जल और स्थल दोनों से संबंध रखते हैं, वह अपने अंडे जल से बाहर कहीं रेत में छिपा देते हैं। घड़ियाल के बच्चे बालू में से दबे हुए अंडे से निकलने के समय एक विशेष शब्द करते हैं जिसे उन के माता-पिता सुन लेते हैं और तुरंत खोदकर फूटनेवाले अंडों को निकाल लेते हैं। पक्षी अपने अंडों को निरंतर गरम रखते हैं और जब तक बच्चे निकल नहीं आते तब तक बराबर सेवा करते हैं। बच्चों के निकल आने पर वह बराबर रक्षा और पालन-पोषण करते रहते हैं। पंख आ जाने पर उन्हें उड़ना सिखाते हैं और जब तक वह पूरे प्रौढ़ नहीं हो जाते तब तक बराबर उन की देखभाल रखते हैं। ज्यों-ज्यों प्राणी का शरीर इस सृष्टि में बड़ा होता देख पड़ता है त्यों-त्यों संतान के पैदा होने की संख्या घटती जाती है। पिंडजों में तय्यार बच्चे गर्भ से बाहर होते हैं। और उन की देख-भाल, रक्षा और शिक्षा माता-पिता बहुत काल तक करते हैं। संतति-रक्षा का काम परिस्थिति के हाथों से प्रायः एकदम निकल जाता है और माता-पिता पूरे ज़िम्मेदार बन जाते हैं। इस जिम्मे-दारी का रूप स्वाभाविक वात्सल्य-प्रेम है। इस वात्सल्य-भाव का उदय तो अंडजों से ही आरंभ हो जाता है और मनुष्य में आकर यह भाव अपनी पूरी ऊंचाई को पहुंचता है। छोटे प्राणियों में अक्सर देखा गया है कि पिता को संतान से प्रेम नहीं है। कई तो अंडों बच्चों को खा जाते हैं।

९—गति का विकास और विकास की गति

यहां तक हम शरीर के विकास का रूप दिखाते आये हैं। अब हम यहां इस बात पर

विचार करेंगे कि संपूर्ण जीवन या शरीर के रूप में इस सृष्टि की गति कहां से कहां तक होती रही है। वैज्ञानिकों का मत है कि जीवित शरीर का आरंभ किसी ऐसी जगह हुआ होगा जहां पृथ्वी, जल, तेज और वायु चारों तत्वों का बहुतायत से मेल होगा। ऐसी जगह समुद्र का तट ही हो सकता है। समुद्र के जल से अनेक तरह के नमक, उस में आकर मिलनेवाली नदियों से शुद्ध पेय जल, वायुमंडल से विशुद्ध प्राणकर वायु ओषजन की प्रचुरता और स्थल पर जल से संबंध रखनेवाले उद्भिज्ज, सभी कुछ वैयक्तिक चेतना रखनेवाले प्राणी के लिये आवश्यक हैं। इस तरह की अनुकूल परिस्थिति से प्राणियों के शरीर का आरंभ होकर चारों ओर फैलना स्वाभाविक मालूम होता है।
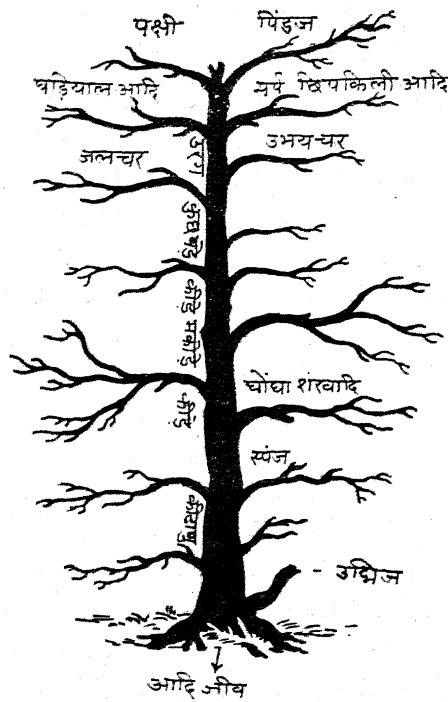
ज्यार्ज न्यून्स की अनुमति से] चित्र ६९—जीवन-वृक्ष [टामस का अनुवर्त्तन

किनारे पर से जीवन के फैलने के लिये दो बहुत बड़े फैले हुए क्षेत्र मिलते हैं। एक तो जल का अत्यंत विशाल क्षेत्र है और दूसरा सूखी धरती का। जल में बहने और आराम से फैलने की बहुत बड़ी गुंजाइश है। जल के ऊपरी तलपर रहने में हवा और रोशनी भी मन-चाहे परिमाण में मिल सकती है। भीड़-भाड़ का कोई डर नहीं है। बहते हुए सूक्ष्म उद्भिज्जों से भोजन की पूरी सामग्री मिल जाती है। स्थल पर इतने सुभीते नहीं हैं। इसी लिये अनुमान किया जाता है कि तट से जीवित शरीर का विकास खुले हुए जल के

विस्तार में आया। उद्भिज्जों का आरंभ तो जल से होकर उन का पूरा विस्तार स्थलपर हो चुका था। इसलिये व्यक्ति शरीर धारियों को उसी मार्ग पर चलने में कोई कठिनाई न थी। इधर जल की गहराई में भी शरीरधारियों के प्रवेश में कोई रुकावट न थी। इसी से दोनों ओर शरीरधारी फैले।

समुद्र में गहराई सब जगह एक सी नहीं है। किनारों के पास बहुत बड़े फैलाव तक समुद्र का पानी गहराई में अत्यंत कम है। इस छिछले पानी में बढ़ते-बढ़ते अधिक से अधिक गहराई में शरीरधारी प्राणी पहुंचे होंगे। परंतु गहिरे समुद्र की क्या दशा है? वह अत्यंत शीत की जगह है जहां गरमी का कभी प्रवेश नहीं होता। घोर अंधकार वहां सृष्टि की आदि से बना हुआ है। प्रकाश वहां पहुंच नहीं सकता। ढाई हज़ार पोरसों (पुरुषों) की गहराई पर पानी का दबाव हर वर्ग इंच पर ढाई टन अथवा अड़सठ मन के लगभग पड़ता है। वहां शान्ति का आत्यन्तिक राज्य है, अखंड नीरवता है। पौधे नहीं हैं। ऐसी विकट दशा में भी प्राणी वहाँ पहुंचा और फैल गया। इस विकट परिस्थिति को भी उस ने अपने अनुकूल बना लिया। वनस्पति के अभाव से इस गहराई के प्राणी एक दूसरे को खाकर निर्वाह करते हैं। उन के शरीर मणियों और रत्नों की तरह चमकते हैं और वहाँ के अंधकार की कठिनाइयों को हटाते हैं। जान पड़ता है कि उथले जल से खसकते-खसकते ही यह प्राणी इतनी गहराई में बहुत काल में पहुँचे होंगे। समुद्र को रत्नाकर की पदवी देने में इन का भी कुछ भाग है।

समुद्र में नदियां, नाले आदि बहकर गिरते हैं। इन्हीं की राह से समुद्र-तट के प्राणी स्थल की ओर बढ़े। शुद्ध अनुकूल जल में बहुत बड़े सुभीते मिले। धरती, रोशनी, हवा, पौधे आदि किसी की कमी न थी। शरीर के ऊपर कोई भारी दबाव या बोझ भी न था। इसी लिये पहले नदियों और नालों में और फिर दलदलों में देहधारी प्राणी बढ़े। दो एक बातों का डर जरूर था। कभी तो एक दम सूख जाने का डर था और कभी जाड़ों में जमकर पत्थर हो जाने का, और कभी बाढ़ में बह जाने का या बाढ़ के निकल जाने पर ऊँचे और सूखे में छूट जाने का। परंतु देहधारी स्थल में पड़ जाने पर भी अपनी रक्षा में अपने को समर्थ पाने लगे।

प्राणियों की चढ़ाई सूखी धरती पर हुई। यहाँ जल के द्वारा नहीं बल्कि सीधे हवा से ओषजन मिलने लगा। हवा में रहनेवाले प्राणी की खाल कड़ी हो गयी। और अब जल से त्वचा के सहारे ओषजन खींचने के बदले भीतरी अंग की आवश्यकता हुई जो हवा से ओषजन को खींच ले। इस तरह धीरे-धीरे फेफड़ों का बनना शुरू हुआ। बहुत से प्राणियों में रक्त को उस स्थान तक जाना पड़ता है जहाँ से ओषजन चूसा जा सके परंतु कीड़ों-मकोड़ों में क्रिया ठीक उलटी होती है। वह हवा को या तो रक्त तक ले जाते हैं या वहीं ले जाते हैं जहाँ ओषजन के द्वारा दाह की क्रिया होती रहती है। उन के शरीर में वायु की अनेक नलिकाएँ बनी होती हैं जो हवा को सर्वत्र पहुँचाती हैं। इस से खून में गंदगी नहीं आती और कीड़े अत्यंत कर्म-शील बने रहते हैं।

पानी में बहना बहुत आसान था। परंतु धरती पर चलना मुश्किल हो गया। अब
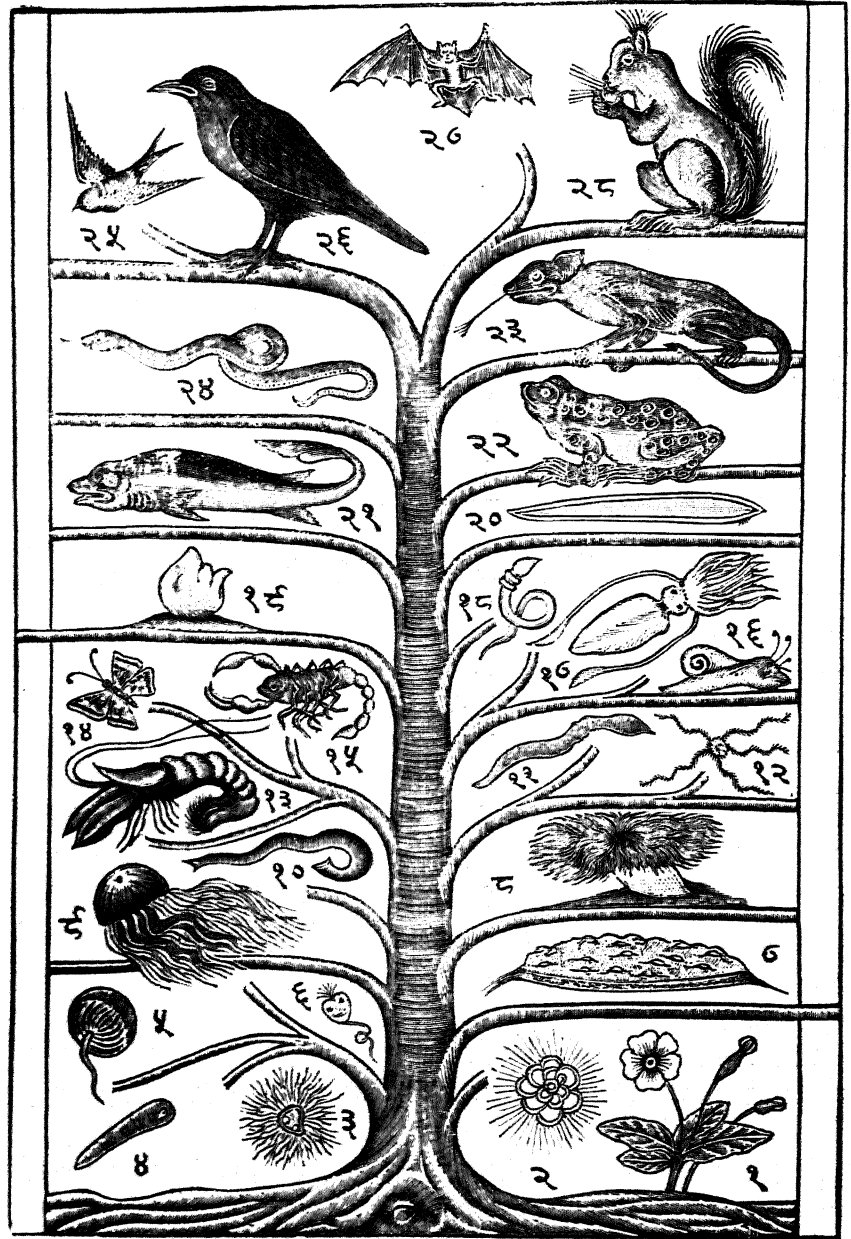
चित्र ६६—चर प्राणियों का वंश-वृक्ष ।

न्यार्जन्यूनस की अनुमति] [टामसन का अनुवर्तन

(१) पौधा, जो दूसरे विकास वृक्ष का प्रतिनिधि हैं—दोनों वृक्ष एक ही मूल से निकले हैं। (२–३) खड़िया बनानेवाले जंतु। (४) पराश्रित संचारी जंतु। (५) रात को चमकनेवाले जंतु-विशेष। (६) घंटाकार जंतु। यह सब सूक्ष्म एक सेलवाले जंतु हैं जो प्राथमिक जीव कहलाते हैं। अनेक सेलवाले जंतु बहुसेली प्राणी कहलाते हैं। (७) असमान स्पंज। (८) पुष्प-तिमि (९) लुआबी मछली, यह दोनों दंशक जंतु हैं। (१०) जोंक। (११) केंचुआ। यह दोनों छल्लेदार शरीर और लाल रक्त के रेंगनेवाले प्राणी हैं। (१२) तारा-तिमि, चर्म्मकंटक जाति के जल-जन्तुओं का नमूना। (१३) झिंगा मछली, कवची-वर्ग के प्राणियों का नमूना। (१४) तितली, मकोड़ा वर्ग या षट्पद वर्ग का नमूना। (१५) बिच्छू, मकड़ी जाति का नमूना। (१६) घोंघा। (१७) अष्टपाद। दोनों मृदुकाय जल-जन्तुओं के नमूने हैं। (१८) रेंगनेवाले कीड़े के रूप का जंतु जो रीढ़वाले और बेरीढ़वाले प्राणियों का मध्यवर्ती है।

रीढ़ वाले प्राणियों में (१९) पदविहीन खोलदार जंतु। (२०) प्रासाकार जंतु विशेष (२१) मछली (२२) मेंढक, उभयजीवी। (२३) गिरगिट, एक प्रकार का सर्प। (२४) सांप सर्प या व्याल का एक प्रकार। (२५–२६) अबाबील और बया। चिड़िया का प्रकार। (२७) चमगीदड़। (२८) गिलहरी, दोनों पिंडज जाति के प्रतिनिधि।

प्राथमिक जीव। बहुसेली प्राणी। बेरीढ़वाले प्राणी। रीढ़वाले प्राणी।
Protozoa Metazoa Invertebrates Vertebrates

किसी टेकन की ज़रूरत हुई जिस के सहारे प्राणी आगे बढ़े। इसी लिये पाँव निकलने लगे। पावोंवाले जानवरों के विकास के साथ ही साथ हम ऐसे जंतु भी देखते हैं जो धरती पर बिना पाँव के रहते हैं, जैसे केंचुए और साँप। केंचुए मिट्टी खोदकर बिल बनाते हैं। साँप अपनी पसलियों और केंचुल के मज़बूत रेशों के बल से चलता है। धरती पर एक दूसरी कठिनाई यह आती है कि जहाँ जल में दहने-बायें, आगे-पीछे, ऊपर-नीचे, सब ओर की गति हो सकती थी वहाँ धरती पर केवल एक तलपर गति की संभावना रह जाती है। यही बात है कि हम देखते हैं कि स्थल पर चलनेवाले प्राणियों के अंग-अंग का अधिक विकास होता है और विशेषतः उन के शरीर में चलने का उपयुक्त प्रबंध होता है। सूखे और पाले से, गर्मी के और सरदी के अत्यंत बढ़ने और घटने से, उन के शरीर पर ऊन और रोएं की ज़रूरत हुई। धरती पर जीवन के आ जाने पर एक और कठिनाई उपस्थित हुई। अंडों या बच्चों को अब जहाँ चाहो वहाँ छोड़ देना संभव नहीं था। अब तो रक्षा की जगह की तलाश हुई। धरती में गाड़ देना, घोंसलों में छिपा रखना या जन्म से पहले और पीछे भी बहुत काल तक अपने अंग से चिपटाये फिरना ज़रूरी हो गया। इसी लिये संतान की बहुत भारी संख्या अनुकूल नहीं ठहरी। जो वात्सल्य-भाव बहुत बड़ी गिनती में बँटा हुआ था अब थोड़े से बच्चों पर एकत्र हो गया। भावों में बड़ी गंभीरता, मान्द्रता, कोमलता और सौन्दर्य का विकास हुआ।

अब अपनी और अपने कुटुम्ब की रक्षा के लिये भाँति-भाँति के उपाय किये जाने

लगे। धरती खोदकर मांद बनाना या खोहों में और गड्ढों में रहना या पेड़ पर चढ़कर अपनी रक्षा करना, या पानी में या हवा में जाकर अपने को बचाना जरूरी हो गया। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब धरती पर जीवन के आने में इतनी कठिनाइयां हैं तो सूखे पर बसने की ही क्या ज़रूरत थी? इस का जवाब यह हो सकता है कि जीवन कर्मण्यता का ही नाम है। कर्म का सिलसिला जितना ही बढ़े उतना ही विकास बढ़ता है। प्राणीमात्र में कर्म की ओर प्रवृत्ति है। यह स्वाभाविक है कि जीव किसी क्षण बिना कर्म के नहीं रह सकता। आवश्यकता और कुतूहल यह दोनों ही कर्म के प्रवर्त्तक हैं। कुतूहल जनक है तो आवश्यकता जननी है। पानी के सूख जाने से या भीड़ से या शत्रुओं से बचने की आवश्यकता के कारण या नये देश नये काल, और नयी परिस्थिति के देखने के कुतूहल से प्राणियों ने नये क्षेत्रों में और नयी परिस्थितियों में साहसपूर्वक बड़ी-बड़ी कठिनाइयों का सामना किया है।

छोटे-छोटे कीड़े पत्रोरग पक्षी और चमगीदड़ हवा में उड़ते हैं। इन्होंने वायु-मंडल पर विजय की है। परंतु कितने ही असफल भी हुए हैं। जैसे उड़नेवाली मछलियाँ, मेंढक और उरग आदि भी कुछ थोड़ी दूर तक उड़कर या उछलकर रह जाते हैं। पिंडजों में भी उड़नेवाले लंगूर या कंगारू के से जानवर होते हैं जो उस छतरी से ज्यादा काम नहीं कर सकते जो गुब्बारे से आदमी को उड़ते हुए से उतारने में काम देती है। परंतु कुछ भी हो उड़ने से प्राणियों का बड़ा लाभ हुआ। धरती पर चुगती चिड़िया शिकारी जंतु को देख कर उड़ जाती है, ऊपर से अन्न-जल का बड़ी दूर तक पता लगाया जा सकता है, ऊंचे शिखरों पर या पेड़ों पर या और दुर्गम जगहों में अंडे-बच्चे सुरक्षित रक्खे जा सकते हैं और जरूरत पड़ने पर एक देश से दूसरे देश में पक्षी चले जाते हैं और बहुतेरे तो ऐसे हैं जो कड़ी सर्दी जानते ही नहीं।

———

छठा अध्याय

विकास का इतिहास

१—पत्थर की लीक

धरती पर बसनेवाली हर एक सभ्य मनुष्य जाति के साहित्य में सृष्टि का कुछ न कुछ पुराना इतिहास मौजूद है, जिस की बहुत सी बातें आज के युग में समझ में नहीं आतीं। देश काल और परिस्थिति के भेद से उन में भी परस्पर बहुत कुछ भेद है। इस लिये इतिहास की आज-कल की परिभाषा उन पर चरितार्थ नहीं होती। मनुष्य ने बीते हुए कई हजार वर्षों का जो कुछ इतिहास खोजकर संग्रह किया है उस में अधिकांश मनुष्य का राजनीतिक इतिहास-मात्र है। परंतु विज्ञान इतने थोड़े काल के और केवल मनुष्य जाति के और फिर वह भी राजनीति-मात्र के इतिहास से संतुष्ट नहीं हो सकता। उसे तो संसार के आरंभ से लेकर आज तक का इतिहास चाहिये। और वह इतिहास भी सारी सृष्टि का चाहिये। यदि सृष्टि के मनुष्य जैसे छोटे-छोटे अंगों के इतिहास के विस्तार पर ध्यान दिया जाय तो एक तो उतनी सामग्री न मिलेगी दूसरे मिले भी तो मनुष्य की सर्वतोमुखी ज्ञान-वृद्धि में सहायक न होगी। सृष्टि की आदि से अब तक का इतिहास वैज्ञानिकों ने पत्थर में अंकित पाया है जिसे प्रकृति-माता ने घटनाओं की अंगुलियों से आप लिख रखा है। मनुष्य ने भूगर्भ-विद्या की खोज में धरती के बहुत गहरे-गहरे भाग खोदकर जांचे और परखे हैं। सृष्टि के बहुत विशाल विस्तृत युगों में इस धरती के चिप्पड़ धीरे-धीरे ऊँचे उठकर या नीचे बैठकर महाद्वीप और महासागर बन गये हैं। धरती का ऊपरी भाग उभड़कर और सुकड़ कर पर्वत-मालायें बन गयीं हैं और अनेक पेंच खाकर छोटी-छोटी पहाड़ियां और घाटियां में उनका विकास हो गया है। हवा से सूखकर और पानी से पिघलकर गलकर और फट-कर' धरती के ऊंचे भाग अनेक रूप और आकार के हो गये हैं और बहुत सा सूखा, गला, पिघला और नोना खाया हुआ अंश नदियों के द्वारा बहकर गहरी जगहों को भरकर बड़े-बड़े मैदान बनाने में लग गया और आज भी लगा हुआ है और बहुत सा अंश जगह-जगह पर

नदियों और समुद्रों के द्वारा इकट्ठा होकर काल पाकर पत्थरों और चट्टानों में परिणत हो गया। यह अंश भी बारंबार टूटते बहते और विषम स्थलों में इकट्ठे होते-होते स्तर-पर-स्तर जमाते गये हैं जो आज अनेक भूविज्ञानियों के मत से कुल सड़सठ मील की मोटाई का चिप्पड़ है। इस तरह जमा होनेवाले स्तरों में समय-समय पर उन-उन युगों के जो प्राणी और वनस्पति इन में गड़े हैं उन की ठठरियां ज्यों की त्यों पायी जाती हैं। अथवा उन के शरीर के शेष बिल्कुल पत्थर हो गये हैं तो भी उन का आकार बदला नहीं। इन स्तरों और चट्टानों और जीवशेषों के परिशीलन से इस धरातल का और उस पर के बहुत से प्राणियों का इतिहास संग्रह किया गया है। वैज्ञानिकों ने इन से जो विकास का इतिहास-संग्रह किया है उसे अनेक काल्पनिक युगों में बांटा है। इस तरह के लिखे पत्थर के इतिहास में भी कई दोष हैं। अनेक प्राणी तो इतने कोमल थे कि वह गल-पच गये। बहुत से खा डाले गये बहुतेरे अत्यंत कड़ी आंच और भयानक दबाव को सह न सके और बेनामोनिशान हो गये। इस तरह पत्थर का यह पुस्तकालय भी लुट गया और कीड़ों का शिकार हो चुका है। इस के परिशीलन से जो नतीजे निकाले गये हैं वह भी बहुत कुछ कल्पना के सहारे पर टिके हुए हैं। काल के परिमाण में वैज्ञानिकों में गहरा मत-भेद है। इस मत-भेद और बारंबार के मत और अनुमान-परिवर्त्तन को देखते हुए हम पौराणिक काल-परिमाण को भी इसी विचार-कोटि में रखें तो तनिक भी अनौचित्य नहीं दीखता। फिर इतने फेर-फार होते हुए भी अनेक और आनुषंगिक प्रमाणों से सहायता लेकर जो इतिहास बना है वह बहुत कुछ साधार है और विश्वास के योग्य है।

भूविज्ञानी गणित के आधार पर काल का अनुमान करते हैं। आज-कल वर्षा के द्वारा बहकर जितना नमक समुद्र में हर साल जाता है उस की मात्रा निकाली गयी है। यह भी मालूम किया गया है कि समुद्र-जल में कुल कितना नमक है। इस हिसाब से पता चलता है कि जितना नमक आज-कल समुद्र में बहकर जाता है अगर उतने ही परिमाण से आरंभ से ही बहता रहा हो तो आज तक इस धरती पर वर्षा का आरंभ हुए दस करोड़ बरस के लगभग होना है। परंतु यह भी मलूम है कि हर बरस बहकर आनेवाले नमकों की मात्रा कुछ ज़रा-ज़रा भी बढ़ती गयी हो, जैसी की बहुत बड़ी संभावना है, तो यह दस करोड़ बरस का काल बहुत थोड़ा ठहरता है और अरबों तक सीमा बढ़ जाती है। एक और विधि यह है कि यह अंदाजा लगाते हैं कि बालू और मिट्टी की चट्टानें और पत्थर कितने काल में बन जाते हैं और ऐसी चट्टानों के जितने गहरे स्तर भूगर्भ में मिलते हैं उन के बनने के समय का उतना ही अंदाज़ा किया जाता है। इस के सिवा और भी आनुषंगिक विधियां हैं जिनसे समय का पता लगता है। परंतु सारी विधियां मोटे अंदाजे पर निर्भर हैं और वैज्ञानिकों में आपस में इस अनुमान में करोड़ों और अरबों बरस का अंतर पड़ जाता है।

वैज्ञानिक इस अनुमान के क्षेत्र में भी फूंक-फूंककर कदम रखते हैं। इसी लिये जहां अटकल से बहुत बड़ी-बड़ी संख्याएं आती हैं वहां कम-से-कम आनेवाली संख्याओं से ही काम लेते हैं जिस में अत्युक्ति दोष से भरसक बचे रहें। इतने पर भी इङ्गलिस्तान के ब्रिटिश असोसियेशन के सन् १९२१वाले अधिवेशन में प्रोफेसर रेले ने यह कहा कि हाल

में जो ज्ञान की वृद्धि हुई है उस ने आरंभ से अब तक इस धरातल पर जीवन के बराबर बने रहने की अवधि को बढ़ाकर एक अरब बरस के लगभग कर दिया है और पृथ्वी की पूरी आयु इसकी कई गुना अधिक समझी जाने लगी है, क्योंकि पृथ्वी ठंढी नहीं हो रही है बल्कि बाहरी चिप्पड़ में युरेनियम के टूटते रहने से ताप बढ़ता जाता है और भीतरी ताप एक प्रकार से अक्षय है। इस तरह रश्मि-विकीरक तत्वों ने काल की आदि सीमा को अत्यंत बढ़ा दिया है। वैज्ञानिक विचारवाले पहले पुराणों की कालावधि पर हँसते थे, परंतु विज्ञान तो पुराणों से आज कहीं आगे बढ़ गया है।

संसार की सृष्टि के संबंध में सभी भारतीय पुराणों में * कथाएं दी हुई हैं। उन में काल के परिमाण भी दिये हुए हैं। वैज्ञानिक काल परिमाण से उन की तुलना यहां बड़े महत्त्व की जान पड़ती है।

३—समय-विभाग

हम अन्यत्र पौराणिक काल विभाग के अनुसार पौराणिक सृष्टिक्रम का समन्वय वैज्ञानिक क्रम से कर चुके हैं। यहां हम सृष्टि के काल-विभाग के वैज्ञानिक अनुमानों को ही पाठक के सामने रक्खेंगे। पुराणों के अनुसार ब्रह्मांड की सृष्टि कल्प की आदि में आरंभ होती है और कल्प के अंत में समाप्त हो जाती है फिर एक कल्प तक सृष्टि का अभाव रहता है। फिर नये कल्प में सृष्टि का आरंभ पहले की तरह होता है। सौर वर्षों से एक कल्प चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षों का होता है। कल्प के चौदह बराबर-बराबर विभाग किये हैं। इस तरह हर एक भाग तीस करोड़ छियासी लाख वर्षों के लगभग हुआ। एक कल्प के एक हजार विभाग भी किये हैं उस को महायुग या चतुर्युगी कहते हैं। एक महायुग तैंतालिस लाख बीस हजार वर्षों का हुआ। एक महायुग में सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग यह चार युग होते हैं। देव-वर्षों से कलियुग चार लाख बत्तीस हजार मानव वर्षों का होता है। द्वापर इस का दूना, त्रेता इस का तिगुना, और सतयुग चौगुना होता है। भूगर्भ-विज्ञानियों ने अपने युग-विभाग दूसरी तरह पर किये हैं। यह पता लगाना अत्यंत कठिन है कि यह ब्रह्मांड जड़-रूप में कितने काल में बन सका है। काल का अनुमान केवल उस समय से करते हैं जब से एक सेलवाले आदि प्राणी इस धरती पर पहले-पहल उत्पन्न हुए। पुराने हिसाब से अब से तीन करोड़ बरस और रेले के हिसाब से अब से अड़तालीस करोड़ बरस से पहले ही यह घटना हो चुकी होगी। वर्त्तमान वैवस्वत मन्वंतर के बारह करोड़ पाँच लाख

*** बाबुल, मिस्र और चीन के पुराण भी काल परिमाण को अत्यंत बढ़ाकर बताते हैं, फिर भी वे विज्ञान की आधुनिक कल्पना से आगे नहीं बढ़ते। हां, जैन पुराण अवश्य ही अब तक विज्ञान से कहीं आगे बढ़े हुए हैं। परंतु फिर भी यह कोई नहीं कह सकता कि विज्ञान भविष्य में उन की अत्युक्ति का भी समन्वय न कर सकेगा।**

तैंतीस हजार बरस बीत गये। यह सातवां मन्वंतर है। रेले के कम-से-कमवाले हिसाब को हम अपने शब्दों में यों कह सकते हैं कि प्रोफेसर रेले के अनुमान से वर्तमान कल्प के तीसरे मन्वंतर के सत्रहवें त्रेता युग में इस धरती पर जीवन का आरंभ हुआ होगा। अधिक से अधिक तो हम पहला मन्वंतर कह सकते हैं। प्रोफेसर रेले के हिसाब से वर्तमान मानवीय सभ्यता कम-से-कम सत्ताइसवें सतयुग से अर्थात् वर्तमान चतुर्युगी की आदि से आरंभ होती है* कालमान से आधुनिक विज्ञान के काल-विभाग से इतना अंतर पड़ता है कि हम वैज्ञानिक महायुगों को पौराणिक नाम नहीं दे सकते।

इसलिए हम यहां वैज्ञानिकों की ही परिभाषा में यों ही कहेंगे कि सृष्टि विज्ञानियों के मत से अजीव सृष्टि में प्रायः जीव सृष्टि के अबतक के अतीतकाल का कई गुना अधिक काल लगा होगा। उसे अलग कल्प ही माना गया है। हम उसे अजीव सृष्टि कल्प कहेंगे। जीवन का आरंभ और आरंभिक विकास में भी बहुत समय लगा होगा। इस लिये उसे हम आदिम जीवों का कल्प कहेंगे। अजीव-सृष्टि-कल्प में सौर ब्रह्मांड की रचना, स्थापना, फिर पृथ्वी के पिंड के ठंढे होकर द्रव और घन बनने का काल, फिर वायु और जलमंडलों का बनना और फिर महाद्वीपों और समुद्र-तलों की रचना का काल शामिल है। इस प्रकार जब धरती जीवन के आरंभ के लिये तैयार हो जाती है तब आदिम जीवों के कल्प का आरभ होता है। आदिम जीवों का बहुत दीर्घ काल में बेरीढ़वाले एक सेल के असंख्य प्राणियों में विकास होता है। इस कल्प के बीतने पर पहिले महायुग का आरंभ होता है।

पहिले महायुग को छः अंतरों में विभक्त करते हैं। यह भी पौराणिकों के सात मन्वंतरों की तरह बड़े लंबे काल हैं। पहले में समुद्र बसता है, दूसरे में मछलियों के काल का आरंभ होता है और शंख आदि मृदुकाय बेरीढ़वाले प्राणियों की बहुतायत होती है। मछलियां भी बेरीढ़वाली ही अधिक होती हैं। तीसरे में मछलियों का और रीढ़वाले प्राणियों का विकास एवं स्थल के छोटे प्राणी बनते हैं। चौथे में आदिम उभयचर पांचवें में षटपद कीड़े-मकोड़े और छठे में उरगों की उत्पत्ति होती है। पहले महायुग के अंत में हिमप्रलय होता है, फिर दूसरे महायुग का आरंभ होता है। इसके तीनों अंतरों में क्रमशः उरगों, पक्षियों, आदिम पिंडजों, पौधों और षटपदों के विकास के बाद प्रलय होता है। तीसरे महायुग में बड़े पिंडजों का विकास, मानव जाति का उभार और अंतिम प्रलय होता है। इस के बाद वर्त्तमान महायुग का आरंभ होता है। वैज्ञानिक काल विभाग संक्षेप से इस प्रकार है।

*** हिंदू पौराणिक मतानुसार मानव सृष्टि का आरंभ वर्त्तमान कल्प के आरंभ में पहले ही मन्वंतर में हुआ जिसे लगभग दो अरब बरस के हुए। अभी वैज्ञानिक इतनी दूर जाने का साहस नहीं करते। परंतु जिस गति से वैज्ञानिक उन्नति करते गये हैं उस से पौराणिक मत तक उन के भविष्य काल में कभी पहुँच जाने में भी कोई बाधा नहीं दीखती।**

लगभग चालीस बरस के हुए कि लार्ड केल्विन ने अनुमान किया था कि धरती के बने दो करोड़ बरस हुए होंगे, परंतु प्रोफेसर रेले इसे कई अरब बरस बताते हैं। हम कह आये हैं कि हिंदू संस्कृति में ब्रह्मांड की सृष्टि से कल्प का आरंभ माना जाता है। वर्त्तमान श्वेत-वाराह-कल्प के आरंभ से अबतक कुछ कम दो अरब बरस बीते हैं। भूगर्भ विद्या के अनुसार जड़ सृष्टि की रचना में सौर मंडल की स्थापना, धरती का ठंडा होना, जल-मंडल और वायुमंडल का आरंभ, महाद्वीपों और महासागरों के तल का निर्माण-इतनी रचना में पूरे एक अरब बरस लगे होंगे। जब इस धरती की परिस्थिति जीवन के लिये उपयुक्त हो गयी तो करोड़ों बरस तक बहुत ही सूक्ष्म प्राणी का इस धरती पर विकास होता रहा होगा। इसी विकास की परंपरा में सूक्ष्म से-सूक्ष्म जीवों की रचना हुई होगी। धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते बिना रीढ़वाले स्थूल प्राणियों का आरंभ हुआ होगा। घोंघे और शंख आदि के रूप में आज भी ऐसे प्राणी पाये जाते हैं परंतु लगभग अड़तालीस करोड़ बरस के ऐसे असंख्य प्रकार के प्राणियों के विकास में बीता होगा। तब कहीं पहले भौगर्भिक युग का आरंभ हुआ होगा।

पहिले भौगर्भिक युग के आरंभ के पहिले अंतर में बहुत काल तक सारा समुद्र बिना रीढ़वाले विशेष जंतुओं से भर गया था। स्पंज, कृमि, त्रिपालिकाश्म, कवची, मृदुकाय आदि असंख्य जातियां थीं। केकड़े शंख, घोंघे आदि इन्हीं के अंतर्गत थे। शंख जाति के नाम से यदि हम इसे शंख-काल कहें तो अनुचित न होगा। इसी शंख-काल में प्रोफेसर आसबर्न के अनुसार समुद्र-तट के पास खुले समुद्र में और गहरे जल में उस समय के प्राणी फैल गये थे।

४—पहला युग बेरीढ़ और रीढ़वाले प्राणी

पहिले युग में छः अंतरों का विभाग किया गया है। पहला अंतर बेरीढ़ के प्राणियों का था। इसे हम शंख-काल कहेंगे। दूसरा अंतर मत्स्यकाल कहला सकता है। इस काल के आरंभ में त्रिपालिकाश्म जाति के प्राणी बड़ी सफलता से फैले हुए थे। पांव जुड़े हुए थे। सूंड़ें थीं और तीन-तीन कांड के शरीर, त्वचा कुछ कड़ी। इसी काल में हिंसक भयानक परंतु बेरीढ़वाले बहुतेरे जलजंतु थे जो और जाति के प्राणियों को खोजते थे। परंतु इसे हम मत्स्यकाल इस लिये कहते हैं कि इसी काल में पहले-पहल मछलियों का आरंभ हुआ। रीढ़वाले प्राणियों का मछलियों से ही आरंभ हुआ। धीरे-धीरे मछलियाँ बढ़ीं और पहिले के मृदुकाय हिंसक जंतुओं का विनाश होने लगा।

तीसरे अंतर में जल में तो मछलियों का पूरा विकास हुआ और उनका साम्राज्य स्थापित हो गया। दूसरी ओर सूखी धरती पर भी बस्ती बनने लगी। बेरीढ़वाले स्थल-चरों का आरंभ हुआ। बिच्छू सरीखे प्राणियों का उदय इसी समय हुआ जो भीतरी त्वचा के द्वारा सांस लेते थे। इसी समय दोहरे श्वास-यंत्रवाली मछलियों का भी आरंभ हुआ। पहले स्थल-चर कीड़े बिच्छू आदि इसी काल में थे।

तीसरे अंतर को हम कच्छप-काल कहेंगे । इसी काल में धरती पर फूलनेवाले पौधे लगे और रीढ़वाले जंतुओं का आरंभ हुआ । इस काल में सब से बड़ी बात यह हुई कि उभयचरों का भी इसी समय आरंभ हुआ । उस समय समुद्र में भयानक मछलियां उत्पन्न हो चुकी थीं और उभयचारी पशुओं का विकास हो चुका था । मेंढक आदि का यही समय था ।

५—स्थलचरों का विकास

जिस युग के पत्थर के कोयले की बड़ी-बड़ी विस्तृत चट्टानें भूगर्भ में पड़ी हुई हैं उसमें इस धरतीपर ऋतु बहुत ही अनुकूल थी । न अत्यंत ठंडा था न बड़ी कड़ी गरमी थी । अत्यंत आर्द्र धरातल पर निरंतर बसंत ऋतु का सुहावना समा था । आज-कल के से पेड़ न थे । घास-फूस के बड़े-बड़े विशालकाय पौधे थे जिन में वन में घना अंधेरा रहा करता था । इन महावनों में जुड़े हुए पावोंवाले सूखी धरती से चढ़ाई करनेवाले कीड़े-मकोड़े भरे रहते थे । कन-खजूरे, मकड़े, बिच्छू आदि की तरह के असंख्य प्राणी थे । और इन के भी भोजन कर जानेवाले, जल-स्थल दोनों में विचरनेवाले अनेक जीव थे । कीड़े-मकोड़े पौधों की बीजों को और फूलों के केशरों और परागों को मिलाने में बराबर सहायता किया करते थे जिस से नये पौधों की उत्पत्ति होती थी । इस तरह चरों और अचरों दोनों का विकास साथ साथ चलता था और दोनों परस्पर सहायक थे । इसी कोयलों के युग में रंगीन फूलों की उत्पत्ति और विकास का समय समझना चाहिये । इस समय के जल-स्थल या उभयचर आज-कल के गधों के से बड़े आकार के होते थे । इन्हीं बड़े-बड़े जंगलों के दब जाने से और बड़वानल से झुलस जाने से पृथ्वी के गर्भ में कोयले के विशाल स्तर हो गये । इसी युग के आरंभ में उभयचरों ने जल के अतिरिक्त, स्थल के लिए उपयुक्त इंद्रियों का विकास किया । सांस लेने के लिए फेफड़े, तीन घरोंवाला हृदय, हिलने-डोलनेवाली जीभ कान के ढोल, और आंखों को ढकने के लिये पलकें, उभयचारी के लिये आवश्यक हो गयीं। मेंढक के शरीर का विकास आज भी इन बातों का गवाह है । जल में रहते हुए शब्द की जो कमी थी वह पूरी हुई । स्वरयंत्र का विकास हुआ । ऐसा अनुमान किया जाता है कि पहले करोड़ों बरस तक इस धरातल पर बिजली, तूफान, जलप्रपात और लहरों के शब्दों को छोड़कर और किसी तरह का प्राणियों का शब्द सुनने में नहीं आ सकता था । कुछ कीड़ों के बजाने के शब्द के सिवाय इस युग में पहले शब्द उभयचारियों के थे । मेंढकों ने अपनी मेंढकियों को बुलाना आरंभ किया । फिर माता पिता ने बच्चों को जोखिम से साव-धान करने के लिये शब्द निकाले । फिर बच्चे ने माता-पिता को पुकारना शुरू किया । फिर धीरे-धीरे पक्षी चहचहाने लगे । भावों का उदय हुआ और भांति-भांति के स्वर निकलने लगे । धीरे-धीरे स्वरों और व्यंजनों का विभाग हुआ और शब्द बनने लगे । "भोजन" "जोखिम" "घर" "सुख" और "दुःख" का प्रकाश होने लगा । और भाषा का विकास आरंभ हुआ । इसी काल में पतली या कटी कमरवाले कीड़े पैदा हुए और बढ़े । आरंभ में

इन का रूप कुछ और होता था और अंत में यह उड़नेवाले प्राणी बन जाते थे। इन्हें पटपद कह सकते हैं। इसी लिये इस काल को पटपद-काल कहेंगे।

पहले युग के छठें या अंतिम अंतर में रेंगनेवाले व्यालों का युग आरंभ हुआ। इसी लिये इसे हम "उरग-काल" कहेंगे। यह शुद्ध स्थलचर थे। सांस लेने में बाहर से हवा को खींचते थे। मछलियां आदि जल-जंतु गलफड़ों से सांस लेती हैं परंतु उरगों ने पहले-पहल गलफड़ों का परित्याग किया। यह एक मारके की बात है कि सभी उरगों, पक्षियों और पिंडजों के भ्रूणों में गलफड़ों का चिह्न पाया जाता है। उरग-काल में ऋतु की दशा बड़ी प्रतिकूल होती गयी। सरदी बढ़ती गयी। होते-होते दक्षिण गोलार्द्ध से प्रालेय-युग का प्रवाह चला और सारे धरातल पर बरफ़ जम गया। बरफ़ की तह के नीचे भारी-भारी जंगल दब गये। नये जंगल निकले और वह भी इसी तरह दब गये। यह प्रालेय काल लाखों बरस तक बना रहा और दक्षिण खंड में सब से अधिक तेजी पर था। वह संसार ही और था। योरोप और अमेरिका मिले हुए थे। अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका जुटे हुए थे। आस्ट्रेलिया और एशिया एक महाद्वीप था। इसी समय बहुत से प्राणियों ने सोते हुए या स्तब्ध दशा में रहकर अपनी प्राण-शक्ति की रक्षा करना सीखा। परंतु साथ ही पुराने ढंग के अनंत प्राणियों का नाश हो गया। बहुत से पौधे और बेरीढ़वाले प्राणी सदा के लिए लुप्त हो गये। इसी अंतर के साथ पहले युग का अंत हो गया।

६—दूसरा भौगर्भिक युग

दूसरे युग में तीन अंतर रक्खे जाते हैं। पहला युग पुराने मत से दो करोड़ बरस के लगभग का था। रेले के मत से उन्नीस करोड़ बरसों के लगभग का ठहरता है। दूसरा युग साढ़े चौदह करोड़ बरसों का आंका जाता है। इस के पहले के अंतर में उरगों का सतयुग समझना चाहिए। इसी समय दानवाकार उरग पृथ्वी पर फैले जो दूसरे युग के अंत तक में ही समाप्त हो गये। इस समय के कछुए बहुत विशालकाय थे। इन के सिवा मत्स्यासुर, उपासुर, चंडासुर, पत्रासुर आदि जाति के विशालकाय उरग थे जिन के वंश के प्राणी उस युग में सारी पृथ्वी पर फैल गये थे। समुद्र भी इन से बचा नहीं था। उस समय की सृष्टि और सभ्यता की ऊंची-से-ऊंची श्रेणी के प्रतिनिधि यही थे।

इस युग के माध्यमिक अंतर में ऐसे उरग भी फैल गये जिन के पंख थे और जो आकाश में उड़ सकते थे। पंजे की बाहरी उँगलियां बहुत लम्बी हो गयीं और बीच-बीच से खाल के द्वारा जुड़ गयीं और इन का संबंध सीधे मेरुदंड से हो गया और दोनों हाथों के बदले दो पंख बन गये। इन उड़नेवाले विकराल व्यालों ने आकाश-मंडल पर भी विजय कर ली। इसी मध्य-काल में इन्हीं व्योमचारी उरगों के साथ-साथ पक्षी जाति का आरंभ हुआ। जैसे स्थलपर उड़नेवाले जंतु फैले उसी तरह जल में भी पंखवाली मछलियां फैलीं।

ऐसा न कोई समझे कि उड़नेवाले उरगों से ही पक्षियों का विकास हुआ। उरग जाति के प्राणी चतुष्पद थे। आगे के दोनों पांवों में छतरी की तीलियों की तरह पंख का आरंभ हुआ। परंतु पक्षी के पर हुए जो पसलियों से लगे हुए देख पड़ते हैं। बहुत संभव

है कि चंडोरगों की कोई जाति द्विपद हो गयी हो और उसी से आजकल के पक्षियों का आरंभ हुआ हो। पहले वे तेज दौड़ने रहे हों फिर उछलने लगे हों, फिर पेड़ पर यात्रा करने लगे हों और अंत में उड़ने लगे हों। उड़ने का प्रयास कीड़ों ने किया, पत्रोरगों ने किया, चमगीदड़ों ने किया और चिड़ियों ने किया। चारों के मार्ग अलग-अलग थे। आज मनुष्य पांचवां मार्ग निकाल रहा है।

अंतिम अंतर में दानवों और उरगों का ह्रास हो गया। ऊंचे प्रकार के कीड़े बड़े और फूलवाले पौधे नये ढंग के निकल पड़े। छोटे-छोटे पिंडजों का बढ़ना भी इसी काल में आरंभ हुआ। शंख, मछलियां, उरग और पक्षी अंडज थे। पिंडज का पहले-पहल दूसरे युग के अंत में आविर्भाव हुआ है। पहले युग के अंत के श्वानदन्तादि सरीखे अनेक उरग बिलकुल पिंडजों सरीखे लगते थे। शायद उन्हीं से दूसरे युग के आदि काल में छोटे पिंडजों का उदय हुआ होगा। परंतु जो हो इस में संदेह नहीं कि दूसरे युग के अंत में चंगुलों खुरों आदि विशेषतावाले पिंडज फैल गये थे। उस समय बहुत ही प्राचीन प्रकार के वानरों का वा वनमानुसों भी उदय हुआ।

इस तरह पहले युग में आदि में शंखों की सभ्यता फैली। फिर मत्स्यों का राज्य हुआ। फिर स्थल-चारियों के उदय के साथ-ही-साथ कूर्म-युग आया। उभयचारियों की प्रधानता हुई। इस के अनंतर पट्पदों और उरगों का समय आया। इस क्रम में पुराने मत से लगभग दो करोड़ और नये मत से लगभग उन्तीस करोड़ बरस बीते। दूसरा युग "व्यालयुग" कहा जा सकता है। इसमें व्यालों और उरगों की प्रधानता रही। इसी युग में यह खतम भी हो गये और पिंडजों का उदय हुआ। इस में पुराने अनुमान से नब्बे लाख और नये अनुमान से साढ़े चौदह करोड़ बरस बीते।

७—तीसरा भौगर्भिक युग। पिंडजों का विकास

तीसरे युग के आरंभ में बड़े मस्तिष्कवाले आज-कल के पिंडजों का आरंभ हुआ। इसी समय सूखे स्थलों पर अच्छे पौधे उगने लगे और धरातल पर घास का हरा फर्श बिछ गया। बड़े-बड़े दल-दल अब रमने हो गये जहां बड़े-बड़े पिंडज आनंद से चरने लगे और बड़े सुंदर-सुंदर कीड़े-मकोड़े पक्षी विचरने और कल्लोल करने लगे। धरातल धीरे-धीरे ऊंचे उठने लग गया था और अब वायु-मंडल पहले से बहुत कम आर्द्र हो गया था। इस युग के मध्यकाल में मनुष्य के पहले के पिंडजों ने जगत् पर पूरा अधिकार कर लिया था। जल-स्थल और आकाश सभी प्राणियों से भरे थे, परंतु सब का नायक पिंडज प्राणी था। इसी काल में आदिम मनुष्य का आविर्भाव समझा जाता है। यह मनुष्य आज-कल के पृथ्वी पर फैली हुई मनुष्य जाति से भिन्न थे। यह आदिम मनुष्य थे। इसीलिये इन्हें हम "आदिमी" कहेंगे। यह जिस जल वायु में रहते थे, अनुकूल न थी। परिस्थिति भी बहुत प्रतिकूल थी। और और पिंडजों से और आदिमी से बड़ी चढ़ा-ऊपरी थी। भू-तल का विभाग भी पहले से बिल्कुल भिन्न था। जीवन का संघर्ष बड़ा कड़ा था, तो भी यह आदिमी संसार में

फैल गये। और अपने को सृष्टि के और सब प्राणियों से बढ़ा-चढ़ा सिद्ध किया। उस समय यही समझा जाता था कि सभ्यता अपने उच्चतम शिखर तक पहुँच गयी है। आदिमी से बढ़ कर कोई अधिक ऊंचा प्राणी नहीं हो सकता। परंतु जब इस युग का अंतिम अंतर आया तो
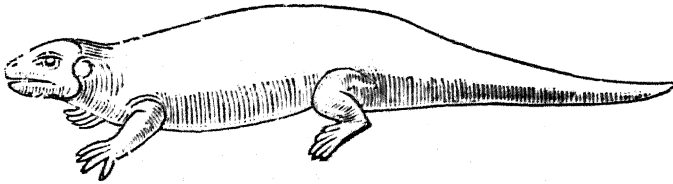
चित्र ६७—परमियन महाव्याल

[परिषत् की कृपा

इस भूतल पर बड़े प्रचंड परिवर्त्तन हुए। महाद्वीपों का धरातल ऊंचा उठता गया। विंध्य पर्वत बहुत ऊंचे से घटकर नीचा हो गया और हिमालय ऊंचा उठकर आसमान से बातें करने लगा। इसी तीसरे युग के अंत में बड़ी भयानक प्रलयंकरी हिम-वर्षा हुई। प्रालेय के महा प्रवाह में सारा जगत बरफ से ढक गया और विशाल दिग्गज महाकाय शार्दूल ऊर्ण
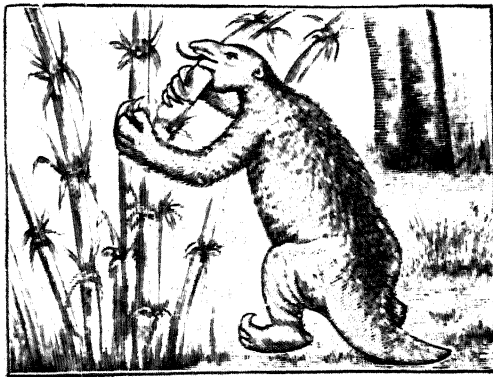
चित्र ६८—दानवी पशु, तीस फुट ऊंचा

[परिषत् की कृपा

कम्बल-धारी गैंडे, गिरि-गुहा-निवासी महा सिंह और महाऋक्ष आदि अत्यंत विशालकाय भयंकर आदिमी जाति के शत्रु पिंडज इस महाप्रलय के बरफ के नीचे दबकर दफन हो गये। उन की जाति का कोई बच न सका। पहाड़ की ऐसी ऊंचाइयों पर जो बरफ से बहुत

परे हैं, जो-जो जंतु छिप गये थे वही बच गए। इसी प्रकार उड़नेवाले प्राणी और गहरे समुद्र में रहनेवाले जलचर भी बचे।*

यह प्रालेय-युग बहुत काल तक रहा। बीच-बीच में अच्छा काल भी आ जाता था जिस में पुराने हिसाब से कई हजार बरस तक और नये हिसाब से कई लाख बरस तक सृष्टि
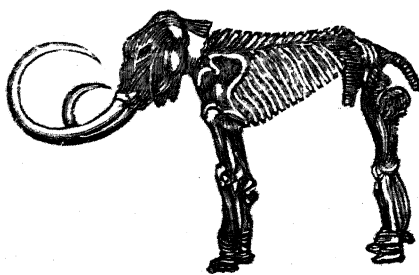
चित्र ६१—मम्मथ की ठठरी

[परिषत् की कृपा

की गोद हरी-भरी हो जाती थी और अंडज, पिंडज, उद्भिज्ज और स्वेदज सभी तरह के प्राणियों से यह सृष्टि रंजी-पुंजी दिखाई पड़ती थी, परंतु फिर प्रालेय काल आ जाता था और संसार के सब सुखों पर पाला पड़ जाता था। ऐसा कई बार होकर इस प्रालेय काल का अंत हुआ। ऐसा प्रलय हर भौगर्भिक युग के अंत में प्रायः होता आया है। वर्त्तमान काल का आरंभ इसी अंतिम प्रलय से होता है। मनुष्यों में आदिमी जाति का पहले ही प्रलय के धावे में लोप हो गया होगा परंतु यह विश्वास किया जाता है कि बीच-बीच के अवांतर युगों में मनुष्य की जातियां हुईं, फैलीं और अपनी पराकाष्ठा को पहुँचते-पहुँचते लुप्त हो गयीं।*

अंतिम हिमप्रलय से जो मनुष्य जाति इस जगतीतल पर वर्त्तमान है संभव है कि उस में उन प्राचीन जातियों का भी मेल हो और धीरे-धीरे विकास होते-होते उन के विशिष्ट

---

*प्रोफेसर साडी ने अपने एक व्याख्यान में आदम के स्वर्ग से निकाले जाने की कथा के तथ्य का यह अनुमान किया है कि किसी प्राचीन युग में आदिम मनुष्य ने विज्ञान में शायद अब के मनुष्यों की अपेक्षा अधिक उन्नति की थी। वह अपने को अमर बनाने की कोशिश में किसी वैज्ञानिक प्रयोग में चूक गया जिसके परिणाम-स्वरूप ऐसे जोर का धड़ाका हुआ, शायद इस धड़ाके के साथ परमाणुस्थ महाशक्तियां एकाएकी ऐसी निकल पड़ीं कि चराचर जगत् समाप्त हो गया। और कुछ कहीं के बचे-खुचे प्राणियों ने फिर से सृष्टि का उद्धार किया। ज्ञान के वृक्ष के फल खाने से पतन का यह बहुत ही चमत्कारिक अर्थ है। साथ ही प्रलय के संबंध में अपने "मनु" और इंजील के "नूह" के प्रलय की कथा विचारणीय है।

चित्र ७०—उरग-युग का एक महाव्याल। मनुष्य के चित्र से इस की लंबाई चौड़ाई ऊँचाई और भयंकरता मिलाइये

[परिषत् की कृपा

चिह्नों का लोप हो गया हो। यह तीसरा युग पुराने हिसाब से तीस लाख बरसों का, और नये हिसाब से पौने पांच करोड़ वर्षों का समझा जाता है। हम नये हिसाब को ही ठीक मानें तो यह अनुमान करने में कोई कठिनाई नहीं होती कि हम लोग अवांतर के युग में हैं
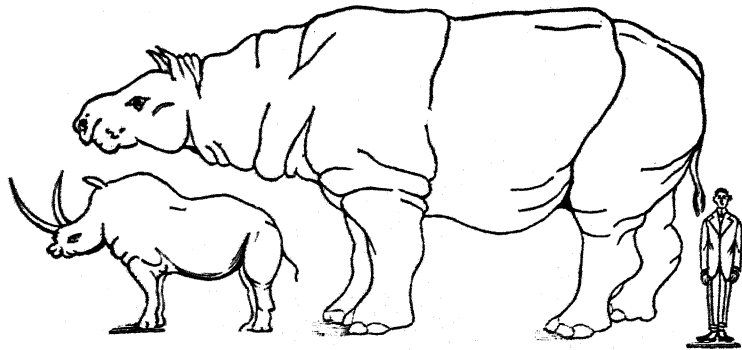
चित्र ७१—शाकभोजी पर्य्यासुर जाति का व्याल।

[परिषत् की कृपा

अर्थात् जिसे अंतिम हिमप्रलय कहा जाता है वह वास्तव में अंतिम नहीं है बल्कि हिमप्रलय का युग अभी चला जा रहा है। वर्त्तमान काल अवांतर काल है। इस तीसरे युग की अवधि बीती मान लेने पर भी हम यह कह सकते हैं कि चौथे युग का अभी-अभी आरंभ ही हुआ है।

८—वर्तमान युग। मनुष्य का विकास

प्रत्येक युग के अंत में विकास अपना उत्कृष्ट रूप दिखाता रहा है और हर आनेवाले युग में पिछले की अपेक्षा अधिक वृद्धि और उन्नति दिखाई देती रही है। वर्त्तमान काल को यदि हम प्रालेय युग कहें तो इस प्रालेय युग में भी मनुष्यों की सभ्यता ही सब से ऊंचे पद पर समझी जा सकेगी।

वर्त्तमान मनुष्य उसी वंशवृक्ष की एक शाखा से निकला हुआ है जिस की और शाखाओं से आदमी, पर्वती-मनुष्य, वन-मनुष्य, लंगूर और बानर आदि, मनुष्य के-से रूप-रंग-ढंग के प्राणी उत्पन्न हुए हैं। वर्तमान मनुष्य का दिमाग सब से बड़ा है। उस की इन्द्रियाँ भली-भांति विकसित हैं। उस के नाड़ीजाल बड़े सचेत और कर्मण्य हैं। उस की बुद्धि और विवेक सब प्राणियों में उसे श्रेष्ठ ठहराते हैं। उस का मानसिक विकास जितना ऊँचा हुआ है उतना ही उस का चरित्र, धर्म न्याय और नीति के अनुकूल है और शील पर उस का अद्भुत संयम है। उस के आचार और विचार के इतने विकास के साथ-साथ

चित्र ७१—प्राचीन व्याल। [परिषत् की कृपा

उस के उच्चार का भी पूरा विकास हुआ है। और प्राणी शब्दों तक ही पहुंच सके हैं परंतु मनुष्य भाषा पर अधिकार रखता है। कुछ प्राणी इन्द्रिय-जनित ज्ञान के निष्कर्ष तक
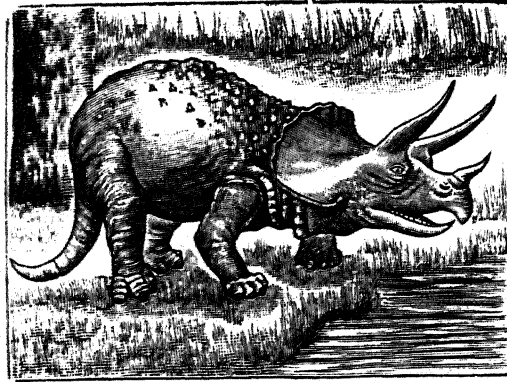
चित्र ७२—प्राचीन तृश्रृंग व्याल [परिषत् की कृपा

पहुंचे हैं परंतु मनुष्य बाह्य अनुभव को अपनी बुद्धि और विवेक की कसौटी पर कसता है। और प्राणियों में स्नेह है, वीरता है, आत्म-विस्मरण है, स्वार्थ-त्याग है और उद्योग है,

चित्र ७३—प्राचीन दंतुल पक्षी की ठटरी [मार्श का अनुवर्त्तन

सही, परंतु मनुष्य में इन सब के सिवा नीति का आदर्श है और आदर्श के अनुसार आचरण की प्रवृत्ति है, समाज का नेतृत्व है और लोकसंग्रह का भाव है।

मनुष्य का मस्तिष्क गोरिल्ले के मस्तिष्क से तिगुना भारी है। वह सीधा खड़ा होता है, धरती पर वह अपने तलवों को भरपूर जमाता है। उस के चिबुक है। ऊंचा और बड़ा माथा है। एक तरह के जमे हुए सुन्दर दांत हैं। उसका चेहरा बाहर की तरफ बढ़ा नहीं है। उस की एड़ी मोटी और सुन्दर है और उस की त्वचा पर अत्यंत कम रोएं हैं और विशेष-विशेष अंगों में ही केशों की प्रचुरता है। यद्यपि वह आजकल के मौजूद वन-मानुष लंगूर या
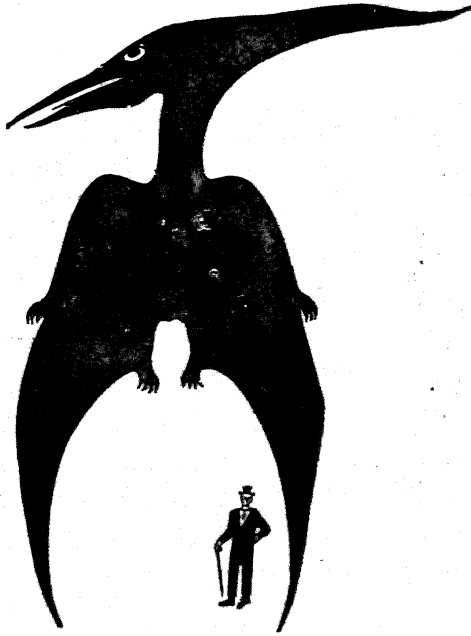
चित्र ७४—प्राचीन चमगीदड़ के रूप का पक्षि-दानव। मनुष्य की अपेक्षा यह कितना विशाल था। **[परिषत् की कृपा**

वानरों की संतान नहीं हैं तो भी शरीर के अवयवों में उन से इन की बड़ी समानता है। और यों तो प्राणी मात्र में जितने रीढ़वाले शरीरधारी हैं उन सब से ठठरियों में इन्द्रियों में इन्द्रियग्रामों में और जीवन की रक्षा की क्रियाओं में बहुत कुछ समानता है। और भ्रूण के रूप में तो जैसे मनुष्य का विकास होता है वैसे ही और सभी प्राणियों का विकास होता है। आरंभ में भ्रूण की दशा समस्त प्राणियों की एक सी होती है। परंतु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों भ्रूण बढ़ता है त्यों-त्यों माता पिता के अनुरूप होता जाता है। इस तरह यद्यपि मनुष्य का वंश सब से अलग है तथापि सभी प्राणियों से विकास क्रम में बहुत कुछ समानता रखता है।

[देखो चित्र ७३ भ्रूण का विकास।]

सातवा अध्याय

स्वभाव का विकास-क्रम

१–पारस्परिक संबंध

विकास का एक पहलू है जिस पर निगाहें कम जाया करती हैं। एक प्राणी का दूसरे प्राणी से बड़ा घना पारस्परिक संबंध है। फूलों और कीड़ों का अन्योन्याश्रय है। कीड़े खाने के लिए फूल के पास आते हैं परंतु फूलों के रजों और परागों को विविध देशों में पहुंचाते और उन के वंश का विकास करते हैं। चिड़िया फलों को खाती और बीजों को फैलाती है और वृक्ष-वंश को बढ़ाती है। एक प्राणी के शरीर में अनेक प्राणी परोपजीवी हो कर रहते हैं। मच्छर मलेरिया का वाहन है और चूहे की कीड़ी प्लेग का। एक प्राणी दूसरे को खाकर जीता है। परंतु उस का शरीर स्वयं औरों के लिए महाभोज बनता है। पिंडजों का जो कुछ मल है वह उद्भिज्जों के लिए भोजन की सामग्री है और जो कुछ उद्भिज्जों का उच्छिष्ट और मल समझा जाना चाहिये वही पिंडजों के लिये अन्न और प्राण है। इस तरह संसार के प्राणिमात्र संबंध की डोरी में एक दूसरे से बँधे हुए हैं। विकास का कदम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों परस्पर संबंध का यह ताना-बाना अधिक-अधिक घना होता जाता है। प्राणियों के शरीर के भीतर और बाहर परोपजीवी सूक्ष्म जीव जैसे चढ़ाई करते हैं उसी तरह शरीर के भीतर और बाहर दोनों दिशाओं में शरीर की रक्षा के लिए सूक्ष्म प्राणियों वा वस्तुओं के द्वारा वह प्राणी भी उपाय कर लेते हैं जिन पर चढ़ाई होती है। इस तरह शत्रु-मित्र और उदासीन सभी भावों से समस्त प्राणियों में सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक परस्पर घनिष्ठ संबंध स्थापित है।

२–विकास के प्रमाण

विकासवाद का विचार जिन बातों पर उठा और जिनके आधार पर उसका विकास बराबर होता जाता है वह प्रकृति के विविध रूपों का ध्यानपूर्वक निरीक्षण है। पहिली

बात तो यह है कि भूगर्भ विज्ञानियों ने धरती के भिन्न स्तरों का परिशीलन किया और यह देखा कि ज्यों-ज्यों हम नीचे के स्तरों में देखते हैं त्यों-त्यों हम प्राणियों के पूर्व रूपों की ठठरियां पाते हैं। सब से नीचे के स्तरों में शंखादि का पता लगता है। खड़िया के स्तर मिलते हैं। उस से ऊपर मछली की ठठरियां मिलती हैं। फिर कछुओं और उभयचारियों के अस्थि-पंजर मिलते हैं। उस से ऊपर पुराने पिंडजों का पता लगता है। फिर नये पिंडजों का। इस
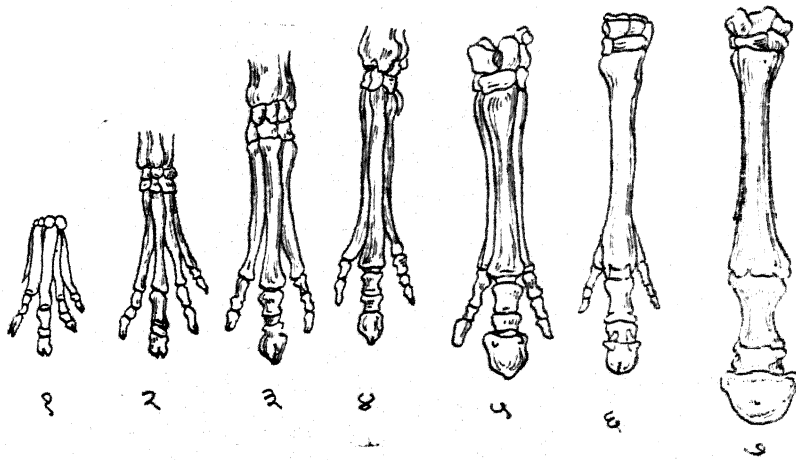
चित्र ७९—खुरका क्रमिक विकास

तरह ज्यों ज्यों हम ऊपर के स्तरों में देखते हैं त्यों त्यों अधिक विकसित ठठरियों का पता लगता है। इस प्रकार सब से ऊपर के स्तरों में मनुष्य की ठठरियां मिलती हैं। दूसरा प्रमाण यह है कि जो विकासक्रम इन स्तरों के अनुशीलन से बताया गया है उस का भ्रूण-विकास से समर्थन होता है। यद्यपि जो विकास करोड़ों बरस में हुआ है उस का दृश्य भ्रूण में अठवारों में ही देखने में आता है। ऐसा जान पड़ता है कि मानों गर्भ में जल्दी-जल्दी भ्रूण का विकास ठीक उसी ढंग पर होता है जिस ढंग से सम्पूर्ण सृष्टि में समस्त प्राणियों का हो चुका है। तीसरा प्रमाण यह है कि प्राणियों के शरीर की अवस्था का विकास आज भी बराबर होता जाता है और पालतू पशुओं में और लगाये जानेवाले पौधों में हम विकास प्रत्यक्ष देखते हैं। चौथा प्रमाण यह है कि चाहे प्राणियों के रूप ऊपरी तौर पर कितने ही भिन्न हों, भीतर की ठठरियां एक ही तरह की हैं और अङ्ग-अङ्ग की हड्डियां वही हैं चाहे उन से काम विविध रीति से लिया गया हो। इन सब प्रमाणों पर विचार करके पिछले पचहत्तर बरसों के बीच विज्ञान के धुरन्धरों ने इस विकास-विज्ञान का विकास किया है। यह विज्ञान अभी बिलकुल नया है और इस विषय की खोज बराबर जारी है।

३—परिस्थितियों से संघर्ष-जीवन के विविध क्षेत्र

जान पड़ता है कि जीवन का आरंभ जल से ही हुआ है, परंतु गहरे जल से नहीं। समुद्र के किनारे के छिछले जल के पास ही जीवन का आरंभ हुआ होगा। जीवन का विकास प्रकृति की अवस्था पर निर्भर है। जैसी परिस्थिति होगी उस के ही अनुसार जीवन का पालन-

चित्र ७६—चमगीदड़ सरीखा एक पिंडज पक्षी जो प्राचीन शाखा मृगों की सन्तान है। गैलियो पिथिकस] **(परिषत् की कृपा)**

पोषण होगा। परिस्थिति किसे कहते हैं? यह भी अच्छी तरह समझना चाहिये। गहरे जल में चारों ओर का दबाव बड़ा भयानक होता है। ठंढक सदा बनी रहती है। अन्धकार का साम्राज्य रहता है। भोजन की सामग्री में वनस्पतियों का प्रायः अभाव ही रहता है। समुद्र के ऊपरी तल पर वायु का हलका दबाव है, रोशनी काफी है और जल का तो तल ही ठहरा। परन्तु वनस्पति की बहुतायत नहीं है, इस लिए भोजन की सामग्री की कमी है।

स्थल पर वायुमंडल का दवाव पानी की अपेक्षा कम है। वनस्पतियों की वहुतायत है। जगह-जगह पानी भी काफी मिलता है। प्रकाश है गरमी है वर्षा है और आंधी है। परंतु गति नीचे ऊपर की नहीं है। इस तरह जल और स्थल की परिस्थितियां भिन्न हैं साथ ही इस स्थल के ऊपर भी कहीं अत्यंत कड़ी सरदी पड़ती और कहीं भयानक गरमी है और कहीं-कहीं तो तीन-तीन और छः-छः महीने की रात और इतने ही बड़े दिनों का मुकाबला करना पड़ता है।
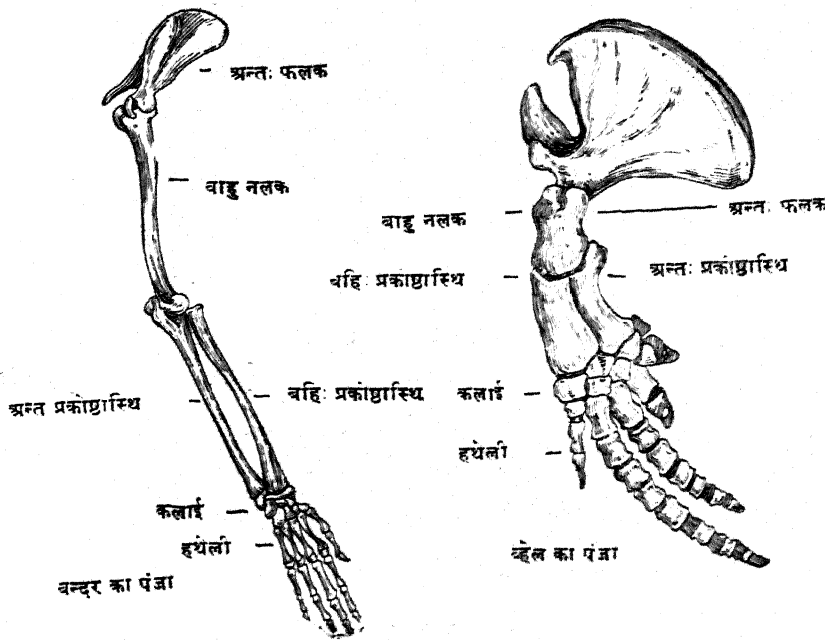
चित्र ७७—पंजे का क्रमिक विकास

ज्यार्ज न्यून्स की कृपा] [टामसन का अनुवर्तन

कहीं वारहों मास अत्यंत ठंढक है और कहीं निरंतर गरमी पड़ती रहती है। कहीं-कहीं जहां चार महीने बरफ की वर्षा होती रहती है तो दूसरे चार महीने धरती को तवे की तरह तपाने वाली गरमी भी पड़ती है। यह तो ऋतु की बात हुई। सब जगह भोजन की सामग्री भी जैसी और जितनी चाहिए वैसी और उतनी नहीं मिलती। इस लिए जितने प्राणी हैं सब को अपनी परिस्थिति से विकट लड़ाई लड़नी होती है। इस लड़ाई में प्राणी-प्राणी का दुश्मन बन जाता है। कहीं-कहीं तो एक प्राणी दूसरे प्राणी का आहार ही होता है, उन में परस्पर की कोई दुश्मनी नहीं है। जंगल का शेर जंगल के साधारण मृगों का शिकार इस लिए नहीं करता कि वह उन का दुश्मन है। चिड़िया कीड़ों-मकोड़ों की दुश्मनी के लिए नहीं बल्कि

अपनी रक्षा के लिए खा जाती है। साथ ही भोजन की सामग्री एक ही जगह पर काफ़ी नहीं होती और भोजन के चाहनेवाले उसी जगह बहुत ज्यादा हुए तो भोजन चाहनेवालों में आपस की लड़ाई हो जानी स्वाभाविक ही है। जोड़ों के लिए लड़ाइयां होती ही रहती हैं।
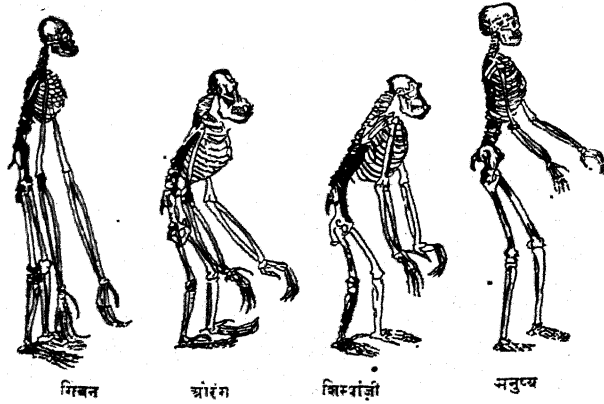
चित्र ७८—कंकाल का विकास

हक्सले से] [मकमिलन की अनुमति से

इस तरह प्रत्येक प्राणी का परिस्थिति के साथ निरंतर घोर संघर्ष होता रहता है। इस संघर्ष में जितने प्राणी बचने के लिए अयोग्य होते हैं धीरे-धीरे समाप्त हो जाते हैं। बचे हुए प्राणी अपनी परिस्थिति में योग्यतम समझे जाते हैं। इस लिए उन की ही परंपरा चलती है। इसी को योग्यतमावशेष का नियम कहते हैं।

४—वंश की रक्षा

प्रत्येक प्राणी अपने वंश की रक्षा के लिए स्वभाव से ही प्रेरित होकर कोशिश करता रहता है। भावी प्रजा को उत्पन्न करने के लिए सभी प्राणियों में प्रवृत्ति हुआ करती है। पौधों में या अचर प्राणियों में जहां इस प्रवृत्ति के पूरे होने के साधन अपने पास नहीं होते वहां उन के फूलों के रज और पराग को या फलों के बीजों को कीड़े-मकोड़ों और पक्षी अपने भोजन के लालच से उपजानेवाले क्षेत्रों में पहुँचाते हैं। जैसे अंडजों और पिंडजों में नर और मादा के आपस के खिंचाव और प्रेम के लिए रूप, रंग, आकार और बोली की मनोहरता और सुंदरता काम करती है, उसी तरह फूलों की सुगंध और सुंदरता कीड़ों-मकोड़ों को, पराग और मकरंद अपनी मिठास से अपने खानेवालों को, अपनी ओर खींच लाते हैं। फल का सौंदर्य, सुवास और स्वाद जो गूदों में व्यापकर भीतर के बीजों की रक्षा करने के साधन हैं, खानेवालों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस तरह

बीजों को ऐसी जगहों पर सहज में ही पहुंचने का मौका मिलता है जहां वह आगे की प्रजा को उत्पन्न कर सकते हैं।

चित्र ७६—प्रागैतिहासिक युगों का जंगल जो गगन-चुंबी घने वृक्षों से परिपूर्ण है। [परिषत् की कृपा

जैसे संतान की उत्पत्ति के लिए नर और मादा में परस्पर आकर्षण और प्रवृत्ति होती है उसी तरह अपनी संतान की रक्षा के लिए सभी प्राणियों में माता-पिता में प्रवृत्ति होती है। जिन प्राणियों में लाखों और करोड़ों की संख्या में एक बारगी अंडे होते हैं उन में माता-पिता को रक्षा के लिए अधिक चिन्ता नहीं करनी पड़ती। परंतु ज्यों-ज्यों विकास की

सीढ़ी ऊंची उठती है त्यों-त्यों संतान की संख्या घटती जाती है और उन की रक्षा के उपाय बढ़ते जाते हैं। माता-पिता में अपनी संतान के लिए स्वाभाविक स्नेह, ममता और रक्षा की चिन्ता बढ़ती जाती है। वात्सल्य प्रेम पिंडजों में बहुत कुछ बढ़ा हुआ पाया जाता है। वही मनुष्य में आकर अपनी पूरी बाढ़ को पहुंचाता है।

५—माया और छल का प्रयोग

जीवन के संघर्ष में परिस्थिति से अपनी रक्षा की सब से अधिक आवश्यकता प्राणियों को होती है। जिस तरह एक प्राणी दूसरे को खा जाता है उसी तरह किसी दूसरे द्वारा खाये जाने का भी उसे भय रहता है। इस लिये कभी तो छल से अपने शिकार को
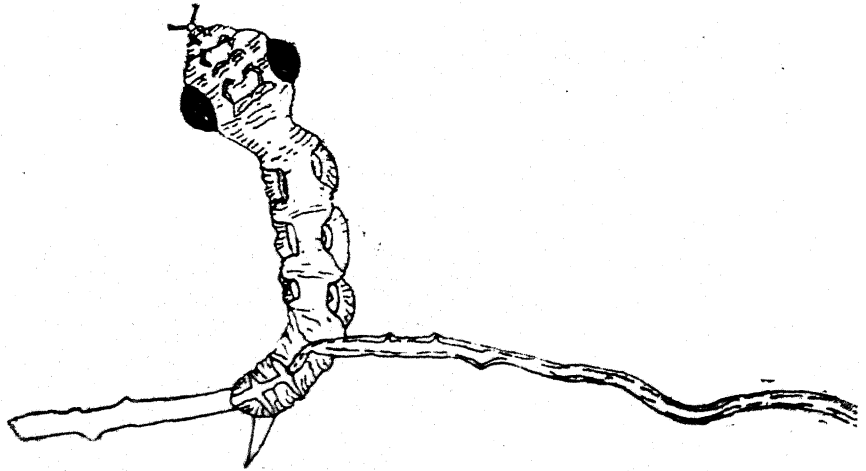
चित्र ८१—सांप वेषधारी इल्ली

[परिषत् की कृपा

पकड़ने के लिए और कभी अपने बैरी से बचने के लिए प्राणियों को अपना रंग-रूप ऐसा बनाना पड़ता है कि निगाहों के सामने होते हुए भी शत्रु पकड़ न सके और न शिकार देख सके। बहुत से कीड़ों की इल्लियां अपने विकास के काल में सांप आदि के भयानक रूप धारण कर लेती हैं अथवा टहनी पत्ती आदि के रंग-रूप से बिल्कुल मिल जाती हैं। हरी-हरी पत्तियों के ऊपर अक्सर हरे कीड़े इस तरह लिपटे पड़े रहते हैं कि मानों उस पत्ती की एक स्वाभाविक रेखा हो। हरे हरे तोते पेड़ों की हरी पत्तियों के भीतर झुंड-के-झुंड बैठे होते हैं और पता नहीं लगता। सूखी झाड़ियों के भीतर चीते और शेर बैठे रहते हैं, और झाड़ियों के रंगने में ऐसे मिल जाते है कि दिखाई नहीं पड़ते। गिरगिट अपनी परिस्थिति को देखकर रंग बदला करता है। इसी तरह प्रकृति ने बहुतेरे प्राणियों को जिन्हें

चित्र ८०—रंग में रंग मिलाकर छिपने की कोशिश। माया और छल का प्रयोग :

छिपने और बचने की बड़ी ज़रूरत है ऐसे रंग दे रखे हैं कि उन्हें इस काम में बड़ी मदद मिल जाती है।
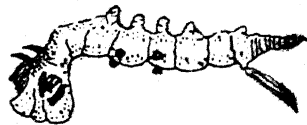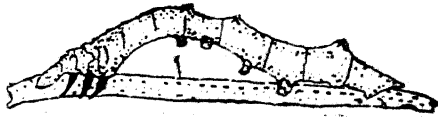
चित्र ८२—टहनी वेषधारी इल्ली [परिषत् की कृपा
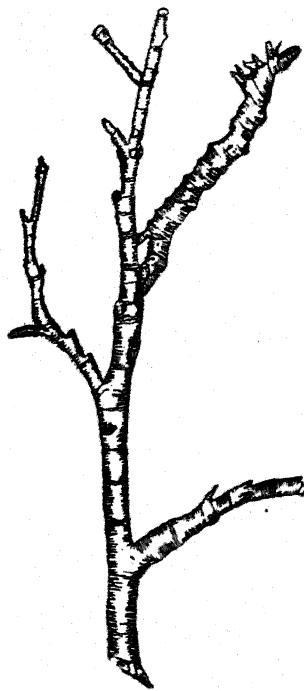
चित्र ८३—टहनी वेष में [परिषत् की कृपा

जिस तरह परिस्थिति के अनुकूल रंग देकर प्रकृति रक्षा के उपाय करती है उसी तरह अनुकूल आकार भी दे देती है। अक्सर हरी हरी बेलों की नसों के सदृश बेलों पर ही लगे हुए कीड़े होते हैं जिन्हें देख कर कोई यह नहीं कह सकता कि यह हरी नसें या हरी

टहनियां नहीं हैं। कई कीड़े इस तरह के देखे गये हैं कि वह अधिकतर जिस बेल पर रहते हैं और उसकी पत्तियां खाते हैं, उसी के पत्तियों के आकार के ही उन के पंख होते

चित्र ८४ [परिषत् की कृपा

चित्र ८५ [परिषत् की कृपा

चित्र ८६ [परिषत् की कृपा
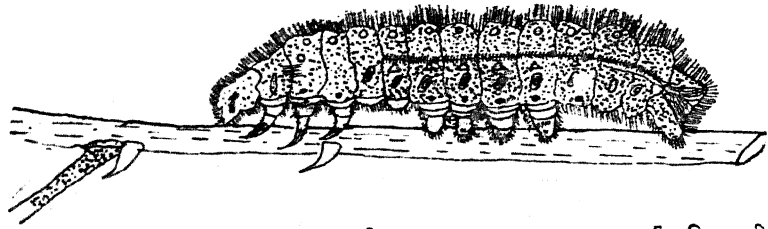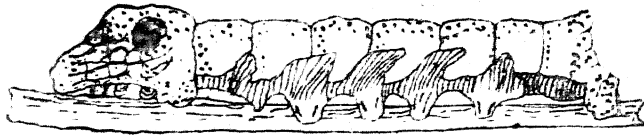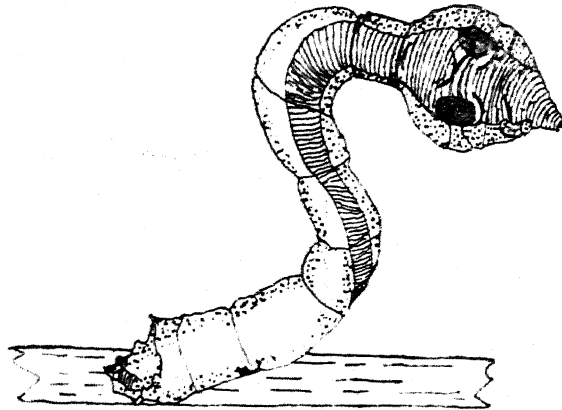
चित्र ८७ [परिषत् की कृपा

हैं। वह बैठते हैं तो साफ़ मालूम होता है कि उसी बेल की हरी पत्तियां हैं। गिरगिट किसी टहनी में लिपटा हुआ ऐसा जान पड़ता है कि उस जगह टहनी कुछ मोटी हो गयी

है। पास में मक्खी आकर बेधड़क बैठ गयी कि तीर की तरह उसकी लम्बी पतली जीभ निकल कर मक्खी को पकड़ लेती है। कई तितिलियां जब पंख सटाये रहती हैं तो जान पड़ता है कि पौधे की सूखी पत्तियां हैं।

६--ह्रास भी स्वाभाविक है

प्राणी ने अपनी रक्षा के लिए कोई उपाय उठा नहीं रक्खे। उसकी सहायता में प्रकृति ने भी भर सक पूरी कोशिश की। परंतु ऐसा जान पड़ता है कि प्रकृति एक काल तक अभ्यास करती रहती है और उस में जिस दर्जे की सफलता उसे होती है उसका अंतिम रूप देख कर और उससे असंतुष्ट होकर उसे मिटा देती है और फिर दूसरी तरह की रचना

चित्र ८८—उड़ान का विकास [टामसन का अनुवर्त्तन

में लग जाती है। हम इस बात को देख आये हैं कि भूगर्भ में अनेक बार सृष्टियों के आरंभ होने, विकास पाने और फिर लुप्त हो जाने का का पता लगता है। आदि युग में मृदुकाय शंखादि प्राणी संसार में फैले। प्रकृति ने उन्हें पाला पोसा उनकी रक्षा की और उन के महा भयानक रूपों तक उन्हें बढ़ने दिया और फिर अंत में उन्हें प्रायः समाप्त कर दिया। मछलियों का यही हाल हुआ। उभयचारी प्राणी भी इसी तरह विकास पाकर लुप्त हो गये। आज शंखों के मछलियों के और उभयचारियों के बहुत से नमूने बाकी हैं परंतु

इन में बहुत बड़ी संख्या का और अनेक महत्व की जातियों का लोप हो चुका है। इसी तरह व्यालों की बढ़न्ती हुई और संसार में विशालकाय व्याल दानव और असुर फैल गये। उन का भी लोप हुआ। उरग जाति के आज बहुत थोड़े नमूने बचे दिखाई पड़ते हैं। इन उरगों में से एक प्रकार से एक ओर अंडज पक्षियों का और दूसरी ओर पिंडज स्थल-चारियों का विकास हुआ। यह भी बड़े भयंकर विशाल आकारों में बढ़े। महासिंहों शार्दूलों और दिग्गजों ने संसार पर अधिकार कर लिया। परंतु इनका भी प्रलयकाल में अंत हो गया।

चित्र ८६—दोपाया बनने की तैयारी में चौपाया

इन्हीं के समय में वानर और मनुष्य की आदिम जातियों की उत्पत्ति हुई थी। परंतु यह शायद पूरे विकास को न पहुँच पाये थे कि शार्दूल-युग का अंत हो गया। प्रचंड हिम-वर्षा से संसार ढक गया और उस युग के प्राणी ठंडी समाधि में लुप्त हो गये। अत्यंत ऊंचे पहाड़ों पर या गहरे जल में जो अंडज और पिंडज प्राणी बच रहे थे बरफ़ के गल जाने पर उन से ही फिर सृष्टि का विकास आरंभ हुआ।

७—मनुष्य के निकट संबंधी

यह कहना कठिन है कि आज के मनुष्य उसी आदिम मनुष्य के वंशज हैं या नये वंशों का फिर से विकास हुआ है। मिलान करने से इस बात में संदेह नहीं रह जाता कि

हड्डियों की जैसी समानता वानरों, लंगूरों, शिपांजियों, गिब्बनों और गोरिल्लों से है वैसी किसी और जाति के पशुओं से नहीं है और विकास के क्रम में इन जातियों से मनुष्य की बहुत निकट की नातेदारी है। लंबाई में पाँवों पर खड़े होने पर गोरिल्ला मनुष्य के बराबर हो जाता है परंतु उस की चौड़ाई अत्यधिक है। और ताकत की तो बात न पूछिए। उस से अधिक बलवान प्राणी धरती पर नहीं है। यह केवल शाकाहारी है। परंतु इसके चिबुक नहीं है। यह हनुमान नहीं है।

शिपाञ्जी कद में छोटा है। ताकत भी कम है। चेहरे में भी अंतर है। वह भयानकता नहीं है। शाकभोजी है। गोरिल्ला को तरह आजानुबाहु है और खड़ा होकर कभी-कभी चलता भी है। यह पाला जा सकता है, परंतु गोरिल्ला नहीं पाला जा सकता। दोनों अफ्रीका में मिलते हैं।

ओरंग का दिमाग़ आदमी के दिमाग़ से छोटा परंतु वानर आदि जातियों में सब से बड़ा होता है। यह सुमात्रा, जावा और बोर्नियो में पाया जाता है। शाकाहारी है। यह खड़ा होकर दोनों पावों से भी चलता है। पर इसकी चाल में मनुष्य से अंतर है। आदमी सीधा खड़ा होता है। परंतु वानर जातियों में से कोई सीधा नहीं खड़ा होता। ओरंग को लोग वन-मानुष भी कहते हैं। इसके लाल केश होते हैं। इसकी भुजाएं और हाथ इतने लंबे होते हैं कि जब खड़ा होता है तो कभी कभी जमीन छू सकते हैं।

संस्कृत में वानर आधे मनुष्य को कहते हैं। इसीलिए हम इन सब को वानर जाति कहेंगे। यह जाति मनुष्य से पिंडजों में सब से अधिक मिलती है। आंखें सामने होती हैं और सामने देखती हैं। आखों की हड्डी का कोष मनुष्य का सा होता है। खोपड़ी बड़ी होती है और दिमाग भी बड़ा होता है। हंसली की हड्डियां दृढ़ और पूरी तौर से बढ़ी होती हैं। हाथ-पांव लंबे होते हैं। भुजाओं और जंघों की हड्डियां बदन में छिपी नहीं होतीं। हाथों और पावों में पकड़ सकने वाली पांच पांच उंगलियां होती हैं और कम-से-कम अंगूठों में चिपटा नाखून होता है। किसी किसी ओरंग के नहीं भी होता। सभी वानरियों के वक्षस्थल पर कम से कम दो स्तन होते हैं। माता और गर्भ का संबंध नाल से होता है। अंगुलियां यथेच्छ घूमती हैं, दूध के दांत गिरकर स्थिर दांत उगते हैं और सब तरह के दांत होते हैं। यह सब बातें और सब पिंडजों से नहीं मिलतीं परंतु मनुष्य से मिलती हैं। इनके कान भी मनुष्य के से होते हैं।

—

आठवां अध्याय

मनुष्य का विकास

१—मनुष्य की खोपड़ी

डारविन और वालेस ने इस विषय पर बड़े विस्तार से अनुशीलन किया है। उनके पीछे के विकास-विज्ञानियों ने भी इस विषय पर और अधिक प्रकाश डाला है। खोपड़ियों का विशेष रूप से मिलान किया गया है। पुरानी खोपड़ियां जो पायी गयी हैं उनमें कुछ ऐसे मनुष्यों की खोपड़ियां भी हैं जो कम-से-कम पांच लाख बरस पहले की अनुमान की जाती हैं और जो आज-कल के वन-मानुष ओरंग से अधिक बड़े दिमाग़ की हैं और प्राचीन मनुष्य की मालूम होती हैं। इनमें से एक को पूरा करके जो चित्र बनाया गया है यहां दिया जाता है।

इसी प्रकार डेढ़ लाख और एक लाख बरस के पहलेवाली खोपड़ियां भी पायी गयी हैं और उनके भी रूप पूरे किये गये हैं। खोपड़ियों के मिलान से यह पता चलता है कि वानर जाति में चिबुक या हनु नहीं होता। मनुष्य जाति में भी धीरे धीरे हनु या चिबुक का विकास हुआ है। साथ ही दिमाग भी अधिक बड़ा होता गया है और गोल खोपड़ी में स्थापित हुआ है।

मनुष्य के विकास की एक भारी विशेषता मस्तिष्क का विकास है। सब से छोटा मस्तिष्क मछलियों का होता है, उससे बड़ा उरगों का, फिर उससे बड़ा चिड़ियों का। चिड़ियों के बाद स्थलचारी पिंडजों का नंबर आता है। मनुष्यों का इन सब से बड़ा है।

केवल दिमाग का ही विकास नहीं हुआ है। सब से अधिक महत्व का विकास भीतरी और बाहरी ज्ञान और कर्म दोनों इंद्रियों का है। हर एक इंद्रिय पिंडजों में बराबर बढ़ती हुई मनुष्यों में आकर सब से अधिक उन्नत अवस्था को पहुँची है। सभी पिंडजों की ठटरी प्रायः एक सी है पर वही सुधरते-सुधरते मनुष्य के शरीर में आकर अधिक सुडौल और उपयोगी हो गयी है। जहां मनुष्य का मस्तिष्क तौल में डेढ़ सेर का है वहां गोरिल्ले का

ढाई पाव से अधिक नहीं होता। मनुष्य की खोपड़ी में पचपन घन इंच से कम समाई नहीं होती। परंतु ओरंग और शिपांज़ी की खोपड़ियों में छब्बीस और साढ़े सत्ताईस की होती है जब मनुष्य खड़ा होना सीख लेता है तो बिल्कुल सीधा खड़ा होता है। दिमाग़ के बोझ से उस का सिर झुक नहीं जाता। उस का माथा ऊंचा और सीधा होता है। मुंह बाहर की तरफ़ अधिक निकला हुआ नहीं होता। गाल की हड्डियां छोटी और भौंह की ऊंचाई कम होती है। उस के दांत प्रायः समान होते हैं। हनु या त्रिबुक आदमी के ही होता है। मनुष्य अपना पूरा तलवा धरती पर रखता है। उस की एड़ी वानर की एड़ी से कहीं अच्छी है, और उस के अंगूठे अँगुलियों के मेल में हैं। उस की पूंछ की जगह की हड्डी मौजूद है परंतु पूंछ की आवश्यकता नहीं है। इन सभी बातों में मनुष्य वानर जातियों से बढ़ा हुआ है। यह शरीर-रचना संबंधी बातें हुईं। भाषा, सभ्यता, रहन-सहन बुद्धि विवेक और शिक्षा आदि सभी बातों से मनुष्य ने अपने को सब प्राणियों में उत्तम बना लिया है।

हेकेल "विश्वप्रपंच" में लिखता है--

चित्र १०—जावा में प्राप्त प्राचीन खोपड़ी के अनुसार मानव सिर की कल्पना।
[परिषत् की कृपा

"इस की सिद्धि में अब कोई संदेह नहीं रह गया है कि मनुष्य और वनमानुस के शरीर का ढाँचा एक ही है। दोनों की ठठरियों में वे ही २०० हड्डियाँ समान क्रम से बैठायी हैं, दोनों में उन्हीं ३०० पेशियों की क्रिया से गति उत्पन्न होती है, दोनों की त्वचा पर रोएं होते हैं, दोनों के मस्तिष्क उन्हीं संवेदनात्मक नाड़ी-चक्रों के योग से बने हुए होते हैं, वही चार कोठों का हृदय दोनों में रक्त-संचार का स्पंदन उत्पन्न करता है। दोनों के मुंह में ३२ दांत उसी क्रम से होते हैं। दोनों में पाचन—लालाग्रंथि, यकृद्ग्रंथि, और क्लोम-ग्रंथि की क्रिया से होता है, उन्हीं जननेंद्रियों से दोनों के वंश की वृद्धि होती है। यह ठीक है कि डीलडौल तथा अवयवों की छोटाई-बड़ाई में दोनों में कुछ भेद देखा जाता है, पर इस प्रकार का भेद तो मनुष्यों की ही समुन्नत और बर्बर जातियों के बीच परस्पर देखा जाता है, यहां तक कि एक ही जाति के मनुष्यों में भी कुछ-न-कुछ भेद होता है। कोई दो मनुष्य ऐसे नहीं मिल सकते जिन के ओठ, आंख, नाक, कान आदि बराबर और एक से हों। और जाने दीजिए, दो भाइयों की आकृति में इतना भेद होता है कि जल्दी विश्वास

नहीं होता कि वे एक ही माता-पिता से उत्पन्न हैं। पर इन व्यक्तिगत भेदों से रचना के मूल सादृश्य के विषय में कोई व्याघात नहीं होता।"
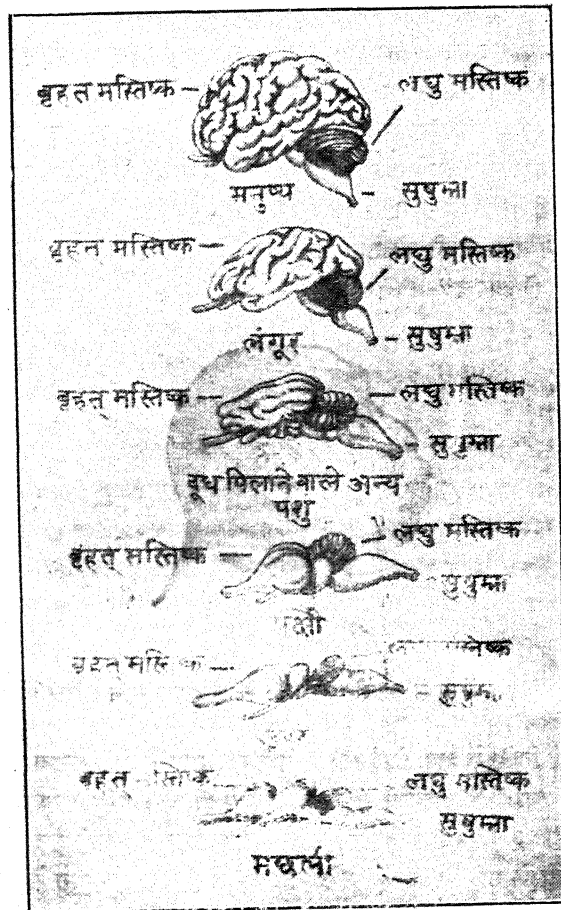
चित्र ६१—मस्तिष्क का क्रमिक विकास। [टामसन का अनुवर्त्तन

२—मनुष्य का वंश-वृक्ष

वानर और मनुष्य जातियों की प्रकृति का बहुत विस्तार से अध्ययन करने के बाद अब तक विकास-विज्ञानियों का यह मत स्थिर हुआ है कि प्राणियों के वंश के महावृक्ष में पिंडजों की एक बहुत बड़ी शाखा निकली जिस से कि अनगिनत शाखाएं सब तरह के पिंडजों

की हुई । उन में से एक बहुत बड़ी शाखा "वा-नर" या "मानवी" शाखा हुई । अनुमान किया जाता है कि यह शाखा तीसरे महायुग के पहले पंचमांश में तीन बड़ी शाखाओं में फूटी । इन में से दो शाखाएं तो केवल बन्दरों की हैं जो आज तक मौजूद हैं । तीसरी शाखा के प्राणी किस तरह के थे इस बात का पता लगाना आज कई करोड़ से लेकर कम-से-कम बयालिस लाख बरस बाद असंभव है । उस समय की खोपड़ियां नहीं मिली

चित्र ६२—प्रोफ़ेसर फ्रेडरिक साडी, जन्म सं० १६३४ ।

हैं । अगर मिल सकतीं तो धरती के नीचे बारह हजार फुट पर मिलतीं । वह समय भारतीय पुराणों के हिसाब से वर्त्तमान चतुर्युगी के कम-से-कम चार लाख बरस पहले से आरंभ होता है । और हमारे सतयुग के आरंभ के आठ लाख बरस तक समाप्त होता है । यह तो पुराना हिसाब हुआ । प्रोफ़ेसर रेले के हिसाब से तो जहां यह हमारी सत्ताइसवीं चतुर्युगी का अंत है वहां कहीं ग्यारहवीं या बारहवीं चतुर्युगी के लगभग यह घटना हुई होगी । इस के बाद इतना ही समय उस तीसरी शाखा के और चार शाखाओं के फूट निकलने में अनुमान किया जाता है । एक छोटी शाखा बन-मानुसों की निकलकर थोड़े ही काल में समाप्त हो गयी । उसी की जड़ से निकली हुई छोटे बनमानुसों की एक शाखा चली जो उस के आधे समय पीछे दो शाखाओं में विभक्त हुई, जो आज तक गिब्बन और श्यामाङ्ग के नाम की चल रही है । बाकी दो शाखाओं में एक मनुष्यों की शाखा हुई और दूसरी बड़ी

शाखा वनमानुसों की। जान पड़ता है जिस बड़ी शाखा में से यह दो शाखाएं निकलीं उस में आदिम मनुष्य पहले हुआ होगा। यदि हम साडी के अनुमान को ठीक मान लें तो इस आदिम जाति ने बहुत बड़ी उन्नति की होगी। परंतु यह जब उन्नति के शिखर पर पहुँचा तब इस का पतन हो गया। फिर बचे-खुचे वंशज से विकास पाकर एक ओर से तो सभ्य मनुष्य और दूसरी ओर से वन-मानुष्य हुए। मनुष्यों के दिमाग का बहुत बड़ा विकास हुआ और वन-मनुष्यों के शारीरिक शक्ति की बढ़ती हुई। पुराने हिसाब से चौबीस लाख बरस बाद या गत आधे त्रेता युग के बीतने पर अथवा रेले के हिसाब से वर्त्तमान मन्वंतर की
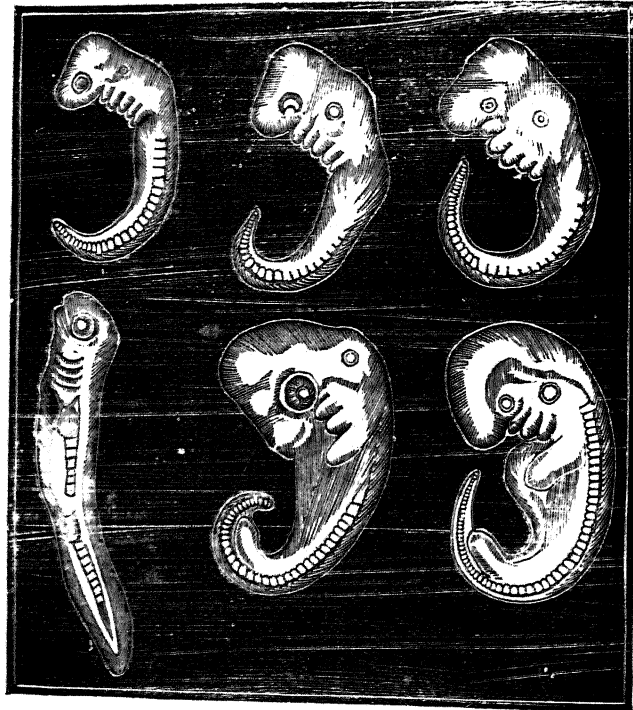
चित्र ६३—भ्रूण का विकास [परिषत् की कृपा

अठारहवीं चतुर्युगी में इन शाखाओं में से और शाखाएं फूटीं। बड़े वनमानुसों की एक नयी शाखा जो फूटी वह एक लाख बरस के भीतर ही समाप्त हो गयी। छोटे वनमानुसों की दो शाखाएं हुईं जिन में से एक तो आज से चार लाख बरस पहले ही समाप्त हो गयी। दूसरी उपशाखा अब से कम-से-कम आठ लाख बरस पहले या द्वापर के आरंभ होने के पहले तीन उपशाखाओं में विभक्त हो चुकी थीं। तीनों भिन्न-भिन्न प्रकार के मनुष्य थे। इन में से एक का लोप चार लाख बरस पहले ही हो चुका है और दूसरी का लगभग दो लाख बरस पहले लोप हो चुका। तीसरी शाखा में वर्त्तमान काल के चार प्रकार के मनुष्य

मौजूद हैं (१) आर्य या श्वेतांग, (२) अफ्रीकी या कृष्णांग, (३) मंगोली या पीतांग तथा (४) रक्तांग। यह चार शाखाएं कम-से-कम चार लाख बरस पहले की निकली हुई समझी जाती हैं। अनेक वैज्ञानिकों के मत से पीतांग और रक्तांग दोनों एक ही शाखा से हुए हैं अतः एक वंश में हैं। इसी तरह वनमानुसों की ओरंग, शिंपांजी और गोरिल्ला यह तीन बड़ी जातियां और गिब्बन और श्यामांग दो छोटी जातियां आज भी पायी जाती हैं। वनमानुसों की पांचों जातियों में ठोढ़ी नहीं होती। यवद्वीप में उस प्राचीन मनुष्य की खोपड़ी पायी गयी थी जो अब से कम-से-कम पांच लाख बरस पहले भूतल पर रहा होगा। इस मनुष्य की खोपड़ी में ठोढ़ी मौजूद पायी गयी है। यह उस उपशाखा से हो सकता है जिस का आरंभ आज से लगभग अठारह लाख बरस पहले समझा जाता है। इसे ही सब से पुराना हनु या चिबुक रखनेवाला वन-मनुष्य समझना चाहिए। यह मनुष्य की शाखा थी इस लिए हम यह अनुमान करें कि इस शाखा या और लुप्त शाखाओं के मनुष्य मानवीय भाषा और सभ्यता रखते होंगे तो अनुचित न होगा।*

३—मनुष्य के पुरखे

आदिम मनुष्य कहीं उत्तरखंड में ध्रुव-प्रदेश के आसपास हुआ होगा। और कम-से-कम वर्त्तमान चतुर्युगी के सतयुग के आरंभ में या इस से भी पहले हुआ होगा जब कि पृथ्वी के ऊपर हरियाली हो चुकी थी। वहीं से उस के वंशवाले अफ्रिका, भारत, मलय देश, और दक्षिण अमेरिका में फैले होंगे। यह अनुमान किया जाता है कि मनुष्य की सभ्यता का आरंभ एशिया में ही हुआ है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि आदि काल में भी मनुष्य साधारण चतुष्पद की तरह नहीं था। वह दो हाथोंवाला प्राणी आसानी से जंगलों में पेड़ों पर रह सकता होगा। हाथ की आसानी के कारण बड़े हुए ओठों और दांतों से पकड़ने की ज़रूरत न पड़ी और बहुत जल्दी पेड़ को छोड़ कर उसे भूमि पर रहने में सुभीता हुआ होगा। इस संबंध में बहुत लंबे चौड़े तर्कों और युक्तियों से काम लिया जाता है। परंतु विकास-विज्ञान अभी अपनी शैशवावस्था में है। अनेक बातें इन कल्पनाओं के विरुद्ध कही जा सकती हैं। हम ने यहां अब तक के वैज्ञानिकों के मत दे दिये हैं।

ऐसा समझा जाता है कि हर एक युग के अंत में हिमप्रलय हुआ है। जैसा कह चुके हैं, इस हिमप्रलय का यह अर्थ नहीं है कि एक बारगी प्रलय हो गया और फिर प्रलय का समय

*** रामायण महाकाव्य में त्रेतायुग में श्रीरामचंद्रजी की सहायता करनेवाली सेना वानरों और ऋक्षों की थी। इन में हनुमान् (चिबुकवाले) भी थे। इन का चिबुक टेढ़ा हो गया। इस कथा से स्पष्ट है कि वह वानर जाति जिस में हनुमान आदि हुए चिबुकवाली जाति थी। वह लोग समझदार थे, विद्वान् थे। कलावान् थे। आजकल-के-से वानर न थे। महाभारत में ऐसी जाति की चर्चा नहीं है। संभवतः यह जाति तब तक समाप्त हो गयी थी।**

समान हो गया। हिमप्रलय तो जब आने लगता है तो लाखों बरस तक उस का सिलसिला लगा रहता है। तीसरे युग के अंत में जो हिमप्रलय हुआ उस के सिलसिले के खतम हो जाने
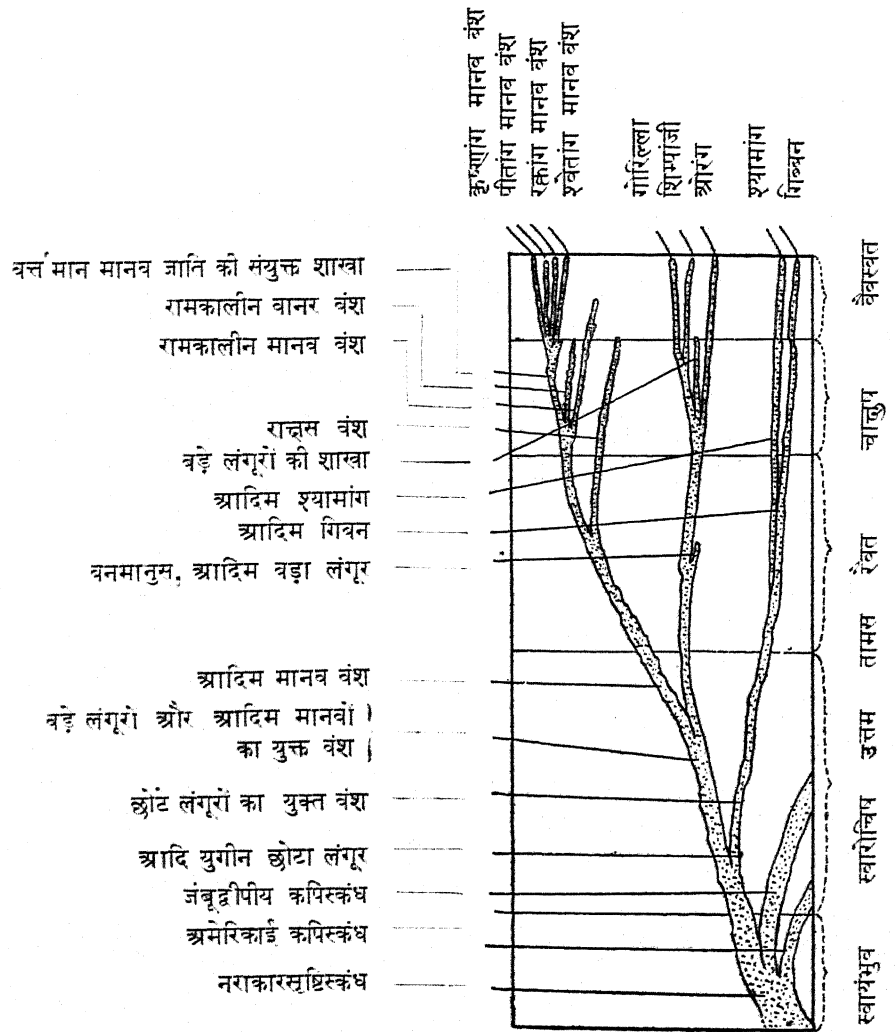
चित्र १४—नराकार प्राणियों का क्रमविकास-वृक्ष

विलियम्स ऐंड नारगेट की कृपा] **[सर आर्थर कैथ के अनुसार कल्पित**

पर जो मनुष्य के अभ्युदय का काल आरंभ हुआ था उसी समय को हम वर्त्तमान मनुष्य के अभ्युदय का काल समझेंगे। परंतु उस से पहले मनुष्यों की अनेक जातियां और शाखाएं

हो गयीं, विकास पा चुकीं, और फिर मिट भी गयीं। सब से पुरानी खोपड़ी जो यवद्वीप में मिली ऐसा समझा जाता है कि पांच लाख बरस पहले की होगी। साथ की जंघे की हड्डी बताती है कि इस प्राणी की ऊंचाई पांच फुट सात इंच रही होगी। माथा छोटा चपटा भंवें कुछ टेढ़ी और दिमाग कुछ छोटा था। इस की चाल ढाल आजकल के मनुष्य की-सी थी। इस का और इस के समय के अनेक पिंडजों का लोप हो चुका है। दूसरी खोपड़ी हेडलबर्ग में मिली है। यह हाथी, गेंडे, शेर आदि की हड्डियों के साथ मिली जो योरोप में तीन लाख बरस पहले ही लुप्त हो चुके थे। इस में सब बातें मनुष्य की-सी थीं, पर चिबुक न था। बहुतों की राय है कि इसे मनुष्य की प्रधान शाखामें न गिनना चाहिए।

तीसरी खोपड़ी सन् १८५६ में एक छोटी नदी में पायी गयी। इसी मेल की और खोपड़ियां कई जगह पायी गयीं। यह लगभग ढाई लाख बरस पहले के मनुष्यों की खोपड़ियां हैं जो योरोप में रहते थे। यह भी आजकल की मनुष्यों की शाखा से अलग ही था, जिस का लोप हो गया है।

इंगलिस्तान में पिल्टडाउन में सन् १९१२ में एक खोपड़ी मिली। यह आज के मनुष्यों की खोपड़ी से बहुत मिलती-जुलती है। इसे डेढ़ लाख से लेकर पांच लाख बरस तक की आंकते हैं। इस जाति के मनुष्य भी अब नहीं हैं। यह निश्चय नहीं कहा जा सकता कि लाखों बरस पहले वर्त्तमान मनुष्यों के पूर्व पुरुष अपने सम-सामयिक मनुष्य जाति के मुकाबिले में कैसे थे, या उस समय में यह लोग थे भी या नहीं। मानवी शाखा बराबर नयी नयी शाखाएं प्राचीनतम युगों से फेंकती आयी है। उन में से अनेक शाखाएं बढ़-बढ़कर लुप्त होती गयी हैं। मनुष्य बने परंतु सदा के लिये नहीं बने। अपना विकास पूरा करके खतम हो गये। कौन कह सकता है कि वर्त्तमान मनुष्य सदा के लिए इस धरती पर आया है। बहुत संभव है कि किसी भविष्य युग में इस की खोपड़ियों से भी आजकल के खोये हुए इतिहास का पता लगाया जाय।

४—वर्त्तमान मानव जाति

भूगर्भ विज्ञानी वर्त्तमान मनुष्यों के विकास को भी छोटे-छोटे युगों में बांटकर वर्णन करते हैं। उन की कल्पना है कि वर्त्तमान मनुष्य भी बहुत धीरे-धीरे सभ्यता की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ आया है। पेड़ों पर रहना छोड़कर जब वह धरती पर रहने लगा तो उस ने पहाड़ों की खोहों के भीतर अपना घर बनाया। उन की खोपड़ी बड़ी थी। माथा ऊंचा था। और चिबुक ठीक बना हुआ था। शेष अंग प्रत्यंग आजकल के-से थे। उन्हों ने खोहों के भीतर भीतों पर चित्र भी बनाये हैं। कहीं-कहीं उन की बनायी मूर्त्तियां भी मिली हैं। उन की समाधियों की तैयारी से जान पड़ता है कि उन का विश्वास परलोक में भी था। वह पत्थर के हथियार बनाते थे। उन हथियारों में उन की कारीगरी दिखाई पड़ती है। वह लोग तीसरे और चौथे प्रलय के अवांतर काल में हुए। वह लोग अपने सम सामयिक मनुष्यों के बड़े अच्छे प्रतिस्पर्धी थे। परंतु वह भी जगत के सभी भागों में रह नहीं गये। योरोप में

तो वह जल्दी ही लुप्त हो गये और एशिया ने फिर नये मनुष्यों को आबाद किया। यह तो नहीं कहा जा सकता कि किसी बलवान जाति का ह्रास आवश्यक है। परंतु मनुष्य के इतिहास में यह बराबर देखा जाता है कि शक्ति और सफलता के शिखर पर पहुँचने के बाद उस का ह्रास अवश्य होता है और कभी-कभी वह लुप्त भी हो जाता है। इस के कारण तो निश्चय रूप से नहीं मालूम हैं परंतु कभी-कभी परिस्थिति कभी उस की शारिरिक रचना और स्वभाव और कभी जीवन की होड़ से ह्रास होने लगता है। कभी जाति के किसी भयानक शत्रु की प्रबलता भी कारण हो जाती है, जैसे मलेरिया आदि।

अंतिम प्रलय के बाद मनुष्य जाति अधिक सुधरी हुई पायी जाती है। पहले के पत्थर के औज़ार रगड़कर चिकने नहीं किये होते थे। परंतु अब बहुत चिकने और सुंदर बनाये जाने लगे। यह लोग शिकार करते थे।

इस के बाद धातुओं का समय आया। धातुओं में पहले-पहल तांबे का प्रयोग होने लगा। उस के बाद कांसे का प्रयोग आरंभ हुआ। सब से अंत में लोहा काम में आने लगा। अब तक मानवी सभ्यता लोहे की ही सभ्यता है। योरोप के विज्ञानियों का यह मत है कि इसी क्रम से मनुष्य ने धातुओं का प्रयोग जाना। उन्हों ने यह पता लगाया है कि एशिया में ईसा से चार हजार बरस पहले तांबे का प्रयोग मनुष्य को मालूम था। परंतु लोकमान्य तिलक ने वेद के मंत्रों की रचना का काल ईसा के कम-से-कम आठ दस हजार बरस के पहले सिद्ध किया है और उन मंत्रों में सोना, चांदी, तांबा, लोहा सब का वर्णन पाया जाता है। सोने का वर्णन बहुत है। कांसा आदि मिश्रित धातुओं का भी वर्णन है। हम यहां यह कहे बिना नहीं रह सकते कि हम जो यहां विकासवाद पर लिख रहे हैं वह विशुद्ध युरोपीय दृष्टि का वर्णन कर रहे हैं। बहुत संभव है कि भारतीय दृष्टि से खोज की जाय तो इन सिद्धांतों में बहुत-कुछ उलट-पलट हो जाय।

५—मनुष्य का वर्ण-विभाग

भिन्न-भिन्न देशों और कालों में बंटकर रहते-रहते और विकास पाते-पाते मनुष्य की विविध जातियां हो गयीं जिन में से कुछ बहुत आगे बढ़ी हुई हैं और कुछ पिछड़ी हैं। इन में आपस के विवाह संबंध से भी विविधता उत्पन्न होती गयी। एक ही जाति के भीतर के विवाह-संबंध से आपस में एक स्वभाव और समता की मात्रा स्थायी हो गयी। और भिन्न-भिन्न बाहर की जातियों से वैवाहिक संबंध होते-होते विविधता और स्वभाव-भेद में बहुत वृद्धि हो गयी। एक वर्ग के कुछ लोग किसी तरह से एक देश में बहुत काल तक अलग रह जाते हैं। इस तरह उन की जाति अलग हो सकती है। परिवारों में विविधता और रूप-भेद हो जाता है और यह बड़े विस्तार के साथ होता है। वैवाहिक संबंध में विशेष रूप से चुनाव होता है और संतान में विविधता बढ़ती है। इस तरह जो लोग अधिक योग्य होते हैं अयोग्यों पर प्रभुता करने लगते हैं। कभी-कभी अंतर्जातीय संबंध से बिल्कुल नये रंग-रूप उत्पन्न होते हैं। इस में जो अवनति करनेवाले गुणों से और चिह्नों से युक्त होते हैं वह

साधारण विकास-क्रम में छूट जाते हैं। इस तरह एक विशेष प्रकार की जाति बन जाती है। इस तरह की मनुष्य की विशेष जातियां तो संसार में बहुत हैं। तो भी पाश्चात्य विज्ञानियों ने मनुष्य जाति को चार विभागों में बांटा है। अफ्रीकी, आस्ट्रेलियाई, मोगल और काकेशी। जितने मनुष्य संसार में हैं सब की गणना इन्हीं चारों में से किसी एक में हो सकती है। पहले के ईसाई भाव से प्रेरित वैज्ञानिक साम, हाम, जाफत इन तीनों नूह के लड़कों के वंश के विचार से तीन ही जाति मानते थे। परंतु अब चार मानने लग गये हैं।*

अफ्रीकी जाति में वह सब लोग शामिल समझे जाते हैं जिन के बाल ऊन की तरह होते हैं, अफ्रीका के हब्शी और झाड़ी-जंगलों के रहनेवाले इसी जाति में हैं।

आस्ट्रेलियाई जाति के वह लोग समझे जाते हैं जिन के बाल लहरीले या घुंघरवाले होते हैं। इन में दक्षिण भारत के जंगली लंका के वेद्द तथा आस्ट्रेलिया के प्राचीन निवासी समझे जाते हैं।

सीधे बालोंवाले तिब्बत के रहनेवाले अनाम, श्याम, ब्रह्मदेश, चीन, जापान, और लपलैण्ड तक के रहनेवाले मुगल जाति के समझे जाते हैं।

काकेशी जाति में भूमध्य-सागर के चारों ओर के रहनेवाले, तुर्क, अरब, पठान, जर्मनी और भारतीय तथा समस्त आर्य लोग शामिल हैं।

यह विभाग भी शुद्ध रीति से वैज्ञानिक नहीं है। भारतवर्ष में स्मृतिकारों ने मनुष्य जाति को चार वर्णों में बांटा है। श्वेतवर्ण, रक्तवर्ण, पीतवर्ण और कृष्णवर्ण। श्वेतवर्ण में काकेशी और आर्य लोग शामिल हैं। रक्तवर्ण में अमेरिका के आदिम निवासी और उसी तरह के रक्तवर्ण के लोग हैं। पीतवर्ण के लोगों में समस्त मुगल जाति है जिस में चीनी और जापानी प्रधान हैं। कृष्णवर्ण के लोगों में काले रंगवालों की समस्त जातियां हैं जिन में अफ्रिका के निवासी प्रधान हैं। यह विभाग भी ऐसा नहीं है कि यह कहा जा सके कि काकेशी या आर्य जातियों में काले चमड़े के लोग नहीं हैं और न यह कहा जा सकता है कि लाल चमड़ेवालों में और रंगवाले नहीं पाये जाते। ऐसा कोई कटा और नपा हुआ विभाग मनुष्य में नहीं हो सकता जिस में यह कहा जा सके कि किसी दूसरे विभाग का मेल नहीं है। परंतु यह विभाग बहुत आसानी से इस ख्याल से समझे जा सकते हैं कि जो जाति किसी विशेष रंगवाली समझी जाती है उस में उसी विशेष रंग की अधिकता है।

बाल और रंग के सिवाय और भी विशेषताएं हैं जिन से एक दूसरी जाति में भेद

*** यह निश्चित रूप से कोई वैज्ञानिक वर्गीकरण नहीं है। हमारे यहां मनु ने ब्राह्मण को श्वेत, क्षत्रिय को रक्त, वैश्य को पीत और शूद्र को कृष्ण वर्ण कहा है। संसार में भी चार वर्ण मिलते हैं। आर्य श्वेतांग हैं। अमेरिका के मूल निवासी रक्तांग हैं। मंगोल पीतांग हैं और अफ्रीकी कृष्णांग हैं। इन्हें ही प्रकृत ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र कहना चाहिये।**

कर सकते हैं। हब्शियों के ओंठ मोटे होते हैं। नाक चौड़ी-चिपटी होती है। आंखें उभरी हुई दांत बड़े-बड़े और खोपड़ी लंबी होती है। मुगलों का चेहरा चौड़ा होता है। गाल की हड्डियां उभरी हुई होती हैं आंखें छोटी और धंसी हुई होती हैं। खोपड़ी लंबी चौड़ी सब तरह की होती है। काकेशियों की दाढ़ी बढ़ी हुई होती है। गाल की हड्डियां धंसी हुई होती हैं। नाक पतली पर उभरी हुई होती है दांत छोटे होते हैं। चिबुक अधिक सुंदर होता है। इस तरह विविध जातियों में जो विशेषताएं होती हैं उन से उन का पहिचाना जाना कठिन नहीं है।

६—वर्त्तमान मनुष्य

ऐसा समझा जाता है कि मनुष्य की उत्पत्ति एशिया में ही कहीं हुई। और जिस समय संसार के सभी द्वीप मिले हुए थे उसी समय मनुष्य जाति सब जगह फैल गयी। जब जल-स्थल अलग-अलग होकर भिन्न-भिन्न महाद्वीप बन गये उस समय मनुष्य लोग बंट गये और एक दूसरे से अलग हो गये। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस तरह अलग न हुए होते तो सब की सभ्यता बराबर होती। अफ्रीका, अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि महाद्वीपों और अन्य द्वीपों में मनुष्य की सभ्यता का वैसा विकास नहीं हो पाया जैसा कि एशिया और योरोप में हुआ। एशिया और अफ्रिका में भी भारतवर्ष, चीन, मिश्र की सभ्यता सब से प्राचीन समझी जाती है। योरोप के रोम और यूनान की सभ्यता इन से पीछे की है। परंतु रोम और यूनान की सभ्यता का अब लोप हो गया है। उस के स्थान में योरोप की और देशों की सभ्यता जो उन्हीं की नींव पर खड़ी है अत्यंत बढ़ी-चढ़ी है। इस समय मनुष्यता ने अपने भौतिक ज्ञान में वहीं सब से अधिक विकास पाया है यद्यपि चरित्र में योरोप की सभ्यता भारत की अपेक्षा अत्यंत हीन दशा में है। आज योरोप के मनुष्यों ने प्रकृति की शक्तियों को अपने वश में कर रखा है। उस ने बिजली को अपनी गाड़ी में जोत दिया है और आकाश को अपना हरकारा बना रक्खा है। धरती से कारून का गड़ा खजाना निकाल लिया है। उस ने तार और बेतार से देश और काल पर विजय पायी है और समुद्र और वायुमंडल पर आसानी से बहता और उड़ता फिरता है। उस ने रोगों का रहस्य जान लिया है। और उन पर काबू कर लिया है और अपने पशुओं और पौधों को नये सांचों में ढाल रहा है। नीति की दिशा में भी वह सत्यम् शिवम् सुंदरम् की ओर बढ़ता दिखाई पड़ रहा है। उस में जिस तरह बहुत अच्छे-अच्छे गुणों का विकास हुआ है उसी तरह कुछ ह्रास के भी चिह्न दिखाई देते हैं उस की आर्थिक योजनाएं बहुत संकुचित भाव प्रकट करती हैं। उस के यांत्रिक विकास से प्राकृतिक जीवन का सामंजस्य बिगड़ गया है। सामाजिक जीवन में भी धनी और रंक का इतना भारी अंतर पड़ गया है कि जगह-जगह विप्लव के चिह्न दिखाई पड़ रहे हैं। आचार और नीति में भी अभिमान के कारण योरोपीय सभ्य मनुष्य में दुर्निवार दोष आ गये हैं। वह अपने को ही मनुष्य समझता है। शेष मनुष्य जाति को अपने सुख की सामग्री जुटाने के लिए साधन और मनुष्यता से हीन समझता है।

पूर्ण मनुष्य वह होगा जो प्रकृति से अपने विकास के अनुकूल काम ले सकेगा। अपने को शारीरिक बल में शारीरिक सौंदर्य में और शारीरिक स्वास्थ्य में पूरी ऊँचाई तक पहुँचा सकेगा। अपने चरित्र को शुद्ध, स्वच्छ, सुंदर, सच्चा और निर्मल बना सकेगा। अपनी

चित्र ९४—जगद्विख्यात गणिताचार्य्य डाक्टर गणेशप्रसाद [सं० १९३३–१९९१ वि०]
इस विद्वान् की बदौलत गणितशास्त्र में भारत की प्राचीन अग्रगण्यता और प्रतिष्ठा संसार में फिर से स्थापित हुई। [परिषत् की कृपा

आधिदैहिक आधिभौतिक और आध्यात्मिक उन्नति अबाध रूप से कर सकेगा, जो व्यक्ति रूप से परिस्थिति का दास न होगा बल्कि स्वामी होगा। निदान वही मनुष्य पूर्णतया पहुँचेगा वही पूर्ण मनुष्य होगा जो पुरुषोत्तम के आदर्श का पूर्णतया पालन कर सकेगा।

नवां अध्याय

विकास के सिद्धांत

१—इतिहास से निष्कर्ष

जीवन का विकास एक प्रकार से चैतन्य जगत का इतिहास है। उस का साफ मतलब यही है कि सृष्टि जब से आरंभ हुई तब से आजतक बराबर उस के बढ़ने-घटने और फिर बढ़ने और इस तरह विकास के निरंतर होते रहने का क्रम बराबर जारी है। आज तक इस का तार नहीं टूटा है। चराचर प्राणियों की एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक इस क्रम में संबंध बराबर जारी रहता है। विकास-सिद्धांत यही है कि वर्तमान काल भूत काल की संतान है और भविष्य काल का पिता है। जो पौधे और पशु अथवा चराचर प्राणी आज मौजूद हैं वह इस से पहले युग के अधिक सीधे-सादे प्राणियों से उत्पन्न हुए हैं और वह पूर्वज अपने से भी अधिक सीधे-सादे प्राणियों से उत्पन्न हुए हैं। इसी तरह अत्यंत पूर्वतम प्राचीन काल में जाते-जाते हम ऐसे सूक्ष्म सीधे-सादे प्राणियों तक पहुँचते हैं जिन का हम को पता नहीं है और जिन की सत्ता के लिए हम केवल अपनी कल्पना पर निर्भर हैं। पत्थर पर अंकित इतिहास को ठीक-ठीक पढ़ लेने में चाहे हम भूल भले ही कर जायं परंतु वह इतिहास झूठे नहीं हो सकते। यह तो बिल्कुल स्पष्ट ही है कि इस विशाल जगतीतल के भीतर प्राचीन काल का इतिहास अधिक विस्तार के साथ जगह-जगह मौजूद है और अभी हमारे अनुभव में नहीं आया है। जो कुछ मनुष्य के अनुभव में आया है वह तो इतना थोड़ा है कि संपूर्ण छिपे इतिहास के सामने उस की कोई गिनती नहीं है। अभी मोहनजोदारों में और हड़प्पा में पांच छः हजार वर्षों के पहले के इतिहास की सामग्री मिली है। भारतवर्ष में तो भूगर्भ विज्ञान के संबंध में पर्याप्त गहरी खुदाई कहीं हुई भी नहीं है। इसलिए बहुत थोड़े प्रमाणों के आधार पर विकासवादियों ने इस विज्ञान की रचना की है। तो भी यह बात तो स्पष्ट रूप से सिद्ध है कि जगतीतल के इतिहास में कोई समय ऐसा भी था जब शंख सरीखे बेरीढ़वाले प्राणियों का ही राज्य था। युगों बीते और इन प्राणियों का ह्रास हुआ और

संसार के पहले रीढ़वाले प्राणी मत्स्यों का विकास हुआ। ऐसा जान पड़ता है कि मत्स्यों ने शंखों का विनाश किया। कौन कह सकता है कि मत्स्यावतार द्वारा शंखासुर का विनाश इसी अत्यंत प्राचीन इतिहास का द्योतक नहीं है और पुराणों में यह प्राचीन कथा इसी प्रस्तरांकित इतिहास की प्रतिध्वनि नहीं है? हम तो यों कह सकते हैं कि आदि युग में मत्स्यावतार द्वारा शंखासुर का विनाश ही प्रस्तरों के पट्ट पर चित्रित है। मछलियों के भी युगों बीते और हाथ पाँव उंगलियोंवाले स्थल के ऊपर रेंग सकनेवाले परंतु जलस्थल दोनों में रहनेवाले जीव बढ़े और जगत में फैल गये। आजकल का कछुआ और मेंढक इन का प्रतिनिधि है। पुराणों में कच्छप अवतार भी मत्स्यावतार के बाद कहा जाता है और विकास के अत्यंत प्राचीन इतिहास की प्रतिध्वनि-सा जान पड़ता है। उभयचारियों के भी बढ़न्ती के युग आये और इन्हों ने महत्ता का उपभोग किया, फिर बीत भी गये। अब महाविशाल व्यालों और उरगों की बारी आयी। यह पक्ष-हीन और सपक्ष दोनों प्रकार के हुए। इन की ऐसी बढ़ती हुई कि संसार को इन्हों ने घेर लिया। कद्रू के पुत्र उरगों ने सूर्य के घोड़ों को घेरकर काला कर दिया और पक्षियों के राजा की माता को दासी बनाया। विनतापुत्र गरुड़ ने अपनी माता को बंधन से छुड़ाया और उरगों का विनाश किया। यह पौराणिक कथा भी प्रतिध्वनि ही जान पड़ती है। पृथ्वी के चंडासुर उरग अंतिम उरग थे जिन से कि अंडज पक्षी और पिंडज प्राणी उत्पन्न हुए और फैले अनुमान किये जाते हैं। आरंभ में विषमता का होना अस्वाभाविक नहीं है। उस समय पिंडजों में अत्यंत भयानक जंतु और अंडजों में हिंसक पक्षी अवश्य हुए होंगे। अपने से कम बलवान उरगों का इन दोनों ने मिलकर विनाश किया होगा। उस समय के विकराल व्याल जो मैदान में आकर लड़े होंगे अंत में जीवन के रगड़े में नष्ट हो गये होंगे। वर्त्तमान उरग और व्याल वह दुर्बल और छोटे बचे-खुचे प्राणी हैं जिन्होंने बिलों में और खोहों में छिपकर अपनी रक्षा की। पुराणों में जटायु, गरुड़, संपाति आदि बलवान पक्षियों की जैसे चर्चा है वैसे ही नृसिंहावतार, शार्दूल, दिग्गज, महावराह आदि स्थलचरों की भी चर्चा है। कालक्रम से सृष्टि के संबंध में यह चर्चा भी पुराणों में इसी क्रम से आती है। यह भी किसी अत्यंत प्राचीन इतिहास की प्रतिध्वनि है। इन घटनाओं के भी युगों-पर-युग बीत गये। अंत में मनुष्य का आविर्भाव हुआ। यह पहली मनुष्य जाति अवश्य ही आदिम जाति थी। मानवी सभ्यता का इसी ने आरंभ किया होगा। और सब पिंडजों के बहुत ऊँचे विकास के समय में आदिम मनुष्य का उदय हुआ होगा। उस समय के दानवाकार प्राणियों के सामने यह वामन रूप में आया और पृथ्वी पर तीन पग मात्र पर अपना अधिकार जमाकर बहुत ही शीघ्र सारे संसार में फैल गया होगा। जंबूद्वीप या एशिया पर पूरा अधिकार करके असुरों को पाताल भेज दिया होगा। पुराणों में वामनावतार की कथा शायद इसी बात का परिचय देती है। प्रस्तरों में लिखे इतिहास से यह भी पता चलता है कि प्रत्येक महायुग के अंत में हिमप्रलय होता रहा है। और मनुष्य की जाति में भी इन प्रलयों के कारण बारंबार परिवर्त्तन होता रहा है। सब से पिछली जाति के मनुष्यों का विकास जिस ढंग पर होता आया है वह हम कुछ अधिक विस्तार से जानते हैं। बहुत पास के समय में आकर जब हमारे साहित्य का युग

आरंभ होता है तब से लेकर आज तक तो मनुष्य के विकास का इतिहास दर्पण की तरह हमारे सामने है। हाल के इतिहास से तो यह बिल्कुल निर्विवाद रूप से सिद्ध है।*

हम यह भी जानते हैं कि विकास की लहर कभी बहुत ऊंचे उठती है और कभी अत्यंत नीचे चली जाती है। जिन प्राणियों का विकास अपनी हद को पहुंच गया उन का ह्रास और नाश भी हो गया। बड़े-बड़े ऊंचे विकास के प्राणी दैत्य और असुर उड़नेवाले शार्दूल किसी समय में इस भूतल पर भरे हुए थे जो आज बिल्कुल नष्ट हो गये हैं और जिन्हों ने अपने पीछे अपना स्थान लेनेवाला नहीं छोड़ा है। इसी प्रकार यह भी असंभव नहीं है कि वर्त्तमान मनुष्य जब अपने विकास की पराकाष्ठा को पहुंच जाय तो उस का भी ह्रास हो और वह भी नष्ट हो जाय।

बड़ी-से-बड़ी धर्म-घड़ी में भी हमें यह नहीं देख पड़ता कि मिनट की सुई घूम रही है, फिर भी हम जानते हैं कि घंटे भर में वह एक चक्कर पूरा करती है और घंटेवाली सुई बारह घंटे में एक चक्कर पूरा कर लेती है। यदि सौ बरस में एक चक्कर पूरा करने का प्रबंध हो तो देखनेवाले को तो कई बरस तक ऐसा जान पड़ेगा कि मानों सूई चली ही नहीं। परंतु सुई की चाल ठीक-ठीक नियमित होगी। विकास की गति अत्यंत धीमी है। भेद दिखाई पड़ने लायक भारी-भारी परिवर्त्तन लाखों और करोड़ों बरसों में अत्यंत धीरे-धीरे होते हैं। इसीलिए विकास की कोई गति साधारण दृष्टि में नहीं आती, परंतु तो भी उस के अनेक चिह्न हम नित्य देखते हैं और प्रकृति की लीला, विचित्रता या खेल समझकर रह जाते हैं। जैसे एक कोई चतुर बौना या बालक गायनाचार्य या शतावधानी लड़का या बे-पूंछ की बिल्ली या भूमि तक लटकनेवाले अयाल का घोड़ा या सफ़ेद कौवा या दूध देनेवाला बकरा इत्यादि जब हम देखते हैं तो इन नयी चीजों को प्रकृति का खेल या भूल समझ लेते हैं। परंतु यह अनोखे रूप असल में प्रकृति के वह परिवर्त्तन हैं जिन्हें वह विकास के कार्यालय में कच्चे माल की तरह काम में लाती है। जब हम ऐसी अनोखी चीज़ देखते हैं तो वस्तुतः विकास के अटूट भंडार के द्वार पर खड़े होते हैं।

विकास के काम में तो मनुष्य स्वयं बड़ी सहायता पहुँचाता है। अमेरिका के लूथर बरबंक ने नागफनी के कांटे गायब कर दिये और चेकों की जगह मीठा गूदा पैदा कर दिया जिस से बरबंकी नागफनी पशुओं के खाने-योग्य काम की चीज हो गयी। सब लोग जानते हैं

***मुसलिमों के साहित्य में भी विकासवाद का पता लगता है। जिस मसनवी-मानवी को जुबाने पहलवी में कुरान की इज्जत दी जाती है उस में यह शेर हैं—**

आज़मूदम् मर्गेमनूदर् ज़िंदगीस्त। चूंहेमज़ीं ज़िंदगी पायिंदगीस्त।

अज़ जमादी मुर्दमो नामी शुदम्। अज़नुमा मुर्दम वो हैवानी शुदम्।

मुर्दमज़ हैवानिओ मर्दुम् शुदम्। पस्‌चिरा तर्समज़े मुर्दन् गुम शुदम्।

तात्पर्य यह कि खनिज से उद्भिज्ज, उद्भिज्ज से पशु और पशु से मनुष्य-शरीर में जीव का क्रम-विकास होता आया है। मरना वस्तुतः विकास में एक क़दम आगे बढ़ना है

कि बेर में कितनी कड़ी और बड़ी गुठली होती है और ज़रदालू या खूबानी का गूदा विशेष स्वादवाला होता है, परंतु यह फल बेर से बड़ा है। बरबंक ने इन दोनों का संयोग कराकर एक नये फल की उत्पत्ति की, जिस का नाम (प्लम-काट) "बेरानी" रक्खा। इस में गुठली गायब है और गूदे में बहुत ही अपूर्व स्वाद है। इसी प्रकार साठ-सत्तर बरस के भीतर अनेक नये प्रकार के फल, फूल, बीज और पौधे बन गये या बनाये गये।

संवत १९५६ के आरंभ में वसंत ऋतु में कनाडा में ओटावा नगर के पास डाक्टर चार्ल्स साउंडर्स ने अनेक उत्तम बीजों में से गेहूं का एक सर्वोत्तम बीज चुनकर बोया। इस से जो गेहूं के बीज हुए उन में से उत्तम चुन लिये और अगली फसल में उन से और अच्छे बीज चुनकर बोये। इस प्रकार धीरे-धीरे बढ़ाते-बढ़ाते चौदह बरस में इसी जाति के गेहूं की फसल बीस करोड़ मन हुई। संवत् १९७४ में तीस-करोड़ मन की पैदावार हुई। यह मार्किस गेहूं कहलाता है। इस गेहूं का विकास एक पीढ़ी के भीतर ही हुआ है।

पुराणों में कथा है कि विश्वामित्रजी ने अपने तपोबल से नयी सृष्टि की रचना शुरू की। गेहूं आदि कई तरह के अनाज और नारियल आदि कई तरह के फल उन्हीं के बनाये हुए कहे जाते हैं। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि मनुष्य ने ही गेहूं को अपने जंगली रूप से वर्तमान रूप दिया है। कहते हैं कि पहले फल, मूल और छोटे-छोटे जानवरों पर आदमी गुज़र करता था। जंगली घासों के दानों पर उस की दृष्टि गयी। उस ने कुछ खाये और कुछ गिराये जिन से कि फिर वही घास उपजी। यह देखकर उस ने बीजों को उगाना शुरू किया। गेहूं जव आदि अनाज धीरे-धीरे खेती की चीज़ बन गये और उन का वर्तमान रूप विकास का फल है। मनुष्य ने विकास में केवल पौधों को ही मदद नहीं दी। उस ने पालतू जानवरों का भी विकास कराने में सहायता पहुंचायी। उस के पालतू जानवरों का जंगली रूप कुछ और था परंतु मनुष्य के साथ रहते-रहते उन का भोजन रहन-सहन और स्वभाव बहुत कुछ बदल गया। घोड़ा हरिण की जाति का पशु है। कुत्ता भेड़िये की जाति का पशु है और बिल्ली जो शेर की मौसी कहलाती है चीते की जाति का पशु है, परंतु इन में कितना भारी अंतर पड़ गया है।

जब किसी चर या अचर प्राणी का विकास होता है तो उस में दो बातें अवश्य देख पड़ती हैं। मूल रूप के कुछ गुण और आकार विकसित प्राणी में मौजूद होते हैं अर्थात् कुछ बातों में समानता होती है। साथ ही परिस्थिति के अनुसार विकसित रूप में जिन बातों की आवश्यकता होती है वह पैदा हो जाती है और नयी परिस्थिति में मूल की जो बातें दोष की तरह गिनी जायंगी उन का अभाव हो जाता है। मूल से विकसित में यही अंतर होता है। विकास में इसी प्रकार समानताओं और अंतरों का काम होता रहता है। पिंडजों के अंगों में इंद्रियों में और विशेष रूप से ठठरियों में समानता होती है। विकास का क्रम ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है त्यों-त्यों मूल से समानता भी घटती जाती है और अंतर भी बढ़ता जाता है। ह्वेल और बंदर दोनों पिंडज हैं परंतु दोनों के कंकालों में बहुत अंतर पड़ गया है।

विकास की ऐसी अवस्था भी अंत में आ जाती है जिस में मूल से समानता अत्यंत कम होती है और अंतर अत्यधिक। परंतु सभी दशाओं में परंपरा को स्थिर रखना और

ऐसे उपाय करना कि अनुवर्त्तन की अविच्छिन्न धारा जारी रहे, प्रकृति में विकास का सिद्धांत है।

२—रक्षा की ओर परंपरा की गति

चराचर में गति की दिशा वही पायी जाती है जिस में विकास की परंपरा की रक्षा रहे। पौधे धरती फोड़कर बाहर इसी लिये निकलते हैं कि उन की प्राणशक्ति को बढ़ानेवाला सूर्य का प्रकाश वायु और बाहरी आर्द्रता मिलती रहे। छोटे-से-छोटे कीड़े मुख्यतः इसी लिये उड़ते या दौड़ते रहते हैं कि उन को भोजन मिले और उन की रक्षा रहे। इसी प्रयत्न का फल है कि हर एक प्राणी को उस की परिस्थिति के अनुकूल गति के सुभीते और साधन मिले हैं। पौधों की गति नीचे से ऊपर की ओर होती है, बहुत धीमी होती है और परिमित होती है। लताएं सभी ओर को चलती हैं और अपनी रक्षा के सुभीते बराबर देखती रहती हैं। पक्षियों को उन की आवश्यकता के अनुसार सभी तरह की स्थल और वायु-मंडल की गतियां प्राप्त हैं। इसी तरह जलचर और उभयचारियों को भी उन की परिस्थिति के अनुसार गति के साधन मिले हैं। ज्यों-ज्यों किसी एक क्षेत्र से निकलकर दूसरे क्षेत्र में या एक परिस्थिति से निकलकर दूसरी परिस्थिति में प्राणी जाता है त्यों-त्यों प्रकृति को उस की गति के और जीवन-रक्षा के साधनों में उचित परिवर्त्तन करना पड़ता है। परिस्थिति में परिवर्त्तन होने का प्रभाव कभी प्राणी के लिये इष्ट पड़ता है और कभी अनिष्ट। किसी पौधे को हम एक जगह से दूसरी जगह उगाना चाहें तो वह पोषण की अनुकूलता न पाकर नष्ट हो जाता है। परंतु जब हम ऐसी स्थिति में उसे ले जाते हैं जो उस के स्वभाव के लिये सब तरह से अनकूल है तो वह साधारणतया केवल बढ़ता ही नहीं है बल्कि विकास के मार्ग में अग्रसर हो जाता है। गरम देशों के पौधे ठंडे देशों में या ठंडे देशों के पौधे गरम देशों में इसीलिए नहीं होते। इस के साथ यह भी कारण है कि पौधों की गति अत्यंत मंद है। आवश्यकता पड़ने पर वह अपने देश को बदल नहीं सकते। जो प्राणी आवश्यकतानुसार एक स्थान से दूसरे स्थान को चले जा सकते हैं वह जल-वायु की प्रतिकूलता देखकर स्थान बदल देते हैं। जब जाड़ा पड़ने लगता है तब पक्षियों के झुंड-के-झुंड उत्तराखंड से उड़कर दक्षिण की ओर जाते हुए दिखाई पड़ते हैं। इन पक्षियों के लिए संसार में जाड़ा कभी पड़ता ही नहीं। पिंडज प्राणी बिलों में और खोहों में रहकर अपनी रक्षा कर लेते हैं या स्थान बदल देते हैं। जब जल सूख जाता है तो अक्सर बहुत से जल के प्राणी कीचड़ के भीतर मूर्च्छित दशा में पड़े भी रहते हैं। परंतु इन प्राणियों में दूरदर्शिता भी देखी जाती है। जब जल घटने लगता है तब यह अधिक बड़े जलाशय की ओर चले जाते हैं।

३—बामी मछली की गति से उदाहरण

गर्मियों के आरंभ में महासागर में गिरनेवाली नदियों की ओर बामी मछली के बच्चों के झुंड के-झुंड नदी के बहाव के विरुद्ध बढ़ने लगते हैं। यह-चार पांच

अंगुल से ज्यादः लंबे नहीं होते और एक सूजे से ज्यादः मोटे भी नहीं होते। इन्हें धार के विरोध में ही तैरते और बढ़ते जाने में सुख होता है। यह सीधे जाते हैं। परंतु केवल दिनभर चलते हैं। ज्यों ही सूरज डूबता है त्यों ही करारों या चट्टानों के भीतर छिपकर रात बिता देते हैं और दिन निकलते ही फिर यात्रा करने लगते हैं। चलते-चलते यह नदी के ऊपरी हिस्सों में पहुँच जाते हैं। और छोटी-छोटी नदियों और चश्मों में भी चले जाते हैं जिस से कि उस बड़ी नदी का मेल होता है। इस तरह वह कभी-कभी नालियों में चहबच्चों में या गढ़्ढों में भी पहुँच जाते हैं। जहां नदी और गड्ढों में बराबर जल का प्रवाह रहता है, वहां यह रहते खाते-पीते हैं और बरसों तक बढ़ते रहते हैं। बहुत-सी छोटी बामी मछलियों के बहुतायत होने के कारण यही होता है। नर की पूरी बाढ़ में पांच छः बरस और मादा की पूरी बाढ़ में छः से आठ बरस तक लग जाते हैं। यह मछलियां जब हाथ सवा हाथ से ज्यादः लंबाई को नहीं पहुँची रहतीं तभी उन में बेतरह चंचलता आ जाती है। उन के शरीर पर एक चांदी सी चमकती खोल चढ़ जाती है और आंखें बड़ी हो जाती हैं। यह उन की जवानी की अवस्था है जिस में वह संतान पैदा करती हैं। वह अब समुद्र की ओर लौटती हैं। कभी-कभी इन्हें गड्ढे से नदी को जाने में रातों-रात आर्द्र घास के मैदानों को घिसट-घिसट कर तय करना पड़ता है। वह दिन में नहीं चलतीं। अंत में समुद्र के गहरे कुंडों में ही जाकर दम लेती हैं। वहीं अंडे देती हैं। उन के तुरंत के दिये हुए अंडों का तो आज तक पता नहीं लगा है। परंतु बच्चे चाकू के पतले फल की तरह पारदर्शी देखे गये हैं। केवल आंखों से ही उन की पहचान हो सकती है। यह जल में डूबते-उतराते कई महीनों में चार-पांच अंगुल लंबे हो पाते हैं। धीरे-धीरे यह कुछ सुकड़ जाते हैं और चपटे से गोल हो जाते हैं और तब फिर अपनी माता-पिता की तरह अपनी लंबी यात्रा पर चल देते हैं। यह यात्रा कभी-कभी तीन-तीन हजार मील की होती है। बामी मछलियों को इस तरह एक जगह जन्म लेना पड़ता है और दूसरी जगह उन का पालन-पोषण होता है। दोनों परिस्थितियों में काफी अंतर होता है। अनुकूल परिस्थिति को पाने के लिए इतनी दूर-दूर की यात्रा करनी पड़ती है।

जिस तरह जल, स्थल और वायु की परिस्थितियां भिन्न हैं उसी तरह उन में रहनेवाले प्राणियों के भी भिन्न रूप और स्वभाव और सुभीते हैं। इन्हीं परिस्थितियों के अनुसार प्राणियों में परिवर्त्तन होता रहता है और देश-काल के अनुसार भेद पड़ता जाता है।

४—मनोविकास

चर प्राणियों में साधारणतया आरंभ से नैसर्गिक बुद्धि एक प्रकार से ही देखी जाती है। इस बुद्धि के लिए किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। नये पैदा हुए बच्चे को सांस लेना या दूध पीना कोई नहीं सिखाता परंतु जब वह चलना चाहता है तो बड़े जतन से उसे सीखने की जरूरत होती है। सांस लेने की क्रिया उस के लिए स्वाभाविक है और दूध पीने के लिए प्रयत्न करना उस की नैसर्गिक बुद्धि है। वंश-परंपरा से नाड़ी और

मासपेशियों की सेलों का ऐसा काम बांधा गया है कि ज्यों ही आवश्यकता पड़ती है यह सब काम करने लग जाते हैं। यह स्वाभाविक बुद्धि साधारण स्वाभाविक दशा में खूब काम करती है, परंतु उस के बदलते ही गड़बड़ा भी जाती है। यह बात जानी हुई है कि कोयल कभी अपने लिए घोंसला नहीं बनाती। उसे जब अंडे देने होते हैं तो कौवे के घोंसले में जिसे वह पहले से निश्चित कर रखती है घुस जाती है और कौवे के अंडे को उठा लेती है और अपना अंडा उसी जगह डाल देती है। यह क्रिया बहुधा कौवे के सामने की जाती है।* तो भी कौवे की नैसर्गिक बुद्धि कोयल के अंडों की रक्षा और उस में से निकले हुए बच्चे का पोषण कराती है। कछुए के अंडे जो बालू में दिये जाते हैं जब फूटते हैं तब बच्चे स्वभाव से ही जल की ओर रेंग जाते हैं। घड़ियाल बालू के नीचे हाथ-डेढ़-हाथ पर अपने अंडे गाड़ देते हैं। जब अंडा फूटनेवाला होता है तो भीतर से बच्चा पतली आवाज़ से रोता है इस पर तुरंत उस की माता जो बराबर चौकसी में रहती है बच्चों को खोदकर निकाल लेती है। यह सब उन की नैसर्गिक बुद्धि की प्रेरणा है।

यह बात हम कैसे जानें कि प्राणी का अमुक काम खांसने और छींकने की तरह स्वाभाविक प्रेरणा से है और उस के पीछे बुद्धि और विवेक का काम नहीं हो रहा है? इस की विधि प्रोफेसर लायड मार्गन ने यह बतायी है कि हम को बड़े यत्न से किसी घटना का ठीक-ठीक वर्णन करना चाहिए और उस में अपने विचार को जरा भी दखल न देना चाहिए। और यदि किसी नीचे दर्जे की शक्ति से उस की प्रेरणा सिद्ध की जा सके तो ऊंचे दर्जे की युक्ति को उस का प्रेरक मानना नहीं चाहिए। इस नियम पर चलते हुए कभी हम अनुदार भले ही समझे जायं और संभवतः सूक्ष्म बुद्धि की किसी क्रिया को पहचानने में चूक भले ही जायं परंतु तो भी हमारे इस तरह के दस निष्कर्षों में से नौ तो अवश्य ही ठीक निकलेंगे।

मछलियों की आंखें पलकों के न होने से कभी बंद नहीं होतीं। कान के छेद बंद होते हैं। कान से शायद वह सुनने का काम नहीं लेतीं बल्कि अपने शरीर को समतोल रखने का काम लेती हैं। उन का दिमाग सब से कम विकसित होता है। परंतु हाथ पांव का तो एकदम अभाव है। उभयचारियों में यह पहले-पहल देख पड़ते हैं। व्यालों और उरगों में ज्ञान और कार्य की इंद्रियों का अच्छा विकास मिलता है। ज्यों-ज्यों हम विकास की श्रेणी में ऊंचे उठते हैं त्यों-त्यों संतान की रक्षा और वात्सल्य प्रेम के भावों को बढ़ता हुआ पाते हैं।

सांप कछुए आदि कोसों की दूरी तय करके अपने स्थान पर पहुंच जाया करते हैं, और अपने पोसनेवाले को पहचानते हैं। यह नैसर्गिक बुद्धि की बात नहीं है। इस में सीखनेवाली बुद्धि स्पष्ट रूप से काम कर रही है। कबूतर चिट्ठियां पहुँचाता है। बया खरे-

---

* इस नैसर्गिक बात को हमारे देश के लोग अनादि काल से जानते हैं, इसीलिये कोयल को "काकपाली" अर्थात् कौए के द्वारा पाली हुई भी कहते हैं।

खोटे सिक्के पहचानता है, कुएं से पानी निकालता है और कई तरह के खेल दिखाता है। कुत्ते अंडे और अखबार खरीद लाते हैं। इस तरह जानवरों में सीखकर काम करने की क्षमता उन की बुद्धि के विकास का प्रमाण देती है।

नैसर्गिक बुद्धि से प्राणी जो काम करता है उस में सदा सफल ही नहीं होता। बहुत बार उस से चूक भी हो जाती है। भूल-चूक से सीखने की क्रिया साधारण बुद्धि को उत्तेजित करती है। प्रोफेसर लायड मार्गन ने कुछ मुर्गी के अंडे अपनी प्रयोगशाला में कृत्रिम विधि से सेकर बच्चे पैदा किये। उन्हों ने यह देखा कि अपनी माँ की बोली की उन को खबर न थी। वह प्यासे थे और अँगुली के सिरे पर लगे हुए पानी को चूस रहे थे। परंतु चिलमची भरे पानी में चलते हुए भी वह अपनी नैसर्गिक बुद्धि से पानी को पहचान न सके। उन्हों ने संयोगवश अपने पांव की उँगलियों में चोंच मारी तब उन्हें पानी का पता चला और चोंच ऊपर आकाश की ओर जब उठाया तब पहले-पहल अपने से पानी पीना सीखा। वह कीड़े खाते थे परंतु लाल ऊन के टुकड़ों को कीड़ों के धोखे से उन्हों ने चोंच में भर लिया। पक्षी बड़ी जल्दी सीख लेते हैं। उन में साधारण बुद्धि का विकास जल्दी होता है। शायद चींटियां, दीमकें और भिड़ और मधुमक्खियां इतनी जल्दी सीख नहीं पातीं। कौवों को देखा गया है कि अपने खाने से बची हुई रोटियां किसी खपरे के नीचे छिपा देते हैं कि उन के साथी या और पक्षी उठा न ले जायँ। कई दिनों के बाद अपनी रखी हुई रोटी कौवा खपरे उलट-उलटकर खोजकर निकाल लेता है। इस तरह कौए में स्मरण शक्ति है और भूल-चूक से अपने को सुधारने और सीखने की प्रवृत्ति है। चिड़ियों के पीने के लिए इस पुस्तक का लेखक अपने घर नाँद में पानी रखा करता था। उस में अक्सर रोटी के गले हुए टुकड़े देखता था। कई बार देखा कि कौवा सूखी रोटी लाकर नाँद में डाल देता है और जब गलकर नरम हो जाती है तब निकालकर खाता है। जब कौवा देखता था कि नाँद में पानी बहुत है तब रोटी नहीं डालता था। कम पानी होने पर भी कई बार रोटी निकाल न सका। यह बातें नैसर्गिक बुद्धि की नहीं हैं। इस में विचार का विकास स्पष्ट दिखाई देता है और अर्जित बुद्धि से काम लिया जा रहा है। कौवा तो पक्षियों में बड़ा चतुर समझा जाता है। परंतु बया कामों के सीखने में बहुत से पक्षियों से कहीं ज्यादा होशियार पाया गया है। पिंडजों में घोड़े हाथी आदि पालतू जानवरों की समझदारी और सीखने की शक्ति की कहानियाँ इतनी मशहूर हैं कि उन पर यहाँ विस्तार करने की ज़रूरत नहीं है। विकास के सिलसिले में ज्यों-ज्यों हम ऊंचे उठते हैं त्यों-त्यों नैसर्गिक बुद्धि पर अवलंबन घटता हुआ पाते हैं और भूल-चूक से सीखने और अर्जित बुद्धि के विकास-क्रम को बढ़ता हुआ पाते हैं। सीखे हुए काम में कुशलता, विचार-संग्रह और बुद्धि का जाग्रत रहना यह बराबर बढ़ता जाता है। खेलों के द्वारा भी सभी प्राणियों का मन सदा परीक्षा में लगा रहता है और मनोरंजन में बढ़ती हुई समझ-बूझ का प्रमाण मिलता है।

जब हम वानर जाति तक पहुँचते हैं तब देखते हैं कि इंद्रियां अधिक तीव्र हो गयी हैं। हाथ में ज़्यादा होशियारी आ गयी है। हर काम में जल्दबाजी है और चंचलता की तो हद है। सीखने में बड़ी तेजी है। भूल-चूक से लाभ उठाना और पूरी-पूरी नकल करना

वानरों की विशेषता है। वन-मानुस में स्वाभाविक और शिक्षा-ग्राहिणी अर्जित बुद्धि पूरा विकास पा चुकी है परंतु उस के पास साधन काफ़ी नहीं हैं। जिन साधनों की उस में कमी
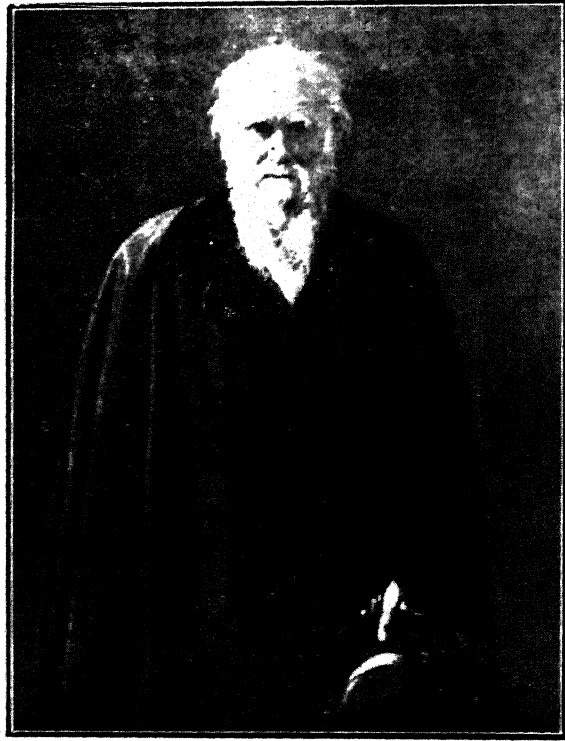
चित्र ३६—चार्ल्स डारविन [सं० १८६६-१९३९ वि०]

[परिषत् की कृपा

है वह मनुष्य-योनि में आकर पूरे होते हैं। मनुष्य का दिमाग़ सब प्राणियों के दिमाग़ से बड़ा है।

दसवां अध्याय

विकासवाद की वर्त्तमान स्थिति

१—डारविन के सिद्धांत

इस विज्ञान का आरंभ डार्विन से हुआ है। परंतु डार्विन के समय से लेकर अब तक इस विज्ञान का भी विकास होता आया है। पाश्चात्य वैज्ञानिक संसार ने इस विज्ञान के सिद्धांतों को निर्विवाद मान लिया है। डार्विन के सिद्धांतों को थोड़े शब्दों में हम यहां देते हैं।

पहला सिद्धांत यह है कि परिवर्त्तन जीवन की विशेषता है। यह बात साधारणतया देखी जाती है कि संतान का रूप रंग और स्वभाव थोड़ा-बहुत माता-पिता और परिवार के और लोगों से भिन्न हुआ करता है। इन में से कुछ भेद ऐसे हैं जिन से संतान को अधिक सफलता होती है। भोजन पाने में, शत्रुओं से बचने में, ठीक जोड़े के मिल जाने में, आने-वाली संतान को आगे बढ़ाने में और इसी तरह की और बातों में उसे अधिक सफलता होती है। जिन में अनुकूल परिवर्त्तन हुए हैं उन में उन लोगों की अपेक्षा अधिक सफलता होगी जिन में या तो प्रतिकूल परिवर्त्तन हुआ है या कोई परिवर्त्तन ही नहीं हुआ है।

दूसरा सिद्धांत यह है। यदि अनुकूल परिवर्त्तनवाली व्यक्ति अपनी उत्तमता का सुफल पा जाय और दूसरी अपनी हीनता के कारण विकास की होड़ में रुक जाय, तो इस का प्रभाव वंश, जाति या वर्ग के चरित्र पर पड़ता है, परंतु साथ ही यह आवश्यक है कि क्रम से आनेवाली पीढ़ियों में नयी विशेषताएं इस तरह लग जाती हैं कि वह वंशानुगत बन जाती हैं। यदि अनुकूल विशेषताओं वाली व्यक्तियां बराबर लाभ ही उठाती रहें और उन के गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को प्राप्त होते रहें तो वही गुण सारी जाति के हो जायँगे। जिन में प्रतिकूल परिवर्त्तन होते हैं या जिन में परिवर्त्तन का प्रभाव रहता है वह धीरे-धीरे निकाल डाले जायँगे और अंत में मिट जायँगे।

तीसरा सिद्धांत यह है कि इस तरह छँटने के लिए एक छलनी चाहिए। यह छलनी

जीवन का रगड़ा है। प्राणियों का जीवन बहुत-सी बाधाओं से घिरा हुआ है और उस के सामने नित्य नयी-नयी कठिनाइयां आती रहती हैं। आबादी घनी हो जाया करती है। परिस्थितियां बदला करती हैं। जिस प्राणी में प्राण-शक्ति अधिक है वह ढकेलकर आगे बढ़ता है। भोजन के लिए, ठहरने की जगह के लिए, जोड़े के लिए और परिवार की भलाई के लिए, निदान जरूरी चीजों के लिए और आराम की चीजों के लिए भी हर प्राणी के जीवन में बड़ा कठिन रगड़ा है। "जीवो जीवस्य जीवनम्" अथवा—

जीवै जीव अहार, बिना जीव जीवै नहीं।

इस नीति के अनुसार एक प्राणी दूसरे प्राणी को खा जाता है। हर खानेवाले के लिए एक दूसरा खानेवाला मौजूद है। इस के सिवाय सर्दी और गर्मी का, आंधी और पानी का, सूखे और बाढ़ का हर एक को मुकाबला करना पड़ता है। इस जीवन के रगड़े में जो अपनी रक्षा कर सकता है वही बच जाता है और अंत में वंश चलाता है। इसी ढंग पर परंपरा के लिए प्रकृति चुनाव करती रहती है।

डार्विन के सिद्धांत थोड़े में यही हैं। इन सिद्धांतों का डार्विन के बादवाले विज्ञानियों ने विकास किया है।

२—डार्विन के सिद्धांतों का विकास

विकासवादी के सामने तीन बड़े प्रश्न आते हैं। एक प्रश्न तो यह है कि परिवर्त्तन में जो नयी बातें देखने में आती हैं उन का मूल्य क्या है। दूसरा प्रश्न यह होता है कि माता-पिता के गुण संतानों में किन नियमों के आधार पर पाये जाते हैं। तीसरा प्रश्न यह है कि चुनाव की वह कौन-सी रीतियां हैं जो दी हुई कच्ची सामग्री पर काम करती हैं और वंश की रक्षा का कारण होती हैं।

यह और जगह बताया जा चुका है कि समस्त शरीरों की उत्पत्ति बहुत सूक्ष्म सेलों से आरंभ होती है। इन्हीं सेलों में वंश परंपरा के सभी गुणों के प्रतिनिधि सेल मौजूद रहते हैं। ज्यों-ज्यों शरीर बढ़ता है वंशानुगत गुणों और स्वभावों का विकास होता रहता है। वंशानुगत समता का कारण यही है। परंतु परिवर्त्तन होना भी प्रकृति का नियम है। इसलिये किसी-किसी विशेष गुण या स्वभाव के सेल कभी-कभी किसी प्राणी में घट जाते हैं, किसी में बढ़ जाते हैं, किसी में उन का सर्वथा अभाव हो जाता है। साथ ही माता-पिता के सजातीय या विजातीय होने में एवं रक्त के दूर और पास के संबंध में ऐसे भेद पड़ जाते हैं कि किसी-किसी नये सेल का संयोग हो जाता है अथवा कोई पुराना सेल एक दम छूट जाता है। इन्हीं और इसी तरह के कारणों से विविधता उत्पन्न होती है। कोई नया शगूफ़ा खिल जाता है। कोई नयी विशेषता आ जाती है। कोई विशेष भेद पड़ जाता है। कहीं प्रकृति की नयी लीला देखने में आती है। कहीं एक गुण घटा तो दूसरा गुण बढ़ा। इस प्रकार की विविधता संतान में उत्पन्न हो ही जाती है। जहां इस तरह का नया परिवर्त्तन नहीं होता, वहां किसी तरह का विकास भी नहीं होता।

वंश-परंपरा सातत्य का एक साधन है। प्रत्येक व्यक्ति किसी की संतान है और किसी का पिता है। परंतु यह आवश्यक नहीं कि यह सातत्य हर बात में अगली पीढ़ी में अवश्य दिखाई पड़े। किसी व्यक्ति की कुछ विशेषताएं वंशानुगत होती हैं और कुछ नहीं भी होतीं। दीर्घायु वंश-परंपरा में चलती है। परंतु कविता या कला-कौशल का वंश-परंपरा में चलना आवश्यक नहीं है। गूंगी बहरी पीढ़ी के बाद वैसी ही गूंगी बहरी पीढ़ी हो सकती है। परंतु घोर काले यूरेशियन की लड़की गोरी भी हो सकती है। किसी कारण से विकास रुक भी जाय तब भी वंश-परंपरा अवश्य चलेगी। वंश-परंपरा के बिना विकास असंभव है। वंश-परंपरा का यह अर्थ है कि पहले के लाभों को पूंजी में बदला जा सकता है। परंतु व्यक्ति के हिसाब में टोटा पड़ने से सारी जाति दिवालिया नहीं हो जाती। माता-पिता दोनों काने हों तब भी उन का बेटा काना न होगा। उस के सुंदर-सुंदर दो आंखें होंगी।

व्यक्ति में जो विविधता और परिवर्त्तन देखा जाता है वह उस के विकास के ऊपर प्रकृति के प्रयोग हैं। आगे की उन्नति के लिए यही कच्ची सामग्री है। यह कच्ची सामग्री मिले और वंश-परंपरा के द्वारा जाति-रक्षा मिले तो एक चीज और बाकी रहती है जिस के बिना विकास नहीं होता। यह है छानना या छांटना। कच्ची सामग्री बराबर सामने आती है तो उस में छांट-छांट कर अच्छी चीजें चुन ली जाती हैं और आगे उन्हीं को बढ़ाया जाता है। जो निकम्मी ठहरती हैं, निकाल दी जाती हैं। वैविध्य या नयापन वह चीज है जिस की जांच की जाती है। प्रकृति में जीवन का संघर्ष ही वह छलनी है जिस के द्वारा योग्य-तम की छँटाई होती है। छँटकर जो योग्यतम होता है वंश-परंमपरा के द्वारा रह भी जाता है।*

३—विविधता और विकार में भेद

यह बात डार्विन ने भी देखी कि "विविधता" एक निश्चित मार्ग में चलती है। किसी ऐसी विशेषता की जिसे आगे चलाने की आवश्यकता नहीं है, परंपरा नहीं बंध पाती। अथवा वह विविधता कई पीढ़ियों के बाद देख पड़ती है। डार्विन को यह बात नहीं मालूम थी कि मेरा सम-सामयिक मेन्डेल भी इसी विकास-विषयक खोज में लगा हुआ है। पादरी ग्रेगर मेंडेल ने यह सिद्ध किया कि जब शुद्ध लंबी मटर और शुद्ध बौनी मटर का जोड़ा मिलाया जाता है, तो उस से सब लंबी मटर ही निकलती है। लूथर बरबंक ने तो विकास के इन नियमों से पूरा लाभ उठाकर अनेक नये फल उपजाये और कांटे आदि दोष दूर किये। मार्किस गेहूं की कथा हम अन्यत्र कह चुके हैं। अनेक लोग पालतू जानवरों में इसी विधि को बरतकर बहुत-कुछ विकास कर रहे हैं।

---

* महाभारत में योग्यतमावशेष के नियम की चर्चा शांति-पर्व में की गयी है, जहां तिमिंगिलों अर्थात् छोटी मछलियों को निगल जानेवाली बड़ी मछलियों का उदाहरण दिया गया है।

बाहरी परिस्थिति के प्रभाव से भी व्यक्तियों में और कभी-कभी वंश-परंपरा में भी कुछ परिवर्त्तन आ जाते हैं परंतु यह वैविध्य नहीं है। इसे तो "विकार" समझना चाहिए। वैविध्य तो प्रकृति के चुनाव या छंटाई का फल है जो भीतरी परिवर्त्तन के कारण परंपरा के रूप में दिखाई दे रहा है। परंतु विकार तो बाहरी परिस्थिति के कारण व्यक्ति वा जाति में आ जाते हैं। यहां विकास और वैविध्य पारिभाषिक हैं। बहुत व्यायाम करने से या नाचने आदि से मांसपेशियां बहुत बढ़ जाती हैं आदमी भारी और बड़ी डील-डौलवाला हो जाता है। प्रकाश में रहनेवाले जीव यदि बहुत काल तक अंधकार में रक्खे जायं तो उन की आंखें खराब हो जाती हैं, अंधे हो जाते हैं। ऊर्ध्वबाहु तपस्वियों की बाहें सूखकर बेकार हो जाती

चित्र ६७—ग्रेगर मेंडेल [सं० १८७६—१९४१ वि०]

हैं। गोरा चिट्टा युरोपीय धूपवाले गरम देश में बहुत काल तक रहते-रहते सांवला हो जाता है। यह सब विकार हैं, वैविध्य नहीं हैं। यह विकार भी पीढ़ी-दर-पीढ़ी चल सकते हैं, क्योंकि जिन कारणों से विकार उत्पन्न हुए वह कारण कई पीढ़ियों तक काम कर सकते हैं और यदि किसी कारण से एक बड़ी संख्या पर उन परिस्थितियों का प्रभाव बराबर पड़ता रहा तो धीरे-धीरे सारी जाति के चरित्र पर प्रभाव पड़ सकता है और वह जातिभर के लिए वंशानुगत विकार बन जा सकते हैं। अभी इस बात में मत-भेद है कि परिस्थिति बदलने पर भी यह विकार वंशानुगत चल सकते हैं या नहीं। परंतु विकारों का महत्व विकास के प्रश्न में नगण्य नहीं हैं। संभव है कि गर्भाधान के समय इस का प्रभाव होनहार संतान पर पड़ जाय और विकार वैविध्य में बदल जाय। ऐसी दशा में विकार की अनुकूलता या प्रतिकूलता दोनों

विचारणीय हैं। यदि विकार को वैविध्य में बदलना है तो संभवतः अनुकूल विकार ही इस तरह वैविध्य का रूप धर सकते हैं।

(४) वंश-परंपरा और मेंडेलवाद

भ्रूण में बीज रूप से जो विशेषताएं मौजूद रहती हैं वह और विशेषताओं से मिलकर प्रौढ़ अवस्था में संयुक्त रूप में बढ़ती हैं। उन के ऊपर बाहरी विकारों का भी प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति की पूरी बाढ़ के बाद अंग-अंग का जो कुछ रूप बन जाता है वही इन सब बातों के एकीकरण का फल है। इसी लिए प्रौढ़ अवस्था में जो रंग रूप देखा जाता है वह पूर्ण रूप से केवल बीज की विशेषता का ही फल नहीं है। प्रौढ़ व्यक्ति की नाक या बाल के रूप रंग से उस के किसी एक मूल कारण की खोज नहीं हो सकती। इस एक कार्य के मूल कारण अनेक हो सकते हैं यदि किसी आदमी के पांचों अंगूठे ही अंगूठे हों अर्थात् हर अंगुली में दो ही दो पोरवे हों तो यह ज़रूरी बात है कि उस के बाद होनेवाली पीढ़ियों में कुछ लोगों की अंगुलियां ऐसी ही हों। सब लोगों की अंगुलियां ऐसी हों यह संभव नहीं है और न यही संभव है कि किसी की भी अंगुलियां ऐसी न हों। अंगुलियों में विशेषता होने का कारण भ्रूण के अनेक सेलों में मौजूद है। यह आवश्यक नहीं है कि एक भ्रूण में जिन घटक सेलों के संघात से वैसी अंगुलियां बनीं वही सेलें और वही संघात उस के वंशवाले सभी भ्रूणों में उपस्थित हों। संघात का भी बदलता रहना विकासक्रम का एक नियम है। रतौंधीवाले वंश में सब संतानों का रतौंधीवाला होना आवश्यक नहीं है। रतौंधी का अवगुण व्यक्ति की विशेषता है। परंतु वह व्यक्ति की विशेषता विशेष पीढ़ियों में विशेष अनुपात की संतानों में देखी जाती है। मेंडेल के अनुसार व्यक्ति की विशेषता बीज-सेलों में निश्चित घटकों के रूप में मौजूद रहती है। और वंश-परंपरा की क्रिया में यह घटक अखंडनीय कणों की तरह जान पड़ते हैं और एक निश्चित योजना के अनुसार बंट जाते हैं। किसी विशेष वैयक्तिक विशेषता का घटक या तो भ्रूणों में पूरा-पूरा संघात-युक्त मौजूद होगा अथवा उस का एक दम अभाव होगा।

मेंडेलवाद की दूसरी मूल कल्पना "प्रधानता" की है। जब मेंडेल ने शुद्ध लंबी मटर को शुद्ध बौनी मटर के साथ संयुक्त किया तो उस से उपजी हुई मटर लंबी ही निकली परंतु जब इन्हीं मटरों को आपस में उत्पन्न करने का अवसर दिया गया तो चौथाई संतान बौनी निकली। इसलिए मेंडेल ने यह निष्कर्ष निकाला कि लंबाई प्रधान गुण है और बौनापन मिट जानेवाली चीज़ है। इसी तरह की बातें अनेक प्रयोगों में पायी गयीं जिन से यह निष्कर्ष पुष्ट हो गया कि वंश-परंपरा प्रधानता को ही पुष्ट करती है।

मेंडेलवाद की तीसरी मूल कल्पना ज़रा कठिनाई से समझ में आती है। मेंडेल ने यह मान लिया कि लंबी और बौनी मटरों के सांकर्य्य से दो तरह के बीजसेल लगभग बराबर संख्या में उत्पन्न हुए। एक तो लंबाई के घटक हुए और दूसरे बौनेपन के। तात्पर्य यह कि किसी विशेष वैयक्तिक भाव को उपजाने के लिए प्रत्येक बीज-सेल

शुद्ध है। मान लो कि लंबे बालवाले खरगोश या खरहे से छोटे बालवाले खरहे का जोड़ा किया गया तो संतान छोटे बालोंवाली होगी। परंतु संकर की मादा अगर आठ डिंब पैदा करेगी तो उन में से चार लंबे बालों के घटक होंगे और चार छोटे बालों के। उसी तरह संकर संतान के नर से आठ नर सेल पैदा हुए तो चार लंबे बालों के घटक होंगे और चार छोटे बालों के। मान लो कि यह संकर आपस में ही संतान की उत्पत्ति करते हैं और अकस्मात ही नरसेलों का डिंबों से संयोग हो जाता है तो दो डिंबसेल दो ऐसे नरसेलों द्वारा प्रभावित होंगे जो छोटे बालों के घटक हैं और दो शुद्ध छोटे बालोंवाली संतान पैदा करेंगे। लंबे बालों के घटकवाले दो डिंबसेल लंबे बालों के ही घटक दो नरसेलों से प्रभावित होंगे और बिल्कुल शुद्ध लंबे बालोंवाली दो संतान उत्पन्न करेंगे। छोटे बालोंवाले घटक के दो डिंबसेल लंबे बालोंवाले दो नरसेलों से प्रभावित होंगे और संकर दंपति की तरह दो अशुद्ध छोटे बालोंवाली संतान उत्पन्न करेंगे और लंबे बालोंवाले दो डिंबसेल छोटे बालोंवाले दो नरसेलों से प्रभावित होंगे और संकर मां बाप की तरह दो अशुद्ध छोटे बालोंवाली संतान उत्पन्न करेंगे। इस तरह परिणाम यह हुआ कि दो-दो शुद्ध छोटे बालोंवाली संतानें हुईं, चार अशुद्ध छोटे बालोंवाली संतानें हुईं। यदि अशुद्ध छोटे बालोंवाले खरहों का आपस में जोड़ा किया जाय तो तीसरी पीढ़ी की संतानों में वही अनुपात १ : २ : १ का देखने में आवेगा। जिन से हमें काम लेना है उन की संख्या जितनी ही बढ़ायी जायगी उतना ही अधिक बारंबार यही शुद्ध अनुपात देखने में आवेगा।

५—जीवन की एक ही धारा और शरीर में छँटाई। योग्यतमावशेष

डार्विन के बाद विकासवाद में यह बड़ी उन्नति हुई कि बीजों की परंपरा बहुत स्पष्ट हो गयी और मान ली गयी। पीढ़ी के बाद पीढ़ी बीतती जाती है परंतु बीज की परंपरा बनी रहती है। ऐसा जान पड़ता है कि एक विकसित शरीर की परंपरा में एक बीज से दूसरे बीज में और दूसरे से तीसरे बीज में और तीसरे से चौथे बीज में, इस तरह परंपरा के क्रम से जीवन की एक ही धारा बहती चली जा रही है।

जैसा हम दिखा आये हैं, छँटाई नैसर्गिक भी होती है और प्राणिकृत भी। यदि छँटाई प्राणी करता है तो भूल भी कर सकता है और होशियारी भी। भूल के फल से ह्रास हो सकता है। प्रकृति छँटाई का काम बड़ी सावधानी से करती है। जीवन के रगड़े में जो सब से अधिक योग्य होता है वही बच जाता है। परंतु योग्यतमावशेष का यह मतलब नहीं है कि जो सब से अधिक चतुर या बलवान होता है वही बच जाता है। योग्यतमावशेष का अभिप्राय केवल यही है कि अपनी परिस्थिति और विशेष अवस्थाओं पर जो काबू पा जाता है वही योग्यतम है। सभी प्राणी अपने जोड़े के लिए छँटाई या चुनाव करते हैं, यह प्रवृत्ति भी स्वाभाविक ही है।

ऐसा जान पड़ता है कि सभी सभ्य जातियों में अच्छी संतान उत्पन्न करने के लिए रक्त का बदलना, दूर-से-दूर के नातों में विवाह करना, भाई-बहिन में विवाह का निषेध आदि नियम हैं। योग्यतमावशेष के ये प्राकृतिक नियम हैं। हिंदू स्मृतिकारों ने मनुष्य को योग्यतम बनाने के लिए गर्भाधान से लेकर संन्यासाश्रम तक के संस्कारों के बड़े ही उपयोगी नियम बनाये हैं। सगोत्र और सपिंड में विवाह का निषेध किया है। विवाह के पूर्व वर-कन्या की पूरी परीक्षा के नियम रखे हैं। आयुर्वेद में भी इन नियमों की रक्षा के हेतुओं में, अच्छी पुष्ट और दीर्घायु संतान की उत्पत्ति को ही प्रधानता दी गयी है। अच्छी संतान उत्पन्न करना हर गृहस्थाश्रमी का कर्त्तव्य माना गया है। पाश्चात्य विज्ञान भी हाल में ही इस विद्या की ओर झुका है और सुजनन शास्त्र वा सुसंतान शास्त्र-विज्ञान एक नयी शाखा बन गयी है। परंतु इस पर अभी इतनी खोज नहीं हो पायी है कि यहां उस विषय पर चर्चामात्र से अधिक विस्तार आपेक्षित हो। हां, इतना तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि यह नया विज्ञान विकास-विज्ञान की एक संतान ही है और उस के प्रयोगों के अंतर्भूत समझा जाता है।

तीसरा खंड

जीव-विद्या

श्रौर

मानव-शरीर-विज्ञान

ग्यारहवां अध्याय

जीव-विद्या

१--जीवन क्या है

जीव-विज्ञान के पंडित प्राणशक्ति नाम की किसी विशेष वस्तु की न तो आवश्यकता समझते हैं और न संभावना मानते हैं। उन के निकट बहुत ही विकट संगठन की विशेष प्रकार की वस्तुओं के विविध रूप से प्रकाश का नाम ही जीवन है। उन का कहना है कि यदि हम किसी मनुष्य या मनुष्येतर प्राणी को एक ऐसी कोठरी में रक्खें जो कलारीमापक के रूप में बना ली गयी हो तो हम उस शरीर से उपजती हुई शक्ति को गर्मी और कर्म की मात्रा के रूप में नाप सकते हैं। प्रयोग की साधारण मर्यादा के भीतर-भीतर यह बात मालूम कर ली गयी है कि जितनी शक्ति की मात्रा उस शरीर में से निकलती है उतनी ही मात्रा गर्मी के रूप में तब भी निकलती यदि उस के भोजन को खिलाने के बदले जला दिया जाता। शक्ति की अविनाशिता यहां भी स्पष्ट है चाहे वह प्राणी कुत्ता हो या मनुष्य हो, और उसी तरह स्पष्ट है जिस तरह भाप के इंजन या डाइनमो के विषय में है। किसी विशेष प्राण-शक्ति की यहां आवश्यकता नहीं है।*

निर्जीव पदार्थों में जो धातुएं और अधातुएं हैं वही धातुएं और अधातुएं सजीव में

---

*यद्यपि जीवित प्राणियों पर अनेक प्रकार के प्रयोग किये गये हैं तथापि अभी तक यह पता नहीं लगा है कि वह जीवित व्यक्ति-चेतना जो "अहं मम" का अनुभव करती है और जिस का अस्तित्वभाव की खोजों से शरीर-त्याग के बाद भी प्रमाणित हुआ है, क्या है, और यह कि उस अशरीरी व्यक्ति से जीवन-शक्ति से क्या और कितना और किस प्रकार का संबंध है। यह अभी तक जीव-विज्ञान का विषय भी नहीं समझा जाता। यह मनोविज्ञान का विषय माना जाता है।

भी मौजूद हैं। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो चेतन वस्तु में मिलता हो और जड़ में न मिलता हो। अधिकांश जीवित पदार्थ कर्बन, उज्जन, नोपजन और ओपजन इन चार मूल द्रव्यों का बना हुआ है। इन के सिवा लोहा, स्फुर, गंधक, सोडियम, पोटासियम, खटिकम, और तैल यह प्राणिमात्र के शरीर में मौजूद हैं। पहले ऐसा समझा जाता था कि मंड, शर्करा, अलबूमेन, यूरिया इत्यादि शरीर से उपजनेवाले विकट संगठन के पदार्थ केवल चेतन शरीरों के भीतर ही बन सकते हैं। परंतु लगभग सौ बरस के हुए कि इस तरह की वस्तुएं भी यंत्रों द्वारा बनायी जा सकीं और अब तो सैकड़ों तरह की ऐसी शर्कराएं और विविध आंगारिक या कर्बनिक पदार्थ प्रयोगशाला में बनने लगे हैं, जिन के लिये पहले यह धारणा थी कि जीवों के शरीर के भीतर ही बन सकते हैं और कृत्रिम नहीं बन सकते।

अभी तक कोई ठीक वैज्ञानिक विधि नहीं मालूम हो सकी है जिस से किसी विशेष नापने की क्रिया से हम जड़ और चेतन पदार्थों में विभेद कर सकें। वस्तु वही है परंतु संगठन की विधि, परमाणुओं का संगठनक्रम, भिन्न है। वैज्ञानिक रीति से हम को यह पता नहीं लगा है कि जीवन का वास्तविक मूल क्या है। इतना निष्कर्ष अवश्य ही निकलता है कि जब धरती धीरे-धीरे ठंढी हो रही थी उसी युग में ऐसी अवस्था भी उपस्थित हो गयी जिस में इन्हीं निर्जीव अणुओं के संघात से सजीव अणु पैदा हो गये। वह सजीव इस बात में थे कि वह अपने जैसे जीवाणु पैदा करने की शक्ति रखते थे और बाहरी उत्तेजना को पाकर प्रतिक्रिया द्वारा उत्तर दे सकते थे। साथ ही उन्होंने विकास की नींव डाली और उत्तरोत्तर अपने से भी जटिल और विकट संगठन के प्राणियों को बराबर उत्पन्न करते गये। और जो विकास-क्रम से आजकल का प्राणि-संसार कहलाता है वह उन्हीं आदि प्राणियों के विकास का फल है और यह जीवन-विकास मूल रूप से निर्जीव या जड़ पदार्थ से ही आरंभ हुआ है।

सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्राणियों पर अबतक असंख्य प्रयोग करके भी विज्ञान यह निश्चय-पूर्वक नहीं मालूम कर सका है कि जीवन का वास्तविक तत्व क्या है। और किसी विधि से अभी तक वह इस बात में सक्षम नहीं हुआ है कि वह स्वयम् अपने किसी प्रयोग द्वारा निर्जीव पदार्थों से कोई सजीव प्राणी या जीवाणु उत्पन्न कर सके। विज्ञान उत्तरोत्तर वर्धमान शास्त्र है। यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रश्न की आगे क्या स्थिति होगी। अभी हम इतना ही कहेंगे कि इस रहस्य का कि जीवन क्या है अभी तक वैज्ञानिक उद्घाटन नहीं हुआ है।

संसार की वर्त्तमान परिस्थिति में निर्जीव पदार्थ से सजीव प्राणी का उत्पन्न होना अब तक देखा नहीं गया है। लोगों का साधारण विश्वास यह जरूर रहा है कि सड़ती हुई चीजों से नये प्राणी पैदा हो जाते हैं। परंतु यह विश्वास निराधार है जैसा कि सैकड़ों जांचों से निश्चित हो चुका है। सड़नेवाली वस्तु को बाहर के प्रभाव से बिल्कुल सुरक्षित रक्खा जाय तो वह नहीं सड़ती और उस में बिल्कुल विकार नहीं आता, अथवा उस के भीतरी रासायनिक विकार से ही उस में परिवर्त्तन होता है। पास्च्यूर और टिंडल

आदि ने अनेक परीक्षाओं से यह सिद्ध कर दिया है कि किसी तरह के प्राणी स्वयंभू नहीं हैं। जिन द्रवों में साधारण दशाओं में दो ही एक दिनों में जीवाणुपुंज भर जाते हैं उन्हीं को अच्छी तरह खौलाकर रखने से एक भी जीवाणु उन में दिखाई न दिया। रुई के छन्ने

चित्र ६८—लूई पास्यूर [सं० १८७६-१९५२ वि०]

इस वैज्ञानिक ने लीबिग के विरुद्ध यह सिद्ध किया कि खमीर उठना जीव-वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

[परिषत् की कृपा से

के द्वारा उन द्रवों में शुद्ध वायु के प्रवेश करने पर भी कोई जीवाणु न बना। उस ने यह प्रमाणित कर दिया कि जहां कहीं स्वयम्भू जीवाणु प्रकट होते देख पड़ते हैं वहां अवश्य ही अदृश्य बीजों के रूप में वायु से बहाये हुए आकर इकट्ठे हुए हैं। निदान किसी अत्यंत प्राचीन युग में जिस को सौ करोड़ बरस के लगभग हुए पहले-पहल जड़ में

चेतन प्राणी बने। वह विशेष परिस्थिति थी जो आज से एक अरब बरस पहले होकर बदल गयी। अब वह परिस्थिति नहीं है। इसलिए अपने-आप निर्जीव से सजीव प्राणी वर्त्तमान काल में नहीं बनते।

२—प्रथम पंक

प्रथम पंक जीवन का भौतिक आधार है। अंडज, पिंडज, उद्भिज्ज और स्वेदज सभी तरह के प्राणियों का जीवित पदार्थ प्रथम पंक है। जब हम अनुवीक्षण यंत्र के द्वारा किसी अत्यंत सूक्ष्म सेल को देखते हैं तो उस में फेन सदृश या रेशेदार या दानेदार जीवित पदार्थ दिखाई पड़ता है। इसे ही हम प्रथम पंक कहते हैं। चर प्राणियों के सेलों में यह पदार्थ या तो सूक्ष्म झिल्ली से घिरा रहता है या बिना किसी आवरण के कण के रूप में रहता है। उद्भिज्जों में छिद्रोज के दृढ़ पर्त्त से ढँका रहता है। प्रथम पंक में अलबू-मेन, मेद, मद्यसार, लोहा और सोडियम, पोटासियम, मगनीसियम, और खटिकम के स्फुरेत रहते हैं। यह पदार्थ अर्धद्रवसा दीखता है। प्रायः नीरंग होता है। और अत्यंत विकट संगठन होते हुए भी प्रायः सीधा-सादा-सा लगता है। अमीबा सरीखे सूक्ष्मतम जीवाणु इसी जीवित पदार्थ के अनावृत और अव्यवच्छिन्न कण हैं। इन अव्यवच्छिन्न कणों के प्रथम पंक में भी बड़े से बड़े प्राणियों के और नाजुक से नाजुक अंगों के गुणों और स्वभावों के मूल रूप मौजूद हैं। पहले तो इस में पचाने का बल है अर्थात् यह मृत पदार्थ को जीवाणु में परिणत कर सकता है और विजातीय द्रव्य को अपने सरीखा बना लेता है। दूसरे बाहरी उत्तेजना से यह सहज ही उत्तेजित हो जाता है। धक्के से सिकुड़ जाता है। तेज़ रोशनी या गर्मी से खराब हो जाता है। कुछ वस्तुओं को पास आने पर खींचता है या दूर कर देता और बिजली की धारा से लाचार होकर एक विशेष दिशा में चलने लगता है। यही प्राथमिक गुण हैं जिन के आधार पर हमारी अद्भुत इंद्रियां बनी हुई हैं। प्रकाश की जिन तरंगों से अमीबा के प्रथम पंक में परिवर्त्तन हो जाता है उन्हीं तरंगों को ग्रहण करने के लिए इसी गुण के कारण आंख का निर्माण हो सका है। बेतार-के-तार में बिजली की इतनी बड़ी तरंगें होती हैं कि सूक्ष्म प्रथम पंक पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकतीं। इसीलिए उन के देखने के लिए शरीर में कोई इंद्रिय नहीं बनी।

अमीबा ओषजन को पचाता है। कर्बन द्वयोषिद को बाहर निकालता है, चल सकता है, बढ़ता है और अपने सदृश और प्राणी उत्पन्न करता है। प्रथम पंक मात्र के यही मूल गुण हैं और इन्हीं के आधार पर विकास-शक्ति ने इस जीवित संसार की रचना की है और अनगिनत जाति के प्राणियों को पैदा किया है जिन की संख्या अब तक पूरी नहीं जानी गयी है। वैज्ञानिकों ने लगभग दस लाख का पता लगाया है। हिंदुओं के साहित्य में चौरासी लाख योनियां बतायी जाती हैं।*

*** बृहद् विष्णुपुराण में चौरासी लाख योनियों में बीस लाख स्थावर, नव लाख**

३—जीवन का व्यक्तित्व या एक-बीज

जितने पदार्थ हैं सभी बहुत छोटे-छोटे कणों के बने हुए हैं जिन का यदि अधिक विभाजन हो तो उस पदार्थ के गुणों और धर्मों में इतना परिवर्त्तन हो जाय कि वह पदार्थ बिल्कुल भिन्न वस्तु हो जाय। ऐसे प्रत्येक कण को एक बीज या व्यक्ति कहेंगे। प्राणियों के शरीरों की रचना भी इन्हीं एक बीज या व्यक्तियों से हुई है।
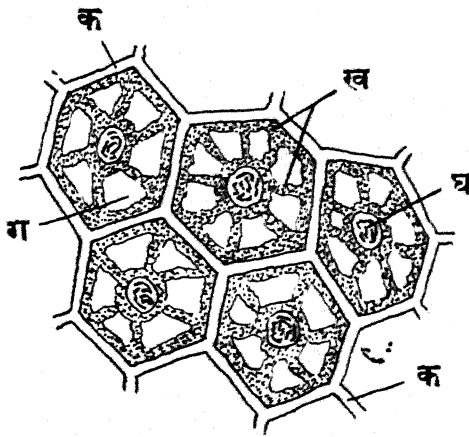
चित्र ११—वनस्पति के अंग की खड़ीकाट जिस में क--पहल सेलों के मध्य में बीजाणु दिखाये गये हैं।

क—सेल की भीत।

ख—जीवन-मूल, प्रोटोप्लाज़म।

ग—द्रवभरा अंतराल।

घ—उत्पत्ति-केन्द्र।

यदि हम किसी मनुष्य या जानवर के शरीर का व्यवच्छेद करें तो हम देखेंगे कि उस में हृदय है, पेट है, मस्तिष्क है, हाथ है, इसी प्रकार से सभी अंग हैं जो मिलकर पूरे शरीर को बनाते हैं। प्रत्येक अंग ऐसे अवयवों का या कणों का बना हुआ है जिन में से प्रत्येक एक स्वरूप दीखता है। उदाहरण के लिये, पेट की ही जांच करें तो हम देखते हैं

जलजंतु, नव लाख कूर्मादि उरग, दस लाख पक्षी, तीस लाख पशु, चार लाख वानर, शेष दो लाख में मनुष्य की जातियां मानी गयी हैं।

कि पेट का भीतरी भाग रस उपजानेवाले अवयवों का बना है और बाहरी भाग मांसपेशियों के कणों का बना है। जोड़नेवाले रेशे इसे बांधे और संभाले हुए हैं और उस के भीतर सारे पेट में रक्त के अवयव घुसे हुए हैं जिन से रक्तवाहिनियां बनी हुई हैं। इसी तरह सारे पेट
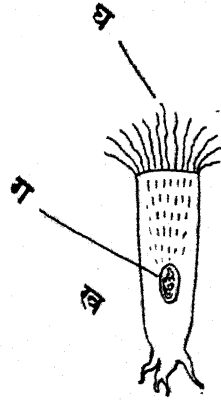
चित्र १००—स्तंभाकृति झालरदार सेल। ग-बीजाणु। य-झालर

में फैली हुई नाड़ियों में नाड़ीवाले अवयव भरे हुए हैं। परंतु एक अनुवीक्षण यंत्र में हम इन अवयवों को देखते हैं तो जान पड़ता है कि ये एक स्वरूप नहीं हैं। प्रत्येक अवयव बहुत से अलग-अलग व्यक्तियों या टुकड़ों का बना हुआ है। इन टुकड़ों या व्यक्तियों को सेल
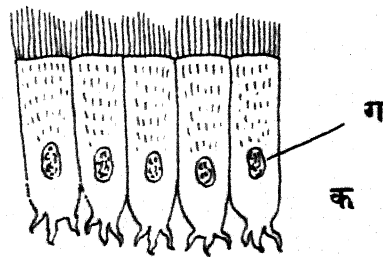
चित्र १०१—स्तंभाकृति झालरदार सेलें। ग-बीजाणु। क-शेष।

कहते हैं। रक्त में यह सेल अलग-अलग और स्वतंत्र हैं। और अवयवों में यह मिले हुए हैं।

बड़े-से-बड़ा प्राणी और मनुष्य भी अकेले एक सेल से जीवन का आरंभ करता है।

मनुष्य भी एक आहित* डिंब या आहितांड से बना है। यह आहितांड व्यास में १।१२५ इंच से ज्यादा नहीं होता। सेलों के संख्या में बढ़ जाने से, स्थान बदलने से और रूप बदलने से इस का विकास होता है। पहले तो डिंब कटकर अपने सरीखे गोल-गोल या अंडाकार सेलों में विभक्त हो जाता है। फिर भावी भ्रूण का खाका बनाने के लिए सेलों की तीन पर्तें चारों ओर से घेर लेती हैं। इस खाके पर फिर विस्तार की कार्रवाई होती है और खास-खास अंगों की रूप-रेखा बनती है। बाहरी पर्तों से भावी मस्तिष्क, पृष्ठदेश, आंख, कान, नाक, और बाहरी त्वचा की नींव पड़ती है। भीतरी पर्त यकृत, प्लीहा, आदि ग्रंथियों की रूप-रेखा बनाती है। बीचवाली पर्त रक्त-संस्थान वृक्कों मांसपेशियों और कंकाल की रूपरेखा बनाती है। इसी में जननवाले सेल भी रहते हैं जो शरीर के साधारण अवयवों से कुछ भिन्न होते हैं। यह केवल रूपरेखा की बात हुई। अभी तक इस से अधिक विकास नहीं हुआ है। भावी अंगों का उल्लेख मात्र है, क्योंकि जिन सेलों के ये बने हैं वह भी प्रायः सब समान हैं और अभी तक भिन्न कार्यों के लिए उन में विशेषता नहीं आयी है। इसीलिए यह अंग अभी काम नहीं करते।

अब सेलों का गोल या घन रूप बदलने लगा और जिस रूप में उन में से हर एक काम करनेवाला है, अब उसी सांचे में ढलने लगा।†

रक्त के सेल दो तरह के होते हैं। श्वेताणु चंचल होता है और अमीबा की तरह अपने आकार बदल सकता है और विजातीय पदार्थों को पचा सकता है। रक्ताणु लाल रंग का होता है जिस में ओषजन और कर्बन-द्वयोषिद को संयुक्त करनेवाले लौहकण होते हैं जिन के कारण रक्ताणु का रंग लाल होता है। रक्त के जिस रस में श्वेताणु और रक्ताणु बहते हैं वह असल में किसी रंग का नहीं है। उस का लाल रंग रक्ताणु के कारण है। रक्ताणु लंबी हड्डी की वसा में पैदा होता है और शरीर में परिक्रमण करते-करते प्लीहा में आकर अंत में नष्ट हो जाता है। जब किसी गड्ढे के चारों तरफ चिकने स्तर की जरूरत होती है तो उस की सीमा पर के सेल चिपटे हो जाते हैं और एक दूसरे में मिल

*** नरजीवाणु के मादा अंडे या डिंब में प्रवेश करने का नाम "गर्भाधान" है। जिस अंडे में नरजीवाणु प्रविष्ट हो चुका होता है उसे "आहित" कहते हैं। यही आहितांड जिस का विकास तुरंत आरंभ हो जाता है, "भ्रूण" भी कहलाता है।**

† नरसेल या वीर्याणु और मादासेल या डिंब दोनों में एक विशेष प्रकार के जीव-परमाणु रहते हैं जिन का पारिभाषिक नाम "जनी" है। हाल में (सं० १९८७ में) वैज्ञानिक पोदरी गणित के विशेषज्ञ डाक्टर बार्न्स ने यह मत प्रकट किया है कि प्राणी जैसा कुछ होता है उसे बनानेवाली उस की भावी को निश्चित करनेवाली यही "जनी" है। जनी के जोड़े ने जैसा कुछ शरीर और जीव को बना दिया है, कोई लाख कोशिश करे उस से अधिक कोई प्राणी हो नहीं सकता। परंतु विशेष प्रकार और विकास जनी-युग्म को मिलानेवाली संघात-शक्ति परमात्मा है।

जाते हैं। जब सेलों को शरीर के लिये रस बनाना और देना होता है अर्थात् किसी ग्रंथि का अंश बन जाना रहता है तो सेल लंबे हो जाते हैं और उन के भीतर रस के बिंदु
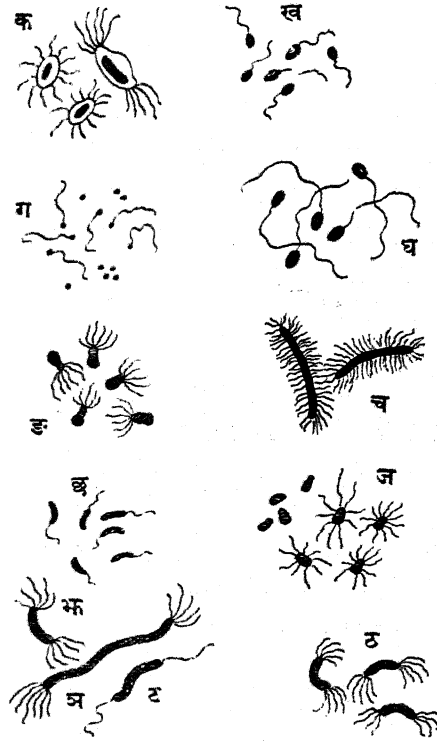
चित्र १०२—विविध-जीवाणु

क–ख–सूक्ष्म जीवाणु
ग–घ–हरी पीब के अंडाकार एक केशांगवाले जीवाणु।
ङ–एक देश में केशांग-गुच्छ-युक्त वर्णजनक बड़े जीवाणु।
च–केशांगमय बड़ा जीवाणु।
छ–कामा के आकार के हैजे के रोगाणु।
ज–चतुर्दिक केशांग युक्त आंत्रज्वर के रोगाणु।
झ ञ ट ठ–सिरों पर केशांगवालेजीवाणु।

दिखाई पड़ते हैं। जिन सेलों में चर्बी के रूप में भोजन इकट्ठा किया जाता है वह चर्बी की बूँद के ऊपर कसी हुई खाल के रूप में फैल जाते हैं। कंकाल के कठोर अवयव भी सेलों से बनते हैं। अस्थिकल्प में अपने चारों ओर गोल सेल लसदार पारदर्शी पदार्थ के पर्त

के पर्त लपेट लेते हैं और हड्डी में उस के सेल क्रम से लग जाते हैं और अपने चारों ओर चूने के लवण से कठोर वेठन या आवरण बना लेते हैं। जोड़नेवाले सूक्ष्म अवयव जिन सेलों के बनते हैं वह चीमड़े या लचीले सूक्ष्म रेशों के से होते हैं और यह सब छिटके-फुटके सेलों के बीच में आ जाने से बन जाते हैं। मांशपेशियां भी सेलों की बनती हैं। वस्ति की सेलें बहुत लंबी होती हैं जिन में देशांतर रेखाओं की सी रेखाएं दिखाई पड़ती हैं। हिलाने-डुलानेवाली मांसपेशियों की सेलें बहुत बड़ी होती हैं और एक-एक में अनेक जीव-केंद्र होते हैं। इन में धूप और छाया के से एक-पर-एक लच्छे होते हैं जो जल्दी मुड़ने-सुकड़ने के लिए उपयुक्त होते हैं। नन्हें कीड़ों के डैनों में इन का सब से अधिक विकास होता है। और इन्हीं के बल से इन डैनों का कल्पनातीत वेग से कंपन होता है।

बाहरी चमड़े की सेलें बराबर रूसी की तरह उड़ती और साफ होती रहती हैं। भीतरी चमड़े की गोल सेलें बराबर संख्या में बढ़ती रहती हैं और जब वह ऊपरी तल पर पहुँचती हैं तब चिपटी हो जाती हैं और कुछ कड़ी होकर उड़ जाती हैं। इस तरह पर ऊपरी खाल बराबर बदलती रहती है परंतु हमें इस बात का पता नहीं लगता। अगर हम किसी अंग पर बराबर पट्टी बांधे रहें, तो कुछ दिनों पीछे उस जगह की खाल इसीलिए उधड़ आती है।

मस्तिष्क भी सेलों का ही बना हुआ है। भ्रूण की दशा में यह गोल होती है। इन में से दो-दो शाखाएं निकलती हैं जो बहुत लंबी हो जाती हैं। फिर उन में भी शाखाओं पर शाखाएं निकलती हैं। जो शाखाएं सब से अंत में होती हैं वह बहुत बारीक होती हैं। वह ग्रंथियों और मांसपेशियों की सेलों के साथ अथवा आँख कान या त्वचा के इंद्रियग्रामों से मिलती हैं। इस तरह नाड़ी की सेलों के ताने-बाने शरीर के अंग अंग में फैले हुए हैं जो जीवित बिजुली के तारों का काम करती हैं और एड़ी से चोटी तक फैली हुई हैं।

मस्तिष्क के अगले भागों की सेलें सब से अद्भुत हैं। उन्हीं के द्वारा मन विचार करता है।

अंत में उन सेलों की कथा आती है जिन से जनन-क्रिया होती है। यह खास सेलें हैं जो जननेन्द्रियों में बनती हैं और जब प्राणी जवान होता है तब ये सेलें स्वतंत्र हो जाती हैं। आरंभ में यह गोल हुआ करती हैं और इन का केंद्र बड़ा हुआ करता है। मादासेल या डिंब गोल रहता है और अपने भीतर भोजन की सामग्री इकट्ठा करने के कारण बड़ा भी हो जाता है। परन्तु नरसेल छोटा ही बना रहता है और अंत में वीर्याणु का रूप धारण करता है। उस का केंद्र घना और लंबा हो जाता है। उसी से सिर जैसा गोल भाग बनता है और शेष अंश बहुत चंचल लंबी पूँछ के रूप में परिणत हो जाता है जिस के सहारे वीर्याणु तैरता रहता है और अंत में डिंब तक पहुँच जाता है।

इस तरह प्रत्येक शरीर एक-एक भारी देश है जिस में सेल-ही-सेल आबाद हैं। एक घन-सहस्रांश मीटर मानव रक्त के भीतर कोई पचास लाख सेलें तैरती होती हैं। साधारण मनुष्य के शरीर में लगभग साढ़े तीन सेर रक्त होता है। इस हिसाब से शरीर में केवल

रक्ताणुओं की संख्या पौने दो नील के लगभग है। इसी तरह और सेलों की लगभग संख्या भी निकाली जा सकती है। एक-एक शरीर में संख्यातीत सेलें हैं, इतनी सेलें हैं जितनी कि संसार में समस्त पिंडजों की आबादी न होगी। इस विशाल सेल-साम्राज्य में, एक छोटा-सा विचार करने से, असंख्य मस्तिष्क की सेलों की सहकारिता होती है। एक अंगुली के हिलाने में मांसपेशी के हजारों सेल एक साथ काम करते हैं। हृदय की एक गति में खरबों रक्त की सेलें रक्तवाहिनियों में बह जाती हैं। विकास करनेवाले जीवन के लिए ऐसी विविध संख्यातीत सेलों में प्रतिक्षण पूरी सहकारिता का होना बड़ा ही अद्भुत चमत्कार है।* यदि कहीं-कहीं सेलें बगावत करके मांसवृद्धि या बदगोश्त आदि पैदा कर देती हैं तो कोई बड़ी बात नहीं है? परंतु तो भी इन की बगावत इस दर्जे को पहुँचती है कि सारा सेल-साम्राज्य एक दिन काल के गाल में चला जाता है, सारे शरीर की मृत्यु हो जाती है। शायद प्रकृति इस बगावत में भी भावी विकास का साधन रखती है, इस भूल से भी चेतन-सेल शिक्षा पाती है।

४—पुनर्जनन या वृद्धि की समस्या

जीवित प्राणी का सब से आवश्यक गुण यह है कि अपने चारों ओर जितने रासायनिक पदार्थ पावे उन को अपने जटिल सादृश्य में परिणत करने के लिए पचा सके। जीवन के सभी प्रारंभिक रूपों में यह बात देखी जाती है कि वह बराबर पचाते और विसर्जन करते रहते हैं। परंतु विसर्जन की क्रिया इतनी जल्दी नहीं होती जितनी कि पचाने की होती रहती है। फल यह होता है कि प्राणीकी बराबर वृद्धि होती रहती है। परंतु आयतन की वृद्धि जितनी अधिक होती है उतनी अधिक ऊपरी तल की हो नहीं सकती। भीतरी आबादी को खिलाने के लिए भोजन ऊपरी तल के द्वार से आता है। शरीर की वृद्धि वहीं तक हो सकती है जहां तक उस के भीतरी सेलों को उपयुक्त भोजन मिलता रहे। बाहरी तल और आयतन में इसी दृष्टि से एक ऐसा अनिवार्य अनुपात है जिस के भंग होने से वृद्धि रुक जाती है और ह्रास और वृद्धि का अनुपात समान हो जाती है। बड़े शरीरों में सब तरह के जीवन को ऐसी कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ता है। परंतु सेलों के सामने यह समस्या कभी नहीं आयी। उन्हें वृद्धि में जहां इस तरह की रुकावट पड़ी वहां वह तुरंत बढ़े, लंबोत्तरे हुए और बीच से कटकर दो हो गये। पहले एक प्राणी था अब दो हुए। इन में से हर एक प्राणी फिर बढ़कर दो हो जाता है। इस तरह सेलों की संख्या आयतन में बढ़ते जाने के बदले दूनी से चौगुनी, चौगुनी से

*** हर सजीव पिंड में, चींटी से लेकर हाथी तक में, इसी तरह का अद्भुत संगठन और सहकार है। जो पिंड में है, वही ब्रह्मांड में भी है। इस अद्भुत संगठन का नियमन करनेवाला कौन है?**

अठगुनी होती जाती हैं। इस प्रकार एक सेलवाले जंतु और उद्भिज्ज तथा ऐसे सेल जिन जिनसे कि बहुत से सेलोंवाले शरीर बनते हैं इसी रीति से संख्या में बढ़ते जाते हैं। इस तरह की वृद्धि में नर-मादा की जरूरत नहीं पड़ती। इस विध से ही किसी पदार्थ का क्षय नहीं होता। एक सेल से अनेक सेलें सहज में बन जाती हैं और श्रुति के "एकोऽहं बहुस्याम" महावाक्य को चरितार्थ करती हैं। प्रत्येक सेल जिस सेल में से निकलती है वह सेल भी पूर्ण होती है। निकलनेवाली भी पूर्ण होती है। निकाली जाती है पूर्ण। बचती भी है पूर्ण। इस से श्रुति का यह मंत्र चरितार्थ होता है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥ *

बहुत सेलोंवाले अनेक छोटे-छोटे कीड़े इसी विधि से बढ़ते हैं। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि इस तरह प्राणियों का विभाग होने के पहले कुछ काल तक यह ज़ंजीर की तरह पर इकट्ठा जीवन व्यतीत करते हैं।

परंतु विकास के आगे के मार्ग में इस तरह की संख्यावृद्धि अधिकाधिक कठिन होती जाती है। षट्पद में या अष्टभुज में इस तरह कटके पुनः-संगठन असंभव होगा और यदि यह क्रिया कुछ काल ले तो उस प्राणी की गति-विधि रुकी रहेगी और वह जल्द अपने दुश्मनों का शिकार हो जायगा।

जब शरीर अधिक जटिल हो जाता है और इस तरह आधा भाग कटकर संख्या-वृद्धि नहीं हो सकती तब अंकुरण से काम लिया जाता है। मूंगों में और कुछ विशेष प्रकार के कीड़ों में और कुछ रीढ़वाले अत्यंत छोटे जंतुओं में भी अंकुरण होता है। सारा शरीर ज्यों-का-त्यों रहता है परंतु उस का एक छोटा-सा भाग कट जाता है और फिर छोटे से रूप में वैसा ही पूरा शरीर बन जाता है। बढ़ने और संगठन के काल में यह अंकुर अपने बड़े पैदा करनेवाले शरीर से लगा रहता है। जिन प्राणियों में अंकुरण जटिल हो गया है परंतु वह इस विधि से पैदा करते हैं तो उनमें अंकुरों का ज़ंजीर सा कुछ काल तक शरीर में लगा रहता है और जब संगठन पूरा हो जाता है तब अपने-आप सब अंकुर अलग हो जाते हैं। यह क्रिया भी उन्हीं प्राणियों में होती है जिन के अस्थि-पंजर में अभी जटिलता नहीं आयी है और जिन की वृद्धि बराबर होती ही रहती है। इसलिए अंकुरण की क्रिया बड़े प्राणियों और पौधों तक पहुँचने के पहले ही समाप्त हो जाती है।

अनेक सेलोंवाले जंतुओं और पौधों में आगे की संतान पैदा करने में जोड़ांवाली क्रिया का विकास होता है। जोड़ांवाली क्रिया से मतलब यह है कि दो अकेली सेलें जुड़-कर एक सेल बन जाती हैं। इस क्रिया के लिए अनेक सेलोंवाले दो प्राणियों की दो सेलें

*** "वह पूर्ण है, यह पूर्ण है। पूर्ण में से पूर्ण निकलता है। पूरे को पूरे में से ले लेने पर निश्चय पूर्ण ही बचता है।"**

अलग हो जाती हैं और मिलकर पहले तो एक सेल बनाती हैं और फिर एक से अनेक हो कर बहुत सेलोंवाली एक नयी व्यक्ति को उत्पन्न करती हैं। अनेक एक-सेलवाले प्राणियों में भी विभाजन की क्रिया के सिवाय जोड़ोंवाली क्रिया भी होती है। दोनों क्रियाएं बारी-बारी से होती रहती हैं। यहां दो बातें ध्यान देने की हैं। पहली तो यह कि बहुत छोटे-छोटे सीधे-सादे शरीरों में अथवा सेलों के रूप में जोड़ की क्रिया में यह आवश्यक नहीं है कि दोनों मिलनेवाले प्राणी भिन्न-भिन्न लिंग के हों, अर्थात् नर-मादा हों। दूसरी बात यह है कि आरंभिक जीवन में जनन-क्रिया से और नर-मादा के भेद से कोई संबंध नहीं है।

परंतु बहुत से सेलोंवाले शरीर के जंतुओं में यह भेद आवश्यक हो गया है कि नर का वीर्याणु हो और मादा का डिंब। इन का वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं। जब यह बड़े प्राणी काफ़ी बाढ़ को पहुँच जाते हैं तो अपने शरीर में बहुत बड़े परिमाण में बहुत काल तक संतान पैदा करनेवाली बहुत सूक्ष्म सेलों को उपजाते रहते हैं। एक साधारण बड़ा प्राणी अपने जीवन भर में इतने वीर्याणु उत्पन्न करता है जितने कि सृष्टि की आदि से आज तक मनुष्य नहीं हुए हैं। ऐसे प्राणियों में पुनर्जनन का एक ही उपाय जोड़ की क्रिया है जिसे हम "दाम्पत्य" कहेंगे।

छोटी-छोटी और बहुत सी अल्पायु सेलोंवाले शरीरों में जोड़ के द्वारा जनन में कुछ कठिनाई आ पड़ती है क्योंकि एक नन्हीं सी जननी एक बार में थोड़े से ही डिंब उप-जाती है। यदि जनकों की आवश्यकता न पड़े तो दूनी व्यक्तियां संतान की उत्पत्ति में लग सकती हैं। इसलिए जहां विभाजन या अंकुरण के लिए शरीर अधिक जटिल हैं और जोड़े द्वारा उत्पादन के सब सुभीते नहीं हैं वहां एक और विधि संतान पैदा करने की देखी जाती है, जिसे पृथा-जनन या "अशुक्र-जनन" कह सकते हैं। इस में वीर्याणु के प्रवेश बिना ही डिंब का विकास होता है। जहां डिंब को वीर्य्याणु-जनित उत्तेजना की अपेक्षा रहती है अर्थात् जहां शुक्राणु द्वारा गर्भाधान हुए बिना काम नहीं चल सकता, वहां डिंब की वृद्धि रुक जाती है। पृथा जनन वाले डिंबों में उत्तेजना की आवश्यकता नहीं होती। वह ज्यों ही प्रौढ़ता को पहुँचते हैं त्यों ही उन के भीतर शरीर-रचना होने लगती है। पौधों के नन्हें कीड़े बहुतेरे षट्पद और कई जल-भ्रमर गर्मी भर पृथा-जनन से काम लेते रहते हैं। नर मधुमक्खी भी इसी तरह पृथा जनन से पैदा होता है। उस की माता है। पिता नहीं हैं। रानी और काम करनेवाली मक्खियां वीर्य्याहित अंडों से पैदा होती हैं।

इस प्रकार जनन-क्रिया के हिसाब से हम देखें तो चार प्रकार के प्राणी होते हैं। भेदज, अंकुरज, दंपतिज और अनाहितांडज। पुनर्जनन की क्रिया केवल वृद्धि की क्रिया है। वृद्धि जब एक शरीर में अपनी हद को पहुँच जाती है तब अपने को अनेक शरीरों में ऊपर की बतायी हुई चारों में से किसी एक विधि से प्रकट करती है।

(५) नव-जनन

बराबर बढ़ते जाने की प्रवृत्ति जैसे संतान उपजाने का कारण होती है उसी तरह

नव-जनन का भी कारण होती है। हम लोग नव-जनन को बड़े आश्चर्य की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि हमारे शरीर में स्पष्ट रीति से नव-जनन की क्रिया दिखाई नहीं पड़ती और जो बड़े-बड़े जानवर साधारणतया हमारे अनुभव में आते हैं उन में भी नव-जनन नहीं देख पड़ता। परंतु छोटे-छोटे प्राणियों में नव-जनन केवल आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य है। हमें यह याद रखना चाहिए कि शरीर का संगठन और उस की परिस्थिति दोनों में साम्यावस्था से ही किसी पौधे या कीड़े का रूप रंग निश्चित होता है। यह नियम तो जड़ पदार्थों में भी लगता है। एक चीनी के बर्तन में एक बूंद पारा रक्खा हो और उसे दो टुकड़े कर डालिये तो जैसे उस का पूर्व रूप गोलाकार था वैसे ही उस के दोनों टुकड़े भी गोलाकार हो जायँगे। इस का कारण बर्तन और पारा और हवा तथा पारे के बीच धरातल के तनाव के नियम हैं। यदि पारा सजीव होता तो हम कहते कि उस का आकार गोल है। इसी प्रकार एक सेलवाले प्राणी को यदि हम दो या अधिक टुकड़े करें जिस में उस के केन्द्र का पूरा या आंशिक भाग आ जाय तो टुकड़े अपने को फिर से साम्यावस्था में लाने का यत्न करेंगे और अपने पूर्व संपूर्ण रूप को ग्रहण कर लेंगे। वह टुकड़े भी ज्यों-के-त्यों पूरे हो जायँगे। वह उसी तरह बढ़ेंगे जैसे कि पूरा प्राणी बढ़ता है। अनेक सेलोंवाले प्राणियों में भी नव-जनन की अनंत शक्ति है। परंतु कुछ बड़े प्राणियों में यह क्रिया जटिल हो गयी है। एक पत्र-कृमि या चपटे कीड़े का एक टुकड़ा अगर काट लिया जाय तो वह कटा टुकड़ा पहले एक नया शिरोदेश पैदा करेगा। यह नये सिरे से जमा हुआ सिर ज्यों हीं बनेगा त्योंही उस टुकड़े के बाक़ी हिस्से को चलाने लगेगा। सिर से पूछ तक शरीर का क्रम ठीक हो जायगा। यह भी कहा जा सकता है कि शरीर का हर अगला हिस्सा पिछले पर शासन करता है। यदि शरीर के एक बग़ल में काटा जाय तो घाव के अवयव काटने से इतने उत्तेजित हो जाते हैं कि वह हुकूमत करनेवाले सिर से झट अलग हो जाते हैं और अपने लिये नया सिर पैदा कर लेते हैं। दूसरी तरह पर भी काटा जा सकता है कि कटी हुई जगह पर नया अंग निकल पड़े और वह पुराने ही अंग के बस में रहे। इस तरह एक फालतू पूंछ बन जायगी। बनावटी रीति से इस प्रकार विचित्र रूपों के प्राणी उपजाये जा सकते हैं जिन के फालतू पूंछ और सिर हों या दोनों ओर सिर हों।

कई स्पंजों में यह बात देखी गयी है कि एक से अधिक घटक व्यक्तियों में कट जाने पर भी उन के टुकड़े बराबर बढ़ते रहते हैं।

केंचुओं के टुकड़े कर दिये जायँ और वह एक दूसरे के साथ बराबर जोड़ दिये जायँ तो एक बहुत लंबा केंचुआ बन सकता है। अथवा छोटे-छोटे दो टुकड़े सिरों के जोड़ दिए जायँ तो एक छोटा केंचुआ बन जायगा। बीचवाले टुकड़े को उलट दें कि जो हिस्सा मुंह की ओर था पूंछ की ओर हो जाय तो ऐसा भी बन जायगा। यह सब केंचुए शुद्ध और स्वस्थ होंगे। हैरिसन ने तो मेंढक के बच्चों पर कलम लगाने की क्रिया की है। एक जाति के मेंढक के बच्चे का सिर दूसरी जातिवाले की पूंछ से जोड़ दिया। यह बनावटी बच्चा बढा,

बड़ा हुआ और साधारण मेंढक हो गया। विशेषता यही थी कि दो रंगों का मेल होने से उस का आधा शरीर एक रंग का था और दूसरा आधा दूसरे रंग का।

जब हम प्राणि-जीवन के संबंध में ऊंचे उठते हैं तो नवजनन की शक्ति घटती हुई पाते हैं। यदि हम किसी केकड़े को या छोटी गोह को बीच से काट दें तो वह मर जायगी। परंतु कोई अंग काट दें तो वह अंग फिर से जम सकता है। छिपकिली की दुम कट जाती है तो फिर जम आती है। उस से भी अधिक ऊँचे उठने पर पशु-पक्षियों में इतनी भी शक्ति नहीं रह जाती कि वह अपनी कटी हुई पूंछ जमा सकें। अब भी बहुत थोड़ी थोड़ी हानियों की पूर्ति हो जाती है। जैसे कोई घाव भर सकता है अथवा किसी अंग का बहुत छोटा अंश किसी दूसरे प्राणी के वैसे ही छोटे अंश से जोड़ दिया जा सकता है।

विकास-क्रम में ज्यों-ज्यों हम ऊंचे उठते हैं त्यों-त्यों नवजनन की क्रिया घटती जाती है। मेंढक का कोई अंग काट दिया जाय तो वह उसे फिर जमा नहीं सकता। परंतु मेंढक के बच्चे का कोई अंग काटा जाय तो वह जमा सकता है। मेंढक के बच्चे को दो टुकड़ों में विभक्त कर दीजिए तो वह जी नहीं सकता, परंतु नवजात दशा में वह दो टुकड़े किए जाने पर भी जी सकता है और दो स्वतन्त्र और पूरे मेंढक बना सकता है। यह बात मनुष्य के भ्रूण तक में देखी जाती है। जोडुआं बालक कभी-कभी भाई-बहन और कभी दोनों बहनें या दोनों भाई पैदा होते हैं। यह बात अक्सर देखी जाती है कि जब भाई बहन होते हैं तब तो रूप में उतना ही अन्तर होता है जितना भाई-बहन में साधारणतया हुआ करता है। परंतु जब दोनों भाई या दोनों बहनें होती हैं तो रूप में इतनी समानता होती है कि एक दूसरे से पहचान नहीं हो सकती। यह दूसरे प्रकार के जोडुवां तब पैदा होते हैं जब भ्रूण की अत्यंत आरंभिक दशा में किसी दुर्घटना के कारण दो स्वतंत्र टुकड़े हो जाते हैं। इस तरह एक ही वीर्याणु और डिंब से बने हुए शरीर के दो स्वतन्त्र मनुष्य पैदा होते हैं।

बदगोश्त या मांस-वृद्धि का रोग प्राकृतिक वृद्धि-क्रिया का ही एक तरह का विकार है। शरीर के कुछ सेल साधारण संगठनवाले सेलों से और शरीर के सांघातिक शासन से अलग होकर अपने मन की अनियमित वृद्धि का काम करने लगते हैं। किसी-किसी बात में तो वह ऐसे उद्धत हो जाते हैं कि उन की बढ़ने की क्रिया बड़ी तेज हो जाती है और शरीर की सहकारिता से वह बिल्कुल अलग हो जाते हैं। फल यह होता है कि बदगोश्त बढ़ता है, कटवा दिया जाता है, और फिर बढ़ता है और अधिकांश शरीर के नाश का कारण बन जाता है।

मिस स्लाई ने कुछ चूहियों पर अद्भुत प्रयोग करके देखे। कई चूहियों को गर्भाशय में मांसवृद्धि का रोग हो गया था। इन रोगिणियों में से कुछ अलग रखी गयीं, और कुछ को बच्चा पैदा करने का अवसर दिया गया। जो अलगायी गयी थीं उन में रोग बड़ी तेजी से बढ़ा और वह एक महीने में मर गयीं। जिन को जोड़े के साथ रखा गया था उन्हें बच्चों के झोल-के-झोल बराबर होने लगे। मांस-वृद्धि तब तक रुकी रही जब तक बच्चे होते रहे। जब बच्चों का पैदा होना बंद हो गया तब मांस-वृद्धि ज़ोरों से बढ़ी। जान पड़ता है कि भ्रूण और मांस-वृद्धि दोनों में गर्भ के भीतर भोजन पाने की होड़ लगी हुई थी जिस में भ्रूण ही

सफल होता रहा। उस की सफलता इस दर्जे तक रही कि रोग को बढ़ने के लिए भोजन नहीं मिलता था। मांस-वृद्धि के प्रश्न पर वैज्ञानिकों ने अभी कुछ निश्चय नहीं कर पाया है। खोज जारी है। परंतु वृद्धि के विषय से उस में बड़ी सहायता मिल सकती है।

६—जरा और मरण

एक सेलवाले प्राणियों का भेद द्वारा दो हो जाना मरना नहीं कहा जा सकता। जो व्यक्ति पहले थी वह व्यक्ति नहीं रह गयी, यह बात भी निश्चय रूप से नहीं कही जा सकती। संभव है कि जो व्यक्तियां अब हैं उन में से एक व्यक्ति वही हो जो पहले थी। यह भी संभव है कि उस व्यक्ति का लोप हो गया हो और बिलकुल दो नयी व्यक्तियां पैदा हो गयी हों। केवल इसी दूसरे अर्थ में पहली व्यक्ति का मरण समझा जा सकता है। जो हो कम-से-कम कोई लाश बरामद नहीं हुई। व्यक्तियां प्रकट होती हैं और लुप्त हो जाती हैं परंतु एक ही वस्तुसत्ता के निरंतर बढ़ने और कटते रहने में भी जीवन की अनवरत धारा बराबर एक-सी जारी रहती है। शरीर में परिवर्त्तन बराबर होते रहते हैं परन्तु बहुत काल तक रूप ज्यों-का-त्यों बना रहता है। यदि बीच में कोई दुर्घटना न हुई तो स्वाभाविक मृत्यु तो अनिवार्य है। साधारणतया विकास के क्रम में हम ज्यों-ज्यों ऊंचे उठते हैं त्यों-त्यों यह देखते हैं कि व्यक्ति का शरीर अधिकाधिक काल तक ठहरने लगता है। शरीर के बढ़ते रहने का काल इतना लम्बा नहीं होता जितनी लंबी वह प्रौढ़ावस्था होती है जिस में वृद्धि और ह्रास लगभग बराबर रहते हैं। छोटे जानवरों में वृद्धि मरणकाल तक बराबर जारी रहती है। परन्तु बड़े प्राणियों में वृद्धि का काल जल्दी ही बीत जाता है और युवावस्था तक पहुंचते-पहुंचते परिवर्त्तन का वेग अत्यन्त घट जाता है। बहुत से छोटे प्राणियों में जिन कारणों से बुढ़ापा आता है उन्हें लौटाया भी जा सकता है और कभी-कभी बुढ़ापे को आने से रोका भी जा सकता है। जैसे एक सेलवाला प्राणी जब दो बनने के लिए बढ़ने लगा तभी उस के शरीर के एक-एक अंश को काट दिया जाया करे तो जब तक हम चाहें तब तक उस प्राणी को दूने होने अथवा लुप्त होने से रोक सकते हैं। हम कह चुके हैं कि चिपटे कीड़े के टुकड़े कटकर नवजनन द्वारा अनेक हो जाते हैं। ऐसी ही एक को लेकर हम भूखा रखें तो वह अपने शरीर से ही अपना पोषण लेता रहेगा और छोटा होता जायगा। साथ ही चंचल भी होता जायगा। यों तो वह पुनर्जनन कर के खतम हो जाता परंतु बहुत काल तक भूखा रख कर उसे नौजवान बनाया जा सकता है और फिर खिलाकर बढ़ाया जा सकता है। और फिर भूखा रखकर फिर से जवान किया जा सकता है। इस तरह अनंत काल तक उसे जीवित रखा जा सकता है।

परंतु इस तरह की रीतियों से बड़े प्राणियों को दीर्घजीवी नहीं बना सकते। उन्हें दीर्घजीवी बनाने के उपायों में से परिस्थिति को अनुकूल बनाना एक उपाय है। शायद सभी ठंडे रक्तवाले प्राणियों में और षट्पदों में भी ठंढ से आयु बढ़ सकती है। परन्तु गरम रक्तवाले प्राणियों में जिन में प्रौढ़ होने के बाद वृद्धि नहीं होती, इन विधियों से काम

नहीं ले सकते। प्रौढ़ावस्था एक प्रकार से साम्यावस्था है। जब साम्यावस्था का सामंजस्य बिगड़ जाता है तब बुढ़ापा आ जाता है और मरण अनिवार्य हो जाता है। अभी हाल में एक बात यह जानी गयी है कि शरीर के कई अवयव अमर होने का सामर्थ्य रखते हैं यद्यपि शरीर को एक दिन मरना ही है। जीवित प्राणी से इन अवयवों के टुकड़े निकाल कर पोषक द्रवों में रखा गया है और द्रवों को समय-समय पर बदला गया है। न्यूयार्क में कारेलने अंडे फोड़ने के पहले ही मुर्गी के बच्चे के योजक अवयव का इसी तरह का टुकड़ा निकाल लिया और इसी प्रकार इतने काल तक उसे सजीव रखा जितने काल तक साधारणतया मुर्गी जीवित नहीं रहती। और बड़े मारके की बात तो यह है कि उस के घटक सेलों का बराबर बढ़ना रहना जारी रहा! भिन्न-भिन्न अवयवों की वृद्धि और ह्रास के सामंजस्य के बिगड़ने से यदि मृत्यु होती है, तो यदि यह मालूम हो जाय कि हम किस प्रकार विविध अवयवों को पुष्ट कर के चिरजीवी करें और सामंजस्य बनाये रक्खें, तो व्यक्ति को दीर्घायु करने में शायद हम समर्थ हो सकें।

७—प्रणाली-रहित ग्रंथियां

जरा-मरण के संबंध में विज्ञान अभी तक पर्याप्त खोज नहीं कर सका है और हमारा ज्ञान इस संबंध में बहुत थोड़ा है। तो भी हम यह कह सकते हैं कि जरा-मरण का रहस्य शायद प्रणाली रहित ग्रंथियों में और नाड़ी-मंडल में, विशेषतः मस्तिष्क में, छिपा हुआ है। प्रणाली-रहित ग्रन्थियां वह अंग हैं जो अपने रस सीधे रक्त में छोड़ते हैं। शरीर की बाढ़ पर इन रसों का असाधारण अधिकार है। शरीर की क्रिया के बढ़ाने घटाने और उस के विविध अवयवों की सहकारिता के ऊपर इन रसों का सामान्य प्रभाव है। मस्तिष्क में श्लैष्मिक ग्रंथि* विशेष रूप से कंकाल की वृद्धि के ऊपर बड़ा प्रभाव रखती है। यह ग्रंथि जितना ही विकास करती है उतना ही बड़ा कंकाल होता है। काकलक ग्रन्थि या चुल्लिका+ ग्रन्थि तो प्राणाग्नि ही समझी जानी चाहिये। यदि यह कम हो तो शरीर की आग घट जाती है और मृपाशोथ रोग हो जाता है जिस से शारीरिक और मानसिक क्रियाएं शिथिल पड़ जाती हैं। यह ग्रंथि बहुत बढ़ जाय तो भी शरीर का ह्रास होने लगता है, नाड़ी का वेग बढ़ जाता है। भूख तो बढ़ती है पर क्षय भी बढ़ता जाता है। नाड़ी-मंडल में दुर्बलता आ जाती है। इसी प्रकार जननेंद्रियों का एक अवयव जिसे अंतराल तंतु कहते हैं, ग्रंथि की तरह व्यवहार करता है और एक ऐसा रस बनाता है जिस का प्रभाव शरीर के नर या मादा-वाले विशिष्ट अंगों की बाढ़ पर पड़ता है। यह मस्तिष्क को भी उत्तेजित करके दाम्पत्य भावों को जाग्रत करता है।

ऐसा समझा जाता है कि इन ग्रंथियों के व्यापार से जीवन का बहुत बड़ा संबंध है।

---

* पिटुइटरी ग्लैंड। + थैरोइड ग्लैंड।

इन के व्यापार में बुढ़ापा के आने पर शिथिलता आ जाती है, अथवा यह कहना भी ठीक है कि इन के व्यापार में शिथिलता आना ही बुढ़ापा है। इन्हीं के कार्यों में अत्यंत शिथिलता ही मृत्यु की तैयारी समझी जानी चाहिये। यह ग्रंथियां जीव को सुखी रखती हैं। इन की शिथिलता से जीवन में कोई रस नहीं रह जाता। प्राणी उस से ऊब या थक जाता है।

प्रोफेसर मेचनीकाफ का कहना है कि मेरे देखने में स्वाभाविक मरण के जितने मामले आये उन में मैंने यही देखा कि मरने में कोई कष्ट नहीं हुआ बल्कि मरनेवाले मृत्यु को उसी तरह चाहते थे जैसे थका हुआ आदमी सुख से सोना चाहता है।

बारहवां अध्याय

मनुष्य का अन्नमय कोष

१—पुराने निशान

मानव शरीर ऐसा यंत्र है जिस की तैयारी के लिए प्रकृति करोड़ों बरस तक भिन्न-भिन्न ढटरियों पर अपना हाथ साफ करती रही है और कई करोड़ बरस हुए कि उस ने मनुष्य का शरीर बना पाया है। शायद यही कारण है कि मानव शरीर के भीतर अब तक कई अंग वा अंगों के अंश ऐसे रह गये हैं जिन्हें प्राचीन नमूनों के चिह्न-मात्र समझना चाहिए और वर्त्तमान शरीर में वास्तव में जिन की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृति ने मनुष्य के शरीर से अनावश्यक अंशों को धीरे-धीरे दूर किया है और अब भी दूर करती जा रही है।

जन्म के पहले बच्चे का सारा शरीर बारीक बालों से ढका रहता है और प्रौढ़ मनुष्यों के शरीर में सिर और मूंछ दाढ़ी आदि के सिवा जो सौंदर्य के लिए आवश्यक है सारे शरीर में जो रोएँ हैं उन की तो कोई आवश्यकता नहीं है। इन की आवश्यकता सभी प्राणियों को उस जमाने में थी जब इस धरती पर हिमप्रलय था। यह उसी समय की निशानी मालूम होती है। हमारे सिर के दाहिने-बायें बगल अस्थिकल्प के जो टुकड़े वास्तविक कान के ऊपर लगे हुए हैं और जिन्हें हम कान कहते हैं वह असल में सुनने में कोई मदद नहीं देते। घोड़े के कान नोकदार होते हैं। जब उसे सुनना मंजूर होता है तब वह शब्द तरंगों को कनौतियां उठा कर अपने श्रवणेंद्रिय में प्रवेश कराता है। हमारे कानों को भी हिलाने के लिए सात मांसपेशियां अब भी हैं तो भी कोई इक्का-दुक्का ही उन में से एक दो को काम में ला सकता है। इसीलिए यह कान हमारे शरीर के विकास की पुरानी कहानी सुनाने को रह गये हैं। आंख के भीतरी कोने में जो ज़रा सा मांस का बढ़ा हुआ टुकड़ा दिखाई पड़ता है वह भी अत्यन्त प्राचीन विकास की कहानी कहता है। आज उस की कोई जरूरत नहीं है। पिंजड़े के मुर्गे को देखा गया है कि कभी-कभी वह अपनी आंख के कोयों पर एक सफेद झिल्ली फेर लेता है। हमारी आंख का वह मांस का टुकड़ा यही चीज सिकुड़ी हुई है। पहले इस से आंख की धूल झाड़ी जाती थी। अब उस से अच्छा बंदोबस्त होने के कारण उस का लोप हो रहा

है। प्रायः और सभी पिंडजों की आंखों में यह तीसरी पलक पूर्ण विकसित रूप में होती है।

जीवित उरगों की शरीर की परीक्षा से और प्राचीन ठटरियों को देखने से भी पता चलता है कि ऐसे भी प्राणी थे कि जिनके सिर में बीचो-बीच तीसरी आंख हुआ करती थी। आजकल भी उरगों को यह तीसरी आंख होती है, पर वह एक चमड़े से ढकी रहती है और काम में न आने के कारण वह धीरे-धीरे नष्ट हो रही है। पक्षियों और पिंडजों में यह और गहरे घुस गयी है और ज्यादा खराब हो गयी है। मनुष्य में यह तीसरी आंख और भी छोटा अंग बन गयी है और मस्तिष्क के बीचो बीच मे निकली जान पड़ती है। यह तो निश्चय
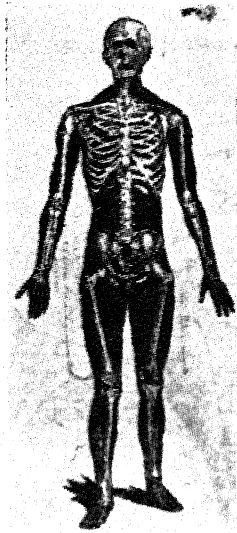
चित्र १०३—मनुष्य की ठटरी

हमारे शरीर की रचना से] [ग्रन्थकार की कृपा

पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इसका कोई काम नहीं है। यह अंग रहस्यमय है, परंतु तो भी करोड़ों बरस पहले की तीसरी आंख से इस का संबध मिलता है।

मनुष्य के दहिनी ओर पेड़ू में जहां छोटी बड़ी आंतों का जोड़ है, ठीक उसी जगह लगभग छः अंगुल लंबी अंधांत्र है जो अंधी गली की तरह बंद है और रोग और पीड़ा का स्थान होने के कारण बदनाम है। आजकल लाखों आदमियों ने इसे कटवाकर निकलवा दिया है परंतु उन्हें कोई हानि नहीं पहुँची है। यह भी प्राचीन शाकाहारी पिंडजों के एक विशेष अंग की निशानी रह गयी है।

मनुष्य की रीढ़ की हड्डी के अंत में बस्ति के पास एक हड्डी है जिसे पुच्छास्थि कहते

हैं। यह किसी प्राचीन युग की पूंछ की निशानी है। कभी-कभी बच्चे पैदा होते हैं तो वह अंश पूंछ की तरह निकला-सा भी होता है और वह हिला भी सकते हैं। इस तरह के एक दो नहीं, गिनकर पूरे एक सौ सात अंग और अंगांश मनुष्य के शरीर में हैं जिन्हें प्राचीन काल का चिह्न मात्र समझना चाहिए और जिन की कोई उपयोगिता अभी तक जानने में नहीं आयी है।

२—पाचन-संस्थान में मुख की गुहा

जीवन की सब से अधिक महत्व की क्रिया भोजन करना और उसे पचाना है। मनुष्य के शरीर में इस काम का आरंभ मुख से होता है और इस का अंत मलद्वार से समझने में कोई हर्ज न होगा। मुंह इस पाचन-संस्थान का फाटक है, इस बड़े महल के रसोई घर का
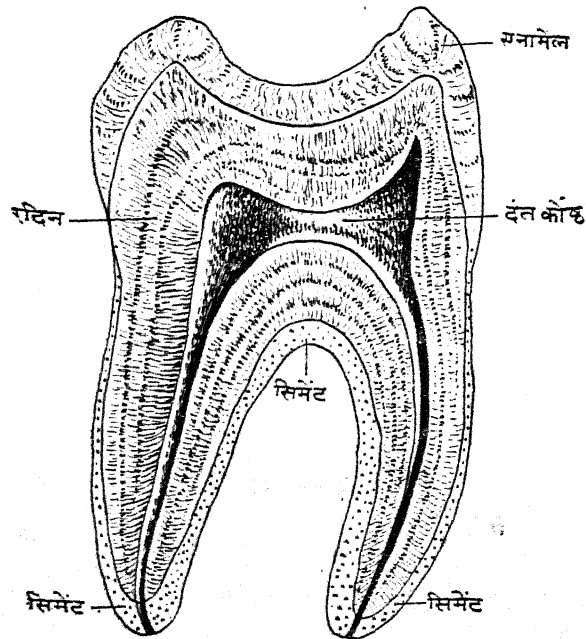
चित्र १०४—दांत की रचना [आवन के अनुवर्त्तन में

सिंहद्वार है। इस के ऊपर तीन बड़े-बड़े पहरेदार नियुक्त हैं। दो आंखें और एक नाक। यह तीनों बराबर जांचा करते हैं कि मुंह के भीतर जानेवाली चीजें ठीक हैं या नहीं। फिर जीभ के ऊपरी भाग में हजारों बारीक अंग हैं जो चखकर अन्न को भीतर भेजते हैं। उन के

ऊपर बहुत बारीक खाल होती है जिन में से घुसकर चखनेवाली नाड़ियों के सिरे तक अन्न के रस पहुँच जाते हैं। यह नाड़ियां तुरंत दिमाग को ज्यों ही खबर पहुँचाती हैं कि सब ठीक है त्यों ही और नाड़ियां नीचे के जबड़े के मांसपेशियों को चला देती हैं और ग्रास का पीसना शुरू हो जाता है। पीसनेवाले यंत्र दांत हैं। रुचक या दंतवेष्ट और रदिन यह दो कठोर पदार्थ दांत के भीतर के नरम भाग को ढके रहते हैं। इसी नरम भाग में नाड़ियां और रक्त-वाहिनियां रहती हैं। जड़ों के ऊपर एक प्रकार का सीमेंट या सवालवाला मसाला लिपटा
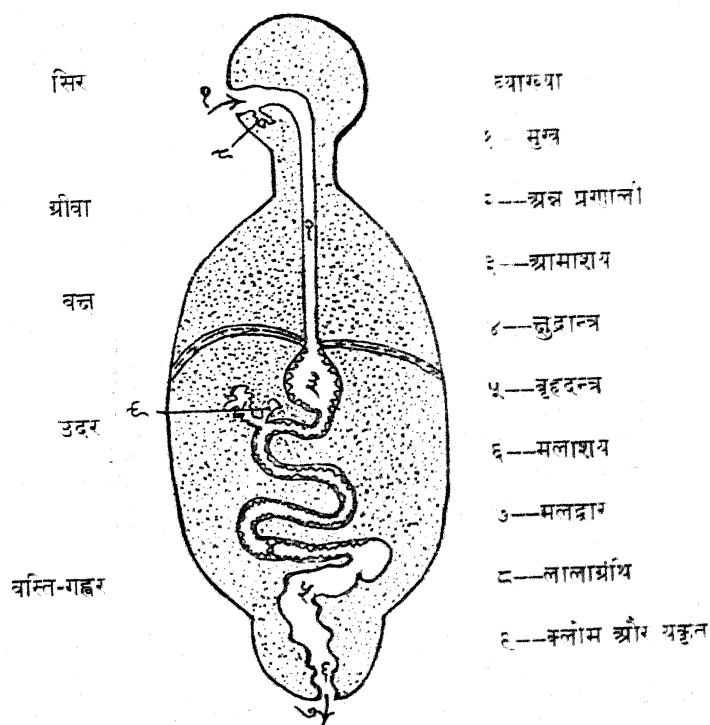
चित्र १०४—अन्नमार्ग और उसके मुख्य भाग। [हमारे शरीर की रचना से डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा की कृपा]

रहता है जिस से कि दांत अपने ऊखल में जमा रहता है। ऐसी कठोरता से भी कमी नहीं रहता कि कड़ी चीज तोड़ने में दाढ़ें दुखने लगें। जड़ के चारों ओर गद्दी सी रहती है जिस से धक्के का प्रभाव कम पड़ता है। इन दांतों के बनाने के लिए सेलों की एक विशेष सेना बचपन में ही लगा दी जाती है। वह ठीक-ठीक मसाले को बच्चे के भोजन से निकाल-निकाल कर एक-एक परमाणु को अलग-अलग ठीक वैज्ञानिक विधि से जोड़-जोड़ कर बालक के सुंदर दांत बनाती है। हमारे बनाये नकली दांत तो इन के सामने अत्यंत फूहड़ हैं। और

यह कारीगर अपने काम को बिल्कुल ठीक समय पर करते हैं, न पहले न पीछे। परंतु इन कारीगरों को आगे चलकर कठिनाई का सामना करना रहता है। बालक का जबड़ा तो अभी बढ़ता जायगा। उस की बाढ़ के अनुकूल दांत जैसी कठोर चीज को आगे चलकर बढ़ा देना तो संभव नहीं है। इसलिए हड्डी बनानेवाले सेल दूध के दांतों को धीरे-धीरे अपने काम में लगाने लगते हैं और भीतर के बहुत से भाग को खर्च कर डालते हैं। गिरा हुआ दूध का दांत छिलका मात्र है। नये दांत बढ़े हुए जबड़े के अनुकूल निकलते हैं। कुछ वैज्ञानिकों की राय है कि सभ्यता के फैलने के कारण लोग दांतों से अब कम काम लेते हैं। अब भोजन ऐसा करते हैं कि चबाने की जरूरत कम पड़ती है। इसलिए धीरे-धीरे दांत कमजोर होते जाते हैं और बहुत काल पीछे बिना दांत के मनुष्य होंगे। परंतु हम सभ्यता महारोग का मुकाबिला करने के लिए यदि दांतों से काफी काम लें, खूब चबा-चबा कर खाया करें, तो ऐसी स्थिति कभी न आने पावे।
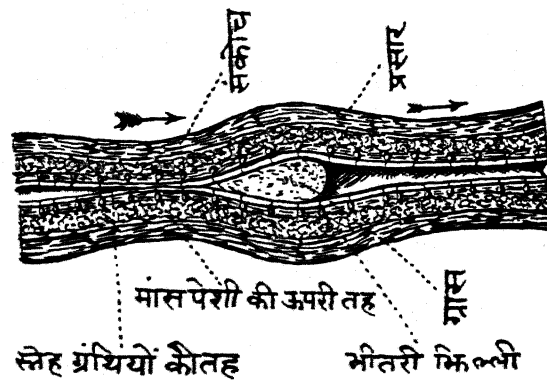
चित्र १०६—ग्रास की यात्रा

विलियम्स ऐंड नारगेट] [सर आर्थर कीथ का अनुवर्त्तन

ज्यों ही पिसाई शुरू होती है त्यों ही तीन जोड़ी ग्रंथियां ग्रास में लाला डालने लगती हैं और भोजन सनने लगता है। ग्रंथियां भी विचित्र हैं। भोजन की शकल देखते ही लाला निकालने लगती है। इन ग्रंथियों में जो सूक्ष्म सेलें लाला रस बनाती हैं वह अद्भुत यंत्र हैं जो अभी तक समझ में नहीं आये हैं। लाला में निन्नानबे भाग जल है और एक भाग ऐसे पदार्थों का है जो मंडमय भोजन को द्राक्षाशर्करा में बदल देते हैं। हम लोग जो खाते हैं उस में मंड या नशास्ता अधिक होता है। इसीलिए खूब चबाना जरूरी है कि लाला अच्छी तरह मिले। फिर तो आधे घंटे तक पेट में शकर बनाने की क्रिया जारी रहती है। लाला के खूब न मिलने से तरह-तरह की बीमारियां होती हैं।

ग्रास का निगला जाना भी साधारण बात नहीं है। जब ग्रास तैयार हो जाता है तो मुंह के भीतरी हिस्से के पीछे के नाड़ीजाल खबर देते हैं कि भोजन जाने के लिए तैयार है। जब हम चबा रहे थे तब पीछेवाली मांसपेशियों ने भीतरी नाली को बन्द कर रक्खा था। अब उन्हों ने ढीला कर दिया। नीचे के जबड़े ने ऊपर को दबाया। कोमल तालू ढालू बन गया। और मांसपेशियों ने नाक और फेफड़े के वायुमार्गों को बन्द कर दिया। इस तरह सारे यंत्र ने मिलकर अन्न को उस के मार्ग के पहले भाग या पहली मंजिल मुखकंठ में पहुंचाया। यों ही कभी जरा-सा अन्न राह भूलकर कहीं वायुमार्ग में चला जाता है तो और मांसपेशियां अपने आप उन्हें खांस कर बाहर निकाल देती हैं। मुंह के भीतर अनेक रास्ते हैं। गले के भीतर अन्नमार्ग और वायुमार्ग हैं। इस के ठीक ऊपर की ओर नाक के पीछेवाली नाली है और उसी में दो कंठकर्ण नालियां हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि जहां कई मार्ग मिलते हैं वहां अच्छी चौकसी रक्खी जाय।

३—पाचन-संस्थान में आमाशय की थैली

मुखकंठ से अन्न को एक लंबी यात्रा करनी पड़ती है, क्योंकि मलद्वार तक इस मार्ग की लंबाई अट्ठारह हाथ से अधिक है। इतने लंबे रास्ते से ले जाने का कारण यह है कि इस मार्ग में सैकड़ों कारखाने हैं जहां सेल रूपी मजदूर अन्न में से अपने-अपने काम की चीजें निकाल कर ले लेते हैं और बाकी को आगे बढ़ने देते हैं। रास्ता इतना लंबा न हो और माल के जाने में देर न लगे तो कारखाने का सारा काम सुभीते से नहीं हो सकता। ग्रास के गले के नीचे उतरने की क्रिया भी समझने लायक है।

मुखकंठ की राह से ग्रास ज्योंही चला त्योंही उस का दरवाजा बन्द हो गया। ग्रास के पीछे की नाली सिकुड़ गयी और बराबर यही सिकुड़न धीरे-धीरे आगे बढ़ती जाती है और अपने आगे से ग्रास को खसकाती जाती है। ग्रास ज्यों ही गले के भीतर पहुंचता है त्यों ही वह एक ऐसे अंग को अपने आप दबा देता है जिस से कि उस के पीछे से सिकुड़ना जारी हो जाता है। वह ज्यों-ज्यों आगे बढ़ता है त्यों-त्यों सिकुड़नेवाले अंग दबते जाते हैं और उस की आगे की राह अपने आप खुलती भी जाती है और ग्रास की गति में रुकावट नहीं पड़ती।

अब अन्न आमाशय या मेदे में पहुँचता है और मथा जाता है। मथते समय उस में पेट के भीतर उपजे खटाईवाले रस और खमीर कई घंटे तक बराबर मिलते रहते हैं। बायीं तरफ हृदय से लेकर बड़ी दूर तक पेट चला गया है। परन्तु ऊपर का उस का बड़ा हिस्सा पाचन से कम संबंध रखता है। जब अन्न पेट में आधी राह तक पहुँच चुकता है तब पाचक रस उसमें मिलने लगते हैं। और जब तक वह पेट के निचले भाग में नहीं पहुँच जाता तब तक मिलना जारी रहता है। पेट में मांसपेशियों के तीन पर्त हैं जो दिनभर गीले भोजन को बराबर मिलाते रहते हैं। समझदार भले चंगे आदमी का पेट चार घंटे में यह काम पूरा कर लेता है। उसे फिर भोजन की

आवश्यकता पड़ती है। वह एक विशेष रूप से अपनी मांसपेशियों को ऐंठने लगता है। इस की खबर नाड़ीजाल दिमाग को पहुँचाते हैं। इसी को भूख लगना कहते हैं।
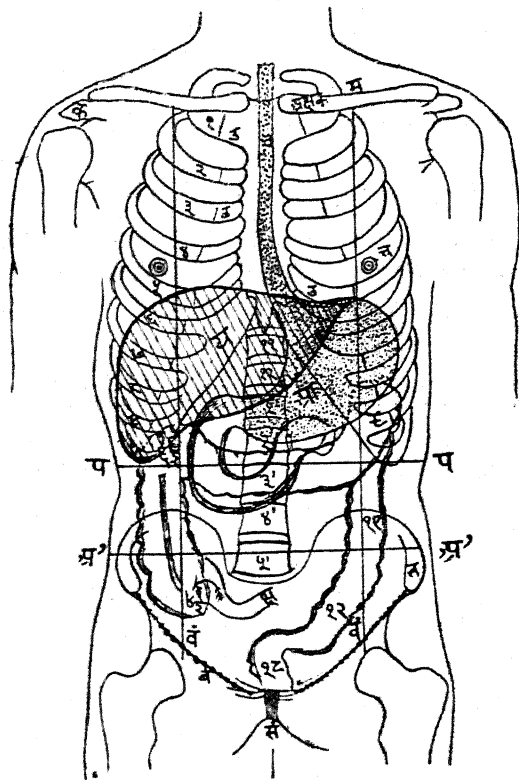
चित्र १०१—अन्नमार्ग के विविध भाग और पाचन का काल

डा० त्रिलोकीनाथ वर्मा की कृपा] **[हमारे शरीर की रचना से**

इस चित्र में उदर के नौ प्रदेश दिखाये गये हैं। और यह भी दिखाया है कि अन्न-प्रणाली, आमाशय, यकृत, क्षुद्रांत्र और बृहदंत्र शरीर में कहां-कहां रहते हैं। भोजन कितनी-कितनी देर में किस-किस भाग में पहुँचता है। यह बात ४॥, ७॥, ११, १२ और १८ अंकों से विदित होता है। ये अंक घंटा बताते हैं।

१–१० तक = पसलियाँ। उ = उपपर्शुका। च = चूचुक या स्तनवृंत। ११, १२ वक्ष के कशेरुका। क = अंसकूट। म = अक्षक का मध्य। अ = अन्न-प्रणाली। आ = आमाशय। य = यकृत। न = पूरोर्ध्वकूट। क्ष = क्षुद्रांत्र का अन्तिम भाग। वं = वंक्षण या खड़ी रेखा। इस के ऊपर को उरस्थल पर बढ़ावें तो अक्षक के मध्य तक पहुँचेगी। प प = पर्शु का अधो रेखा। अ' अ = अर्बुदान्तरिक रेखा। चूचुक चौथे पर्शुकान्तर में रहता है। व = वंक्षण बन्धन।

आमाशय की भीतरी भीत में बड़ी प्रचुरता से रक्त पहुँचता है और उस में चारों तरफ हजारों सूक्ष्म ग्रंथियां हैं जो आमाशयिक रस बनाती हैं। ज्योंही आदमी खाने बैठता है त्यों हीं इन ग्रन्थियों को बेतार का तार पहुँच जाता है। और ज्योंही जिह्वा चखती है तार्कीदी तार पहुँचते हैं। खून पेट की दीवारों की ओर दौड़ता है और उस से पोषण लेकर ग्रंथियां तुरंत पाचक रस बनाती हैं और अन्न पर डालती हैं। अन्न के बहुत बड़े भाग पर तो पेट का प्रभाव नहीं पड़ता। आमाशय में तो पचना आरंभ होता है। शर्करा, नशास्ते या मंड, और स्नेह अर्थात् घी तेल चर्बी आदि दूसरे विभाग को सौंप दिये जाते हैं। आमाशय में तो नोषजनीय या प्रोटीन या प्रत्यमिन अन्न ही पचाया जाता है। यह अधिकांश दाल, मांस, मछली, अंडे आदि होते हैं। यहां यह चीजें तोड़ डाली जाती हैं। और चूसे जाने योग्य बना ली जाती हैं। स्वयं पेट उस अन्न का बहुत थोड़ा अंश सोखता है। मांस दाल आदि का कुछ रस पेट में से ही सीधे रक्त में पहुँच जाता है। परन्तु अन्न का बहुत बड़ा भाग सोलह हाथ लंबे रसोई घर में जाता है। यहीं पकाया जाता है, इसी लिए इसे पक्वाशय भी कहते हैं। यहीं पका कर सोख भी लिया जाता है। यह बात भी हर आदमी को जानना चाहिए कि पेट के भीतर काम करने के लिए रक्त कुछ काल के लिए दिमाग से आता है। इस लिए खाना खाते हुए या खाने के बाद दिमागी काम लेना अस्वाभाविक और हानि कर है।

४—पाचन-संस्थान में पक्वाशय

पेट के थैले के निचले भाग में जहां अन्न मार्ग फिर नली की तरह हो जाता है एक बहुत मजबूत गोल मांसपेशी है जो द्वार की रक्षा करती है और बिना सना हुआ और पकने के लिये बे तैयार भोजन को पक्वाशय के भीतर नहीं जाने देती। अन्न का स्पर्श होते ही वह और भी सिकुड़ जाती है और मार्ग बिल्कुल बन्द कर देती है। जब विशेष प्रकार की रासायनिक क्रिया से उसे भोजन की तैय्यारी की सूचना मिलती है तभी वह भोजन को पक्वाशय में जाने देती है। जब भोजन पक्वाशय में जाने लगता है तो बड़े वेग से उस मार्ग से निकलता है।

पक्वाशय के पहले भाग में एक बड़े महत्व की क्रिया होती है जिस से पता चलता है कि शरीर में डाक का भी विभाग उसी तरह है जैसे तार का विभाग। आंख ज्योंही भोजन को देखती है त्यों हीं दिमाग को खबर देती है और दिमाग लाला और पेट की ग्रंथियों को काम में लगा देता है। यह तो तार का विभाग हुआ। आमाशय में से खटाई से सना हुआ भोजन जिसे हम आहार-रस कहते हैं जब पक्वाशय की दीवारों को छूता है तो उसी में की ग्रंथियां तुरंत ही एक प्रकार का रस बनाती हैं जिसे हम "स्रविणी" या हारमोन कहेंगे। वह स्रविणी को रक्त में छोड़ती हैं। रक्त उसे सारे शरीर में लेकर बड़ी शीघ्रता से दौड़ता है। परंतु उस की डाक को लेने के लिए दो ही एक अंग उस की बाट जोहते रहते हैं। यह डाक क्लोम या अग्न्याशय लेता है। वह तुरंत ही अधिक उत्साह से काम में लग

जाता है और अधिक पाचक रस पक्वाशय में छोड़ता है। रक्त में प्रविष्ट हो कर यह रासायनिक पदार्थ जो डाक की तरह काम करता है अंग्रेजी भाषा में "हारमोन" कहलाता है।

अन्न-मार्ग के एक बगल में और उसी से बाहर की ओर निकले हुए दो अंग हैं जिन्हें यकृत और क्लोम कहते हैं। इनका विभाग अलग हो गया है और पक्वाशय से इन का संबंध नालियों के द्वारा है। इन दोनों में से लगभग डेढ़-डेढ़ पाव के रस पक्वाशय में प्रतिदिन इस लिए भेजा जाता है कि पचाने के काम में सहायता करें। यकृत पित्त भेजता है और कभी-कभी इतना अधिक भेजता है कि वह आमाशय तक पहुँच जाता है। पित्तरस पाचक नहीं है, पर भोजन में चर्बी को तैय्यार करने का काम करता है। क्लोमरस पाचक है और नशास्ता और शकर और स्नेह को और नोषजनीय पदार्थों को भी घोल कर दूध सा कर लेता है और शरीर में आत्मसात् करने के लिए तय्यार कर देता है। पक्वाशय और क्लोम के रसों में बड़े तेज खमीर होते हैं जिन्हें "उत्सेचक" कहते हैं। इन के मौजूद रहने से ही रासायनिक क्रियाएं हो जाती हैं। स्वयं इन के खर्च होने की जरूरत नहीं पड़ती। एक खमीर तो मंड या नशास्ता और शकर को पचाता है दूसरा चर्बी को पचा डालता है, तीसरा प्रत्यमीनों को।

आमाशयिक अन्नरस धीरे-धीरे आंत में आगे बढ़ता है। उस की भी तो मांसपेशियां हैं जो सिकुड़ती हैं और अन्न को आगे बढ़ाती हैं। एक सेकंड में एक इंच के लगभग अन्न आगे बढ़ता है। अन्न की भीतरी दीवारों में न केवल ग्रंथियां हैं बल्कि रोएं की तरह निकली हुई सूक्ष्म अंगुलियां हैं जो दीवार को मखमल का-सा रूप दे देती हैं और जगह-जगह आंतें सिकुड़ी हुई हैं जिस में उंगलियों को अधिक विस्तार मिले और यह अगणित अंगुलियां अन्नरस में डूब कर पोषक पदार्थ को सोख सकें। सोखने के लिए सब मिलाकर लगभग सोलह वर्गफुट धरातल छोटी आंतों में मिलता है और इसी जगह से रक्त में या लसीका में पोषक पदार्थ जा मिलता है। बाकी बचा हुआ पदार्थ बड़ी आंतों में चला जाता है। यह बड़ी आंतें निचले भाग में बहुत चौड़ी होती हैं।

बड़ी और छोटी आंतों के ठीक मेल की जगह पर केंचुए की शकल की अंधांत्र बाहर को निकली हुई होती है। बाहर की ओर की राह बंद है और भीतर की ओर आंतों की तरफ़ का रास्ता बहुत तंग है। कभी-कभी बीज आदि कोई कड़ी चीज़ उस में जाकर अटक जाती है और प्रदाह पैदा करती है। खरहा आदि जानवरों में यह अंधांत्र बहुत बड़ी होती है और इस में छिद्रोजों को तोड़कर घुलाने के लिए कीटाणु भरे रहते हैं। शाकाहारी पशु बहुत ही मोटे छिद्रोजवाले खाने खाता है इसलिए उसे इस की बड़ी ज़रूरत है। आमाशय के अम्ल रसों से छिद्रोज नहीं घुलता। मनुष्य में यह काम बड़ी आंतों में खरबों और नीलों कीटाणु मिलकर करते हैं। आदिम मनुष्य शायद बहुत कड़ी चीज़ें खाता रहा होगा। तब उस की अंधांत्र बड़ी रही होगी। ज्यों-ज्यों वह कोमल पदार्थ खाने का अभ्यासी होता गया त्यों-त्यों अंधांत्र घटती गयी। बड़ी आंतों में जो कीटाणु हैं वही अंधांत्र में भी होते थे।
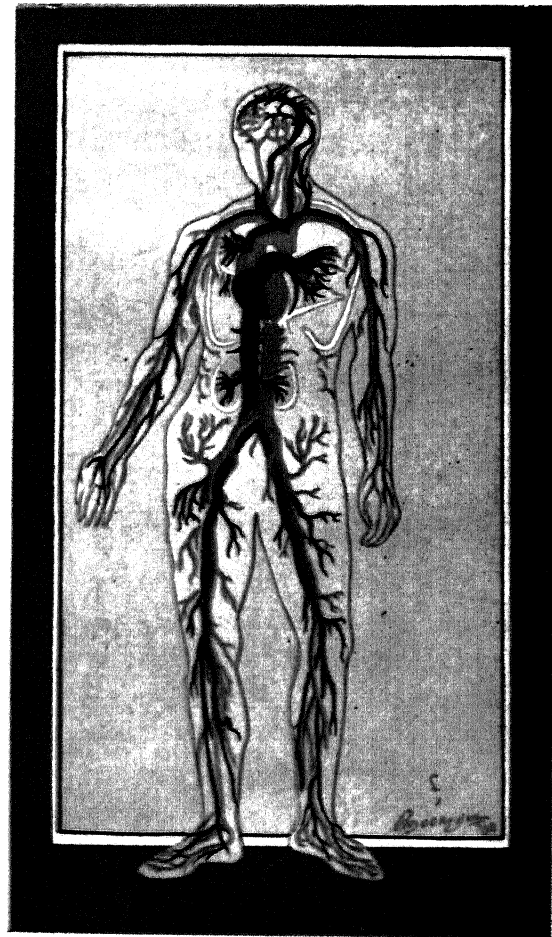
चित्र १०८—रक्त-संस्थान। धमनियां लाल और शिराएं नीली दिखायी गयी हैं।

[पृष्ठ २०१ के सामने

यह शरीर के लिए उपयोगी होते हैं। सभी कीटाणु रोग नहीं पैदा करते। कुछ ही कीटाणु हैं जो रक्त में विष फैलाते हैं और प्राणी को रोगी कर देते हैं।

५—रक्त-संस्थान का डाक-विभाग

रक्त को यदि हम प्राणरस कहें तो अनुचित न होगा। इस का चक्कर एड़ी से लेकर चोटी तक सारे शरीर में लगता है। हम ने देखा कि हमारे रसोई घर में किस तरह अन्न पकाकर तैयार किया जाता है। परंतु साथ-ही-साथ अन्न ज्यों-ज्यों तैयार होता है त्यों-त्यों शरीर का डाक-विभाग आवश्यकतानुसार सभी अंगों को अन्न पहुँचाता रहता है। शरीर की खूनी डाक रग-रग में पहुँच कर हर एक सेल को भोजन पहुँचाती है। यह साधारण चीज़ नहीं है। सूई चुभोकर ज़रा-सा अँगुली का रक्त निकाल कर अनुवीक्षण यंत्र में देखा जाय तो
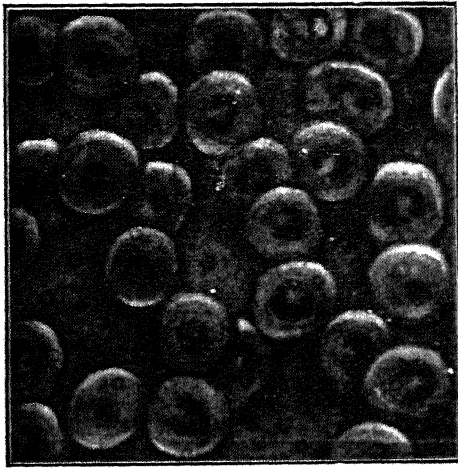
चित्र १०१—रक्ताणु

अनगिनितियों छोटी-छोटी टिकियां पैसों की गड्डियों की तरह जल सरीखे पीले द्रव में देख पड़ती हैं। यह द्रव शरीर का भोजन है और धुले हुए कूड़ा करकट को बाहर निकालने का भी साधन है। लाल टिकियां रक्ताणु हैं। ये फेफड़ों से ओषजन को लेकर शरीर के विविध अवयवों के पास पहुँचाते हैं। इन्हीं के कारण खून का रंग लाल होता है। रक्ताणुओं की सुर्ख़ी का कारण लोहा है और यद्यपि रक्ताणु के एक-एक अणु में लगभग दो हज़ार परमाणु के लोहा है तो भी खून में लोहे की इतनी सूक्ष्म मात्रा है कि लोहेवाली ओषधियों की वह मात्रा जो हम खाते हैं उस की तुलना में लोहे की पहाड़ी सी है। इसलिए वह रक्ताणुओं से मिल नहीं पाती। उन्हें खाकर हम उस की मात्रा को बढ़ा नहीं सकते। रक्त का लोहा जिस सूक्ष्मता की अवस्था में है उस अवस्था में पहुँचाना असाधारण रीति से ही हो सकता है।

जिस पीले द्रव में यह लाल रक्ताणु तैर रहे हैं वह और प्राणियों के रक्ताणुओं को जो मनुष्य से भिन्न हैं नष्ट कर डालता है। मनुष्य के रक्तरस में वनमानुसों के रक्ताणु या वनमानुसों के रक्तरस में मनुष्यों के रक्ताणु अच्छी तरह रह सकते हैं। इस से यह भी पता चलता है कि वनमानुसों से मनुष्यों का रक्त-संबन्ध है।

रक्ताणुओं के सिवाय सफेद रंगवाले श्वेताणु भी हमारे रक्त में होते हैं। यह अत्यंत सूक्ष्म बे रंग के गोल-गोल अमीबा सरीखे वृद्धि करनेवाले प्राणी हैं। अगर रक्त में कीटाणु आ जायं तो यह तुरंत उन्हें घेर लेते हैं और पचा जाते हैं। जैसे रक्ताणु ओषजन को पहुंचानेवाली डाक का काम करते हैं वैसे ही श्वेताणु रक्त में पुलिस का काम करते हैं और चोर डाकुओं से रक्षा करते हैं। कीटाणुओं की संख्या बड़ी तेजी से बढ़ती है और कभी-कभी श्वेताणुओं को घोर युद्ध करना पड़ता है। इसी से रक्त का तापक्रम बढ़ जाता है। यदि श्वेताणुओं की जीत होती है तो रोग मिट जाता है। हार हुई तो दशा भयानक हो जाती है। कीटाणु विष उपजा कर रक्त को दूषित करते हैं परंतु रक्त प्रति-विष उपजा कर विष को मार देता है। हाल में मरे हुए कीटाणुओं से ओप्सोनिन नाम की एक प्रकार की चटनी बनायी गयी है जिस से जीवित कीटाणु श्वेताणुओं को बहुत स्वादिष्ट लगते हैं। और वह अधिक उत्साह से कीटाणुओं को खाते हैं। इस अद्भुत क्रिया द्वारा शत्रुओं से शरीर की रक्षा की जाती है।

अब यह देखना चाहिए कि यह खूनी डाक शरीर के अंग-अंग में किस तरह पहुंचायी जाती है। इस के चक्कर का केन्द्र-कार्यालय हृदय है जो कि छाती के बीच से कुछ बायीं ओर नीचे की तरफ बराबर धड़कता रहता है। उस में से एक बड़ी नलिका निकलती है जिसे धमनी कहते हैं। जैसे पेड़ के तने में से कई बड़ी शाखाएं होकर भिन्न दिशाओं में जाती हैं और मोटी शाखाओं में से पतली शाखाएं और फिर टहनियां निकल कर बहुत बारीक रूप में फैल जाती हैं, उसी तरह इस धमनी में से भी पहले बड़ी फिर छोटी फिर उस से भी छोटी, होते-होते बाल से भी बारीक धमनी की शाखाएं निकलती हैं। इन सूक्ष्म नलिकाओं से जिन्हें धमनी की "केशिका" कहते हैं, शुद्ध रक्त शरीर के कोने-अँतरे तक पहुंच जाता है। दांत और हड्डियां तक बाकी नहीं बचतीं। हड्डियों से और दांतों से और शरीर के हर भाग से जहां-जहां केशिकाएं गयी हुई हैं रक्त पहुंचकर लौटता है। परंतु उसी मार्ग से नहीं लौटता। धमनी केशिकाओं से एक और तरह की केशिकाएं मिली हुई हैं। जिन्हें "शिराकेशिका" कहते हैं। इन्हीं की राह रक्त का प्रवाह अब बदलकर केन्द्र कार्यालय अर्थात् हृदय की ओर जाता है। इन केशिकाओं का संबंध बढ़ती हुई मोटाई की शिराओं से होता है जो धीरे-धीरे हृदय तक पहुंचते-पहुंचते धमनी की सी बड़ी शाखाएं हो जाती हैं। धमनी के द्वारा शुद्ध रक्त सारे शरीर में पहुंचता है और शिराओं के द्वारा गन्दा खून सारे शरीर से बटोरकर हृदय की ओर लाया जाता है। हृदय का केंद्र कार्यालय मानों एक दफ्तर है जहां शरीर की म्युनिसिपैलिटी का दोनों काम होता है, शुद्ध जल का पंप द्वारा शहर भर में पहुंचाना और गंदे जल के परनालों को पंप कर के एक जगह पर लाना। म्युनिसिपैलिटी गंदे जल को या मैले को बहा देती है या खाद के काम में लाती

है परंतु शरीर गंदे रक्त को शुद्ध कर लेता है और उस में आवश्यक पदार्थ मिलाकर फिर शरीर में भेजता है।
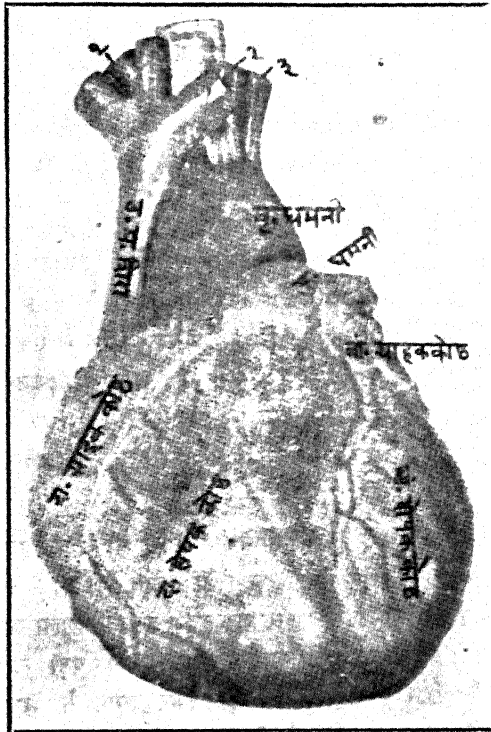
चित्र ११०—मानव हृदय

ग्रन्थकार की कृपा से] [हमारे शरीर की रचना से

६—हृदय का पंप-घर

मानव हृदय में चार कोठे हैं। दो कोठों में रक्त आता है, दो से निकाला जाता है, जो क्रम से ग्राहक और क्षेपक कोष्ठ कहलाते हैं। दहना ग्राहक कोष्ठ शरीर से, दो ऊपर की शिराओं से और एक नीचे की शिरा से, गंदा खून पाता है। यह रक्त दहने क्षेपक कोष्ठ में से गुजरता है और फुप्फुस धमनियों की राह से फेफड़ों में फेंका जाता है। फेफड़े में शुद्ध होकर रक्त फिर फुप्फुसीय शिराओं के द्वारा बायें ग्राहक कोष्ठ की ओर लौटता है।

बायें ग्राहक कोष्ठ से रक्त बायें क्षेपक कोष्ठ में गुजरता है जहां से नियमित अर्ध

चन्द्राकार कपाटमय नलिका द्वारा शरीर में भेजा जाता है। इस अर्धचंद्र से पहली धमनी तो बाहु और सिर को अपनी दो शाखाएं भेजती हैं, दूसरी धमनी और तीसरी भी सिर और बाहु को जाती है। यह पीछे की ओर मुड़ कर घूमती हुई पीछे की बृहत् धमनी बनाती है जो पीछे के समस्त शरीर को रक्त पहुंचाती है।

शरीर के इस पंप वाले कार्यालय में यह विशेष प्रबंध है कि साफ और गंदा खून मिलने नहीं पाता। मानव हृदय के दो बिल्कुल अलग-अलग विभाग हैं। अधिकांश उरगों में यह विभाग बहुत कम अलग हैं और मिला-जुला खून भी शरीर में फैल जाता है। परंतु पशुओं और पक्षियों में दोनों विभाग बिल्कुल अलग-अलग हैं।

हृदय एक मोटी मांसपेशी की थैली है जिस की दीवारें मनुष्य के शरीर में अधिक-से-अधिक मोटाई की जगह में आधे इंच के लगभग होती हैं। इस को एक ओर से तो शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में रक्त उलीचना पड़ता है और दूसरी ओर शरीर के अवयवों में रक्त ढकेलना पड़ता है। इसीलिए इस के दो भाग हैं। प्रत्येक आधे में एक छोटी सी कोठरी रक्त के लेने के लिये रहती है जिसे हम ग्राहक कोष्ठ कह आये हैं। इसी के ऊपर एक बड़ा घर होता है जो ऊपर की ओर फेफड़ों में खून को उछाल देता है। हर सूराख पर इस तरह के ढकने लगे हुए हैं कि एक तरफ को खुलते हैं पर दूसरी तरफ को बंद हो जाते हैं जिस में रक्त का बहाव एक ही ओर को रहे।

हृदय का यंत्र ऐसा अद्भुत है कि वैज्ञानिकों को यह अब तक पता नहीं लगा है कि किस तरह पर उस के धड़कने को नियमित रक्खा जा सकता है। प्रौढ़ स्वस्थ और आराम करते हुए मनुष्य का रक्त हर मिनिट में बहत्तर बार हृदय द्वारा उछाला जाता है। इस छोटे से यंत्र में दस बीस हजार बहुत सूक्ष्म मांसपेशियां हैं जो बड़ी चतुराई से इस की भीतों में लगी हुई हैं जिन के सहारे यह कोष्ठ हर तरफ से इतनी जल्दी-जल्दी मुट्ठी की तरह बंधते रहते हैं जिस से कि खून को वह उछाल मिलता है कि चक्कर लगाकर फिर उसी जगह तक पहुंच जाता है। ऐसा भी कोई न समझे कि हृदय कभी आराम नहीं करता है। वह तो हर धड़कन के बाद सुस्ता लेता है। और हर बार सुस्ताकर फिर काम करता है। अचरज की बात तो यह है कि तुम ने उठकर काम करने का इरादा किया और हृदय महाराज ने यह समझकर कि और अंगों को अब ज्याद: खून चाहिए तेजी से काम करना शुरू कर दिया। जब हम बैठे रहते हैं तब हर मिनिट में उन्नीस-बीस छटांक खून उछाला जाता है। जब हम तेज चलते होते हैं तब एक मिनट में छः सेर से ज्याद: खून हृदय ढकेला करता है। जो आदमी सीढ़ियों पर दौड़ता हुआ चढ़ता है वह अपने हृदय से एक मिनिट में लगभग चौदह सेर खून उछालने को लाचार करता है। बाँया क्षेपक कोष्ठ हृदय का खास पंप है। इसी में से होकर रक्त एक बड़ी नलिका में ढकेला जाता है जिसे महाधमनी या बृहत्धमनी कहते हैं। जब रक्त इस के भीतर घुसता है तब इस की लचीली दीवारें फैल जाती हैं और जब रक्त घुस आता है तो धीरे-धीरे सिकुड़ जाती हैं जिस से कि रक्त को आगे बढ़ना पड़ता है। इस

तरह धमनियों के बराबर झोंका सहते-सहते धक्के के बल से हृदय से जो खून रुक-रुक आता है धीरे-धीरे अनवरत धारा की तरह बहने लगता है। धमनियों की शाखाएं हर एक दिशा में फैली हुई हैं जिस में हर एक अवयव को भोजन
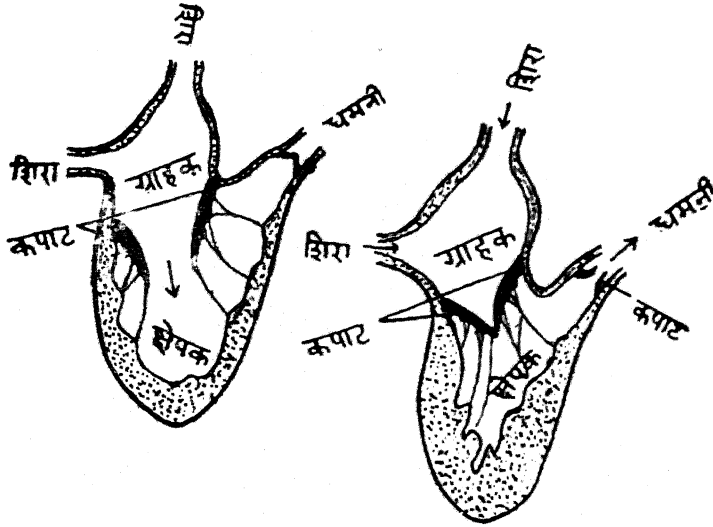
चित्र १११—हृदय के दाहिने भाग के कपाट

ग्रन्थकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

(१) ग्राहक कोष्ठ सिकुड़ कर रक्त को क्षेपक कोष्ठ में ढकेल रहा है। ग्राहक और क्षेपक कोष्ठों के बीच के किवाड़ खुले हुए हैं।

(२) क्षेपक कोष्ठ सिकुड़ रहा है। किवाड़ जो पहले खुले थे अब बंद हो गये हैं। ग्राहक कोष्ठ में रक्त शिरा से आ रहा है। क्षेपक कोष्ठ से रक्त निकलकर फुफ्फुसीय धमनी में जा रहा है।

पहुँच सके। जब अवयवों तक शाखाएं पहुँचती हैं, अत्यंत बारीक हो जाती हैं और असंख्य हो जाती हैं। यह केशिकाएं हैं। तीन हजार केशिकाएं एक पांती में समानांतर रख दी जायं तो एक इंच से ज्यादः न होंगी। इन रक्तवाहिनियों की भीत इतनी सूक्ष्म होती है कि रक्त का पोषक पदार्थ इन्हीं भीतों से छनकर अवयवों वा तंतुओं में पहुँच जाता है। साथ ही तंतुओं के मल इन्हीं भीतों से छनकर रक्त में आ जाते हैं। यह भी एक विकट क्रिया है। वस्तुतः होता यह है कि प्रत्येक तंतु की प्रत्येक सेल अपने-अपने लिए उपयुक्त अन्न और ओषजन रक्त से ले लेती है और ओषजन किसी विकट रासायनिक

क्रिया में कर्बन से मिलकर कर्बन-द्वयोषिद बनाता है। यह कर्बन-द्वयोषिद मल है जो फिर पास ही की केशिकाओं की भीत में से घुसकर रक्त में मिल जाता है। इस के मिलने से रक्त में नीलिमा आ जाती है।
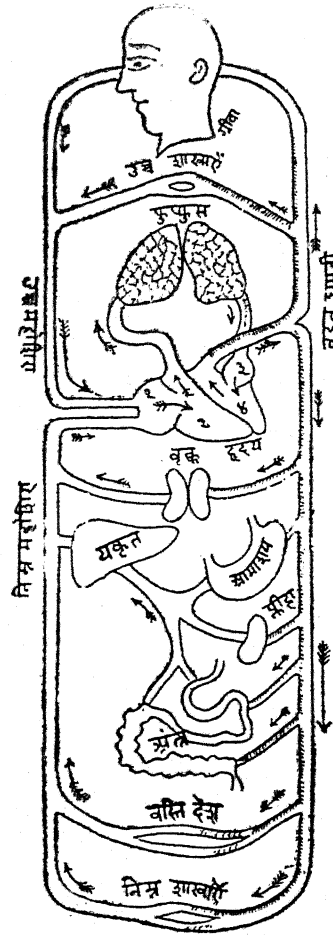
चित्र ११२—रक्त-संचरण-चक्र

हमारे शरीर की रचना से] [ग्रन्थकार की कृपा

हृदय एक मिनिट में औसत ७२ बार धड़कता है। अर्थात् उस की भीतें सिकुड़ती हैं। हृदय के दो भाग हैं। हर भाग में एक ग्राहक और एक क्षेपक यह दो कोष्ठ हैं। दोनों भागों में कोई सीधी राह नहीं है। दहने भाग से फेफड़ों में बारीक केशिकाओं द्वारा रक्त

जाता है और वहां शुद्ध होता है। फिर फेफड़े से बायें भाग में रक्त आता है और बायें क्षेपक कोष्ठ से बड़ी धमनियों से होकर सारे शरीर में चक्कर लगाता है। धमनियों की अनंत शाखाएं प्रशाखाएं फूटते-फूटते बाल से भी बारीक नालियां हो जाती हैं। शरीर का कोना-कोना चप्पा-चप्पा रक्त से सिंचता है। फिर इसी क्रिया में रक्त गंदा भी होता है। उस में से भोग योग्य पदार्थ शरीर ले लेता है, मल और विष रक्त के हवाले कर देता है। फिर यह गंदा रक्त शिराकी केशिकाओं से होकर धीरे-धीरे बड़ी-से-बड़ी शाखाओं में से चलकर बृहत् शिराओं या महाशिराओं के द्वारा फिर शुद्ध होने के लिए हृदय के मार्ग से फेफड़े में जाता है। यह चक्र निरंतर तब तक चलता रहता है जब तक मनुष्य जीता है।

उस स्थान पर जहां धमनी की अनंत सूक्ष्म शाखाएं अर्थात् केशिकाएं बनती हैं एक तरह का पेंच लगा रहता है जो रक्त को नियमित रूप से आने देता है। धमनी के चारों ओर मांसपेशी के रेशे लिपटे रहते हैं। इन्हीं के बल से धमनी फैलती सिकुड़ती रहती है और किसी विशेष तंतु को रक्त का मिलना कम या अधिक हो सकता है। आदमी जब खाने बैठता है तो यह पेंच पाचक अंगों की ओर पूरा खुल जाता है और मांसपेशियों और मस्तिष्क की ओर कुछ थोड़ा बंद होता जाता है। जब हम खड़े होते हैं या कमरे में में चलने लगते हैं तो विविध मांसपेशियों को काम करना पड़ता है। इसलिए उन की ओर पेंच खुल जाते हैं। जब मांसपेशियों को सारा रक्त मिलने लगता है तब दिमाग और पाचक अंगों को कम मिलता है। कुछ देर खड़े रहने से रक्त-संस्थान को यह देखना पड़ता है कि सिर से हटकर पावों में रक्त इकट्ठा न हो जाय लेकिन जब बहुत देर तक खड़ा रहना पड़ता है तब इस बंदोबस्त में त्रुटि आने लगती है। दिमाग को खून कम मिलता है। चक्कर या बेहोशी आने लगती है। कमजोरी मालूम होती है।

धमनियों के मांसपेशियों से सुषुम्ना नाड़ी तक असंख्य नाड़ियां गयी हुई हैं। वह पेंच सुषुम्ना नाड़ी से चलनेवाली नाड़ियों के द्वारा खबर पाकर खुलता है और बंद होता है। परंतु वैज्ञानिक यह नहीं कह सकता कि मनुष्य-शरीर-रूपी यंत्र के ये जड़ अंग ऐसी पूर्णता से किस प्रकार व्यवहार करते हैं। जिन हारमोनों की चर्चा कर चुके हैं वह प्रणाली-रहित ग्रंथियों में बनते हैं और खून की डाक द्वारा किसी दूर के अंग को भेज दिये जाते हैं। इन्हीं में से एक हारमोन रक्त के संबंध में भी काम करता है। जब आदमी देर तक मेहनत का काम करने के लिए तैयार होता है तो उसी समय नाड़ी के समाचार वृक्कों के पासवाली उन ग्रंथियों को उत्तेजित करते हैं जिन्हें "उपवृक्क" कहते हैं। इन ग्रंथियों से [अड-रीनलिन] अड्रेनलिन या उपवृक्किन नाम का रासायनिक पदार्थ बनकर रक्त में पहुँचता है। यह एक हार्मोन है जो रक्त के साथ चक्कर लगाकर जब छोटी धमनियों तक पहुँचता है तब पेंचों को बंद कर देता है और जिन अंगों को उस समय काम नहीं करना है उन की तरफ खून जाना बंद कर देता है। इस तरह जिन अंगों को कड़ी मेहनत करनी है सारा खून उन्हीं की तरफ जाने लगता है।

जब खून तंतुओं में से होकर चलता है, भोजन पदार्थ दे डालता है, और मल

रूप कर्बन-द्वयोषिद और घुलनशील नोषजनीय कूड़ा ले लेता है, तब हृदय की ओर लौटता है। यह नयी केशिकाओं में प्रवेश करता है और इन केशिकाओं की अनंत धाराएं शिराओं में मिल जाती हैं। शिराओं की दीवारें धमनियों की भीतों से पतली होती हैं क्योंकि अब दबाव कम है। परंतु जगह-जगह बड़े विचित्र ढकने लगे हुए हैं। इन के कारण रक्त लौट कर उलटे नहीं चल सकता। अपनी बाँह की नील शिराओं से अपनी अंगुलियों तक अगर कोई नीले रक्त को भेजना चाहे तो देख सकता है कि जगह-जगह मार्ग में रुकावट डालनेवाली गांठें खड़ी हो जाती हैं। इस तरह दूषित श्याम रक्त बराबर बहकर हृदय के जिस ओर से चला था उस की दूसरी को लौटकर दहने ग्राहक कोष्ठ में आता है और उसी ओर के क्षेपक कोष्ठ में पहुँचता है। यहां से धड़कन द्वारा फुफ्फुसों में जाकर अपना सारा मल छोड़ देता है और ओषजन लेकर फिर शुद्ध लाल रंग का हो जाता है। फिर यही बांयें ग्राहक कोष्ठ में आकर बांयें क्षेपक कोष्ठ में से धमनियों में धकेला जाता है। शरीर के लिए इस प्राण-रस का निरंतर इसी तरह चक्कर लगता रहता है।

तेरहवां अध्याय

मनुष्य का प्राणमय कोष

(१) श्वास-यंत्र

पिछले प्रकरण में हम कह चुके हैं कि दूषित रक्त मल से लदा हुआ हृदय के दहने चोपक कोष्ठ से फुफ्फुस में जाता है और वहाँ मल विसर्जन करके ओषजन चूसकर शुद्ध लाल रक्त हो जाता है। तब वह बायें ग्राहक कोष्ठ में होते हुए क्षेपक कोष्ठ से बृहत् धमनी में धकेला जाता है। फुफ्फुस में रक्त का सब से बड़े महत्व का काम होता है। शरीर के भीतर रक्त के शोधन के लिए दो यंत्र बड़े महत्व के हैं। एक तो फुफ्फुस और दूसरे वृक्क। फुफ्फुस में कर्बन-द्वयोषिद का विसर्जन होता है और वृक्कों में नोषजनीय घुलनशील मलों का। शरीर को यदि हम भापवाले यंत्र के समान समझें तो अनुचित न होगा। भापवाले यंत्र में जैसे ईंधन देना पड़ता है उसी तरह पेट में भोजन पहुंचाना पड़ता है। अंजन में जैसे हवा धौंकने की ज़रूरत होती है वैसे ही फुफ्फुस की धौंकनी से बराबर भीतर को सांस जाती रहती है। भीतर जब ईंधन चलता है अर्थात् जठराग्नि से जब अन्न पचता है तब उस से गर्मी पैदा होती है और प्राणी का काम उसी से चलता है।

हवा नथुनों की राह से प्रवेश करती है। मुँह से सांस कभी न लेना चाहिए। नाक में प्रकृति ने जो प्रबंध रक्खे हैं मुँह में नहीं हैं। इसलिए मुँह से सांस लेना भयानक है। नाक के अंदर वायु को गरमाने का प्रबंध है क्योंकि रक्त-वाहिनियां भरी हुई रहती हैं और जाड़ों में इस का बंदोबस्त अधिक रहता है। नाक के बाल सांस को छानकर भेजते हैं। हवा में रहनेवाली विजातीय वस्तुएं बालों से रुक जाती हैं। सूखी हवा नथुनों में जाकर नम हो जाती है। नाक में श्लेष्मा की झिल्ली होती है जो बड़े काम की चीज है। नम, कसे हुए और बे-हवावाले कमरों में रहने से यह झिल्ली रक्त और श्लेष्मा से कम उठती है। और आदमी को सर्दी हो जाती है। हवा नाक के भीतर से चलकर जिह्वामूल के पीछे की हवा की नाली से चलकर अन्नमार्ग को पारकर के श्वासमार्ग पर आती है जहां उसे

अपने से खुलने और बंद होनेवाला द्वार मिलता है। इस के पीछे स्वररज्जु हैं जो बोलने में काम आते हैं। इस के आगे हवा की नली की दो शाखाएं हो जाती हैं जिन्हें वायु नलिकाएं कहते हैं। एक-एक शाखा एक-एक फेफड़े को जाती है। जो कीटाणु नाक के चौकी-पहरे से बचकर यहां तक आ गये हैं या जो गर्द-गुबार इस तरह से आ गया है उस को

चित्र ११२—फुप्फुस
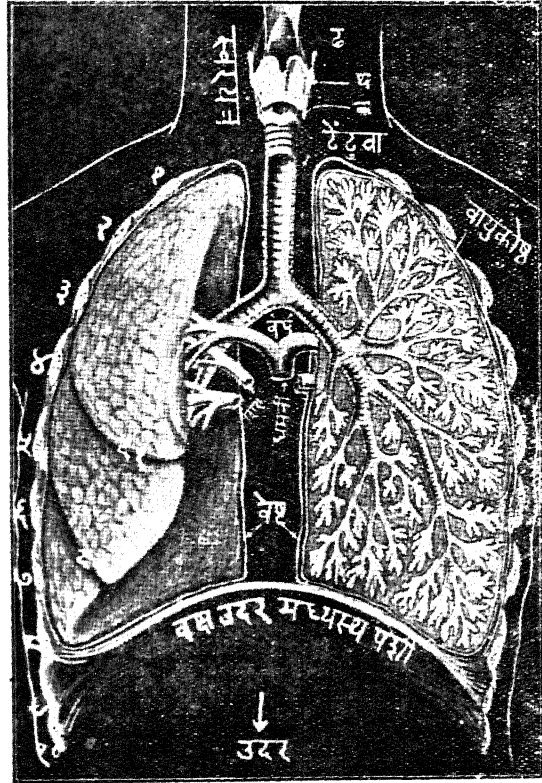
रोकने का यहां बढ़िया बन्दोबस्त है। इन नलियों में कफ की एक तह जमी हुई है जिस में कीटाणु फँस जाते हैं और अनंत सूक्ष्म बरौनियों के से रेशे हैं जो बड़े क्रम से बराबर उठते-बैठते रहते हैं और द्वार की ओर बराबर इन की क्रिया जारी रहती है जिस से आनेवाला धीरे-धीरे बाहर की ओर ही धकेल दिया जाता है। यदि कुछ जोखिमवाले कीटाणु उन पर बैठ भी जायँ तो ग्रंथियों में से बहुत सा कफ आकर उन्हें घेर लेता है और समय-समय पर सर्दी और खांसी के रूप में उनको फेफड़ा निकाल बाहर करता है।

श्वास मार्ग जब फेफड़ों की ओर जाता है तो उस की प्रधानतः दो शाखाएं हो जाती हैं और हर एक शाखा की छोटी-छोटी उपशाखाएं और हर उपशाखा में केशिकाओं की बहुत सूक्ष्म नलिकाएं निकल कर दोनों फुफ्फुसों में फैली हुई रहती हैं। हर बारीक नलिका के अन्त में बहुत सूक्ष्म वायु-मंदिर बीसों की संख्या में होते हैं। दोनों फेफड़ों में यह वायु-मंदिर साठ लाख के लगभग होते हैं। लंबाई में यह बराबर रखे जायँ तो एक इंच में दस वायु मंदिर आ जायँगे और अगर हर एक वायु मंदिर को खोल कर फैलाया जाय और एक साथ सब जोड़ दिए जायँ तो हमारी खाल की ऊपरी सतह सारे शरीर में जितनी है उसकी सौगुनी सतह इन वायु-मंदिरों की हो जायगी। इस अद्भुत यंत्र में साँस से खींची हुई हवा हमारे शरीर के सौगुने तल पर लगती है और काम करती है। औ सीधे रक्त में मिल जाती है। यह क्रिया एक मिनट में पंद्रह बीस बार होती है। जब हम गहरी सांस लेते हैं तब लगभग एक-एक गिलन हवा बाहर से खींच लेते हैं और मामूली सांस में लगभग आधे गिलन के खींचते हैं। इस तरह आदमी मामूली साँस लेते हुए एक मिनिट में आठ दस गिलन हवा अपने शरीर के भीतर ले जाता है। हवा प्राण है। सारे शरीर के रक्त को यही साफ करती है। गहरी साँस लेने से रक्त की दूनी सफ़ाई होती है। इसी लिए नाक से गहरी साँस लेते रहने की आदत डालना स्वास्थ्य के लिए बहुत हितकर है और जहाँ कहीं आदमी रहते हों वहाँ उन की साँस के लिए काफी हवा आने का पूरा बन्दोबस्त रहना भी ज़रूरी है।

यह साँस की मशीन हमारे जागते-सोते सभी दशाओं में चलती रहती है। हम जब तक जीते रहते हैं तब तक फेफड़ों की धौकनी बराबर बिना रुके चलती ही रहती है। इन के चलाते रहने के लिए नाड़ीजाल के तार उसी तरह लगे रहते है जिस तरह बिजली के पंखों के लिए तार लगे रहते हैं। मस्तिष्क के सब से निचले भाग को सुषुम्ना शीर्षक कहते हैं। यह सुषुम्ना नाड़ी का एक चक्र है। यह चक्र रक्त में इकट्ठे होनेवाले कर्बन-द्वयोषिद से बराबर उत्तेजित होता रहता है। इसी लिए यह अपने-आप पसुलियों और वक्षोदर-मध्यस्थ पेशी के पास बराबर समाचार भेजता रहता है। इसी तरह के समाचार से जब-जब हम साँस भीतर ले जाते हैं तब-तब बाहर जोड़ी मांसपेशियां एक साथ मिलकर छाती को फैलाती हैं और दूसरी मांसपेशियां थैले को सिकुड़ा देती हैं और कर्बन-द्वयोषिद से भरी हवा को बाहर निकाल देती हैं। यह महत्व का काम जल्दी-जल्दी होता रहता है। हम जब साँस बाहर निकालते हैं तो सारी हवा बाहर नहीं निकल जाती। केवल पंचमांश निकलती है। अगर हम बलपूर्वक फेफड़ों को खाली करना चाहें तो नहीं कर सकते, क्योंकि वायु-मंदिरों का मुँह अपने-आप बंद हो जाता है। बाहरी और भीतरी हवा की अदला-बदली बराबर जारी रहती है। जब हम मांसपेशियों से कड़ी मेहनत लेते रहते हैं तब कर्बन-द्वयोषिद की मात्रा रक्त में अधिक होती जाती है, जिस से सुषुम्ना नाड़ी को अधिक उत्तेजना मिलती है और फेफड़ों की मांसपेशियों के पास तारों का ताँता बँध जाता है और हम साँस लेने के लिए हाँफने लगते हैं। इसी के विपरीत जो लोग मांसपेशियों से बहुत कम मेहनत लेते हैं या जिन्हें बैठे-बैठे काम करना पड़ता है वह फेफड़ों से केवल

मांश काम लेने के आदी हो जाते हैं। ऐसे लोग पीले पड़ जाते हैं। उन के शरीर में रक्ताणु घट जाते हैं। उन के लिए खुली हवा में व्यायाम और टहलना इसी लिए बहुत जरूरी है।

वायु मंदिरों की भीत अत्यंत सूक्ष्म होती है। वह प्रायः उतनी ही पतली होती है जितनी कि साबुन के बुलबुलों की दीवारें होती हैं। इन वायु-मंदिरों के बाहर उतनी ही सूक्ष्म भीतोंवाली रक्तवाहिनी केशिकाएं होती हैं। यह वायु-मंदिरों से सटी हुई अनगिनत संख्या में होती हैं। इन्हीं भीतों में से होकर नन्हें नन्हें रक्ताणु अपने कर्बन-द्वयोषिद वायु मंदिरों में डाल देते हैं। यह क्रिया वायु के गौंजने के अद्भुत नियम से होती है। हल्की वायु भारी वायु से जल्दी गौंजती है। कर्बन द्वयोषिद ओषजन की अपेक्षा अधिक भारी वायु है। परंतु केवल गौंजने से यह क्रिया पूरी नहीं हो सकती। रक्ताणुओं में विसर्जन और आकर्षण की विशेष शक्ति होती है। फेफड़े में वायु-मंदिर और रक्तवाहिनियाँ दोनों साथ-साथ काम करते हैं। यह रक्त वाहिनियाँ हृदय के दहिने भाग से फेफड़े में आती हैं और फेफड़े की धमनियाँ कहलाती हैं।

यह कर्बन-द्वयोषिद से लदी हुई आती हैं। जब फेफड़े में कर्बन-द्वयोषिद देकर ओषजन से लद जाती हैं तो फिर लाल रंग की होकर हृदय के बायें भाग में प्रवेश करती हैं। इन्हें फेफड़ों की शिराएँ कहते हैं। अब यह शुद्ध रक्त है जो धमनी के मार्ग से शरीरभर में फिर चक्कर लगाता है और ओषजन का पार्सल सब जगह पहुंचाने के लिए डाक-विभाग का काम करता है। जब यही शुद्ध रक्त भिन्न-भिन्न अंगों में केशिकाओं तक पहुंचता है तो वहाँ ओषजन देकर शिरा की केशिकाओं में से कर्बन-द्वयोषिद का नया बोझा लादते हुए हृदय की दहिनी ओर फिर लौट आता है। इस तरह रक्त-संचरण का यह अद्भुत चक्र सारे जीवन में निरंतर चलता रहता है।

सारे शरीर में रक्त के इस निरंतर चक्र के चलते रहने की आवश्यकताओं में से ओषजन और कर्बन-द्वयोषिद का वहन एक भारी आवश्यकता है। ओषजन ही प्राण-वायु है। इसी से शरीर में अग्नि बनी रहती है। वायु को अग्नि का सखा कहते हैं। यहाँ वह केवल अग्नि का सखा नहीं है वह अग्नि को जन्माता है और उस का बराबर पोषण करता रहता है। सारे शरीर में यह प्राण-वायु का चक्र बराबर चलता रहता है। इसी से अन्न पचता है, शरीर को बल मिलता है, और जीवन की सारी क्रियाएं बराबर चलती रहती हैं। थोड़ी देर के लिए ओषजन न मिले और कर्बन-द्वयोषिद का विसर्जन न हो तो सारा शरीर काला पड़ जाय, जीवन की सब क्रियाएं रुक जायँ, फुफ्फुस की धौंकनी थककर रुक जाय और हृदय के पंप का चलना बंद हो जाय और शरीरान्त हो जाय। जैसे हम रक्त को प्राणरस कहते हैं उसी तरह शरीर में काम करनेवाली वायु को प्राण-वायु कहते हैं। जहाँ तक शरीर की क्रिया अन्न के पचाने और मल के विसर्जन में लगी हुई है वहाँ तक शरीर के संपूर्ण संगठन को हम अन्न-मय-कोष कहते हैं। इस में पाचन-संस्थान और रक्त संस्थान दोनों शामिल हैं। जहाँ तक शरीर में वायु के संचरण की क्रियाएं

होती रहती हैं जिन से कि पाचन आदि सभी क्रियाएं सहायता पाती हैं, वहां तक शरीर के संगठन को हम प्राणमय-कोष कहते हैं। प्राणमय-कोष के अंतर्गत शरीर का अग्नि का संस्थान, रक्त संस्थान और समस्त नाड़ी-मंडल संमिलित है।

हमारे शरीर में एक विशेष तापक्रम की गर्मी निरंतर बनी रहती है। इस गर्मी का कारण यह है कि शरीर के भीतर हम जो कुछ भोजन ले जाते हैं उस की आॅक्सिजन के साथ रासायनिक क्रिया होती है। उस से अन्नरस बनकर शरीर की सातों धातुएं बनती रहती हैं। इस रासायनिक क्रिया से अन्न के अवयवों में से छिपी हुई शक्ति ताप या अग्नि के रूप में बराबर निकलती रहती है। इसी रासायनिक क्रिया से एक ओर तो काम की चीजें शरीर में आत्मसात् कर ली जाती हैं और दूसरी ओर बेकार चीज़ें निकालकर बाहर कर दी जाती हैं। इस अद्भुत यंत्र में शरीर की इस अद्भुत रासायनिक क्रिया का सामञ्जस्य निरंतर ऐसा बना रहता है कि शरीर का तापक्रम ९८.४ फ़ारनहाइट की गर्मी स्थिर रहती है। इस तापक्रम से गर्मी ज़रा भी कम या अधिक हुई तो मनुष्य रोगी समझा जाता है। विज्ञान की प्रयोगशालाओं में बहुत उद्योग करने पर भी ऐसी निपुणता से एक तापक्रम पर निरंतर एक ही आंच नहीं रक्खी जा सकती। तापक्रम सौ हो जाय तो हरारत, एक सौ दो हो जाय तो ज्वर, और एक सौ चार हो जाय तो बहुत ज्वर समझा जाता है। एक सौ सात के ऊपर रोगी का बचना असाध्य हो जाता है। अट्ठानवे के नीचे उतरने में "शीत" का भय होता है। पंचानवे के नीचे इतना शीत हो जाता है कि शरीर की सब क्रियाएं शिथिल हो जाती हैं और मृत्यु हो जाती है। ज्वर का बढ़ना बतलाता है कि रासायनिक क्रिया बहुत वेग से हो रही है। शीत से प्रकट होता है कि रासायनिक क्रिया शिथिल हो रही है और तापक्रम के घटते जाने से रासायनिक क्रिया का धीरे-धीरे बंद होना प्रकट होता है।

हमारे शरीर पर बाहरी सर्दी गर्मी का बहुत गहरा प्रभाव पड़ता है। जब बाहरी हवा बहुत ठंडी हो जाती है तब हम कांपने लगते हैं। यह स्वभाव की ओर से सूचना है कि हम को अपने अंग-अंग को हिलाकर बाहरी शीत का मुकाबिला करने के लिए भीतरी गर्मी पैदा करनी चाहिये। इसीलिए पांव पटकते हैं, हाथ मलते हैं या व्यायाम करने लगते हैं। शारीरिक परिश्रम से इतनी गर्मी पैदा हो जाती है कि आदमी बाहरी शीत का अच्छी तरह मुकाबला करने लग जाता है। इसी के विपरीत जब बाहरी गर्मी बहुत बढ़ जाती है तो हमें शरीर के, भीतर की गर्मी को घटाने की ज़रूरत पड़ती है। शीत काल में धमनियों के जो पेंच बंद रहा करते हैं वही कड़ी गर्मी पड़ने लगती है तब खुल जाते हैं और रक्त की गर्मी को खाल की राह से निकलने देते हैं। अगर यह क्रिया काफ़ी नहीं होती तो नाड़ी चक्रों से अपने आप खाल की अनंत स्वेद-ग्रंथियों के पास संदेशे जाते हैं और पसीना निकले लगता है। पसीना को गरम करने के लिए इतनी अधिक गर्मी दरकार होती है कि बाहर की और भीतर की गर्मी का सामंजस्य ठीक बैठ जाता है। हवा सूखी और गरम दोनों हो तो स्वेद की क्रिया से तुरंत आराम होता है। परंतु यदि हवा में नमी भरी हुई है और गर्मी भी है तो पसीना होते हुए भी आराम नहीं मिलता क्योंकि नम हवा पसीने को बहुत कम उड़ाती है। इस का फल

यह हो सकता है कि खून की गर्मी बढ़ जाय और हमारे दिमाग़ पर गर्मी चढ़ जाय। आर्द्र शीत भी अच्छा नहीं होता। हवा में ठंढक और नमी दोनों के होने से हमारी प्राण-शक्ति उस से मुक़ाबला करने में निर्बल हो जाती है और सर्दी के कीटाणुओं को हमारे शरीर पर चढ़ाई करने मौका मिलता है।

जैसे हम फेफड़े से सांस लेते हैं उसी तरह अपनी खाल से भी सांस लेते हैं। हमारी खाल में असंख्य छेद हैं जिन में से पसीना निकलता है। उन्हीं छेदों से बहुत सूक्ष्म रूप में सांस लेने की क्रिया भी होती है। इस तरह प्राणमय कोष सारे शरीर में फैला हुआ है। नित्य के स्नान करने में शरीर की खाल को खूब साफ करना स्वाथ्य के लिए इन्हीं कारणों से बहुत ज़रूरी है। इन्हीं बारीक छेदों से बहुत सूक्ष्म रूप में शरीर का मल और विष भी निकलता रहता है। पसीना और पेशाब एक ही तरह का मल है। सफ़ाई के लिए भी खाल का बारबार धोया जाना ज़रूरी है।

(२) अंग और यंत्र

शरीर के भीतर जितने अंग हैं सब का एक दूसरे से बड़ा घना संबंध है। हड्डियाँ और मांसपेशियाँ भी अन्नमय और प्राणमय कोषों से संबंध रखती हैं। पोषण और पुनर्जनन शरीर के प्रधान काम हैं। इन कामों में शरीर के सभी अंग किसी-न-किसी रूप में सहायता देते हैं।

शरीर में दो सौ हड्डियाँ हैं और दो सौ साठ जोड़ी मांसपेशियाँ हैं। हड्डियों में दाँतों और कुर्रियों की गिनती नहीं की जाती। आश्चर्य होता है कि शुक्राणु और डिंब के अत्यंत सूक्ष्म और कोमल सेलपंक से हड्डी और दांत जैसे अत्यंत कठोर पदार्थों का विकास कैसे होता है। इस विचित्र बात को समझने के लिये हमें यह याद रखना चाहिए, कि जब भ्रूण के सेलों का विकास होने लगता है तब भिन्न वर्गों में उन का विभाजन भी होने लगता है। मांसपेशियों के सेल, नाड़ियों के सेल, हड्डियों के सेल, ग्रंथियों के सेल, सभी तरह के सेल, अलग-अलग होते हैं। उनकी बनावट भी भिन्न-भिन्न हुआ करती है। हड्डी के सेल पहले शरीर का ढाँचा कुर्री या अस्थिकल्प का बनाते हैं। भोजन में से चूनेवाले नमक रक्त में मिल जाते हैं। इसे ही ले लेकर हड्डीवाले सेल हड्डी की रचना करते हैं। तुरंत पैदा हुए बच्चे के जबे में हड्डी बनानेवाले सेल बीस लाख के लगभग होते हैं। यह संख्या बढ़ते-बढ़ते बहुत जल्दी पंदरह करोड़ के लगभग हो जाती है। यही हड्डी को ठोस बनाते हैं और फिर उस के भीतरी भाग को हल्का परंतु मज़बूत कर देते हैं।

हड्डियों के जोड़ हमारे शरीर में दो-सौ तीस हैं परंतु उन में से किसी में आपस में रगड़ने या एक दूसरे से धक्का खाने की बात देखने में नहीं आती। बात यह है कि हर हड्डी के सिरे पर एक तह उपास्थि की बनी रहती है। यह बहुत घनी और लचीली होती है और उस के चारों ओर चिकनाई चुपड़ी हुई होती है। यह चिकनाई क्या है? यह कुर्री के सेल हैं जो अपना काम कर के मर चुके हैं। उन का शरीर चिकनाई में परिणत हो गया

है। साथ ही रगड़ बचाने के लिए और इधर-उधर घूमने घुमाने का सुभीता करने के लिए जोड़ों पर ठीक हिसाब से नपे हुए गड्ढे से बने होते हैं जिसमें जुड़नेवाली हड्डी का गोल सिरा ठीक-ठीक बैठ जाता है।

चित्र ११४—मांसपेशियां।

[हमारे शरीर की रचना से ग्रंथकार की कृपा]
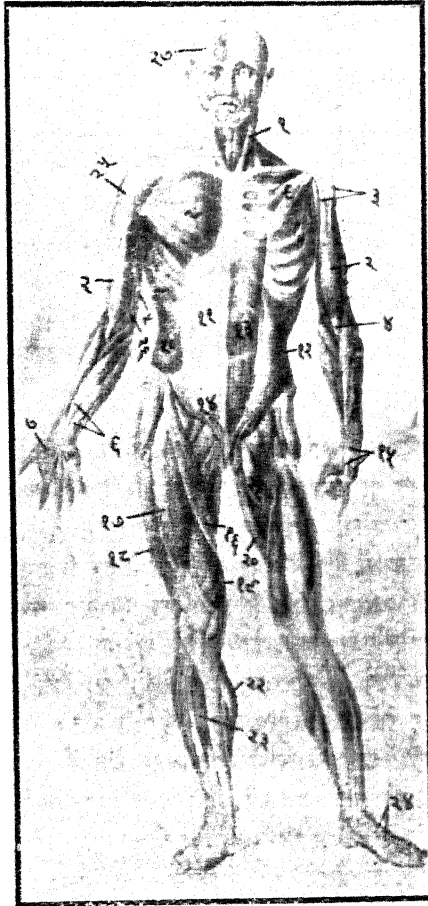
१—शिरश्चालक
२—द्विशिरस्का
३,४—द्विशिरस्का की स्नायु
५—त्रिशिरस्का
६—स्नायु
७—अंगूठे की पेशियां
८—उरश्छादनी बृहती
९—उरश्छादनी लघ्वी

१०—उदरस्थ तिर्यक् पेशी, बाह्य	१७—ऊरु की सरल पेशी
११—उदरस्थ तिर्यक् पेशी की स्नायु	१८—ऊरु-प्रसारिणी, बाह्य
१२—उदरस्थ तिर्यक् पेशी आभ्यंतर	१९—ऊरु-प्रसारिणी, अंतःस्थ
१३—उदरस्थ सरल पेशी	२०—ऊरुकी एक पेशी।
१४—छिद्र। शुक्र-प्रणाली इसी में से होकर उदर में जाती है, इसी में से कभी-कभी आंत अंडकोश में उतर आती है।	२१—ऊरु अंतरनायनी।
	२२—पिंडली की मोटी पेशी।
	२३—जंघे की सामने की पेशी।
	२४—स्नायु।
१५—स्नायु	२५—श्रमाच्छादनी
१६—ऊरु की एक पेशी जिस के संकोच से जांघ पर जांघ रखी जा सकती है।	२६—कूर्पर-नमनी
	२७—शिरश्छदापेशी

हड्डियों को इधर-उधर चलाने का काम मांसपेशियां करती हैं। यह लाल मांस की बनी हुई होती हैं। मनुष्य की भुजा की द्विशिरस्का पेशियों में एक में छः लाख रेशे या सूत्र होते हैं। हर एक सूत्र अनेक बारीक-बारीक रेशों का बना होता है। इन्हीं सूक्ष्म रेशों में खिंचाव का बल हुआ करता है जिस का रहस्य अभी तक विज्ञान बहुत कम समझ सका है। तीन सौ बरस हुए कि साहसी लोगों ने अंगों का विच्छेद करके उन्हें अलग-अलग समझने की कोशिश की फिर प्रत्येक अंग का विच्छेद अवयवों में किया गया। अभी हाल की ही बात है कि इन अवयवों का विच्छेद करके सेलों का पता लगाया गया है। अब हमें मालूम हुआ है कि सेलों का रहस्य उन अणुओं में थोड़ा-बहुत छिपा हुआ है जो प्रत्येक सेल को बनाते हैं। अच्छे-से-अच्छे अनुवीक्षण यंत्र से भी हम इन अणुओं को देख नहीं सकते। विज्ञान की सतत वर्त्तमान गति को देखकर कोई यह नहीं कह सकता है कि कल को अणुओं के देखने का भी साधन न निकल आवेगा और हम उस के रहस्य को जानने के लिए परमाणुओं और विद्युत्कणों तक न जायंगे।

इस में तो तनिक भी संदेह नहीं है कि मांसपेशियां बड़ी अद्भुत जीती जागती यंत्र हैं। हर मांसपेशी के पास धमनियां अन्न और ओषजन की धारा पहुंचाती हैं। मांसपेशियों की सेलें उन में से अपना भोजन चुन लेती हैं और जो कुछ उन्हें नहीं चाहिए, उसे छोड़ देती हैं। इस जूठन या कूड़ा-करकट को शिराएं उठा ले जाती हैं और फुफ्फुस की राह से रोमकूपों से या वृक्कों से उस कूड़े को शरीर के बाहर फेंकने के लिए उन-उन अंगों में पहुंचाती हैं। हर मांसपेशी पर प्रायः सुषुम्ना से आयी हुई नाड़ियों के बारीक सिरे पहुंचते हैं और जब-जब जरूरत पड़ती है इन्हीं सिरों से बिजली की सी वह ताकत आती है जिस से

मांसपेशी के सभी सेल और रेशे एक साथ सिकुड़ जाते हैं और मांसपेशी में लगी हुई हड्डी को उठाते हैं। नाड़ी से आयी हुई उत्तेजना या धक्का बहुत सूक्ष्म होता है। वह वही काम करता है जो एक जलती हुई दियासलाई बारूद के ढेर के साथ करती है। मांसपेशियों का एक ही क्षण में एक साथ मिलकर बड़े नियम से काम करते रहना अत्यंत अद्भुत बात है। जब हम चलते हैं तो पग-पग पर चौवन मांसपेशियां काम करती हैं और वह भी इस अन्दाज से कि बारी-बारी से काम करती हुई कुल तीन-सौ मांसपेशियां चलने के काम में लगी होती हैं। इस में नाड़ी, नाड़ी-केन्द्र और मांसपेशियां बिना हमारे जाने ही मिल-जुलकर नियम से काम करते हैं। वर्त्तमान काल का यह बहुत ही सुन्दर प्रबन्ध करोड़ों बरस से होते आनेवाले विकास का फल है जिस में प्रत्येक दोषवाले शरीर को धीरे-धीरे छांट कर निकाल दिया गया है और जीवन के रगड़े में वही सुधार ठहर सके हैं जो मिल-जुलकर यंत्र की सब से अधिक उपयोगिता को पूरा करते हैं।

———

चौदहवां अध्याय

प्राणमय कोष का तार-विभाग

१—नाड़ी का निर्माण

शरीर भर में सब से अद्भुत संस्थान नाड़ियों का है। इन के तारों का ताना सारे शरीर में फैला हुआ है। इन तारों के केन्द्र-कार्यालय मस्तिष्क में, सुषुम्ना में और नाड़ी-सेलों के कुछ और चक्रों में हैं। नाड़ी की सेलों के गुच्छ जहां मिलकर एक होते हैं वह चक्र कहलाता है और मिले हुए गुच्छों को नाड़ीकेन्द्र या नाड़ीगंड कहते हैं। आदि और प्राथमिक जीवों में न तो नाड़ी है, न मांसपेशी है, न मुंह है, और न पेट है। वह तो एक ही सेल है जो एक बारीक झिल्ली में लपसी के रूप में बन्द है। उस का हर एक अंश अन्न को पचाता है, गति उत्पन्न करता है और अपनी परिस्थिति के अनुकूल व्यवहार करता है। इसी आदिप्राणी का विकास होते-होते बड़े शरीरधारी बने जिन में असंख्य सेलें अद्भुत सामंजस्य से परस्पर मिलकर काम करती रहती हैं और विचित्र श्रम-विभाग प्रकट करती हैं। कुछ सेलें पचाने का काम करती हैं, कुछ नयी सेलों के उपजाने का काम करती हैं और कुछ गति पैदा करती हैं। इसी तरह कुछ ज्ञानवाली सेलें हैं और दूसरी कर्मवाली सेलें हैं। ज्ञानवाली सेलें जब शरीर में विकास करने लगीं तो उन्हों ने अपने लिए जगह-जगह फाटक या द्वार बना लिए। कुछ सेलें प्रकाश को ग्रहण करनेवाली हुईं, कुछ गन्ध को और कुछ शब्द को ग्रहण करनेवाली हुईं। हर एक प्रकार की सेलों ने इकट्ठी हो-हो कर अपने लिए अलग-अलग द्वार बनाये। शुरू-शुरू में यह त्वचा के ऊपर छोटे-छोटे धब्बों या गड्ढों के रूप में दीखने लगे। विकास-क्रम में यही बढ़ते-बढ़ते इन्द्रियग्राम बन गये। गतिवाली सेलों ने अपने द्वार मांसपेशियों के रेशों के पास बनाये। धीरे-धीरे बढ़ते-बढ़ते इन विविध केन्द्रों, चक्रों और द्वारों का नाड़ी के रेशों से संबन्ध जुट गया और एक प्रधान केन्द्र-कार्यालय बन गया जिस का सम्बन्ध इन्द्रियग्रामों से, नाड़ीचक्रों से, मांसपेशियों से, और ग्रंथियों से सीधा स्थापित हो गया। जब रीढ़ की हड्डी का विकास हुआ तब केन्द्रीय

कार्यालयों का प्रधान मार्ग उसी के भीतर से होगा और इसी सुषुम्ना के ऊपरीभाग के बढ़ जाने से मस्तिष्क बना जिस की रक्षा के लिए हड्डी की मजबूत खोपड़ी रची गयी।

हम पहले ही कह चुके हैं कि शरीर में डाक और तार दोनों के विभाग हैं। शरीर में कुछ अंग ऐसे हैं जो रक्त में बहुत आवश्यक रासायनिक भोजन लेकर दूर-दूर के अंगों को पहुंचाते हैं। कितनी ही जल्दी करें यह डाक-विभाग शरीर की आवश्यकता के अनुसार तेज़ी नहीं बरत सकता। इसीलिए तार-विभाग की भी आवश्यकता पड़ती है। मान लो कि गंगा में नहाते समय एका-एकी किसी नुकीले पत्थर पर पांव पड़ गया। उसी क्षण पांव के उस अंश से सुषुम्ना नाड़ी-मंडल में तुरन्त खबर पहुंची। उसी क्षण उस केन्द्र से तुरन्त एक नाड़ी तरंग ने टांग की मांसपेशियों को सिकोड़ दिया जिस से पांव झट पीछे को हट गया। यह क्रिया कितनी शीघ्रता से हुई यह प्रत्यक्ष है। अष्टपाद में यह नाड़ी समाचार लगभग अस्सी इंच प्रति सेकण्ड के हिसाब से जाता है। मेंढक में नब्बे फ़ुट प्रति सेकण्ड का वेग हो गया है। मनुष्य में यही वेग चार सौ फ़ुट प्रति सेकण्ड है।

मनुष्य के शरीर में तो नाड़ी-समाचार पहले दिमाग के भीतर जाकर एक घंटी-सा बजाता है अर्थात् सूचना देता है। यह सूचना पाकर दिमाग की ओर से उचित कार्रवाई का आदेश होता है। परन्तु मनुष्यों में और दूसरे प्राणियों में भी बिना इस घंटी के बजाये भी काम होता रहता है। इस तरह की क्रिया को प्रत्यावर्त्तन या परावर्त्तित क्रिया कहते हैं। तात्पर्य यह कि शरीर के स्वामी दिमाग तक खबर पहुंचने की जरूरत नहीं होती। समाचारवाले तार से किसी केन्द्र पर खबर पहुंचते ही अपने-आप कर्म की नाडियों में तुरन्त उत्तेजना होती है और उसी क्षण काम हो जाता है। जितने कर्म चेतना को खबर पहुंचाकर किये जाते हैं विज्ञात कर्म कहलाते हैं। जितने बिना खबर पहुंचाये प्रत्यावर्त्तन से होते हैं अविज्ञात कर्म कहलाते हैं। आंख में किरकिरी पड़ने को आयी नहीं कि केन्द्र तक सूचना-तरंग पहुंची और तुरन्त ही क्रिया-तरंग अपने आप पलकों की मांसपेशियों में आयी और पलकें झट बन्द हो गयीं, आंखों की रक्षा के लिए पर्दा पड़ गया। यह काम इतनी जल्दी का था कि चेतना को ख़बर पहुचाने की देर भी हानिकर थी। प्राय: सारा शरीर सुषुम्ना द्वारा इसी तरह की अपने-आप काम करनेवाली नाड़ियों से बंधा हुआ है। सिर और चेहरे की मांसपेशियों के लिए नाड़ी-केन्द्र मस्तिष्क के भीतर होते हैं।

नाड़ी की सेलों में, जिन्हें हम वातसेल भी कह सकते हैं, सेल का शरीर होता है और बाहर निकलनेवाले रेशे या तार होते हैं। हर सेल से दो या अधिक रेशे निकले होते हैं, जिनके सिरों पर बहुत बारीक रेशों के गुच्छे से होते हैं। इस तरह एक दूसरे से यह आसानी के साथ मिलते हैं। दिमाग और सुषुम्ना तो विशेष रूप से हर सेल के बारीक रेशों के गुच्छे होते हैं और एक सेल के गुच्छे दूसरे सेल के गुच्छों से आपस में लपट जाते हैं। मांसपेशियों और ग्रन्थियों को कर्म की उत्तेजना देनेवाली नाड़ियों में बहुत से लम्बे लम्बे रेशे होते हैं जो सरपत के पूलों की तरह बंधे होते हैं। हर रेशे के भीतर एक अद्भुत मध्यगामिनी नाड़ी होती है जिस के भीतर एक तरह का रस रहता है।

२—नाड़ी में बिजली नहीं चलती

नाड़ी-तरंग का भेद अभी तक खुला नहीं है। इस के चलने से विद्युत प्रकट होती है परन्तु यह स्वयं उस की तरंग नहीं है। होती तो नाड़ी-समाचार का वेग लगभग दस लाख गुना अधिक होता। एक और विशेषता है कि जब तक ओषजन पूरी मात्रा में मिलता रहता है तब तक यह नाड़ियां थकती नहीं जान पड़तीं और आज तक शरीर विज्ञा-

चित्र ११९—हमारे शरीर के कोष्ठ
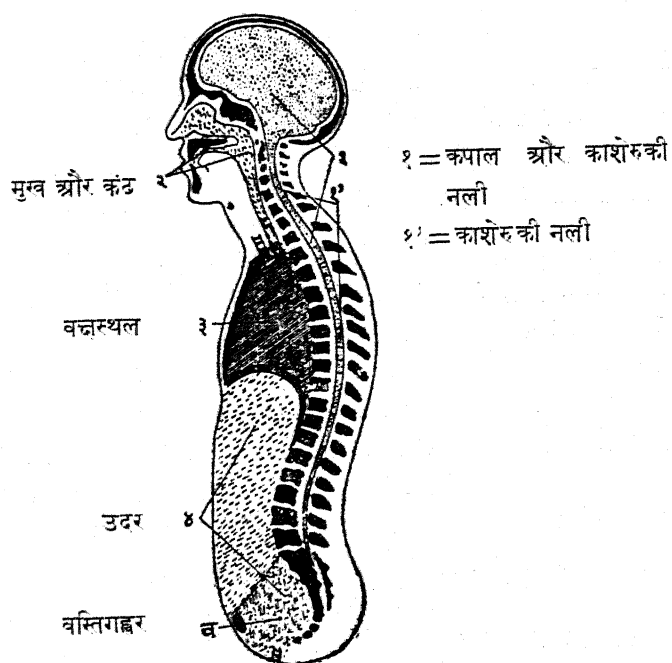
[हमारे शरीर की रचना से ग्रन्थकार की कृपा]

नियों को यह पता नहीं लगा है कि नाड़ियों में किसी तरह का रासायनिक विकार भी होता है। सोते जागते सभी दशाओं में यह तार बराबर काम करते रहते हैं और जीते जागते दिखाई पड़ते हैं। इतना काम होते हुए भी शरीर-विज्ञानियों ने यह पता नहीं लगा पाया है कि इतनी कर्मण्यता के साथ ताप की कोई मात्रा भी प्रकट होती है या नहीं।

मस्तिष्कवाले केन्द्र की नाड़ी सेलों की यह दशा नहीं है। यह थक भी जाती हैं और सुस्ताने और आराम करने के लिए इन्हें समय भी चाहिए। नींद के समय इस तरह का आराम मिलता है। साधारणतया यह बात मानी जाती है कि जब आदमी सोता है तो दिमाग की ओर खून का बहना घट जाता है जिस से ओषजन का मिलना भी कम हो

जाता है। इस से चेतना के अंगों की प्राण-शक्ति घट जाती है। सोने के लगभग एक घंटा बाद मस्तिष्क की जीवन-क्रिया बिल्कुल रुक जाती है और रक्त थकी हुई मांसपेशियों को खिलाने में लग जाता है। कुछ घंटे बाद रक्त फिर दिमाग़ की तरफ़ आने लगता है और थोड़ी थोड़ी चेतना आजाती है जिस पर बुद्धि और विवेक का कुछ अधिकार नहीं होता। इसी को स्वप्नावस्था कहते हैं। कुछ लोगों में चेतना के लौटने के बदले क्रियाओं का प्रत्यावर्तन होता है। वह सोते हुए भी चलने-फिरने और काम करने लगते हैं। नींद के सम्बन्ध में इतनी बातें साधारणतया मानी हुई हैं। परन्तु आज भी निद्रा एक कठिन पहेली है। उसके सम्बन्ध में कोई सिद्धान्त सन्तोषजनक नहीं पाया गया है। मस्तिष्क के सम्बन्ध में अलगही खोज होती है। उसे मनोविज्ञान कहते हैं।

हमारा नाड़ी-संस्थान बड़ा विचित्र है। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा जीवन इसी पर निर्भर है तो भी इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं है कि हमारी सुस्ती और तेज़ी, मन्दता और तीव्रता, स्वार्थभाव या परार्थभाव, खुश रहना या उदास रहना, चंचलता या दृढ़ता, इसी वात-संस्थान या नाड़ी-संस्थान पर निर्भर है। कुछ विज्ञानियों का यह विचार है कि हमारा वात-संस्थान तारों से बने हुए बाजे की तरह है जिसको अन्तरात्मा निरन्तर बजाता रहता है अथवा काम में लाता रहता है और जब कभी ज्वर में सन्निपात हो जाता है अथवा बुढ़ापे में मानसिक शक्तियों का क्षय हो जाता है तो वस्तुतः यह समझना चाहिए कि इस विचित्र बाजे का कोई पर्दा ख़राब हो गया या काम में लाते लाते पर्दों के घिस जाने से तरह तरह के दोष आ गये हैं। कुछ लोगों का विचार है कि हमारा जीवन रहस्यमय है, जो प्राण-शक्ति अन्न पचाती है और रक्त-संस्थान को चलाती रहती है वही वात-संस्थान और मनोमय कोष का नियंत्रण भी करती रहती है।

साधारणतया ऐसा समझा जाता है कि खोपड़ी के भीतर जो कुछ बन्द है सब विचारों और भावों से सम्बन्ध रखता है और बड़ी खोपड़ी का अर्थ बड़ी योग्यता ही है। परन्तु इस में भ्रम है। जिसे भावों और विचारों का कार्यालय अर्थात् दिमाग़ या मस्तिष्क कहते हैं वह खोपड़ी के भीतर का बहुत थोड़ा अंश है। सिर की चोटी से लेकर माथे की जड़ तक जो खोपड़ी का भाग है उसी में नाड़ीमय पदार्थ का एक अत्यन्त पतला छिलका सा फैला हुआ है जिस की औसत मोटाई इंच के नवें भाग के लगभग होती है। बस इतने ही अंश को वह दिमाग या मस्तिष्क कहना चाहिए जो चेतना का अंग या इंद्रिय है। किन्तु यह अनमोल छाल वल्क या छिलका बड़ी ही विकट बनावट का है। इस में नव-अरब बीस-करोड़ नाड़ियोंवाली सेलें लगी हुई हैं, और इस तरह पर अत्यन्त पास-पास लिपटी और जुड़ी हैं कि मनुष्य की खोपड़ी के भीतर कम-से-कम जगह लेकर अधिक-से-अधिक तल से काम कर सकें। इस छिल्के के चारों ओर भीतर अनेक नाड़ी-चक्र हैं जो सिर, चेहरा, आँख, जीभ आदि विविध अंगो को अपने काबू में रखते हैं। नाड़ियों के वह केन्द्र भी यहीं हैं जो आँख, नाक, कान आदि इन्द्रियों के समाचार पाते रहते हैं। जिस आदमी का शरीर पचहत्तर सेर के लगभग होता है उस के दिमाग का छिलका तोल में उस के शरीर-भार का केवल पंद्र सहस्रांश अथवा एक तोले से कुछ ही अधिक, १.०२ तोला, होता है।

३—नाड़ी-विभाग

सिर के पिछले भाग को लघु मस्तिष्क कहते हैं। यही वह-केन्द्र कार्यालय है जहां से सारे शरीर की मांसपेशियों की समंजस गति रखी जाती है। हम चलते हों और एकाएकी हमारे दोनों पाँव साथ उठ पड़ें तो हम लड़खड़ा जायंगे। लिखते समय जिन अँगुलियों
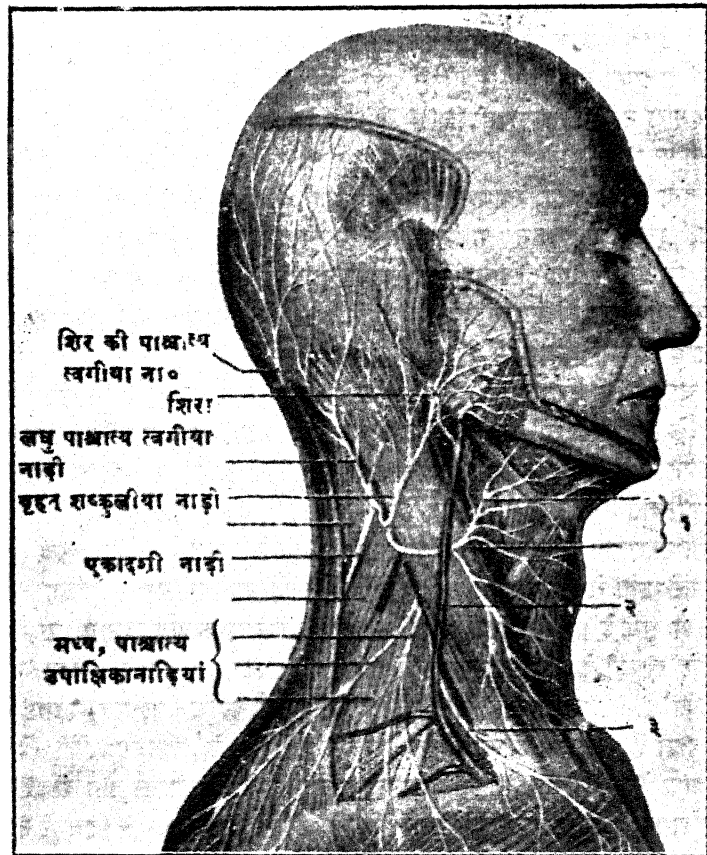
चित्र ११६—सिर और गर्दन की नाड़ियां

ग्रंथकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

को हम काम में लाते हैं यदि वह हट जायँ और दूसरी अँगुलियां उन के बदले आ जायँ तो काम बिगड़ जायगा। शराबी के पाँव लड़खड़ाते हैं और वह गिर जाता है। इस का कारण यही है कि नशे से उस के लघु मस्तिष्क पर ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा है कि वह मांस-

पेशियों पर काबू नहीं रखता और उनका सामंजस्य बिगड़ गया है। लघु मस्तिष्क सारे दिन शरीर के सभी अंगों से निरंतर असंख्य समाचार पाता रहता है और बराबर तीन सौ
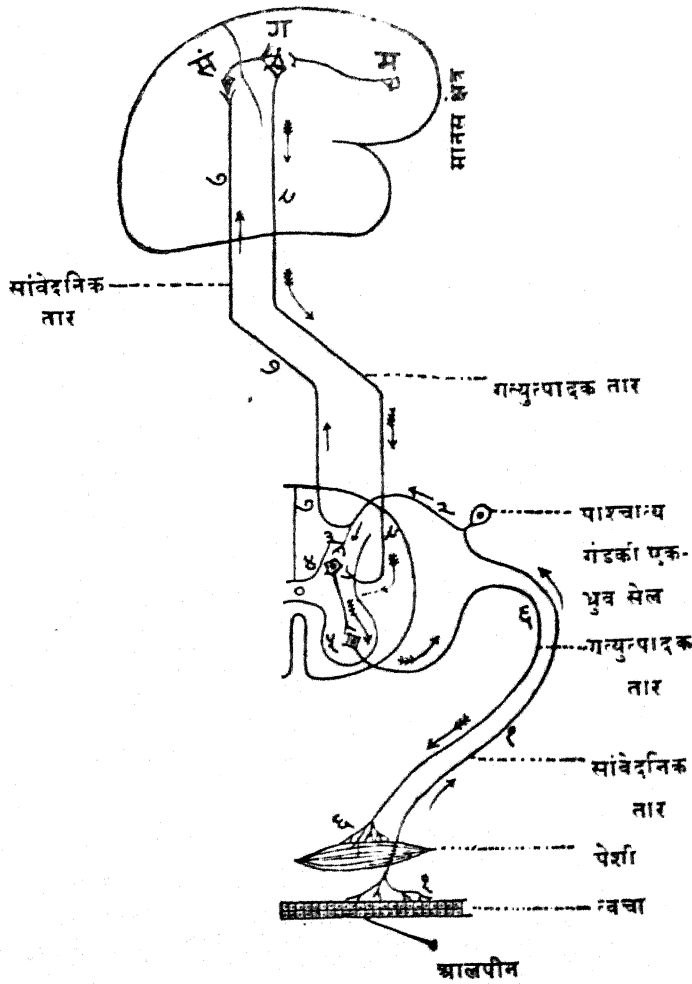
चित्र ११७—एक आलपीन धँसने पर नाड़ीजाल में क्या होता है। परावर्तित क्रिया। [हमारे शरीर की रचना से ग्रंथकार की कृपा से]

चित्र १२७ की व्याख्या

इस चित्र में यह समझाया गया है कि परावर्तित क्रिया (प्रत्यावर्तन) किस प्रकार होती है। १ = त्वगीया नाड़ी का तार। २ = यह तार सूचना को सुषुम्ना में ले जाता

हैं। सुषुम्ना में इस के कई भाग हो जाते हैं। एक तार (३) पाश्चात्य शृंग की सेल (४) के पास रह जाता है। यह सेल सूचना को पूर्वशृंग की सेल (५) तक पहुँचाती है जो अपने तार (६) द्वारा पेशी को संकोच करने की आज्ञा देती है। ३ = केन्द्रगामी तार का सुषुम्ना में ही रह जानेवाला भाग। ४ = सेल। ५ = पूर्व शृंग की सेल। ६ = मांस में अंत होनेवाला तार। ७ = मस्तिष्क को जानेवाला केन्द्रगामी तार। सं = सांवेदनिक क्षेत्र जिस की सेलें अपने तारों द्वारा गतिक्षेत्र की सेलों से संबन्ध रखती हैं। ग = गति-क्षेत्र। म = मानस क्षेत्र जिस की सेलों का गति-क्षेत्र की सेलों से सम्बन्ध है। ८ = इस तार द्वारा गति करने की आज्ञा सुषुम्ना की सेलों को पहुँचती है।

(१) ऐच्छिक क्रिया—जब हम कोई गति अपनी इच्छा से करते हैं तो मानस क्षेत्र की सेलों की आज्ञा पाकर गति-क्षेत्र की सेलें सुषुम्ना की (यदि गति का सम्बन्ध मास्तिष्क नाड़ियों से है तो उन नाड़ियों के उत्पत्ति स्थान की) सेलों को आज्ञा देती हैं और गति हो जाती है। आज्ञा म से आरंभ हो कर ग, ८, ४, ५, में से होती हुई ६ में पहुँचती है।

(२) परावर्तित क्रिया—इस का मार्ग यह है—त्वचा, १, २, ३, ४, ५, ६ मांस।

मांसपेशियों को विना किसी भूल-चूक के समंजस गति से चलाता रहता है और उन की ताकत को बनाये रहता है। यह क्रिया अपने-आप होती है। परन्तु संसार में ऐसा कोई तार वर्की का केन्द्र कार्यालय नहीं है जो इस तरह विना थके निरंतर काम करता हो और कभी भूल भी न करे। इन सब से बड़े आश्चर्य की बात यह है कि ऐसा अद्भुत तार-वर्की का एक-एक केन्द्र-कार्यालय हर खोपड़ी में मौजूद है।

लघुमस्तिष्क के नीचे ही सुषुम्ना-शीर्षक है। यह छाती की उन मांसपेशियों को काबू में रखता है जिन से सांस लेने और निकालने की क्रिया होती है, हृदय और रक्त संस्थान की मांसपेशियां इसी के अधिकार में हैं और अन्नमार्ग में लाला ग्रन्थियों से लेकर छोटी आँत तक की गति पर इसी का प्रभाव है। विकास-क्रम में लघुमस्तिष्क सब से पुराना अंग है जो खोपड़ी के भीतर रहता आया है। प्राणी का ज्यों-ज्यों विकास हुआ है त्यों त्यों मस्तिष्क का छिलकेवाला भाग धीरे-धीरे बढ़ता गया है। परन्तु लघुमस्तिष्क से भी अधिक पुराना रीढ़ के भीतर रहनेवाला सुषुम्ना नाड़ीजाल है। इसी सौषुम्न स्तंभ में अनेक चक्र हैं जो हाथ-पाँव आदि अंगों को और पेट की बड़ी-बड़ी मांसपेशियों को अपने आप चलाते हैं। जगह-जगह से इसी में से नाड़ियों के जोड़े निकले हुए हैं जो सारे दिन समाचार पाते और हुकुमनामे निकालते रहते हैं। अपने-आप सीख लेने की शक्ति भी सुषुम्ना नाड़ीजाल में अद्भुत है। बच्चा चलना सीखता है या लड़की बजाना सीखती है तो धीरे-धीरे हाथ-पावँ की मांसपेशियाँ ऐसा चलने और काम करने लगती हैं कि हम उसे स्वाभाविक गति समझते हैं और हमारे विना सोचे-विचारे ही अपने-आप काम होता रहता है।

———

पंद्रहवा अध्याय

सरहदी चौकियां और डाक

१—इन्द्रियग्राम या करण के अंग

खाल के ऊपर जिन विशेष नाड़ियों के धब्बों की चर्चा हम कर आये हैं वही धीरे-धीरे विकास पाकर इन्द्रिय बन गये। करोड़ों बरस के समय में जो धब्बे प्रकाश से उत्तेजित होनेवाले नाड़ीजाल के सूचक थे उन्हीं का विकास होकर आँखों का ढांचा बना। इसी प्रकार कानों के, नाक के, जिह्वा के ढांचे धीरे-धीरे बने। स्पर्शवाली नाड़ियां त्वचामात्र में कहीं कम और कहीं अधिक फैलीं। इस शरीर के सेल-साम्राज्य की बाहरी सीमाओं पर नाके-नाके पर यह चौकी पहरा बैठा हुआ है।

इन्द्रिय द्वार झरोखा नाना।
जँह तँह सुर बैठे करि थाना॥

इन्द्रिय ग्रामों के झरोखों पर विशेष-विशेष प्रकार के नाड़ीजाल के तार लगे हुए हैं जो सीमा के बाहर की अवस्था की सूचना केन्द्र-कार्यालय को प्रतिक्षण देते रहते हैं। बहुत काल तक उनका यही काम था कि भोजन का पता और जोखिम की सूचना देते रहें। विकास पाते-पाते मनुष्य के शरीर में इन्द्रियों का काम बहुत ज्यादा बढ़ गया।

खाल के ऊपरी तल तक बहुत से छोटे-छोटे नाड़ीजाल आये हुए हैं। उन की अत्यन्त सूक्ष्म शाखाओं के सिरों पर बहुत नाजुक घुंडियाँ हैं। गिनती में असंख्य हैं। इनका काम है कि पीड़ा का पता दें। हमें जब पीड़ा होती है तो हम बहुत बुरा मानते हैं परन्तु सचमुच बुरा मानने की कोई बात नहीं है। पीड़ा तो असल में टेलीफोन की घंटी है जो हमें जोखिम का पता देती रहती है। ऐसा न हो तो शरीर के लिए बड़ी घातक हो जाय। और छोटी-छोटी घुंडियाँ हैं जो हथेली की ओर अंगुलियों पर अधिक हैं। यह स्पर्श का ज्ञान देती हैं। कुछ ऐसी हैं जो ठंढक बतलाती हैं। उन से भी भिन्न और हैं

जो गरमी का पता देती हैं। दबाव का पता देनेवाली घुंडियाँ इन सब से अलग हैं। पीड़ा, दबाव, ठंढक, गर्मी, कड़ाई, नर्मी, इन छः बातों का पता देनेवाली घुंडियाँ हमारे शरीर की ऊपरी खाल के पास कहीं कम कहीं अधिक सर्वत्र फैली हुई हैं।

मुँह के भीतर वह घुंडियाँ हैं जो भोजन का स्वाद बताती हैं। जीभ के ऊपरी तल पर बहुत नन्हीं-नन्हीं अंडाकार घुंडियाँ सेना की तरह हैं। स्वाद लेने को घनी पाँती में खड़ी हो जाती हैं। इन स्वादवाली घुंडियों की भीतरी सेलों के अन्त में रोएं से होते हैं जो दिमाग तक सूचना पहुँचानेवाली नाड़ियों को छूते हैं। सम्भवतः भिन्न स्वादों के लिए भिन्न नाड़ियाँ होती होंगी। जीभ के सिरे पर बहुतायत से वह छोटी घुंडियां हैं जो मिठास का पता देती हैं और पिछले भाग में वह हैं जो कड़वे स्वाद का अनुभव करती हैं। स्वाद की इन्द्रियों तक पहुँचने के लिए रस या द्रव के रूप में अन्न का होना जरूरी है।

सूँघने के लिए हर एक पदार्थ के वायव्य-खंड हो जाने चाहिएं। दिमाग के घ्राण के केन्द्रों से निकलकर नाड़ियाँ अनेक शाखाओं में बँट जाती हैं और नाक के भीतर ऊपरी भाग की झिल्लियों में उन का अन्त होता है। इस झिल्ली में असंख्य नाड़ी सेलें बराबर पहरा देती रहती हैं कि हवा में मिली हुई जोखिम की चीजें तो नाक में नहीं आ रही हैं। जिन पदार्थों से किसी तरह की गन्ध निकलती है समझना चाहिए कि उन में से हवा में बहुत बारीक कण निकलकर मिलते जाते हैं। प्राणिमात्रमें सूँघने की इन्द्रिय सब से अधिक महत्व की चीज रह आयी है और मनुष्य के शरीर में भी इस का विकास हुआ है कि कस्तूरी का अस्सी लाखवां अंश भी वायु में मिला हो तो मनुष्य मालूम कर सकता है। बहुत तेज दुर्गन्धवाली चीज तो वह पचीस नीलवें अंश तक मिले होने पर भी जान सकता है। तो भी मनुष्य में घ्राणशक्ति का ह्रास हो रहा है और बहुतों में यह शक्ति बहुत निर्बल है। अनेक छोटे प्राणियों की अपेक्षा तो उस की घ्राणशक्ति बहुत कम है ही।

२—आंख के झरोखे

आँखों से बढ़कर शरीर की कोई इन्द्रिय नहीं समझी जा सकती, क्योंकि साधारण मनुष्य के दिमाग में बाहरी वस्तुओं की सारी कल्पनाएँ आँख में पड़नेवाली छाया के चित्र हैं। आँख का गोलक इस यंत्र का सब से आवश्यक अंग है। इसी गोलक के पिछले भाग से आँखवाली नाड़ी दिमाग के भीतर दृष्टि के नाड़ी-केन्द्र तक जाती है। फोटो लेने के लिए जो कैमरा इस्तेमाल करते हैं वह इसी आंख की भद्दी नकल है। आँख का कैमरा बड़ा ही अद्भुत है। यह घने और मजबूत रेशेवाले मांसकणों का बना हुआ गोला सा है जिस के छः अंशों में पांच तो अ-पारदर्शी हैं और छठा जो आगे की ओर कुछ निकला सा है पारदर्शी है और कनीनिका कहलाता है।

कनीनिका के भीतरी ओर पहले थोड़े से द्रव का परदा है और फिर उस के बाद एक बहुत की कोमल पर्दा है जो आगे की ओर की पारदर्शी खिड़की के ऊपर पड़ा हुआ है, और विविध रंगों का होता है। जब आँख पर रोशनी पड़ती है तो बहुत अधिक होने पर यह खिड़की छोटी हो जाती है और बहुत कम होने पर बड़ी हो जाती ।

मांसपेशी के रेशे ऐसी चतुराई से इसमें लगे हुए हैं कि यह तेज रोशनी पर प्रायः बन्द सी हो जाती हैं और अन्धकार में एक दम खुल जाती हैं। इस के सिवाय इस में रंग के सेल हैं जो कि तेज रोशनी पर घने हो जाते हैं और अधिक किरणों को चूस लेते हैं
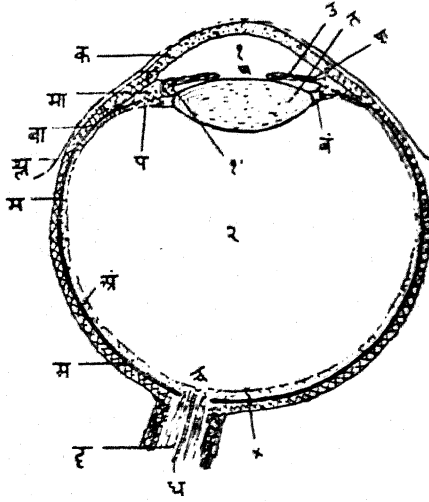
चित्र ११८—आंख की पड़ी काट

[हमारे शरीर की रचना से अन्धकार की कृपा]

१ = आंख का अगला कोष्ठ। १' = पिछला कोष्ठ। २ = बृहत् कोष्ठ।

क = कनीनिका। उ = उपतारा। छ = तारा। त = ताल। बं = ताल बंधन।

श = चक्रवत् शिराकुल्या का छिद्र। प = उपतारानुमंडल। मा = मांस।

बा = बाह्यपटल। श्ल = श्लैष्मिक कला। म = मध्यपटल।

अं = अन्तरीय पटल। च = चक्षुबिम्ब। द = दृष्टिनाड़ी।

ध = धमनी। × = पीतबिन्दु।

और जब आखों को अधिक रोशनी की जरूरत पड़ती है तब यह बहुत कम हो जाते हैं। जिन देशों में धूप बहुत तेज हुआ करती है वहां आंखें काली होती हैं और जहां धूप कम हो जाती है और रोशनी कम मिलती है वहां की आँखें नीली होती हैं। दोनों अवस्थाओं के बीच में प्रकाश के तारतम्य से सभी रंगों की आखें पायी जाती हैं।

इस गोल खिड़की के पीछे एक चमकदार ताल लगा हुआ है जिसे पुतली या तारा कहते हैं। मनुष्य ऐसा ताल नहीं बना सकता जो किसी दूरी के लिए प्रकाश की किरणों को केन्द्रित करने के लिए इच्छानुसार घटाया-बढ़ाया जा सके। परन्तु यह ताल बहुत सूक्ष्म मांसपेशियों का बना हुआ है और आवश्यकता के अनुसार घटता-बढ़ता रहता है। आँख के गोलक के बाहर की ओर दूसरी मांसपेशियाँ और कंडराएं लगी हुई हैं जो अपने आप, हम जिधर चाहें उधर, गोलक को घुमा देती हैं। कुछ विज्ञानी आँख की रचना में दोष

निकालते हैं परन्तु जब हम यह सोचते हैं कि इस अद्भुत कमरे की रचना कितने काल में कैसी चतुराई से हुई है और जब तक हम जागते रहते हैं तब तक हमारे जीवन भर यह यन्त्र निरंतर अपने आप काम करता रहता है तो दोष निकालने का भाव मिट जाता है।

सब से विचित्र रचना आँख के गोल के पीछे का वह पर्दा है जिस पर बाहर का
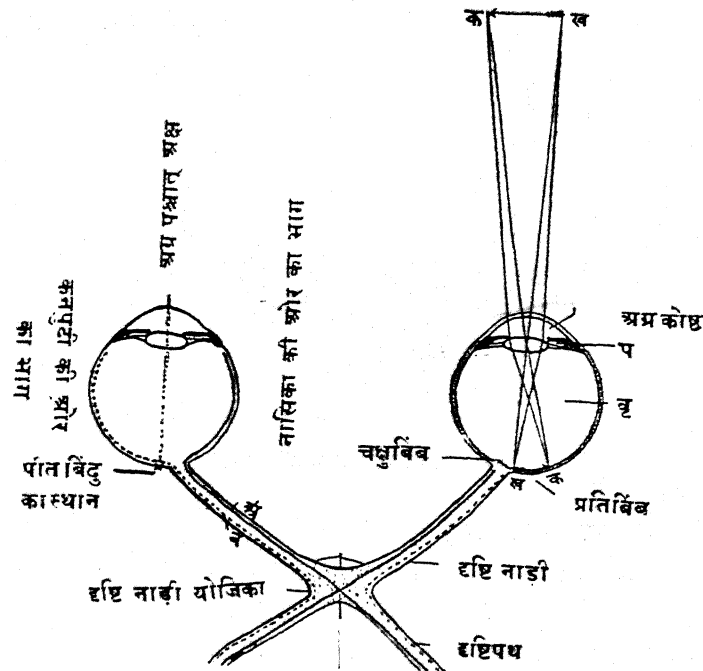
चित्र ११६ - दोनों आंखें दो उल्टे चित्र बनाती हैं पर एक ही सीधा दृश्य दीखता है

अन्धकार की कृपा] [हमारे शरीर की रचना से

मस्तिष्क के नीचे और जतूकास्थि के ऊपर एक ओर की दृष्टिनाड़ी दूसरी ओर की दृष्टिनाड़ी से जा मिलती है। मिलने पर दृष्टिनाड़ी-योजिका बनती है। यहाँ से दृष्टिपथ का आरंभ होता है। हर एक दृष्टिपथ में थोड़े-थोड़े दोनों आंखों के तार होते हैं, दो तिहाई उसी ओर की आंख के और एक तिहाई दूसरी ओर की आंख के।

चित्र उतरता रहता है। यह एक अल्प पारदर्शक झिल्ली है जिसे हम काला परदा या रेटिना कहते हैं। यह गोलक के पृष्ठदेश का तीन चौथाई तल है और एक विशेष स्थान पर

यह बहुत विकसित अवस्था में है जिस पर चित्र पड़ने से हमें दिखाई पड़ता है। स्थल पीला है और प्रकाश की किरणें इस पर उल्टा चित्र डालती हैं। यह किरणें गोलक के भीतर से होकर आती हैं जिसमें एक द्रव भरा हुआ है। दोनों आंखों की नाभि या प्रकाश के केन्द्र के एक हो जाने से दोनों चित्र एक में मिलकर स्पष्ट दिखाई देते हैं।

देखने का वास्तविक रहस्य अभी तक वैज्ञानिकों की समझ में अच्छी तरह नहीं आया है। यह काला परदा बड़ी असाधारण वस्तु है। इस में अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल नाड़ी-सेलों का एक विकट तल है जिस के कुछ अंश छड़ और शंकु कहलाते हैं जो इस परदे के विशेष अंग मालूम होते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस स्थल पर रासायनिक क्रिया होती होगी। यह पता नहीं है कि तीन मूल रंगों के लिए तीन रासायनिक पदार्थ अलग-अलग हैं अथवा एक ही तीन रंगों में बँट जाता है। ऐसा समझा जाता है कि जो लोग वर्णान्ध हैं, जिन्हें कोई एक या दो रंग नहीं दिखाई देते, उन की आँखों में एक या अधिक सूक्ष्म रासायनिक पदार्थों की कमी होगी। इस में जो रहस्य है अभी ठीक कहा नहीं जा सकता। नाड़ियों का तल आँखों के पीछेवाली नाड़ी में एकत्र होकर मिल जाता है और यहाँ दृष्टि-नाड़ी किसी न किसी प्रकार से चेतना-केन्द्र तक बाहरी वस्तुओं के चित्र पहुंचा देती है। यह पता नहीं कि चित्रों का ज्ञान दृष्टिनाड़ी किस तरह पहुँचा देती है।

३—कान के किवाड़

सुनने की इन्द्रियां भी कम अद्भुत नहीं हैं। वैज्ञानिकों की राय है कि कान का बाहरी हिस्सा शायद बिल्कुल बेकार है। इस भाग से लगभग एक इंच लम्बा परन्तु तंग रास्ता है जिस में मोम सा चिपकनेवाला पदार्थ लगा रहता है। यह पदार्थ इसी मार्ग में रहने-वाली बारीक ग्रंथियों से निकला करता है जिस में बाहर से आनेवाले कीड़े-मकोड़े फँस रहें। इसी रास्ते से शब्द की लहरें असली कान तक पहुँचती हैं। इसी रास्ते के अन्त में बाहरी सिरे पर सांवेदनिक ढोल है जो झिल्ली का बना हुआ है और जिसे कर्णपटल भी कहते हैं। इस में अपने स्फुरण का कोई नियम नहीं होता। इस के ऊपर जितनी तरह की हवा की लहरें लगती हैं यह उतनी तरह की लहरें तुरंत उठाता है। इसकी बनावट ऐसी है कि इस के भिन्न भागों में भिन्न लहरों का प्रबन्ध है। दूसरी ओर से एक छोटी सी हड्डी इस झिल्ली पर आकर लगती है जो इस की आवाज़ को मन्द कर देती है। बाहर से इस पर हवा का जो दबाव पड़ता है उससे ढोल का बाहरी हिस्सा बदलता रहता है परन्तु उसे बराबर ठीक रखने के लिए भी एक राह बनी हुई है जो मुंह के तालू के ऊपर से कान तक आयी हुई है और जिसे कंठकर्णी नाली कहते हैं।

छोटी-छोटी तीन हड्डियां हैं जिन्हें हथौड़ी निहाई और रकाब कहते हैं। यही तीनों हड्डियां कान के बीचवाले भाग में एक ढोल की लहरों को दूसरे ढोल तक पहुँचाती हैं जो खोपड़ी के भीतर असली कान के प्रवेशक द्वार पर फैला हुआ है। शब्द की लहरें पहले कर्णपटल पर टकराती हैं जिस से कर्णपटल लहराता है और तीनों हड्डियां काम करती हैं।

हथौड़ी निहाई पर लगती है और निहाई के अन्त में लगी हुई रकाब भीतरी पटल पर उन लहरों को पहुंचाती है जिस से वह पटल या ढोल भी लहराने लगता है। यह दूसरा ढोल या पटल अंडाकार होता है। इसके बाद कुंडली की तरह घूमा हुआ ढाँचा है जिस के भीतर सुनने की असली इन्द्रियां हैं। यह बालवाली सेलें हैं जो उस कुंडली के भीतर फैली हुई हैं और सुननेवाली नाड़ी के बारीक रेशों से लिपटी हुई हैं। इस सुरंग के भीतर एक द्रव भरा हुआ है जो अंडाकार परदे से आनेवाली लहरों से विशेष रूप से हिला करता है और बाल की सेलों को हिलाता है और यह सेलें सुननेवाली नाड़ी को अपनी गति देती हैं और वह दिमाग को वही गति पहुँचा देती है। यह भी एक अद्‌भुत यंत्र है जो करोड़ों बरसों में पिंडजों में विकास करते-करते अन्त में वर्त्तमान रूप में आया है।
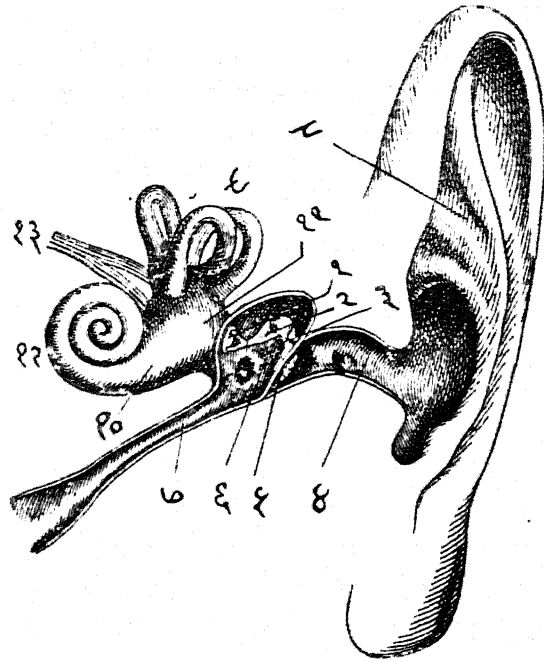
चित्र १२०—कान के भीतरी भाग

अन्धकार की कृपा] **[हमारे शरीर की रचना से**

१ = रकाबास्थि । २ = (नेहाई) शूर्मिकास्थि । ३ = मुद्‌गरास्थि (हथौड़ी) । ४ = कर्णाञ्जली । ५ = (ढोल) कर्णपटल । ६ = मध्य कान । ७ = कंठकर्णी नाली । ८ = कर्ण-शष्कुली । ९ = अर्धचक्राकार नालियां । १०,११ = भीतरी कान का कोठा । १२ = कौकला । १३ = नाड़ी । कान का बाहरी चोंगा अचल और निरर्थक है। शब्द-तरंग बाहरी मार्ग से ढोल (कर्णपटह) तक पहुँचता है। शब्द-तरंगों से ढोल लहराता है। हथौड़ी निहाई और

रुकाव अपनी-अपनी गति से लहरों को भीतरी भाग तक पहुँचाते हैं। कंठकर्णी नाली से हवा मध्यकान तक पहुँच सकती है। (६) झिल्लीकृत अर्धचक्राकार नालियों का काम सामंजस्य और समतोल रखना है। कोकला या कर्णकुहर ही वास्तविक श्रवणेंद्रिय है। कर्णपुट कुछ लम्बा होकर अन्तर्लसीका प्रणाली बन जाता है। काली-सी खाली जगह "परि-लसीका" से भरी है, इस के और कान की भीतरी गुहा के बीच एक झिल्ली है जिस में अन्तर्लसीका होती है।

४—ग्रन्थियां और हारमोन

हड्डियों, मांसपेशियों और नाड़ियों की थोड़ी बहुत चर्चा हो चुकी अब हम ग्रन्थियों का कुछ थोड़ा सा वर्णन करेंगे। हम कह चुके हैं कि सारे अन्न-मार्ग में अनगिनतियों नन्हीं नन्हीं नलिका सी ग्रन्थियां इस मार्ग की भीतों में मौजूद हैं। ऐसी ही नलिकाकार ग्रन्थियों का एक दूसरा समूह है जो वृक्कों का एक आवश्यक भाग है। असल में इनसे छानने का काम लिया जाता है। धमनियों के द्वारा शुद्ध रक्त वृक्कों की नलिकाओं तक पहुँचता है। इस से वृक्कों को उत्तेजना मिलती है। प्रत्येक नलिका किसी अज्ञात प्राण-शक्ति के सहारे रक्त में से बहनेवाले नोषजनीय कूड़ा-करकट को और कुछ थोड़े से जल को खींच लेती है और इन नलिकाओं से मिले हुए बारीक परनाले एक में मिल जाते हैं और इस गन्दगी को मूत्राशय तक पहुँचाते हैं। यही मूत्र है। गन्दगी दूर करने के लिए इन नलिका ग्रंथियों के साथ साथ परनाले भी लगे हुए हैं।

जिन ग्रंथियों में परनाले नहीं लगे हुए हैं वह और भी अधिक महत्व की समझी जाती हैं। रक्त से यह वस्तुओं को खींच लेती हैं पर अपने रसविशेष नलों में नहीं भेजतीं। इस तरह की ग्रंथियों के सब से उत्तम नमूने उपवृक्क ग्रंथियां हैं। एक छोटी नारंगी के एक फांक के आकार के दो छोटे-छोटे अंग वृक्कों के पास हैं जो रक्त में एक रासायनिक डाक को उंडेलते रहते हैं। प्रोफेसर स्टारलिंग ने हारमोन इसी डाक का नाम रखा है। विविध अंगों में कितना रक्त कब पहुँचना चाहिये इस बात का नियम न करते रहना इन्हीं हारमोनों का काम है।

यह विचित्र बात हाल ही में मालूम हुई है कि शरीर में बहुत छोटी छोटी असंख्य ग्रंथियां हैं जिन का काम केवल हारमोन बनाना है। यह हारमोन डाक या चिट्ठी का काम शरीर के भीतर विचित्र रीति से करते हैं। उपवृक्कों के हारमोन पक्वाशय की भीतों की कोशिकाओं में उसी तरह पड़ जाते हैं जैसे पास के बम्बे में चिट्ठियां डाल दी जाती हैं। कोशिकाओं की राह से साधारण रक्त-संचार के मार्ग में यह डाक पड़ जाती है। इस डाक का वहन रक्त ही करता है। इस डाक-विभाग में न तो चिट्ठियों पर पता लिखा रहता है और न छांट छांट कर बँटाई में सहायता देनेवाले कर्मचारी ही हैं। जैसे खास तालों में लगने के लिए खास चाभियां होती हैं उसी तरह हारमोनों के अणुओं का भी रूप और आकार ऐसे

विशेष काटछाँट का बना होता है कि विशेष अंगों में ही उनका प्रवेश हो सकता है। इस तरह वे रक्त की डाक पद्धति से अपने आप उन्हीं अंगों में आकृष्ट होते हैं जिनके लिए वे बनाये गये हैं।

सांस की नलिका के दोनों ओर दो छोटी छोटी घुंडियाँ हैं जिन्हें चुल्लिका ग्रन्थि कहते हैं। थोड़े काल से इनकी बड़ी ख्याति हो गयी है। यह जो रस बनाती हैं सीधे रक्त की धारा में मिल जाता है। यह भी बे-परनालीवाली ग्रन्थियाँ हैं। यह जो हारमोन बनाती हैं वह मांस के अवयवों की जीवन-शक्ति बढ़ाते हैं और ओषजन चूसने को उत्सुक बना देते हैं। शरीर का जीवन-व्यापार तेज़ी से चलने लगता है। चुल्लिका ग्रन्थियों के क्षय या अपूर्ण विकास से मनुष्य में मानसिक और शारीरिक दुर्बलता आ जाती है। इन ग्रन्थियों का निष्कर्ष भी ओषधि की तरह मिलता है जिसके सेवन से, कहते हैं कि फिर ताकत आ जाती है। शरीर और मन के साधारण विकास के लिए चुल्लिका ग्रन्थियाँ बड़ी आवश्यक हैं और इस विचार के आधार पर हाल में जो परीक्षाएं की गयी हैं उन में से कई अद्भुत में बड़े अद्भुत परिणाम निकले हैं।

चुल्लिका ग्रन्थियों के पास ही चार और छोटी घुंडियाँ सी हैं जिन्हें पर-चुल्लिका ग्रन्थियां कहते हैं। अभी तक इनकी क्रिया स्पष्ट रूप से नहीं मालूम है। परन्तु इनको जब कभी निकाल दिया गया है तब नाड़ी सम्बन्धी भयानक उपद्रव खड़े हो गये हैं। इनके सिवाय मुकन्दक ग्रन्थियाँ भी हैं। जान पड़ता है कि इन ग्रन्थियों से किसी न किसी ढंग से जननेन्द्रियों के जल्दी विकसित हो जाने में रुकावट रहा करती है। यह ग्रन्थियाँ छाती की हड्डी के सामने होती हैं, और डाक-विभाग द्वारा ही काम करती हैं। भीतरी जननेन्द्रियाँ स्वयं रक्त में बहुत से हारमोन भेजती हैं। साधारण और बधिया किये हुए पशुओं में जो अन्तर होता है वह प्रकट ही है। इन्हीं हारमोनों की बदौलत ठीक ठीक समय पर माता की दूध की ग्रन्थियाँ विकसित होने लगती हैं। ऐसा पता लगा है कि ज्यों ही गर्भाधान होता है त्यों ही डिम्बों से एक प्रकार का हारमोन रक्त में जाने लगता है और छातियों तक पहुँचकर उन्हें उत्तेजित करता है। सम्भवतः भ्रूण भी ऐसे हारमोन उपजाता है जो माँ के रक्त में प्रवेश करते रहते हैं और प्रसव-काल तक उपयोगी रहते हैं।

सिर के भीतर भी श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ हैं जो अच्छे परिमाण में हारमोन बनाती हैं। शरीर के अवयवों को इनके द्वारा उत्तेजना मिलती है और उनकी वृद्धि इन्हीं ग्रन्थियों के अधिकार में होती है। किसी प्राणी के सिर से अगर यह ग्रन्थियाँ निकाल दी जायँ तो शरीर दुर्बल और ठिगना हो जाय। इसी के विपरीत जिसकी श्लैष्मिक ग्रन्थियाँ बढ़ जाती हैं या अधिक काम करने लगती हैं उस के हाथ पैर चेहरा आदि अंग जरूरत से ज्यादा बढ़ जाते हैं और बड़े हो जाते हैं और शरीर दानवाकार हो जाता है।

इस तरह की भीतर-भीतर हारमोनों को उपजानेवाली ग्रन्थियाँ शरीर में यद्यपि अनेक हैं तथापि उन सब को इकट्ठा करके अगर लपेट लिया जाय तो इतना छोटा

पार्सल बनेगा कि एक वास्कट की जेब में आसानी से आ सकेगा। फिर भी यही छोटी चीज़ें सारे शरीर के काम और बाढ़ पर पूरा अधिकार रखती हैं।

५—खाल की ग्रंथियां

मनुष्य के शरीर को चारों ओर से जो चीज ढके हुए है और जो अद्भुत यंत्र की निरंतर रक्षा करती रहती है वह खाल है। खाल भी एक अजीब चीज है जो बारीक
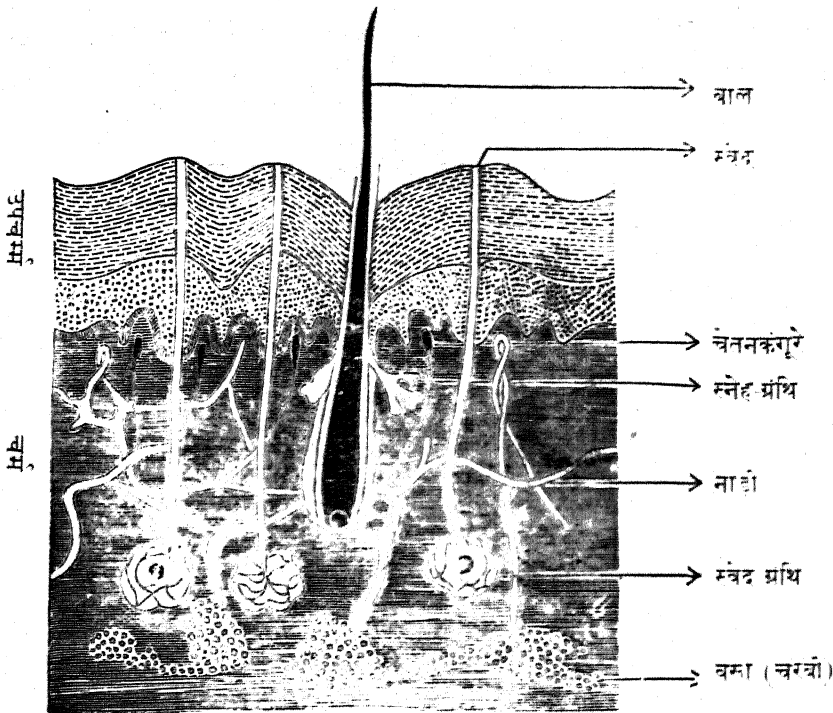
चित्र १२१—खाल की खड़ी काट। बहुत बढ़ाकर दिखायी हुई, जिसकी अटकल बाल से लगायी जा सकती है।

[परिषत् की कृपा

कागज से भी ज्यादा पतली हो सकती है और कहीं-कहीं, जैसे हथेली पर, एक सूत तक मोटी हो सकती है। यह भी सूक्ष्म सेलों की बनी हुई है जिनकी निरंतर वृद्धि और क्षय जारी रहता है। इसी खाल के भीतर पसीने की ग्रन्थियां हैं जो शरीर के तापक्रम को ठीक रखती हैं। इसी के भीतर चिकनाई पैदा करनेवाली वसा चरबी की ग्रन्थियां हैं और स्पर्श इन्द्रियों के लिए नाड़ी की घुंडियां या दाने हैं और छोटे छोटे गड्ढे हैं जिन्हें

रोमकूप कहते हैं। भीतरी तल पर भी खाल की एक पर्त्त है। यह खाल जहाँ जरूरत है वहाँ बहुत चीमड़ी है और जहाँ चीमड़ेपन की आवश्यकता नहीं है वहाँ ऐसी सूक्ष्म और कोमल है कि साँस लेने के लिए हवा और पोषण के लिये वायव्य और द्रव आसानी के साथ प्रवेश कर सकते हैं और निकल सकते हैं। खाल से फुफ्फुसों और वृक्कों का हर तरह का काम निरंतर होता रहता है।

६—इंजन कैसे चलता है ?

कोयला-पानी लेनेवाले इंजन से मनुष्य की उपमा दी जाती है परन्तु यह रूपक पूरा नहीं है। जिस तरह मनुष्य, खाता पीता, चलता, फिरता, और काम करता हुआ इंजन सरीखा है उसी तरह उसके भीतर भाव है, स्मरण है, इच्छा है, विचार है, विवेक

चित्र १२२—खाल की खड़ी काट

है और अनुभव भी है। इस चलते फिरते इंजन की प्रेरणा करनेवाले ड्राइवर भी हैं जो इस इंजन से अलग नहीं हैं। कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है, कि मन मौजूद नहीं है परन्तु वह शरीर में सम्भवतः बराबर बना रहता है। शरीर के भीतर अन्न पचाने की क्रिया रक्त का संचार और सांस लेने की क्रिया निरंतर होती रहती है। ऐसा जान पड़ता है कि इन सब क्रियाओं को बराबर जारी रखनेवाली कोई अज्ञात शक्ति है जो शरीर के भीतर निरंतर मृत्युकाल तक मौजूद रहती है। जिस तरह शरीर की बाहरी क्रियाएं होती रहती हैं उसी तरह भीतरी क्रियाएं भी जारी रहती हैं। भारतीय संस्कृति में भीतरी शरीर को अन्तःकरण कहा है। अन्तःकरण में भाव, विचार, स्मृति, इच्छा आदि सभी काम करते

रहते हैं। रूस के प्रसिद्ध शरीर-विज्ञानी प्रो० पफ़लाफ़ने यह दिखाया है कि स्वास्थ्य के ऊपर मानसिक चित्त-वृत्तियों का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह तो सब को मालूम है कि पाचन अच्छा हो और रक्त का संचार ठीक हो रहा हो तो तबीयत बड़ी खुश रहती है परन्तु इसका उलटा भी ठीक ही है अर्थात् आदमी खुश रहता है तो उस की तन्दुरुस्ती भी ठीक रहती है। खोज से यह पता लगा है कि अच्छी चित्त-वृत्तियों से जिन से कि मनुष्य प्रसन्न रहता है पेट के पाचक रस अधिक बनते हैं, अन्न-मार्ग की गति बहुत संयत और
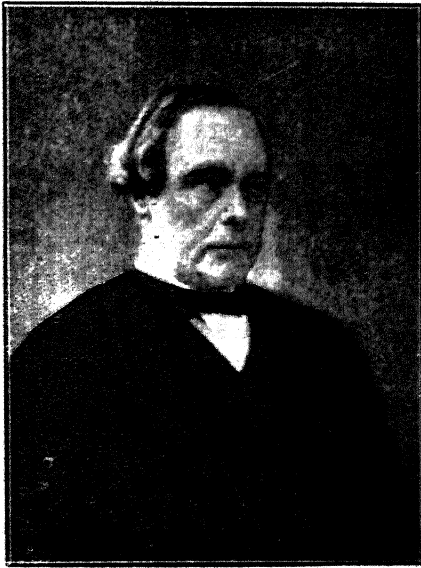
चित्र १२३—लार्ड लिस्टर [सं० १८८४-१९६९ वि०]

नियमित होती है जिस से भोजन नीचे की ओर नियम से जाता है, घुलने और पसरने-वाली वस्तुएँ सहज में सोख ली जाती हैं। इसी के विपरीत ईर्षा आदि दुखी रखनेवाली चित्त-वृत्तियें, मानसिक हलचल और चिन्ता आदि से पाचन में रुकावट पड़ती है और पोषण की क्रिया सुख-पूर्वक नहीं होती।

भूखे आदमी के सामने जब अन्न से सजी-सजायी भोजन की थाली आती है तो मुँह में पानी भर आता है। यह सभी जानते हैं कि स्वादिष्ट अन्न के स्मरण से भी अथवा उसकी आशा से भी यही बात हो जाती है। पाचन की इस आरंभिक क्रिया के साथ साथ सभी इन्द्रियों के काम संबद्ध हैं। इसलिये प्रत्येक इन्द्रिय के सुखी रहने की क्रिया पाचन पर अच्छा प्रभाव डालती हैं। जो जितना ही खुश रहता है उस का पाचन उतना ही अच्छा रहता है।

उग्र वृत्तियों से शरीर की क्रियाओं को बड़ी उत्तेजना मिलती हैं। धार्मिक वृत्ति लिये हुए क्रोध के आवेग में उपवृक्क ग्रंथियों से जो वृक्कों के पास हैं उपवृक्किन रस अधिक मात्रा में बनने लगता है। इस हर्मोन के जरा सा बढ़ जाने से शरीर पर तरह तरह के प्रभाव पड़ते हैं। यह रक्त में बहकर छोटी रक्त-वाहिनियों में संकोच पैदा करता है। ऊपरवाले भागों में रक्त कम हो जाता है और भीतरी गहराई में अधिक रक्त का दबाव बढ़ जाता है। मांसपेशियां उत्तेजित और ताजी हो जाती हैं और खून में शर्करा अधिक हो जाती है और खून अधिक जमने के योग्य बन जाता है। निदान सारा शरीर लड़ने को तैयार हो जाता है। भीतरी आवेग का बाहरी शरीर के ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ा करता है। इसी तरह भय घृणा, प्रेम, विनोद, उत्साह, शोक, आश्चर्य, श्रद्धा आदि सभी भावों का जब शरीर में उद्वेग होता है तो भिन्न भिन्न ग्रंथियाँ उत्तेजित हो जाती हैं, रक्त में भाँति भाँति के रसों का और विशेषतया हार्मोनों का संचार होने लगता है और शरीर के बाहरी अंग उत्तेजित होकर स्वाभाविक भाव या अनुभव के रूप में भीतरी प्रभाव को प्रकट करते हैं। खुशी की खबर से मुरझाया हुआ मन प्रफुल्लित हो जाता है, बीमार अच्छा होने लगता है। किसी प्रिय स्वजन के आजाने से रोगी का स्वास्थ्य लौट आता है। भक्ति के आवेश में या वैराग्य से प्रेरित होकर मनुष्य अपने जीवन को बदल देता है। यहाँ तक कि अत्यंत शोक और अत्यंत हर्ष से मृत्यु तक हो जाती है।

नाड़ी संस्थान का बहुत बड़ा काम यह है कि शरीर के समस्त जीवन को साम्यावस्था में बनाये रखे। उसका भीतरी भावों से बहुत बड़ा घना सम्बन्ध मालूम होता है क्योंकि भावावेश होते ही सारे नाड़ी-संस्थान में एक विशेष प्रकार का स्फुरण होने लगता है। नाड़ी-संस्थान का दूसरा नाम अपने यहां आयुर्वेद-ग्रंथों में वात-संस्थान शायद इसीलिए है कि वायु की तरह सूक्ष्म क्रियाओं से यह संस्थान का-संस्थान प्रभावित हो जाता है और ताप और चाप का प्रभाव भी उसी ढंग से इस को प्रभावित करता है जैसे वायव्यों को। जब मनुष्य के हृदय में हँसी और खुशी की लहरें उठती रहती हैं तब यह वात-मंडल भी सुचारु रूप से आन्दोलित होता रहता है और सारे शरीर में स्वास्थ्य का संचार होना रहता है।

चौथा खंड

मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण

और

अध्यात्म-विज्ञान

सोलहवां अध्याय

शरीर की सरकार

(१)—इन्द्रियां और मस्तिष्क

मनोविज्ञान पर हाल में जो कुछ काम हुआ है उससे यही मालूम होता है कि हमारे अन्तःकरण में ऐसी भी बातें हैं जिन का हमें पता नहीं है परंतु जो हमारे स्वभाव के बनाने में उन शक्तियों से अधिक काम करती हैं जिन को हम प्रत्यक्ष रीति से जानते हैं। मानव अन्तःकरण जितना पहले समझा जाता था अब उतना ही नहीं रहा। उसका इतना अधिक विस्तार हो गया है कि जिस अंश को हम प्रत्यक्ष रीति से जानते हैं वह अत्यंत संकुचित और छोटा हो गया है और वस्तुतः वह एक गहरे झील का ऊपरी तलमात्र की तरह जान पड़ता है।

अन्तःकरण का सब से अच्छा परिचय इंद्रियों से मिलता है। हमारे भारतीय दर्शनों में यह बात सर्वत्र मानी गयी है कि इंद्रियों का जो कुछ अनुभव होता है मन ही उस का करनेवाला है। मन जब तक दृष्टि में नहीं है तब तक आंखें खुली भी रहती हैं तो भी देख नहीं पातीं। कान में मन न हो तो शब्दों के होते हुए भी हम न कुछ सुन सकते हैं न समझ सकते हैं। इन इंद्रियों का विकास करोड़ों बरसों से बराबर होता आया है और वर्तमान रूप प्रकृति के बड़ी मुद्दत के बनाव चुनाव का परिणाम है। इन्हीं इंद्रियों के द्वारा मन अपने उच्च और सूक्ष्म अनुभवों की रचना करता है। बाहरी संसार का यथार्थ चित्र अपने अन्तःकरण के भीतर हम इन्हीं इंद्रियों के द्वारा ले जाते हैं। बाहरी परिस्थिति से हमारी इंद्रियों पर जो उत्तेजना होती है वह पहले बाहरी अवयवों को और फिर भीतरी को स्फुरित करती है। विशेष इंद्रियग्राम से नाड़ी का स्फुरण होता है और कान से शब्द के रूप में, आंख से चित्र के रूप में, नाक से गन्ध के रूप में, जिह्वा से स्वाद के रूप में, त्वचा से स्पर्श के रूप में मस्तिष्क तक नाड़ियों का स्फुरण पहुँचता है। इन में से आँख की इंद्रिय ने हमारी जानकारी के क्षेत्र को बहुत विस्तृत कर दिया है। यही हाल कान की इंद्रिय का भी है यद्यपि श्रवण

वह इंद्रिय है जिस का विकास सब से पीछे हुआ है। यह बात सभी जानते हैं कि हमारी इंद्रियों की शक्ति बहुत थोड़ी है और अपूर्ण है। उनकी गवाही हमेशा सच्ची और पक्की नहीं हो सकती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि हमारी इंद्रियों का विकास अपनी हद तक पहुँच चुका है क्योंकि इस का कोई प्रमाण नहीं है।

हमारा दिमाग़ भी करोड़ों बरस में विकास करते करते वर्त्तमान अवस्था को पहुँचा है। उसका आरम्भ जीव के साथ ही हुआ है और आज उसके लिये भी कोई नहीं कह सकता कि वह अपने विकास की हद को पहुँच चुका है। यह नाड़ी-चक्रों का एक तंत्र है जिस का हर एक भाग अपना कर्त्तव्य अलग रखता है, तो भी दूसरे भागों के साथ निरंतर संगति और सामंजस्य बरतता है। मस्तिष्क के बहुत से ऐसे अंग भी हैं जिन की क्रिया का पता अब तक नहीं लगा है परन्तु ऐसा विश्वास किया जाता है कि कोई अंश स्मृति के लिये होगा, कोई विवेक और विचार के लिये होगा और कोई अंश कल्पना के लिये होगा। ऐसा समझने में कोई हरज नहीं है कि मस्तिष्क के एक भाग में स्वरों की स्मृति होगी, दूसरे में शब्दों के नाद की स्मृति होगी और तीसरे में अक्षरों और शब्दों के कल्पना-चित्र स्थिर रूप से होंगे। यह नहीं कहा जा सकता कि मस्तिष्क का कोई विशेष अंश है जो बुद्धि का काम करता है। दिमाग़ का सारा छिलका, या शायद सारा नाड़ी-मंडल या समस्त शरीर बुद्धि का स्थान है। परंतु दिमाग सारे शरीर से फिर भी इस बात से भिन्न है कि वह अनुभवों को बराबर अपनी बही में चढ़ाता और खतियाता रहता है, नये कामों के जोड़-तोड़ लगाता रहता है और बराबर नये-नये ढंगों से शिक्षा ग्रहण करता रहता है। परन्तु ऐसा न समझना चाहिये कि दिमाग ही के सहारे यह सारा काम होता है। बुद्धि विवेक की सबसे बड़ी योग्यता मुख्यतः दिमाग पर ही निर्भर है।

२—अन्तःकरण का विकास

अंतःकरण से तात्पर्य है भीतरी इंद्रिय। मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार, हमारे दार्शनिक यह चार भीतरी इंद्रियां मानते हैं और इन्हें ही अंतःकरण कहते हैं। उन के निकट यह चारों सूक्ष्म शरीर के चार अंग हैं और जिस तरह जाग्रत अवस्था में यह चेतना इस अवस्था के सभी व्यापारों का ज्ञान और संचालन करती हुई मानी जाती है उसी तरह अंतः-करणोंवाले सूक्ष्म शरीर की चेतनी अलग मानी जाती है और स्वप्नावस्था के सभी व्यापारों का ज्ञान और संचालन उस का काम होता है। यह हमारे दार्शनिक सिद्धांत हैं। परंतु विज्ञान तो दर्शन नहीं है। उस के अनुशीलन की विधि सर्वथा भिन्न है। वह विकास-क्रम में शरीर के साथ-साथ चेतना का भी विकास देखता है और उस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करता है। वह चेतना को मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार से भिन्न नहीं मानता। उस की परिभाषा में यह पांचों एक "मनस" शब्द से ही व्यक्त होते हैं। अभी तक विज्ञान ने आत्मा के संबंध में बहुत थोड़ा अन्वेषण कर पाया है। इसलिए अभी तक विज्ञान की यही प्रवृत्ति है कि वह "मनस" का भी विकास जड़ पदार्थ से मानता है क्योंकि विकास-क्रम में उसे यह

दिखाई पड़ता है कि आदि जीव के सूक्ष्म सेलों से जो शरीर का विकास होता आया है मन का विकास उस से बिल्कुल भिन्न नहीं है। यद्यपि वैज्ञानिक के निकट स्थूल और सूक्ष्म शरीरों का कोई विभाग नहीं है तथापि स्थूल शरीर और मन दोनों को जड़ मानते हुए भी उस ने इन के विकास का अलग-अलग विचार किया है। जीवविज्ञानियों के निकट चेतन मन का विकास भी जड़ पदार्थ से ही हुआ है।

चित्र १२४—फ्रानटाफ़ (१९०१-१९६८)
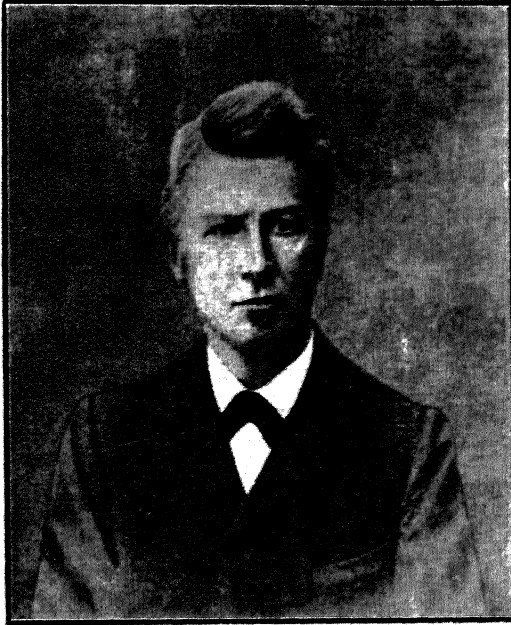
भौतिक विज्ञान में सं० १९५८ में प्रथम नोबल पुरस्कार प्राप्तकर्त्ता। हलके घोल और वायव्य दशा में समता दिखायी। स्थिर-रूप-रसायन के आविष्कर्त्ता।

[**विज्ञान परिषत् की कृपा**

सृष्टि का आरम्भ भारतीय दार्शनिक बिल्कुल दूसरी तरह मानता है। मूल प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से बुद्धि, बुद्धि से मन, मन से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, इस तरह उत्तरोत्तर सूक्ष्म से स्थूल पदार्थ का विकास बताया है। यह तो जड़ प्रकृति का विकास हुआ। चेतन प्रकृति के शरीर का विकास परिणाम-वादवाले अत्यंत सूक्ष्म शरीरों से लेकर अत्यंत स्थूल शरीरों तक गिनाते हैं। यद्यपि विकास की यह विधि दार्शनिक है और योगियों को अनुभवगम्य होने से भारतीय

परिभाषा में सब तरह से वैज्ञानिक समझा जाता है तो भी पच्छांहीं विज्ञानियों ने अपनी रीति से इन विषयों के सम्बन्ध में इस प्रकार की खोज नहीं की है।

आधुनिक विज्ञानवालों ने मनोविकास के सम्बन्ध में जो धारणा रखी है वह इस प्रकार है। बाहरी परिस्थितियों से आदि जीवों में प्रभाव पड़ने पर आरम्भ-काल में मांस-पेशियों और नाड़ियों की गति से कुछ उत्तर अपने-आप दिये जाने लगे होंगे। प्राणी के शरीर में बाहरी उत्तेजनाओं के यह उत्तर धीरे-धीरे अंकित होने लगे और प्राणी की यह शक्ति उसी के साथ-साथ बढ़ने लगी। उत्तरों में विविधता आने लगी। परस्पर संगति का आरम्भ हुआ। काल पाकर इच्छा का भी प्रादुर्भाव हुआ। नाड़ीजाल बने और उन का विकास होने लगा। उन में अभिमुखता आने लगी। परावर्त्तन की क्रिया आरम्भ हो गयी। तात्पर्य यह कि बाहर की बारम्बार की उत्तेजना पर जंतुओं की मांसपेशियों और नाड़ियों की सेलों के अपने-आप हिल-डोलकर परावर्त्तित क्रिया होने से ठीक-ठीक और उचित उत्तर मिलने लगे। अभिमुखता कुछ और ऊंचे दरजे पर आती है जब कि प्राणी का सारा शरीर किसी एक ओर को गति करने के लिये लाचार हो जाता है। यह अभिमुखता एक प्रकार के सभी प्राणियों में एक ही तरह की होती है। ज़रा और ऊंचे उठने पर जब हम चींटियों मधुमक्खियों और भिड़ों तक पहुँचते हैं तो सहज बुद्धि का शुद्ध प्रकाश पाते हैं। चिड़ियों और पिंडजों में साधारण बुद्धि के साथ इस का मेल दिखाई पड़ता है। नैसर्गिक बुद्धि या निसर्ग वह चीज नहीं है जो शिक्षा का मुहताज हो। उस का काम तो नाड़ीमंडल के अपने-आप परावर्त्तन से होता रहता है और परम्परा से नाड़ीजाल का स्वभाव ऐसा पड़ जाता है कि बाहर की उत्तेजनाओं से परावर्त्तित क्रियाएं अपने-आप होती रहें। इन क्रियाओं में एक बात और भी है कि एक जाति के एक प्रकार के प्राणियों में इन का प्रकाश भी प्रायः एक ही तरह का होता है। आदि जीव से लेकर जंतु-कोटि के प्राणियों तक बराबर निसर्ग की प्रबलता देख पड़ती है, परन्तु ज्यों-ज्यों जन्तुओं से विकास-क्रम आगे बढ़ता है त्यों-त्यों बुद्धि का विकास बढ़ता जाता है। यह बात हम विकास-खंड में दिखा आये हैं। वर्त्तमान में यह विकास सब से अधिक मनुष्य में पाया जाता है। परावर्त्तन की क्रिया, अभिमुखता और निसर्ग, यह तीनों परम्परा से सभी बड़े प्राणियों के सहज स्वभाव बन गये हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या हम विज्ञान की दृष्टि से यह कह सकते हैं कि जिसे हम मन और बुद्धि और चित्त कहते हैं वह बीज रूप से आदि प्राणी में मौजूद थे या नहीं। अथवा प्रत्येक मनुष्य में सही, भ्रूण के बीचवाले सेल में क्या बीजरूप से मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार वा अन्तःकरण मौजूद रहता है? अमीबा जब शिकार को निकलता है या जैसा कि देखा गया है, शुक्राणु के मार्ग में रुकावट होने पर जब वह अपना मार्ग बदलकर आड़े-तिरछे चलता है तब क्या वह विचार का प्रयोग नहीं करता, क्या उस में अहंभाव नहीं होता, क्या वह नहीं सोचता या नहीं अनुभव करता? वैज्ञानिक की दृष्टि से यह बहुत सम्भव है कि जनन-सेल में बीज रूप से बुद्धि की भी सामग्री मौजूद हो।

३—जड़ और चेतन

चेतन क्या है, इस विषय पर विचार करना विज्ञान का कर्त्तव्य नहीं है। यह विषय दार्शनिक समझा जाता है। परन्तु चेतन और जड़ में भेद है या नहीं है, इस विषय पर वैज्ञानिकों में बड़ा मत-भेद है और अकेले इसी विषय पर यदि पूरा विचार करना अभीष्ट हो तो मोटी-मोटी पुस्तकें लिखी जा सकती हैं परन्तु तो भी झगड़े का अन्त नहीं हो सकता। सारांश यह कि एक पक्ष यह निश्चय करता है कि मन या चेतना का प्रकट होना मस्तिष्क का कार्य-मात्र है और अन्तःकरण के सारे काम शरीर-यंत्र के ही सहारे होते हैं। और प्रत्येक विचार मस्तिष्क के भीतर यांत्रिक या रासायनिक विकार है, प्रत्येक कल्पना मस्तिष्क के सेल से छूटकर निकलती है, प्रत्येक भावावेग मस्तिष्क का उत्ताप है, प्रत्येक स्थायी भाव मस्तिष्क का विकार है। दूसरे पक्ष का यह कहना है कि ज्ञान और अविज्ञान दोनों प्रकार के कर्मों का प्रेरक कोई ऐसी सत्ता है जो जड़ पदार्थ से नितान्त भिन्न है, मस्तिष्क और नाड़ी-मंडल और यह समूचा शरीर जिस का कार्य है और जो बीज रूप से भ्रूण में व्यापता है और जिस के,—चाहे किसी कारण से भी क्यों न हो,—चले जाने से इस शरीर का अन्त हो जाता है, इसी सत्ता से भाव और विचार का उद्भव होता है और शरीर के यंत्र द्वारा यह प्रकट होती है। मस्तिष्क यंत्र-मात्र है और किसी ने अभी तक यह नहीं सिद्ध कर पाया है कि अमुक-अमुक रासायनिक या यांत्रिक विकारों से विचारों और भावों का जन्म होता है। इस सत्ता से और शारीरिक यंत्र से प्राणशक्ति के द्वारा बड़ा घना सम्बन्ध है। प्राण-शक्ति ही इसे शरीर-यंत्र के साथ मिलाकर इसकी प्रेरणा से सारे काम करवाती है। इसे ही आत्मा कहते हैं, और इस दल को आत्मसत्तावादी कहते हैं।

एक तीसरा पक्ष है जो मन की सत्ता अलग मानता है और शरीर की अलग। तो भी ऐसी कल्पना करता है कि शरीर और मन दोनों का आरम्भ साथ ही साथ होता है और इन का पारस्परिक सम्बन्ध सारे जीवन ऐसा घनिष्ठ बना रहता है कि यह कहना बहुत कठिन होता है कि दोनों में कौन कारण है और कौन कार्य। कभी-कभी मन की प्रबलता होती है तो मन कारण समझा जाता है और कभी शरीर की क्रिया बड़ी प्रबल होती है तब मन कार्य प्रतीत होता है। इस में भी दो दल हैं। एक तो मानसिक जीवन को शारीरिक जीवन से सर्वथा भिन्न मानता है, मानो यह दोनों वह दो रेल-गाड़ियाँ हैं जो साथ-साथ समानान्तर पटरियों पर चल रही हैं, एक दूसरे से टकराने की क्रिया नहीं होती। और दूसरा दल मन और शरीर को एक ही सत्ता के दो पहलू ठहराता है। उस की धारणा है कि दोनों साथ ही साथ मिल कर काम करते हैं और विज्ञान और अविज्ञान दोनों तरह के कर्मों का एक-मात्र कारण मनःशरीर या शरीर-मनस् है।

जड़-सत्ता-वाद के मूल पर तो अब कुठाराघात हो चुका है। बात यह है कि अब यह सिद्ध हो चुका है कि समस्त पदार्थों का मूल विद्युत है और यह नहीं कहा जा सकता है कि विद्युत् जड़ पदार्थ है। वर्त्तमान स्थिति यह है कि हम नहीं जानते कि विद्युत् क्या है। परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं रह गया है कि पुराने जड़-सत्तावाद का पोषण अब

आधुनिक विज्ञान नहीं करता। जेम्स आदि विचारकों का यह मत है कि इस जगत् की वास्तविक सत्ता न तो जड़ है और न चेतन है। कोई अधिक अच्छा नाम न मिलने से इसे "उदासीन भाव" या "उदासीन सत्ता" कह सकते हैं। इस विषय का समझना भी बहुत कठिन है, तो भी यदि हम मान लें कि समस्त जड़ और चेतन की घटनाओं का आधार

चित्र १२१—एमिलफिशर [सं० १९०९—१९७६ वि०]

जर्म्मन रासायनिक। सं० १९५९ में नोबल पुरस्कार पाया। सैकड़ों नयी प्रकार की शर्कराओं का निर्माण किया। रासायनिक क्षेत्र में अद्भुत काम किया।

[परिषत् की कृपा

कोई दोनों ओर से परे चेतन या अचेतन सत्ता है जिस के अधिष्ठान या सहारे से सारी मानसिक और शारीरिक घटनाएं घटती हैं। मन और शरीर दोनों उस के दो पहलू हैं। बरट्रेन्ड रसेलने मनोविश्लेषण नामक अपने ग्रंथ में इस समस्या को इस तरह सुलझाया है। भारतीय दर्शनों के अनुसार भी अपरा और परा यह दोनों परमात्मा की प्रकृति हैं। अपरा जड़ प्रकृति है और परा जीव प्रकृति है जो जगत को धारण करती है। यह दोनों प्रकृतियां परमात्मा की हैं और उसी के सहारे इन की सत्ता है। *

* श्री मद्भगवद्गीता अध्याय ७, श्लोक ४, ५, ६।

४–मानसिक क्रियाएं

मनोविज्ञान का विषय जीवित प्राणियों के स्वभाव का और चेतना का अनुशीलन है। मस्तिष्क के ही पास नाड़ीजाल के वह सभी स्पन्दन या स्फुरण पहुँचते हैं जिन से चेतना वा ज्ञान होता है। इसीलिये हम यह कह सकते हैं कि चेतना का केन्द्र मस्तिष्क है। इस से यह समस्या नहीं सुलझती कि चेतना वस्तुतः कैसे पैदा होती है। ग्रेंजर ने अपने मनोविज्ञान में लिखा है कि "पुराने मनोवैज्ञानिक कहते थे कि प्रत्यक्षीकरण, समवधारण, कल्पना, विवेक, और आकांक्षा यह भी मानसिक शक्तियाँ हैं जो भिन्न-भिन्न काम करती हैं। परन्तु आज ऐसा नहीं समझा जाता कि मन की आकांक्षा एक जगह है विवेक दूसरी जगह है अन्तरात्मा तीसरी जगह है और इसी तरह हमारी ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां की तरह यह शक्तियां अलग-अलग बंटी हुई हैं। हमारा अन्तःकरण सम्पूर्ण है और एक ही है। विवेचना, आकांक्षा, कल्पना, समवधारणा आदि वही एक ही करता है। विचारभाव और इच्छा उस में इस तरह अलग-अलग नहीं हैं जैसे पिच्चीकारी में पत्थर के टुकड़े अलग-अलग लगे रहते हैं और बिना दूसरे टुकड़ों को नष्ट किये एक-एक करके निकाले जा सकते हैं। वह शरीर की उन क्रियाओं की तरह परस्पर संबद्ध हैं जो बिना सब की सहकारिता के हो नहीं सकतीं।"

मानसिक क्रियाओं को एक और तरह से वर्णन किया जाता है। प्रत्येक विचार दो दशाओं वा रूपों में रह सकते हैं, एक तो चेतन की दशा हो सकती है और दूसरी अचेतन की। चेतन की दशा ऐसी है कि मानों एक रौशन कमरा है जिस के भीतर विचार एक-एक करके आते हैं, चमक उठते हैं और थोड़े काल तक काम करते हैं। दूसरे प्रकार के विचार अचेतन हैं अर्थात् यह एक धुँधले कमरे में रहते हैं अथवा उस प्रकाशवाले कमरे में कुछ देर रह कर और काम करके स्मृति के धुंधले मन्दिर में आकर ठहर जाते हैं और फिर ऐसे मौके की तलाश में रहा करते हैं कि फिर उसी उजाले कमरे में जायं और काम करें। इस धुँधले मन्दिर में यह विचार आपस में बहुत संकीर्ण समूह बनाकर और बँधकर रहते हैं। विचारों का यह समूह स्मृति-मन्दिर में रहता हुआ अन्तःकरण के ढाँचे को बनाता है। और मानसिक क्रिया यही है कि प्रत्येक विचार चेतना के प्रकाश में जब आने लगता है तो अपने साथ-साथ अपने से संबद्ध और विचारों को भी खींच लाता है। यह मकड़जाल का मत है।

यद्यपि हम जानते हैं कि जड़ पदार्थों की तरह मनस के सम्बन्ध में हम ऐसी कल्पना नहीं कर सकते कि वह भी देश घेरता है तो भी समझने के सुभीते के लिए हम यह कल्पना कर लें तो अच्छा होगा कि हमारा चित्त तीन परतों में बैठा हुआ है। सब से ऊपर की परत सचेत जीवन की है जो मानों पूर्ण प्रकाशित मन्दिर है जिस में साफ दिखाई पड़ता है कि क्या हो रहा है। जब कभी हमें अपने व्यवहार का कारण खोजना होता है, तब हम साधारणतया इसी परत में तलाश करते हैं और जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा बहुधा इस परत के बताये हुए कारण ठीक नहीं होते। इस परत से कुछ नीचे एक परत ऐसी है जो अर्द्धचेतन अवस्था की है। इस परत तक हम यत्न करने से पहुँच सकते हैं। इसी में वह सब बातें जमा रहती हैं जो हमारे चित्त के सामने तो मौजूद नहीं रहतीं परन्तु जिन्हें हम कोशिश करके याद

कर सकते हैं। कभी कभी बहुत ज़्यादा कोशिश करनी पड़ती है और कभी थोड़ी ही कोशिश में काम बन जाता है। तीसरी परत जो इस से भी नीचे है अचेत दशा की है। साधारणतया हमारे सचेत मन का इस परत तक पहुँचना सर्वथा असम्भव होता है। परन्तु यही परत उन मानसिक तत्वों का स्थान है जिन का सम्बन्ध महत्व के प्राथमिक निसर्गों से है। यही परत मानसिक शक्ति का बड़ा भारी आगार है इस परत के भीतर जितने काम हो रहे हैं उन का हमें बिल्कुल पता नहीं लगता। तो भी सूक्ष्म निरीक्षण से और सपनों से, जैसा कि आगे चल कर मालूम होगा इस के कामों के सम्बन्ध में हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं। यही अचेतन परत व्यक्ति के मानसिक जीवन की नींव है।

५—भाव-सांकर्य्य

मानसिक विकार कभी अकेले नहीं होते। किसी किसी संकीर्ण संयोग के साथ ही हुआ करते हैं। यदि हम मन को या मानसिक तत्त्वों को एक जाल की तरह समझें तो अनुचित न होगा क्योंकि प्रत्येक विचार जब कभी चित्त में उठता है तो और भी अनेक विचारों को अपने साथसाथ घसीटे लाता है। सच तो यह है कि ऐसा न हो तो जीवन का व्यापार ही न चले। यदि कोई विचार अकेला ही अकेला आवे और कई विचार असम्बद्ध और असंगत आ जाया करें तो राह चलना भी कठिन हो जाय और हम कोई काम ठीक तरह पर न कर सकें। कई सुसंगत विचार एक साथ कुछ कमोबेश ढीले-ढीले से गुंथे हुए से रहते हैं। जो काम पड़ने पर एक साथ आया करते हैं। इस समूहन को सांकर्य्य वा विचार-सांकर्य्य कहते हैं। एक पेड़ को देखकर या फूल को सूंघकर बरसों पहले का भूला हुआ दृश्य एकाएकी चित्त के उजाले मन्दिर में आ जाता है। किसी एक ही वाक्य को सुनकर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मन में भिन्न-भिन्न भाव उत्पन्न हो जाते हैं। यह विचार सांकर्य्य की महिमा है। मनुष्य की शिक्षा से उस के व्यवसाय से उस के रहन-सहन से बहुत से विशेष सांकर्य्य उत्पन्न हो जाते हैं। परन्तु कुछ व्यापक विचार-सांकर्य्य भी हैं जिन में से तीन प्रधान हैं, क्योंकि इन का सम्बन्ध तीन बड़े प्राथमिक निसर्गों या निसर्ग-समूहों से है. एक तो काम-सांकर्य्य, दूसरे अहंकार-सांकर्य्य और तीसरे जाति-सांकर्य्य।

आदि प्राणी में भी आत्मरक्षा परम्परारक्षा और वंशरक्षा की नैसर्गिक इच्छाएं वा प्रवृत्तियां विद्यमान थीं। न होतीं तो सजीव सृष्टि का क्रम चल न सकता था। आत्मरक्षा में अपने लिये पालन-पोषण का प्रबंध और शत्रुओं से अपना बचाव शामिल था। अपने आपे का इस तरह का विचार अहंभाव या अहंकार कहलाता है। इस का विकास निसर्ग की अवस्था से होते होते मनुष्य में अहंकार-सांकर्य के रूप में परिणत हो गया है। आज भी अहंभाव मनुष्य में नैसर्गिक रूप में ही है। अपने पालन-पोषण, अपनी रक्षा, अपना सुख और सुभीता और इस ढंग के अपने लिये सब तरह के विचार अहं-मम भाव में आ जाते हैं। हमारे दार्शनिक साहित्य में जिस भाव को एक शब्द अहंकार से व्यक्त करते हैं उसी को पाश्चात्य मनोविज्ञानवाले अहंकार-सांकर्य कहते हैं। "सांकर्य" इसलिये कि अहं-

कार सम्बन्धी सभी तरह के आनुषंगिक विचार सांकर्य में शामिल होते हैं। अहंभाव चेतना वाले परत के नीचे के तत्त्वों से बना हुआ है। यह हमारे बे-जाने ही बराबर हमारे साथ लगा रहता है। किसी मनुष्य में इस की अधिक प्रबलता होती है और किसी में कम। स्वार्थ-परता, अभिमान, क्रोध, लोभ, मात्सर्य, मद इत्यादि की अधिकता या कमी से इस सांकर्य का पता लगता है।

चित्र १२६—जेम्स क्लार्क मैक्सवेल [सं० १८८८-१९२८ वि०]
इन्होंने सिद्ध किया कि प्रकाश और विद्युत् की लहरें विद्युच्चुम्बकीय लहरें हैं। यह स्काटलैंड का विद्वान बेतार के तार का मूल आविष्कारक समझा जाता है।
[परिषत् की कृपा

परम्परा की रक्षा भी अत्यन्त प्राचीन निसर्ग है। इसी भाव के रहने से जीव में अपनी वंश-रक्षा की प्रवृत्ति होती है। यही प्रवृत्ति विकास पाते पाते दम्पती से जन्म लेनेवाले प्राणियों में कामवासना के रूप में परिणत हुई। इस के साथ अनेक प्रकार के भावों का भी मेल हो गया। भारतीय काव्य-साहित्य में जो शृंगार-रस सम्बन्धी आलम्बन और उद्दीपन विभाव तथा संचारी भाव बतलाये गये हैं वह सब के-सब एक काम-सांकर्य या कामवासना के अन्तर्गत हैं। किसी विशेष मनुष्य से काम-सांकर्यवाले विचारों में कौन-कौन से अंग मौजूद हैं

यह बात उस की पारस्परिक विशेषताओं और उस के अपने पूर्वचरित पर निर्भर है। इस में सन्देह नहीं कि इस विचार-सांकर्य में भावावेगों की बड़ी शक्ति है। इस का भी मूल निसर्ग में ही और इस के विचार सभी परतों में मिलते हैं।

जिस मनुष्य में अहंभाव की प्रबलता होती है वह रचना करने में अधिक प्रवृत्त होता है और यश कमाने का उसे बड़ा लालच होता है। इसीलिए वह बड़ी इमारतें बनाना चाहता है, कविता की रचना करता है, मौलिक आविष्कारों और खोजों में लगा रहता है। उसी तरह जिस मनुष्य में कामभाव प्रबल है वह सुंदर सन्तान की उत्पत्ति की ओर प्रवृत्त होता है, सुंदर और ललित कलाओं में उस का मन अधिक लगता है, वह इंद्रियों के सुख के पदार्थों का अधिक संचय करता है, और प्रधानतः सौन्दर्य और सौख्य का लोभी होता है।

अहंभाव सब से प्राचीन और गंभीर निसर्ग है। कामभाव उस के पीछे का है। तीसरा भाव या सांकर्य जाति वा गोत्र-सांकर्य है। इस भाव का आधार यह है कि मनुष्य किसी जाति या समाज के भीतर ही रहना चाहता है। इस भाव का आरंभ सृष्टि में तब हुआ होगा जब आत्मरक्षा के सुभीतों के लिये प्राणियों ने मिल-जुलकर रहना ठीक समझा अथवा स्वभाव से ही अपने वंश वा जातिवालों के साथ रहने लगा। मनुष्य में यह भाव भी बहुत प्रबल है। जाति या समाज के भीतर रहने से जितने लाभ हैं उन्हें तो सब जानते हैं। मनुष्य के मानसिक जीवन के ऊपर समाजगत जीवन के निसर्ग का जो प्रभाव पड़ता है वह सब से अधिक महत्व का है। सब से बड़ी बात यह है कि जातिगत भाव से बड़े अच्छे परिमाण में "बोध-प्रवणता" आ जाती है। जाति वा समाज की अनेक बातों को व्यक्ति बड़ी जल्दी समझ लेता है और उस के अनुकूल आचरण करने के लिये तैयार हो जाता है। उसे समाज की अनेक ऐसी बातें भी सुबोध लगती हैं जिन्हें उस ने कभी विवेक की कसौटी पर नहीं कसा है। बेजेट ने लिखा है कि मनुष्य के सौ में निन्नानबे काम श्रद्धा-भाव पर अवलम्बित होते हैं। बुद्धि पर सैकड़ा पीछे शायद एक काम निर्भर होगा। समाज में जिन बातों को हम पुरानी परम्परा से मानते चले आये हैं उन्हें हम आंखें मूंदकर मान लेते हैं क्योंकि वह बातें साफ-साफ ठीक और अच्छी जँच जाती हैं। उन के पीछे नैसर्गिक बल लगा हुआ है जो उन्हें श्रद्धा और विश्वास का पात्र बनाये हुए है। इसी जाति-सांकर्य के कारण मनुष्य अपने विश्वासों को तर्क की कसौटी पर नहीं कसता।

६—दो प्रकार के मनुष्य

सांकर्यों पर यहां अधिक विस्तार नहीं किया जा सकता परंतु श्री टाटर के अनुसार हम सब मनुष्यों को दो विभागों में बांट सकते हैं, एक स्थायी स्वभाववाले और दूसरे अस्थायी स्वभाववाले।

स्थायी स्वभाववालों को देश या राष्ट्र का स्तम्भ समझना चाहिये। ऐसा मनुष्य बड़ा अध्यवसायी दृढ़-संकल्प और दृढ़-विश्वासोंवाला आदमी होता है। वह जिस जाति

का होना है उस की परम्परा और नीति से उसे पूरा परिचय होता है, उस के उद्देश्यों को समाज समझ सकता है और पसंद करता है, और उन के पालन में वह अविचल रूप से लगा रहता है। वह आचारनीति और राजनीति के प्रश्नों पर स्थिर सम्मति रखता है। ऐसे तथा इसी तरह के और विषयों में भी उसे यह संदेह नहीं हुआ करता कि क्या ठीक है और क्या नहीं ठीक है। परंतु इस प्रकार के मनुष्यों में एक बड़ा दोष यह होता है कि वह अनुभव की ओर ध्यान नहीं देते और बिल्कुल नये ढंग से किसी समस्या पर विचार नहीं कर सकते। उलटे यदि मानी हुई बातों पर जैसे राजनीति या आचारनीति के सिद्धांतों पर कोई शंका उठावे और तर्क की कसौटी पर कसना चाहे तो इस प्रकार के मनुष्य उसे मूर्खता या पाजीपन या दोनों बातें समझेंगे। जो चाल और विचार मुद्दतों से प्रचलित हैं उन्हें बदलने की चाहे कितनी ही जरूरत हो परंतु इस प्रकार के मनुष्य बदलने को राज़ी न होंगे क्योंकि ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत बड़ी होती है और वह पुराणप्रिय होते हैं। सारांश यह कि उन में जातिभाव या जाति-सांकर्य की प्रबलता होती है। दूसरा प्रकार उन मनुष्यों का है जो स्थायी प्रकार से बिल्कुल विरुद्ध स्वभाव रखते हैं। अस्थायी स्वभाववाले मनुष्यों में उत्साह तो बहुत होता है परंतु दृढ़ विश्वास किसी बात पर नहीं होता। वह किसी नये काम को उठा लेने के लिये बड़ी जल्दी राज़ी किये जा सकते हैं परंतु उतनी ही जल्दी उसे छोड़ने को भी तैयार हो जाते हैं। वह काम तो बहुत से उठा लेते हैं परंतु उन्हें अंत तक पहुँचाने और सफल बनाने में लगे रहना उन के लिये मुश्किल बात है। वह आरम्भ-शूर होते हैं परंतु भर्तृहरि के बताये उन उत्तम जनों में नहीं हैं जो बिना पूरा किये नहीं छोड़ते। उन का संकल्प दृढ़ नहीं होता और वे समाज की सभी बातों पर उस के निश्चय को नहीं मान सकते। परंतु उन में यह बड़ा भारी गुण होता है कि वह अनुभवों से लाभ उठाते रहते हैं और यही एक तरह का दोष भी है क्योंकि वह अपनी राय बराबर बदलते रहते हैं। किसी बात पर स्थिर नहीं रहते। अस्थायी स्वभाव का मनुष्य अधिक विवेकी होता है और स्थायी स्वभाववाला प्रायः उसे नहीं चाहता और उस से ईर्षा और घृणा रखता है। वास्तविक बात यह है कि आदर्श पुरुष या पुरुषोत्तम न तो स्थायी प्रकार का मनुष्य है और न अस्थायी। आदर्श पुरुषोत्तम दोनों के गुणों का ग्रहण करता है और दोषों का त्याग।

भावों वा सांकर्यों में* परस्पर विरोध भी होता है, और सब से अधिक वा पूर्ण स्वस्थचित्त वही है जिस ने अपने विरोधी भावों में सामंजस्य स्थापित कर रक्खा है। परंतु ऐसा चित्त बहुत कम देखा जाता है। साधारणतया एक ही मनुष्य के अनेक विरोधी भाव होते हैं और जब एक ही समय में दो या अधिक परस्पर विरोधी भाव उठते हैं तो उसे गाढ़े असमंजस में डाल देते हैं। आदमी में जो स्वार्थ भाव उठता है वह उस के अहंभाव या कामभाव से प्रेरित होता है। परंतु उस के जातिभाव से प्रेरित समाज के स्थापित नियमों को

*'काम्प्लेक्स' के लिये किसी-किसी ने "जाल" शब्द भी प्रयुक्त किया है, परन्तु इस शब्द का अनुवाद मुझे "सांकर्य" ही ठीक जँचता है। लेखक

मान्यता उस में परार्थभाव भी उत्पन्न करती है। इस तरह स्वार्थ और परार्थ दोनों भावों में तनातनी हो जाती है। कहानियों और उपन्यासों के लिखनेवाले बड़े चाव से विरोधी भावों का प्रदर्शन करते हैं। संन्यास लेनेवाले के मन में एक ओर से वैराग्य और दूसरी ओर से संसार का मोह आपस में तुमुल युद्ध ठान देते हैं। सत्याग्रह संग्राम में एक ओर से देश-भक्ति का भाव और दूसरी ओर कुटुम्ब के कष्टों का ख्याल, दोनों का परस्पर संघर्ष होता है।

इन झगड़ों के चुकाने के लिए मुख्यतः दो उपाय किये जाते हैं। एक तो यह है कि विवेक से काम लिया जाय और दूसरे यह कि किसी-न-किसी भाव को दबाया जाय। विवेक से काम लेने में बहुधा कार्यों के लिये ऐसे हेतु पैदा कर दिये जाते हैं जिन का कार्य के मानसिक कारणों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, परंतु जिन से मनुष्य को पीछे से लजाना नहीं पड़ता। जैसे न्याय की ओट में बदला लेने की पाशविक इच्छा पूरी की जा सकती है और समाज के लाभ के बहाने अत्यंत स्वार्थपरायण लोभ और लालच भी दिखाने में हरज नहीं समझा जाता। दबाने की विधि दूसरी है। मनुष्य एक भावावेश को बिल्कुल बिसरा देने का निश्चय कर लेता है, दिल से निकाल डालता है। परंतु इस से वह भाव नष्ट नहीं हो जाता। वह केवल अविज्ञात या अचेतन परत के नीचे दब जाता है। तब भी वह कर्मशील रहता है और अपने को भाँति-भाँति के रूपों में प्रकट करता है, और साधारण भूल-चूक से लेकर अपस्मार और पागलपन तक में उस का प्रकाश होता है। आदमी ऐसे निश्चित काम को भूल जाता है जिस के अप्रिय परिणाम का उसे भय होता है। जिन पुञ्जों को चुकाना है उन का अस्तित्व भूल जाना मामूली बात है। परंतु यह तो जान-बूझ कर भूल जाना हुआ। परंतु एक और तरह की भूल होती है जो इस कारण हुआ करती है कि घटना की छाप मानस पर नहीं पड़ी। यह भूल जबरदस्ती हो जाती है। दबे हुए भाव लिखने और बोलने में भूल-चूक के रूप में उभड़ आते हैं। आदमी कहने को होता है कुछ और कह जाता है बिल्कुल विपरीत। इसी तरह और का और लिख जाता है। भावों के दबाने में यही एक दोष है। परंतु यह उतना बड़ा दोष नहीं है जितना कि किसी न्याय या तर्क के झूठ बहाने से किसी एक भाव को प्रबल होने देना।

———

सत्रहवां अध्याय

मनोविश्लेषण और अध्यात्म-विज्ञान

१—प्रोफ़ेसर .फ्रुइड की धारणाएँ

वीना के प्रोफेसर फ्रुइड ने अपनी नयी खोजों से मनोविज्ञान की एक नयी शाखा उत्पन्न की है। इस शाखा का विषय मुख्यतः अचेतन अन्तःकरण है। फ्रुइड की कुछ धारणाएं तो वैज्ञानिक जगत ने मान ली हैं और बहुतेरी ऐसी भी हैं जो अभी तक स्वीकृत नहीं हुई हैं। इस नयी शाखा की सब से बड़ी उपयोगिता शिक्षक और चिकित्सक के काम में है।

मुख्य धारणा यह है कि हमारे अन्तःकरण का एक बहुत बड़ा अंश ऐसा है जिस का हम को बिल्कुल पता नहीं है, परन्तु उसी के प्रभाव से हम सपना देखते हैं। सपने इसी बड़े अंश की कर्मण्यता से पैदा होते हैं। बात रोगों से पीड़ित होकर जिन रोगियों के अंगों की क्रिया बिगड़ गयी थी .फ्रुइड ने उन की जाँच की तो पता लगा कि लकवा, अंधापन, बहरापन और गूंगापन आदि अनेक रोग बहुधा शरीर के बाहर की किसी घटना के प्रभाव से हो गये हैं। जैसे बरसों पहले किसी रोगी ने अत्यन्त कष्ट और पीड़ाजनक कोई बात देखी और उस के बाद ही वह अन्धा हो गया। अपने होश-हवास में रोगी यह कभी न समझता था कि मेरे अन्धेपन से उस घटना का कोई भी सम्बन्ध है, परन्तु जब कभी रोगी सम्मोहन क्रिया से सुषुप्त अवस्था में पहुँचाया जाता था तो बहुधा पता लगता था कि उस के अन्धेपन का कारण वही घटना है। कभी-कभी रोगी स्वयं इसी मतलब का सपना देखता था और वर्णन करता था, परन्तु उस की साधारण चेतना उस के रोग और घटना का कार्य-कारण सम्बन्ध होना नहीं मानती थी।

.फ्रुइड ने यह भी देखा कि बड़े कष्टदायक अनुभव जो जागते हुए होश-हवास में याद नहीं आते थे साधारण स्वस्थ मनुष्यों को थोड़े में बहुत बदले हुए रूप में सपने में बहुत दिखाई देते थे। और साधारण असाधारण दोनों तरह के मनुष्यों के सपने की जब

व्याख्या की जाती थी तब बराबर यही पता लगता था कि उस व्यक्ति की कोई ऐसी इच्छा या अभिलाषा अवश्य थी जिसे शारीरिक या नैतिक या सामाजिक हेतुओं से वह जाग्रत अवस्था में पूरी न कर सकता था। सपने में उस की मूर्त्ति-कल्पना का चित्रण होता था। जान-बूझ

चित्र १२७—स्वान्ते अरीनिउस [संवत् १९१६-१९८४ वि०]
[परिषत् की कृपा

कर या नैसर्गिक रीति से भूल जाने की क्रिया को फ्रूइड ने भावों को दबा देना कहा है। इस तरह से दबी हुई स्मृतियों के समूह का नाम उस ने अचेतन रखा क्योंकि एक इच्छा के दबाने में वह सारे अनुभव भी दब जाते हैं जिनके कारण वह इच्छा पैदा हुई। यही बात है कि प्रायः हमें अपने अत्यन्त बचपन की याद बिल्कुल नहीं आती।

२—सुषुप्त चेतना या तैजस

भारतीय प्राचीन मनोविज्ञानियों ने जाग्रत अवस्था की चेतना को प्राज्ञ और

स्वप्नावस्था की चेतना को तैजस कहा है। यह एक तरह की सोयी हुई चेतना है जो सपने में मानों जग पड़ती है। पाश्चात्य विज्ञानी इसे सुषुप्त या अन्तःचेतना कहते हैं। कोई शब्द ठीक जबान पर है पर याद नहीं आता। सोचने पर उस का पूरा ख्याल आ जाता है और ठीक-ठीक कहा भी जा सकता है। यह क्रिया जाग्रत चेतना की नहीं है। मुझे कोई खास काम करना है परन्तु घंटों तक उस का ख्याल नहीं आता, पर उस के कर डालने घड़ी ज्योंही पास आती है उस काम का ख्याल भी दिमाग में सीधे चला आता है। कोई कठिनाई नहीं होती। मैं ठीक चार बजे जाग जाना चाहता हूँ। ठीक चार का घंटा बजते हुए या उस से कुछ मिनिट पहले ही मैं जाग पड़ता हूँ। यह उस अवस्था के कुछ उदाहरण हैं जिस में कि विचार देखने में तो चेतना के भीतर नहीं हैं परन्तु सर्वथा बाहर भी नहीं हैं। इसी के लिए अन्तःचेतना शब्द आया है।

फ्रायड की धारणा है कि भूतकाल की सोयी हुई याद इसी अन्तःचेतनावाली परत में इकट्ठी जमा है। यहीं हमारे दबे हुए भाव भी इकट्ठे हैं। भावों या विचारों को दबाने की कभी हम जानबूझकर कोशिश करते हैं और कभी अपने आप कोशिश हो जाती है। भाव और विचार बड़ी गहराई में दब जाते हैं। तो भी वह बराबर जाग्रत अवस्था में निकलने की कोशिश में रहते हैं और जाग्रत दशा में यही दबे भाव और विचार एक हद तक हमारे मानसिक जीवन पर प्रभाव डालते रहते हैं यद्यपि हमें इस का पता नहीं चलता। साथ ही दबे हुए भावों को कुछ संतोष भी होता रहता है।

३—मानसिक रोग

यूरोप के पिछले महासमर में फौजी अस्पतालों में वात-रोगियों की चिकित्सा में बड़े-बड़े डाक्टरों को यह अनुभव हुआ कि बहुत से मानसिक रोग ऐसे भावोद्वेगों के रुक जाने से हो गये हैं जिन को कि रोगी बिलकुल भूल गया है और जिन को बहुत काल बीत चुका है। मानसिक-चिकित्सा-विशारदों ने ऐसी भूली हुई बातों और भावों को फिर से जगाकर मन को साफ कर दिया है और रोगी बिल्कुल अच्छे हो गये हैं। जान पड़ता है कि भावोद्वेगों के अत्यधिक दबे रहने से वात-संस्थान क्षुब्ध हो गया है। डाक्टरों ने जब उन दबे भावों को बाहर करके दबाव को कम कर दिया तो रोगी को आराम हो गया।

डाक्टर रिवर्स ने लैंसेट में बड़े विस्तार से एक रोगी का हाल दिया है जो एक भूले हुए अनुभव के कारण बीमार पड़ा था। हम यहां उसे संक्षेप से देते हैं। एक नौजवान डाक्टर था जिसे युद्ध के पहले से ही सुरंग और तंग कोठरियां जैसी बन्द जगहों से बड़ा भय लगता था। वह कभी नल-रेल से यात्रा नहीं करता था और जब कभी रेलगाड़ी सुरंग में से जाती थी तो उसे बड़ा डर लगता था। लड़ाई में एक बार उसे एक गड्ढे में जाती बेर एक फावड़ा दिया गया और कहा गया कि अगर मिट्टी के भीतर दब जाना तो इसी से खोद कर निकल आना। इस से उस की नींद बहुत बेचैनी की होने लगी और उस का स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया कि उसे बीमारी के कारण अपने घर चला जाना पड़ा। कोशिश

की गयी कि वह युद्ध को बिल्कुल भूल जाय और मनोरंजक विषयों में ही मन लगावे, परन्तु यह उपाय व्यर्थ हुए। उसे युद्ध के बड़े भयानक सपने आते थे जिन से वह जग पड़ता था। उस समय वह पसीने से तर होता था और समझता था कि मैं मर रहा हूँ। ऐसी दशा में डाक्टर रिवर्स ने उस का इलाज शुरू किया। उन्होंने उसे सलाह दी कि कोशिश करके जो सपने देखो उन्हें याद करो और जब सपनों पर खयाल कर रहे हो उस समय जो-जो भूली बातें याद आवें उन्हें लिखते जाओ। कुछ ही बाद उस ने सपना देखा और जब वह पड़े-पड़े सपने को सोच रहा था उसे याद आया कि जब मैं तीन बरस का था तब बच्चों के साथ एक बूढ़े कंगाल पड़ोसी के यहां अपने घर की पुरानी बेकार चीजें ले जाया करता था और वह पैसे देता था। एक दिन अकेला पड़ गया। लौटती बेर उस की कोठरी के अँधेरे लंबे रास्ते में पड़ गया। दरवाजा बन्द हो गया था। मैं खोल न सकता था। पीछे से एक कुत्ता उसी ओर आया और मुझ पर भूँकने लगा। कुछ देर में मुझे इस महा भयानक स्थिति से छुटकारा मिला। यह ऐसी घटना थी जिसे भूलना असंभव था, परन्तु इतने काल तक यह ख्याल दबा रहा। फिर एक सपने से जो वह रोगी उठा तो "मक्खन, मक्खन" चिल्लाता उठा। एका-एकी उसे ख्याल आया कि उसे बूढ़े का नाम "मक्खन" था। रोगी के माता-पिता ने भी इस बात का समर्थन किया कि पड़ोस में मक्खन नाम का एक दरिद्र बूढ़ा रहता था। इस याद के लौट आने का रोगी पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ा। कुछ ही दिनों में बन्द जगहों का भय उस के मन से एक दम दूर हो गया और वह सुरंगों और नलवाली रेलों में मजे से यात्रा करने लगा। यहाँ बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जाग्रत जीवन पर एक बिल्कुल भूले हुए अनुभव का कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है। और भी विचारणीय बातें यह हैं कि (१) असली घटना बड़े भावोद्वेग की और बड़ी बेचैन करनेवाली थी, (२) सपने पर सोचने से ही वह भूला अनुभव फिर याद आया, (३) बेकार डर को दूर करने की जितनी कोशिशें जाग्रत चेतना करती थी व्यर्थ जाती थीं और (४) बारम्बार के भयोद्वेग से वह भयानक अनुभव जाग्रत चेतन में उभड़ पड़ता था, यद्यपि इतना दब गया था कि जाग्रत चेतन को उस की याद बाकी न थी। इस भयोद्वेग का उद्दीपन बन्द जगहों के देखने से हो जाता था।

मानसिक चिकित्सा के इस तरह के उदाहरण इस सुषुप्त चेतना का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। उन पर विस्तार की यहां जरूरत नहीं है। एक कुतूहल की बात यह है कि इस नयी विश्लेषण विधि का स्वप्नों की व्याख्या करने में अब बहुत उपयोग किया जा रहा है। इस तरह की व्याख्या में यह बात मान ली जाती है कि दबे हुए भावों का प्रकाश सपनों में हुआ करता है। परन्तु हर सपना केवल दबे हुए भावों का प्रतिबिम्ब है, ऐसा भी मान लेने के लिए कोई हेतु नहीं है। इस विषय पर स्वप्न के विशेषज्ञों का मतभेद है। साथ ही यह भी कहना ठीक नहीं कि सभी सपने निरर्थक होते हैं और व्यक्ति के भूतकाल की स्मृतियों के विच्छृङ्खल और असंगत प्रतिबिम्ब हैं। सपनों के विश्लेषण से हमारा ज्ञानभांडार बहुत बढ़ गया है और अब सभी नहीं तो अधिकांश सपनों की व्याख्या

करने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने एक सूत्र बना लिया है कि सपना दबी हुई इच्छा का प्रतिबिम्ब हुआ करता है। यह इच्छा इसलिये दब जाती है कि किसी-न-किसी कारण से किसी-न-किसी रूप में वह जाग्रत अवस्था में दुःख का कारण होती। परन्तु दबे हुए भाव नष्ट नहीं होते और कभी न कभी प्रकट होने का अवसर ढूंढ़ते रहते हैं। सोते में चेतन और अचेतन के बीच की गांठ कुछ ढीली पड़ जाती है, भावों के ऊपर का निर्दय दबाव घट जाता है। तो भी यह भाव अपने शुद्ध रूप में प्रकट नहीं होते। उन का रूप विकृत हो जाता है और बदले हुए भोंडे रूपों में व्यक्त होते हैं। फ्रायड ने "स्वप्नों की व्याख्या" नामक पुस्तक में इन बातों के अनेक उदाहरण दिये हैं और व्याख्या की विधियां भी बतायी हैं।

सभी सपने दबे हुए भावों के चित्र नहीं होते। अनेक तो दिन भर के ख्यालों के अपूर्ण और असंगत चित्र होते हैं और टुकड़ों के रूप में देख पड़ते हैं। कोई कोई होने-वाली घटना के भी सपने होते हैं और कभी-कभी ऐसी बातें भी देखने में आती हैं जिन के अनुभव में आने की इस जीवन में सम्भावना नहीं होती। कई सपने ऐसे भी होते हैं जो आदि से अन्त तक बिल्कुल पूरे सिलसिलेवार सुसंगत घटनाक्रम दिखाते हैं। यह अचेतन में दबे हुए भावों की पूर्त्ति के पूरे रूपक होते हैं। पर इस तरह भी दबे हुए भाव पूर्णतया संतुष्ट नहीं होते। दबाना अब भी जारी है, यद्यपि ढीला है। किसी-न-किसी कारण से जब भावों की ठीक तुष्टि नहीं हो पाती तो मानसिक शक्ति विषम विधियों से स्वप्न द्वारा उस के लिये निकासी पैदा करती है। बहुत से कला के काम भी सपने की तरह दबे भावों को बाहर निकालने के साधन हो जाते हैं। कभी-कभी जब सपने में दबे हुए संकर भावों की तुष्टि नहीं होती तो मानसिक रोगों की दशा उत्पन्न हो जाती है। योषापस्मार (हिस्टीरिया) उन्माद, और कभी एक ही व्यक्ति में दो व्यक्तियों का प्रकट होना इन्हीं दबे हुए भाव सांकर्यों का फल होता है। पिछले महासमर में भाग लेनेवालों के मनःपटल पर अत्यंत दूषित प्रभाव पड़ जाने से इस तरह के अनेक रोग देखने में आये हैं।

सपनों के ऊपर एक बिल्कुल भिन्न विचार भी मनोवैज्ञानिकों में है। डाक्टर विलियम ब्राउन कहते हैं कि सपने का काम निद्रावस्था की रक्षा है। भय, भागना, सुस्ताना आदि नैसर्गिक भावों की तरह सोना भी एक नैसर्गिक भाव है जिस की वृद्धि विकास-क्रम से हुई है। रात को यह निसर्ग काम करने लगता है। परंतु उस समय बाहरी आवेगों और भीतरी निसर्गों और प्रवृत्तियों से उस का विरोध होता है। उस समय इच्छाएं, अभिलाषाएं, चिन्ताएं पहले की स्मृतियां जो मन में भरी हुई हैं उबल पड़ती हैं और जगाने की कोशिश करती हैं, यद्यपि मुख्य व्यक्ति पीछे हटा हुआ होता है। यदि यह सब चेतना तक पहुँच जाय तो नींद खतम हो जाय। इसीलिये जाग्रत और सुषुप्त अवस्था के बीच में सपने की अवस्था इन सब उद्वेगों की शक्ति को घटा देती है और इन्हें आगे बढ़ने से रोक रखती है। इस तरह नींद टूटने नहीं पाती। इस व्याख्या में सभी तरह के सपने सन्निविष्ट हैं।

४—शरीर के बाहरी पदार्थों से चित्त का सम्बन्ध

शरीर के जागने सोने और सपने की अवस्थाओं में मानसिक व्यापारों पर मनोविज्ञान की जितनी धारणाएं हैं उन सब का संबंध केवल शरीर की वस्तुसत्ता से है। मनस के सभी साधारण व्यापारों पर विज्ञान विचार करता है, और विचारों के पाने और भेजने में इंद्रियों का व्यवहार भी उस का विषय है, परंतु इस बात का प्रयत्न करके भी उसे सफलता नहीं हुई कि यह समझा सके कि शरीर के यांत्रिक स्पन्दन भावों में और अनुभावों में कैसे बदल जाते हैं, अथवा चित्त के उद्वेग और समवेदन से जड़ शरीर में यांत्रिक स्पन्दन कैसे पैदा हो जाते हैं। उधर भौतिक विज्ञान केवल जड़ पदार्थ पर विचार और प्रयोग करता है और जहाँ चित्त का संबंध आता है वह यही मान लेता है कि भौतिक पदार्थ पर चित्त की क्रिया केवल जड़ पदार्थ से विकसित एक विशेष वस्तुसत्ता की क्रिया है। इस तरह ऐसा जान पड़ता है कि जड़ पदार्थ पर प्रयोग हो सकते हैं और जड़ पदार्थ से अलग चेतना की कोई स्थिति नहीं है।

परंतु वैज्ञानिकों ने हाल में इस तरह की खोजें भी की हैं जिन से यह पता चलता है कि चित्त का अस्तित्व जाने हुए जड़ पदार्थों से बिल्कुल अलग और स्वतंत्र भी हो सकता है। बहुत काल से ऐसी अनेक अनुभूत बातें कही जाती रही हैं जिन पर वैज्ञानिक ध्यान नहीं देते थे। पिछले पचास-साठ बरसों से उन बातों पर विचार किया जाने लगा और खोजों से अब यह धारणा हो गयी है कि जड़ पदार्थ से अलग भी चित्त का अस्तित्व हो सकता है और यद्यपि उस का प्रकाश केवल जड़ पदार्थ द्वारा ही होता है तथापि उस के काम जड़ पदार्थ से बाहर भी बहुत कुछ होते हैं, और यह कि जड़ और चेतन वस्तुतः अलग-अलग हो सकते हैं। और यह भी संभव है कि हमारी इंद्रियों से अतीत कोई सूक्ष्म पदार्थ हो जिस में कि चित्त उसी तरह स्वच्छंदता से अपना व्यापार कर सके जैसे कि जड़ पदार्थों में करता है। जड़ और चेतन के इस संबंध की खोज में क्या क्या बातें मालूम हो सकती हैं और हम कहाँ तक अपने ज्ञान की वृद्धि इस दिशा में कर सकते हैं, इन प्रश्नों का उत्तर वैज्ञानिकों ने एक नये ढंग से अन्वेषण में पाया है जिसे हम अध्यात्म-विज्ञान कह सकते हैं। इस विज्ञान का अन्वेषण अन्तःकरण से घनिष्ठ संबंध रखता है। इसलिये इसे मनोविज्ञान का ही एक अंग समझना चाहिए।

इस विद्या के विषयों का अनुशीलन बहुत काल से इक्के दुक्के वैज्ञानिक करते आये। लगभग पचहतर बरसों से इस पर विशेष रूप से काम होने लगा। भौतिक विज्ञानियों में प्रमुख प्रोफ़ेसर विलियम क्रुक्स ने इस विषय पर पचास बरस के लगभग हुए विशेष खोज की। उसी समय के लगभग अनेक प्रमुख वैज्ञानिकों ने मिलकर परान्वेषण परिषद की रचना की जिस ने बड़ी सावधानी से इस तरह की खोजों का बीड़ा उठाया। इस परिषद में बड़े-बड़े वैज्ञानिक और विचारक संमिलित हुए। यह परिषद बनी तो इंगलिस्तान में परंतु धीरे-धीरे यह अन्ताराष्ट्रिय हो गयी और आधे संसार के भारी-से-भारी वैज्ञानिक जो इस विषय में रस रखते हैं इस के सदस्य है। इस परिषद में आवश्यकता से अधिक सावधानी

इस बात में की गयी कि रहस्य और अन्धविश्वास इस खोज के मार्ग को किसी तरह धुंधला न कर सकें।

५—पर-चित्त-ज्ञान

पहली खोज पर-चित्त-ज्ञान के संबंध में हुई। बहुत सावधानी से परीक्षाएँ करके यह बात पायी गयी कि कोई विचार या मानसिक चित्र एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के मन में
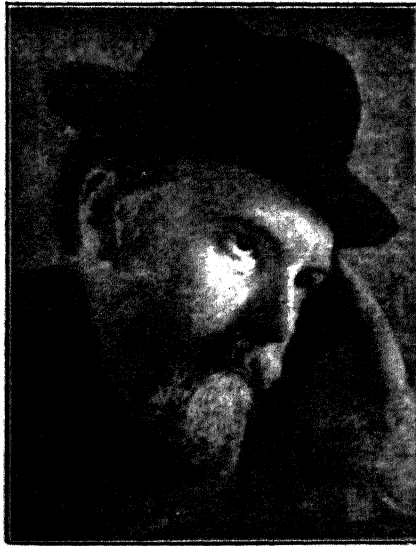
चित्र १२८—फ्रेडरिक मैअर्स [सं० १९००-१९५८ वि०]

साधारण इंद्रियगत साधनों के बिना भी पहुंचा सकता है। केवल शर्त यही है कि उस दूसरे मनुष्य के मन में उस विचार या चित्र को ग्रहण करने का सामर्थ्य हो। इस तरह की परीक्षाएं पहले एक ही कमरे में अत्यंत साधारण छोटी-छोटी चीजों चित्रों और अंकों को लेकर की गयी और आँखें बंद करने के बदले पूर्ण अ-पारदर्शी पर्दे का प्रयोग किया गया, और साधारण ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग में पूरी बाधा डाली गयी। इन परीक्षाओं में सफलता होने पर दूरी बढ़ायी गयी। बढ़ाते-बढ़ाते यह दूरी इतनी कर दी गयी कि किसी प्रकार से भी भौतिक साधनों से विचार की अदला-बदली असम्भव हो गयी। इन परीक्षाओं से यह सिद्ध हो गया कि शारीरिक या भौतिक साधनों के न होते हुए भी एक चित्त अपने विचार को दूसरे चित्त तक पहुँचा सकता है। अथवा, यों कहना चाहिये कि साधारणतया जिन विधियों से जिन इंद्रियों के द्वारा एक मन दूसरे मन पर अपने भाव प्रकट करता है उन के बिना भी विचारों और भावों का विनिमय हो सकता है। हजारों मील की दूरी पर विचारों और भावों का विनिमय

होने से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि एक मस्तिष्क दूसरे मस्तिष्क तक बेतार-वाली बिजली की लहरों की तरह कोई सूक्ष्म लहर भेजता होगा अथवा किसी अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ के कण जाते होंगे जो विचारों और भावों के वैसे ही चित्र बना देते होंगे जैसे कि भेजनेवाले ने मन में बनाये थे। यह भी सम्भव है कि दूरी चाहे कितनी हो परंतु दोनों मस्तिष्कों के बीचवाले देश में कोई ऐसा सूक्ष्म पदार्थ ओत-प्रोत भाव से भरा हुआ है जिस के भीतर से होकर विचार-लहरों की माला प्रकाश और बिजली से भी अधिक वा बराबर के वेग से स्थूल रुकावटों की परवाह न कर के अथवा उन के द्वारा बिल्कुल अवरुद्ध न होकर सहज में ही आती जाती है। एक और कल्पना की जा सकती है। वह यह कि कोई सूक्ष्म अवस्था में रहनेवाली चेतना-युक्त व्यक्ति है जो बड़े वेग से चलकर एक मस्तिष्क से दूसरे मस्तिष्क तक विचारों और भावों के चित्र उसी तरह पहुंचाती है जिस तरह कोई दूत सन्देश पहुंचा देता है। यह तीसरी कल्पना सुनने में तो व्यर्थ सी लगती है परन्तु इसके पहलेवाली कल्पनाएँ अनेक ऐसी गुत्थियों को नहीं सुलझा सकतीं जो इस पिछली कल्पना से सुलझ जाती हैं। मानसिक लहरों या कणों की कल्पना में एक तो यह दोष है कि उनका अस्तित्व अब तक असिद्ध है, दूसरे हारमोनों की डाक की तरह ऐसा मानना पड़ेगा कि हज़ारों मील की दूरी पर ग्राहक के मस्तिष्क में ही वह विचारकण या तरंग इसलिये पहुंचते हैं कि उसी के सांचे के बने होते हैं अथवा बेतार की तरह स्वरों की सी अनुकूलता रहती है। कुछ विद्वानों का यह भी विचार है कि पाशविक अवस्था में बिना वचन और कर्म का सहारा लिये किसी मानसिक रीति से ही आपस में विचार-विनिमय का कोई साधन होगा, और मनुष्य के मनोदेह में परम्परा से वह साधन मौजूद है जो काम में न आने से और सभ्यता के बढ़ जाने से दब गया है और कभी-कभी पर-चित्त-ज्ञान के रूप में प्रकट होता है।

६—छाया-रूप या माया

जिस तरह एक्स किरणें परीक्षाओं और प्रयोगों के लिये प्रकट की जाती हैं, परन्तु वस्तुतः उस तरह की अन्य किरणों तथा अनेक सूक्ष्म कणों का कई पदार्थों से अपने आप विकिरण भी होता रहता है, उसी तरह पर-चित्त-ज्ञान की क्रिया जो प्रयोग के लिये देखी गयी, अपने आप होती रहती है वा नहीं, इस बात की भी खोज की गयी। कथा कहानियों में एवं इतिहास में भी ऐसी घटनाएं तो असंख्य कही जाती हैं, परन्तु परिषत् ने पर-चित्त-ज्ञान के तथ्या को स्थापित करके इस विषय की भी पूरी जांच की और पक्के प्रमाण पाये। इन सब परीक्षाओं में प्रायः सर्वथा यह बात देखी गयी कि जो मनुष्य अत्यन्त भय या शोक या करुणा या संकट की अवस्था में या मरणासन्न दशा में होता है, अथवा इस दशा में मर जाता है, उस की छाया उस के मित्र या हित या किसी तरह के राग या द्वेष के सम्बन्धी के पास पहुंचती है, उसे प्रत्यक्ष दीखती है और उस पर किसी-न-किसी ढंग से अपने भाव प्रकट करती है। जांच के लिये जान-बूझ कर प्रयोग में और इस अपने आप होनेवाली घटना में अन्तर यह है कि प्रयोग में तो प्रेरक अपने प्रयोग की सफलता के उद्देश्य से

अपने दृढ़ संकल्प को ग्राहक की ओर मजबूती से विचार को भेजने में लगाता है,—यद्यपि यह सिद्ध नहीं हुआ है कि इस संकल्प का प्रयोग वस्तुतः फलदायक है,—परन्तु अपने आप होनेवाली घटना में तो मन या मस्तिष्क का वह अंश काम करता है जो अचेतन है, वा जाग्रत चेतना से नितांत भिन्न है, क्योंकि प्रेरक अपनी जान भर में इस तरह के विचार, चित्र, या छाया या भाव की प्रेरणा से बिल्कुल बेखबर होता है। आग लगी हुई है, या जहाज डूब रहा है और एक मनुष्य को जान की जोखिम है। वह इतना घबरा जाता है, उस के अन्तरात्मा पर ऐसा दबाव पड़ता है, कि रक्षा के लिये बाहर समाचार भेजने की उस की प्रच्छन्न शक्ति जाग्रत हो जाती है और काम करने लगती है। वह आप अपने होश-हवास में इस बात की खबर नहीं रखता परन्तु किसी बहुत दूर पर रहनेवाले भाई बन्धु के मन में ऐसा स्पष्ट चित्र पहुँच जाता है कि उसे उस व्यक्ति की जोखिम का कल्पना-चित्र आंखों के सामने प्रत्यक्ष दिखाई देने लगता है। जान पड़ता है कि भीगे कपड़ों में से पानी टपक रहा है। संकटापन्न बन्धु सहायता के लिये पुकार रहा है उस के शब्द सुन पड़ते हैं। यद्यपि स्थूल आंखें या स्थूल कान यह देख सुन नहीं रहे हैं, केवल मानसिक घटना है तो भी ऐसा ही जान पड़ता है कि एक छाया या रूप सामने दीख रहा है और पास से ही शब्द सुनाई दे रहे हैं। विमान या वायुयान से एक दुर्घटना में बहुत दूर से आते हुए एक नवयुवक बड़े वेग से गिरता है और मर जाता है। उसी समय उस का जो साथी सैकड़ो मील दूरी पर है, उसे मालूम होता है कि खेमें के पास ही कोई विमान गिरकर चूर-चूर हो गया है। उस की आवाज साफ़ ही सुन पड़ी। तुरन्त ही वह नवयुवक अपने साधारण भेष में खेमें में आता देख पड़ता है। साथी उस के इतनी दूर से इतनी जल्दी आ जाने पर आश्चर्य प्रकट करता है। उस नवयुवक का रूप उत्तर देता है और फिर खेमें के बाहर निकल जाता है। उसी शाम को उस साथी को यह पता लगता है कि उसका नौजवान दोस्त रास्ते में ही वायुयान की दुर्घटना से ठीक उसी घड़ी मर गया था जिस घड़ी वह उसे खेमें में दिखाई पड़ा था। इस घटना का विस्तार से वर्णन जून १९१९ ई० के परान्वेषण परिषद के मुखपत्रों छपा है। इस तरह के उदाहरण असंख्य हैं और जीवन-चरितों में बहुत पाये जाते हैं। मुश्किल से कोई परिवार ऐसा होगा जिस में इस तरह के अनुभवों की कोई कथा न हो। यह बात भी बड़ी विलक्षण है कि ऐसी छाया केवल तत्-सम्बन्धी मनुष्य को ही देख पड़ती है और इस तरह के शब्द उसी को सुन पड़ते हैं। उस के पास जो लोग मौजूद होते हैं उन्हें किसी तरह की खबर नहीं होती। वह कहता भी है कि देखो अमुक रूप सामने है या अमुक शब्द सुन पड़ता है, परन्तु दूसरे लोग इतने पर भी न देख सकते हैं और न सुन सकते हैं। ऐसी घटनाओं की बड़ी सरल व्याख्या यही हो सकती है कि संकटापन्न या भयग्रस्त या क्रोधातुर या किसी भावोद्वेग से पीड़ित प्राणी के सुषुप्त चेतन की ओर से जिन शब्दों और चित्रों की विवश प्रेरणा होती है उन्हें ग्राहक की प्रच्छन्न किन्तु प्रबल ग्राहिका-शक्ति मानसिक शब्दों और रूपों में परिणत कर लेती है और जैसा कि हम अन्यत्र दिखा आये हैं वास्तविक सुनने और देखने की इंद्रियां तो दिमाग के भीतर ही हैं जो शब्द या चित्र का अनुभव कर लेती हैं। फिर उन्हीं शब्दों या चित्रों का अनुभव कोई

बाहरवाला कैसे कर सकता है ? ऐसे उदाहरण इतने असंख्य हैं कि यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा अकस्मात् ही या संयोग से ही हो जाता है।

कभी कभी ऐसी घटनाओं से झूठे निष्कर्ष भी निकाले जा सकते हैं। एक मांझी की मां सपना देखती है या प्रत्यक्ष देखती है कि उस का लड़का उस की खाट के पास खड़ा है और उस के भीगे कपड़े से पानी चू रहा है। वह समझती है कि लड़का डूब मरा और रो-पीटकर संतोष कर बैठती है। छः महीने बाद वह भला चंगा लौट आता है और पूछने पर मालूम होता है कि सचमुच छः महीने पहले एक मस्तूल से वह समुद्र में गिर गया था और बड़ी मुश्किलों से डूबने से बचा लिया गया। जिस तारीख को यह घटना हुई थी ठीक उसी दिन मां को छाया दिखी थी।

मरने के बहुत काल पीछे भी लोगों को मरे हुए मनुष्यों की जो छाया देख पड़ती है उस का भी कारण मरनेवाले की ओर से विचार-प्रेरणा ही समझी जाती है और मरण-काल का ही रूप दिखा भी देने से ऐसा समझा जाता है कि शायद विचार की प्रेरणा मरणकाल में ही हुई हो और उस के ग्रहण करने में देर लगी हो।

जो हो, विचारप्रेरणा के द्वारा हर तरह की छाया के दिखाई देने की व्याख्या नहीं हो सकती। जैसे कहा जाता है कि अमुक अमुक घर या स्थान प्रेतावास है और वहां एक कोई प्रेत दिखाई दिया करता है। ऐसी जगहों पर किसी अनभिज्ञ मनुष्य को भी जिसे वहाँ का इतिहास बिल्कुल नहीं मालूम है और उसके प्रेतावास होने का बिल्कुल पता नहीं है विशेष विशेष समयों पर छाया या रूप देख पड़ता है। परचित्तज्ञान या विचारप्रेरणा से ऐसी घटनाओं की व्याख्या नहीं हो सकती। पहली बात तो यह है कि इसकी अच्छी तरह खोज होनी चाहिये कि असलियत क्या है और क्या वस्तुतः ऐसी छाया नियत समयों पर पड़ती है। यदि ऐसा ठीक है तो किसी पक्ष में अपने विचार को झटपट पुष्ट कर लेना उचित नहीं है। अपने मन को निर्मल और निष्पक्ष रखना ही बुद्धिमानी है। इस प्रकार की छाया के प्रमाण तो बहुत मिले हैं परन्तु वह इतने अच्छे निर्णायक नहीं समझे जाते जितने कि पहली श्रेणी की छाया के लिये समझे गये हैं। ऐसे मामलों में कोई प्रेरक समझ में नहीं आता और जो क्रियाएं प्रेत के द्वारा कभी-कभी की हुई बतायी जाती हैं वह केवल मानसिक चित्र नहीं मालूम होते। हो सकता है कि ग्राहक प्रत्यक्ष स्वप्न देखता हो। अनुभव में आयी हुई छाया वस्तुतः देखनेवाले के दिमाग़ के बाहर की चीज़ है यह सिद्ध करने का भार देखनेवाले पर ही रहता है। उदाहरण व्यर्थ हैं। भूतों की कहानियां सभी जानते हैं। विस्तार की बातें याद रखना कठिन है, यद्यपि बना लेना अत्यन्त सरल है।

यदि ऐसी छायाओं का दिखाई पड़ना तथ्य है तो इनकी बुद्धि-पुरस्सर व्याख्या क्या हो सकती है ? इस गुत्थी को सुलझाने के लिये क्या यह कहा जा सकता है कि जड़ और चेतन का सम्बन्ध ऐसा है कि कभी कभी शरीर से चेतन अलग हो सकता है ? या स्वतंत्र हो सकता है ? एकाध बातों में तो ऐसा कुछ हेतु मालूम होता है कि अपने शरीर के भीतर के सिवाय बाहरी पदार्थों का भी इन्द्रियों के साधन के बिना ही चित्त को

अनुभव हो जाता है। अनेक बार इस तरह की परीक्षा की गयी है कि कुछ विशेष शक्ति वाले लोग बन्द किताब के भीतर के पृष्ठ पढ़ लेते हैं। लिफाफे में बन्द चिट्ठियों के अक्षर-अक्षर बता देते हैं। इसकी जो यह व्याख्या की जाती है कि उनमें दिव्य दृष्टि है या त्वचा में या आंखों में ही यह शक्ति आ गयी है अथवा जो लोग सैकड़ों मील दूरी की बात सुन लेते हैं उनके सम्बन्ध में जो यह व्याख्या की जाती है कि कानों में विशेष शक्ति आ गयी है सन्तोषजनक व्याख्या नहीं है। प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट ने लिखा है कि एक बार दार्शनिक महात्मा स्वेडेनबोर्ग मित्रों से बातें करते-करते भयानक चिन्ता में पड़ गये। कुछ देर के बाद उनकी चिन्ता मिट गयी और सन्तोष हो गया। पूछने पर उन्होंने मित्रों से बताया कि बस्ती में जोर की आग लग गयी थी और मेरे घर तक पहुंचा चाहती थी। उससे नुकसान तो बहुत हुआ परन्तु मेरा घर बच गया। लोगों ने उससे पहले ही बुझा दिया। मेरी चिन्ता मिट गयी। उनका घर वहां से दो सौ मील की दूरी पर था। दो दिन बाद मालूम हुआ कि यह घटना बिल्कुल सच थी और ठीक उसी समय हुई थी। ऐसी घटनाओं को कोई विचार-प्रेरणाओं का फल नहीं कह सकता। इसके साधन या कारणों की जांच भी यथावत् नहीं हो सकी है। इस तरह की अद्भुत शक्ति रखनेवाले मनुष्य मध्यम या पात्र कहलाते हैं और प्रायः वस्तुओं को टटोलकर या छूकर उस के भीतर की बातें बता देते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रियों का मानसिक अंग शरीर से बाहर जाकर दूर-दूर की वस्तुओं का और घटनाओं का अनुभव कर सकता होगा, परन्तु किसी परीक्षा द्वारा इसका निश्चय होना बहुत ही कठिन है। ऐसी शक्ति रखनेवाले मनुष्यों की परीक्षा में बहुत बार असफलता भी हो जाती है। परन्तु असफलता किसी बात को सिद्ध या असिद्ध नहीं करती, क्योंकि स्मरण शक्ति की असफलता का कारण दुर्बलता या साधारण भूल भी हो सकती है। मरने के बारह बरस पहले प्रोफेसर मायर्स ने सर ओलिवर लाज नामक प्रसिद्ध वैज्ञानिक को लिफाफे में बन्द एक वाक्य दिया था। मरने के बाद प्रो० मायर्स का जीव बुलाया गया परन्तु वह लिफाफे के भीतर का वाक्य बता नहीं सका। यह हो सकता है कि बारह बरस पहले की बात जीव को बिल्कुल भूल गयी हो। यह निष्कर्ष नहीं निकाला जाता कि प्रो० मायर्स थे ही नहीं, क्योंकि उनका होना और सैकड़ों तरह से प्रमाणित हो चुका था।

जहां किसी निश्चित स्थान में कोई छाया बारम्बार दीखती है वहां के सम्बन्ध में एक और व्याख्या दी जा सकती है, कि उस स्थान या मकान में किसी पूर्व काल में जो घटनाएं हो चुकी हैं फोनोग्राफ के रेकार्ड की तरह दरो-दीवार पर सूक्ष्म पदार्थों में उनका अंकन हो गया है। ग्राहक चित्तरूप में उनको देख लेता है, इसी से उसे छाया देख पड़ती है। अथवा ऐसा भी हो सकता है कि जिन जीवात्माओं के सम्बन्ध में वह घटनाएं घटी हों और वह जीवात्मा स्वयं उन घटनाओं के सपने बारम्बार देखते हों और ग्राहक शक्ति रखनेवाले मनुष्य जब घटनास्थल पर पहुँचते हों तब उनके मस्तिष्क में उन स्वप्न-कल्पनाओं की प्रेरणा हो जाती हो।

७—घनीभवन या रूपधारण

अभी तक जो विचार हम करते आये हैं उसमें बाहरी पदार्थों का प्रभाव चित्त के ऊपर पड़ना ही समझा गया है। परंतु इस प्रश्न का एक दूसरा पहलू भी है। वह यह है कि चित्त का प्रभाव बाहरी स्थूल पदार्थों पर भी पड़ता है और वह भी इस तरह पर कि शरीर की मांसपेशियों और इंद्रियों के बीच में पड़ने की कोई जरूरत नहीं होती बल्कि किसी भौतिक माध्यम के शरीर से अपने शरीर के अनुकूल पदार्थों को चित्त एकत्र कर लेता है और वास्तविक रूप-रेखाएँ खड़ी कर लेता है। इस घटना को
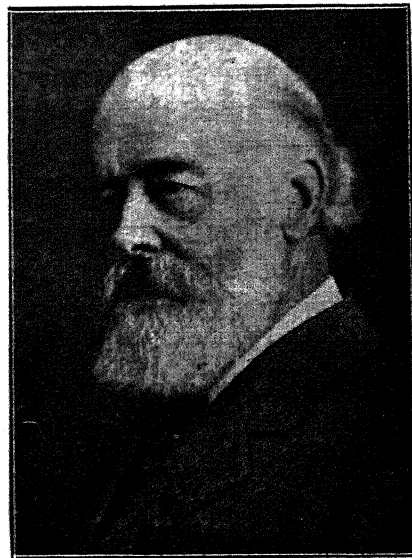
चित्र ६२१—सर आलिवर लाज, जन्म सं० १९०८ वि०
परलोक-विद्या के प्रसिद्ध खोजी और जानकार

घनीभवन या रूपधारण कहते हैं। इस अद्भुत प्रकार की भौतिक घटना के लिये बहुत ही दृढ़ बहुत सुसंगत प्रमाण चाहिये। परन्तु यह एक ऐसी घटना है जो अनुकूल अवस्थाओं में बहुत हुआ करती है और योरोप के शरीर-विज्ञानियों को लाचार होकर अपनी इच्छा के विरुद्ध ऐसी घटनाओं को तथ्य मानना पड़ा है। कहा जाता है कि इसमें बड़ी शक्ति लगती है और अनेक मनुष्यों के मौजूद रहने से ही इस काम में पूरी सहायता मिलती है। बहुत से आदमियों के रहने से तो यह स्पष्ट ही है कि ठीक-ठीक जांच नहीं हो सकती है। इस तरह के पात्र भी कठिनाई से मिलते हैं जिनके द्वारा सुभीते से जांच हो सके। इस तरह की जांच बहुत पहले हो चुकी है और आज भी कुछ लोग ऐसे हैं जिन्होंने फोटोग्राफ ले लिये हैं। ऐसा जान पड़ता है कि कोई

सूक्ष्म बहनेवाला पदार्थ है जो वस्तुओं को बड़े ज़ोर के साथ हिला-डुला सकता है यद्यपि देखने में किसी तरह का स्पर्श भी नहीं मालूम होता। विलियम क्रुक्स ने अपने "प्रेतवाद की खोज" नामक पुस्तक में कई प्रयोग लिखे हैं जो उन्होंने प्रसिद्ध साधन मि० होम द्वारा किये थे। एक प्रयोग में कई मन का टेकन उठाया गया था और दूसरे में अपने आप बजता हुआ एक भारी पियानो बाजा एक स्थान से उठकर दूसरे स्थान को गया और बड़ी सावधानी से रख दिया गया। तीसरे में एक मंडली के सामने फूल लिये हुए एक हाथ प्रकट हुआ जो प्रत्येक दर्शक के सामने गया और किसी ने जो पकड़ने की कोशिश की तो व्यर्थ हुई क्योंकि मुट्ठी कसती गयी और उसने देखा कि हाथ दूसरे के पास पहुँच गया है।
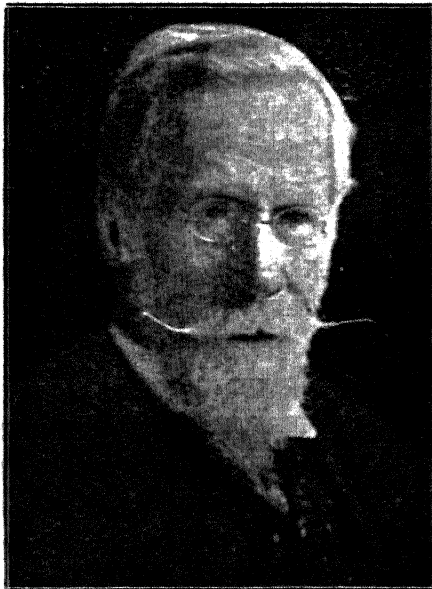
चित्र १३०— सर विलियम क्रुक्स [सं० १८८९-१९७६ वि०]
इस प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने पचास बरस हुए प्रेतवाद पर अनेक अद्भुत प्रयोग कर के प्रेत की सत्ता सिद्ध की थी।

यह बात विज्ञान की समझ में अब तक नहीं आयी है कि ऐसी क्रिया किस तरह पर हो जाती है। परंतु जो हो, यदि इस प्रकार से घनीभवन सम्भव है अथवा ऐसी शक्ति चित्त में मौजूद है, चाहे उसकी व्याख्या किसी तरह पर क्यों न हो, तो अवश्य ही छाया का दिखाई पड़ना कोई अनहोनी बात नहीं है क्योंकि दिखाई पड़ने और छुए जाने योग्य पदार्थ तो वह है ही।

युरोप के अनेक खोजियों की यह भी धारणा है कि मध्यम के शरीर से ही निकला हुआ पदार्थ है जो उसकी अचेत अवस्था में छाया-रूप में परिणत हो जाता है, और बाहरी पदार्थों के ऊपर भी प्रभाव डालता है।

८—परचित्त की अभिव्यक्ति

यह कहा जाता है कि वियोगी पुरुषों का चित्र लेते समय बहुधा मरी हुई संतान या पत्नी की छाया भी आ जाती है परन्तु इस क्रिया में छलों का प्रयोग भी हो सकता है इस लिये फोटो की विधि बहुत विश्वास-योग्य नहीं है।

किसी मध्यम का बेहोश हो जाना और उस दशा में प्रलाप करने लगना बड़ी साधारण बात है। ऐसा जान पड़ता है कि मध्यम के वाग्यंत्र को कोई दूसरी व्यक्ति काम में ला रही है। अपस्मार, उन्माद आदि रोगों में भी यही बात बहुधा देखी जाती है। सम्भव है कि प्रलाप करनेवाला स्वयं मध्यम के स्वप्नावस्था वा सुषुप्त अवस्था का चित्त ही हो। परंतु ऐसी दशा में परीक्षा कर लेना कठिन नहीं है। वैज्ञानिकों ने असंख्य परीक्षाएं की हैं जिन से यह पता चला है कि मध्यम के शरीर में किसी परलोकगत जीवात्मा का प्रवेश हुआ है जो अपनी पूरी पहचान दे सकता है और सब तरह की परीक्षाओं से खरा उतरता है। किसी और चित्त का आकर दूसरे के मस्तिष्क में प्रवेश कर जाना और उस की इंद्रियों से काम लेना तो अगणित प्रयोगों से सिद्ध हो गया है। परंतु एक बात और भी अनुभव में आयी है वह यह है कि शब्द कमरे के अंदर किसी के कंठ से न निकलकर हवा में से ही आते हैं। ऐसी विलक्षण घटना यह प्रमाणित करती है कि चित्त का प्रभाव केवल मध्यम के शरीर पर ही नहीं पड़ता बल्कि वायु पर इस तरह पड़ सकता है कि उस के अणुओं में स्पंदन हो और शब्द प्रकट हो जाय।

परचित्त की अभिव्यक्ति हाथ के द्वारा लिखाने में तो अत्यंत साधारण सी बात हो गयी है। मध्यम हाथ में लिखने का यंत्र थामता है और हाथ अपने-आप चलने लगता है। पेंसिल लिखने लगती है। जो कुछ लिखा जाता है या जो प्रश्न के उत्तर मिलते हैं उन से यह पूरी जांच की जा सकती है कि लिखनेवाला कौन है। यह अगणित प्रयोगों से स्पष्ट है कि परचित्त का प्रभाव किसी के हाथ के चलाने में पूर्णतया पड़ता है। परन्तु एक और विचित्र बात और देखी गयी है कि किसी-किसी दशा में मध्यम को पेन्सिल थामने की जरूरत नहीं पड़ती। वह अपने-आप चलने लगती है और सन्देश लिखती है। इस से यह स्पष्ट होता है कि परचित्त का प्रभाव केवल मध्यम की इंद्रियों पर ही नहीं पड़ता बल्कि पेंसिल जैसी जड़ वस्तु पर भी पड़ता है।

इस तरह के असंख्य प्रयोगों से यह बात तो निर्विवाद सिद्ध हो गयी है कि

(१) मनुष्य के चित्त का प्रभाव केवल उसी के शरीर पर नहीं पड़ता बल्कि पराये शरीर पर और बाहरी वस्तुओं पर भी पड़ता है।

(२) स्थूल शरीर के छूट जाने पर व्यक्तित्व नष्ट नहीं हो जाता और किसी-न-किसी सूक्ष्म वाहन वा शरीर के आधार पर व्यक्ति का चित्त बना रहा करता है और मरने के बाद की अवस्था में उसी तरह सत्ता रखता है जैसे जीवित अवस्था में रखता था।

(३) चित्त में ऐसी भी कुछ शक्ति है कि वह स्थूल पदार्थों के उपर अपना प्रभाव डालता है, उन्हें हिला-डुला सकता है, बल्कि अणुओं को अपने सामर्थ्य से एकत्र करके

कुछ काल के लिए विशेष प्रकार का रूप भी दे सकता है जो दूसरे जीवित प्राणियों के लिये गोचर है।

९—गति की लकड़ी

कभी-कभी किसी के हाथ एक टहनी या लकड़ी किसी विशेष स्थान पर पहुंचने पर झुकने या मुड़ने लगती है और टूट तक जाती है। ऐसे स्थान पर खोदने से जल का सोता निकलता है। अथवा इष्ट खनिज पदार्थ या गड़ा हुआ धन निकल आता है। कितने ही मनुष्यों ने इस तरह का अनुभव किया है। किसी-किसी को अपनी इस शक्ति का पता न था परंतु एका-एकी लकड़ी के टूट जानेवाली घटना से मालूम हुआ कि उस में यह शक्ति है। इस तरह कई आदमियों ने भूगर्भ से निकलेवाले चश्मों या अन्य पदार्थों का पता लगाने का पेशा भी कर लिया है। इस प्रकार की घटना में किसी तरह की धोखेबाजी या ठगी की बात नहीं हो सकती है। इस की व्याख्या कठिन है। ऐसा समझा जाता है कि विकास-क्रम में पशुत्व की दशा में जीव के लिए अत्यंत आवश्यक पदार्थ जल की बड़ी आवश्यकता होने से ऐसी नैसर्गिक या सहज बुद्धि अवश्य ही होगी जिस से जल या भोजन के पदार्थ धरती के भीतर से निकालने के लिए भी क्षमता हो या बहुत सम्भव है कि उसी निसर्ग का कोई अवशेष किसी मनुष्य के सुषुप्त चेतन में अब भी मौजूद हो जिस के प्रभाव से धरती के भीतर मौजूद इष्ट वस्तु के होने पर लकड़ी टूट जाती हो या मुड़ जाती हो। कम-से-कम इतना स्पष्ट है कि इस लकड़ी से काम लेनेवाले मनुष्य के सुषुप्त चित्त का प्रभाव बिना उस की इच्छा या संकल्प के उस लकड़ी पर पड़ता है। ऐसी घटनाओं को हम परचित्त प्रेरणा नहीं कह सकते और इस में किसी प्रकार की दूसरे की विचार-प्रेरणा काम कर सकती है। इसी प्रकार दूसरी जगहों से चीजों का हटवा लेना या मँगवा लेना भी ऐसी घटनाएँ हैं जिन में केवल विचार-प्रेरणावाले वाद से काम नहीं चल सकता। किसी वस्तु के लाने के लिये या एक स्थान से दूसरे स्थान तक हटाने के लिए किसी चित्त में विचार-प्रेरणा में जितनी शक्ति चाहिए उस से कहीं असाधारण शक्ति की आवश्यकता होती है। इसलिए ऐसा मानने से इन घटनाओं की संतोषजनक व्याख्या हो जाती है कि चाहे चित्त इस भौतिक शरीर से अलग होकर काम करे अथवा इस के भीतर ही काम करे उस की प्रेरणा शक्ति बहुत अधिक हो सकती है और शरीर से स्वतंत्र होकर भी काम कर सकती है।

१०—मरणान्तर जीवन

परलोकगत प्राणियों के संबंध में परान्वेषण-परिषद ने बड़ी मुद्दत से असंख्य परीक्षाएँ की हैं। उन का विवरण यहां देना असम्भव है। परन्तु इतना निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि निश्चय ही मनुष्य का चित्त मरने के बाद नष्ट नहीं हो जाता है। वरन् किसी-न-किसी सूक्ष्म अवस्था में कुछ काल तक तो अवश्य मौजूद रहता है। इस तरह मौजूद रहने का प्रमाण प्रो० मायर्स सरीखे परान्वेषण-परिषद के प्रमुख

सदस्यों ने अखंडनीय रीति से दिया है। लिखाने की विधि से उन्होंने किसी अत्यंत गहन दार्शनिक विषय पर अपने मौलिक विचार प्रकट किये जो साधनों वा माध्यमों के द्वारा कभी लिखे नहीं जा सकते थे। प्रकट करने की रीति भी अद्भुत थी। एक ही वाक्य के टुकड़े एक ही समय में भिन्न-भिन्न दूर-दूर स्थानों पर लिखनेवाले मध्यमों के द्वारा लिखाये गये। और समझने योग्य वाक्य तभी बना जब सब टुकड़े मिलाये गये। ऐसी क्रिया में माध्यमों द्वारा छल तो असम्भव ही था परंतु साथ ही यह भी स्पष्ट हुआ कि भिन्न भिन्न स्थानों में लिखानेवाली व्यक्ति एक ही थी। केवल मायर्स ही नहीं बल्कि और परलोकगत आत्माओं से इस विधि द्वारा यह पूर्ण निश्चय हो गया कि मरने के बाद मनुष्य की चेतना नष्ट नहीं हो जाती, प्रत्युत उस का व्यक्तित्व इस स्थूल शरीर से अलग किसी स्वतंत्र अवस्था में रहता है।

जीवित अवस्था में ही रोग की आत्यन्तिक दशा में कभी-कभी किसी रोगी को यह अनुभव होता है कि मैं अपने शरीर से बाहर निकल कर विचर रहा हूँ और मेरा संकटमय शरीर अलग पड़ा हुआ है। दक्षिण अफ्रीका में शल्य चिकित्सा के बड़े नामी विद्वान् और डाक्टर प्रोफेसर सर अलेकज़ेंडर आगस्टन ने अपनी लिखी पुस्तक में अपना एक विचित्र अनुभव वर्णन किया है।* उन्हें आंत्रज्वर या मोतीझिरा हो गया था। उस समय बहुधा वह यह प्रतीत करते थे कि मैं अपने शरीर से अलग हो गया हूँ। उस समय उन्हें अपने शरीर से कुछ घृणा सी होती थी। यद्यपि वह लाचार होकर उस समय पर उस में प्रवेश करते थे। धीरे-धीरे उन का इस तरह से शरीर से बाहर जाना आना बहुत घट गया। यह उस समय हुआ कि जब उन की देख-भाल करनेवालों को उन के बच जाने की आशा हो गयी। वह लिखते हैं "इस प्रकार से शरीर से बाहर निकलकर घूमने में मुझे एक अद्भुत अनुभव यह हुआ कि मैं उस घर की भीतों के आरपार भी देख सकता था यद्यपि मैं जानता था कि बीच में दीवारें हैं। मेरी इंद्रियों के लिये कोई रुकावट न थी। जैसे, मैंने यह साफ़-साफ़ देखा कि एक फौजी जर्राह डाक्टर जिस बेचारे के संबंध में मुझे कुछ नहीं मालूम था उस अस्पताल के बिल्कुल दूसरे भाग में था। वह बहुत बीमार हुआ, चिल्लाता रहा, और मर गया। मैंने देखा कि लोगों ने उस की लाश को कफनाया और बहुत आहिस्ता से नंगे पाँव बाहर ले गये। चुपके-चुपके और चोरी से कि जिस में हम लोग यह न जानें कि वह मर गया। और मुझे ऐसा ख्याल में आया कि वह उसे दूसरी रात को कब्रिस्तान में ले गये। पीछे जब मैंने यही घटनाएँ देख-भाल करनेवाली बहिनों को सुनायीं तो उन्होंने कहा कि जैसी आपने कल्पना की है ठीक उसी तरह से घटना भी घटी है। परंतु मुझे उस बेचारे का नाम कभी मालूम नहीं हुआ।"

इस तरह के अनुभव विचित्र रूपों में ऐसे लोगों ने वर्णन किये हैं जो मरते-मरते से बच गये हैं या बहुत गहरी बेहोशी से जाग पड़े हैं। ऐसे लोगों ने यह बयान किया है कि एक तरह के डोरे से हम स्थूल शरीर से बंधे हुए थे और हमें ऐसा प्रतीत होता था कि

* "रिमिनिसेंसेज़ आफ़ थ्री केम्पेन्स" लेखक, सर अलेकज़ेंडर आगस्टन।

अगर यह डोरी टूट जायगी तो स्थूल शरीर में लौट आना असम्भव हो जायगा। परंतु बहुधा लौटने की इच्छा नहीं होती। इस पाशविक देह में कितनी असम्भव वासनाएँ, पीड़ाएँ और कष्ट हैं, यह शरीर पाशविक है, बँधा हुआ है, संकुचित है और कारागार सा है। इस की अपेक्षा शरीर से निकले पीछे की स्वतंत्रता बड़ी मनोमोहक होती है। इसलिये निकल कर बहुधा जीव लौटना नहीं चाहता। ऐसी घटनाओं से यह निश्चय हो जाता है कि चित्त इस स्थूल शरीर का मुहताज नहीं है उस के लिये कोई अधिक स्वतंत्र वाहन है जिस से वह अधिक स्वतंत्रता से काम ले सकता है। इस विषय के अन्वेषण बराबर जारी हैं, इस का साहित्य बहुत बढ़ चुका है, इस विद्या को मनोविज्ञान का एक बहुत बृहत् विस्तार समझना चाहिए।

पांचवाँ खंड

शक्ति-विज्ञान

और

सूक्ष्म प्रकृति के रहस्य

अठारहवां अध्याय

परमाणु-संसार

१—करण और उपकरण

हमने यह देखा कि इस "महतोमहीयान" विश्व में हमारी धरती की क्या स्थिति है, किस प्रकार विकास करते हुए वह वर्त्तमान स्थिति में पहुँची है, किस प्रकार इस जड़ पिंड पर आदि प्राणियों का उद्भव हुआ, फिर कैसे विकास करते-करते बारंबार की सृष्टि और प्रलय के पीछे इस पर असंख्य प्रकार के जीवाणुओं से लेकर बड़े-से-बड़े विशालकाय प्राणी हुए, फिर कैसे पिंडजों में विकास करते-करते मनुष्य का आरंभ और विकास हुआ, फिर किस प्रकार मनुष्य जातियों का इस विकासक्रम में आरम्भ और अन्त हो चुका है। हमने प्राणियों के जीवन का उन के शरीर के सहारे थोड़ा-सा अनुशीलन किया और फिर मनुष्य के शरीर की रचना और उस के अंग-अंग के व्यापारों का अध्ययन किया। फिर हमने देखा कि किस प्रकार मनुष्य का चित्त जैसा कुछ दिखाई पड़ता है उस से कहीं अधिक गम्भीर, विस्तीर्ण और अमेय है और हमने यह भी समझा कि वह अपने स्थूल शरीर से स्वतंत्र अस्तित्व भी रखता है और उस के मर जाने पर भी उस का व्यक्तित्व नष्ट नहीं होता बल्कि उस की स्वतंत्रता बहुत बढ़ जाती है। हमने यहाँ तक विकासक्रम से "महतोमहीयान" से लेकर "अणोरणीयान्" सूक्ष्म-से-सूक्ष्म मनुष्य के मन तक का विचार किया। यह सब कुछ हमने उसी बल पर किया जिस की चर्चा हम आगे करना चाहते हैं।

हम यह देख चुके हैं कि बाहरी जगत् की बातें जानने के लिये मनुष्य के पास पांच करण या इंद्रियाँ हैं। जिन के अनुभव का द्वार कान, त्वचा, आँख, जिह्वा और नाक हैं। परंतु इन सब की शक्ति परिमित है। यद्यपि हम कान से बराबर शब्द सुनते रहते हैं तथापि सभी शब्द नहीं सुन सकते। यदि सभी सुन सकें तो हमारा जीना दूभर हो जाय। हमारी परिस्थिति में जितना सुनने की आवश्यकता है हम उतना ही सुन सकते हैं। हम छूकर कड़ा, नरम, ठंढा, गरम का अनुभव भी अपनी जरूरत भर कर सकते हैं। हमारी दृष्टि भी अत्यन्त संकुचित है। स्वाद और गन्ध भी हम उतना ही जान सकते हैं जितने की हमें आवश्यकता

हैं। इन स्वाभाविक यंत्रों के द्वारा हमें जितना थोड़ा ज्ञान होता है वह भी हमारी भीतरी इंद्रियों के संयोग से होता है। मन यदि इंद्रिय में मौजूद न हो और अनुभव की ओर ध्यान दे तो शब्द आते हों तो भी सुन नहीं पड़ते। आखें खुली हों तब भी देख नहीं सकतीं। भोजन करते हुए भी स्वाद नहीं मिल सकता और गन्ध का पता नहीं लग सकता। चित्त के उजाले में मन बाहरी जगत् को देखता है, बुद्धि समझती और पहचानती है और अहंकार यह भान करता है कि यह सब कुछ करनेवाला और जाननेवाला मैं हूँ। परिस्थिति के अनुसार इंद्रियों की शक्ति बहुत कम होने से चित्त जो थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्त करता है उससे संतुष्ट नहीं रह सकता। तो भी शरीर के बंधन में जब तक पड़ा हुआ है तब तक तो उसे अपने ज्ञान की प्यास इन्हीं इंद्रियों से बुझानी पड़ेगी। बहुत सम्भव है कि करोड़ों बरस आगे विकास करते-करते परिस्थितियां बदल जायँ और इंद्रियां अधिक-से अधिक शक्तिसम्पन्न हो जायँ। परंतु मनुष्य का चित्त ज्ञान के लिये अधीर है और प्रकृति के रहस्यों की खोज में निरंतर यत्न करता रहता हैं। वह चाहता है कि हमारी सत्ता बराबर बनी रहे, हमें सब कुछ ज्ञान प्राप्त हो जाय, हम उत्तरोत्तर अधिक-से-अधिक सुखी हों। इस यत्न में उस ने अपनी इंद्रियों की शक्तियां बढ़ानी शुरू की। अत्यंत बारीक वस्तुओं को देखने के लिये उस ने अनुवीक्षण और परमाणु-वीक्षण यंत्र बनाये। दूर से-दूर के पिंडों को देखने और उनका रहस्य जानने के लिये दूर-वीक्षण और रश्मिमापक यंत्र बनाये। अत्यंत ठंढ और अत्यंत तेज़ आंच और ताप नापने के लिये, बिजली और प्रकाश का वेग जानने के लिये और इन सब की मात्रा नापने के लिये, पृथ्वी का कम्पन और चराचर प्राणी के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्फुरण और स्पंदन नापने के लिये उस ने यंत्र बनाये और उपाय किये।

बंदूक की गोली बड़े वेग से चलती है परंतु उसका हिसाब निकालना सहज है। एक परदा नली के पास लगाया और दूसरा उस से नपी हुई दूरी पर लगा दिया। दोनों परदों को बिजली के तारों के द्वारा ऐसी घड़ियों में लगा दिया जो बहुत सूक्ष्म समय नापती हों और गोली का परदे से ज्योंही स्पर्श हो त्यों ही रुक जायँ। बिजली के विधान से दोनों घड़ियां ठीक-ठीक एक ही समय देती हैं। अब गोली स्वयं छूटती है तो परदों को छूकर अपना समय बता देती है। यह तो बहुत मोटा और मामूली उपाय हुआ। वैज्ञानिक तो नाप-तौल में सूक्ष्मता की हद कर देते हैं। बहुत सूक्ष्म तौल जानने के लिये ऐसे-ऐसे कांटे बने हुए हैं कि सादे कागज़ पर पेंसिल से किये हुए निशान से जो तौल में अंतर पड़ता है वह भी ठीक-ठीक तौल लिया जा सकता है। रश्मिमापक यंत्र इससे चालीस लाख गुनी कम मात्रा के पदार्थ का पता लगा सकता है। विद्युन्मापक-यंत्र रश्मि-यंत्र से भी दस लाख गुना अधिक तेज है। सूक्ष्मताप-मापक यंत्र जिसे बोलोमीटर कहते हैं, तापक्रम के एक अंश के दस लाखवें भाग का पता लगाता है। इस प्रकार मनुष्य ने हर तरह के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म उपकरण बनाये हैं और नाप-तोल के सुभीते के लिये अद्भुत उपाय किये हैं। भौतिक विषयों की तो बात ही क्या है वैज्ञानिकों ने मनुष्य के विचार का वेग नापने के लिये भी यांत्रिक साधन उत्पन्न किये हैं।

वह निरंतर नये-नये यंत्रों या उपकरणों और नये-नये साधनों के आविष्कार में बराबर लगा हुआ है इन उपायों से वह अपने ज्ञान का बड़ा विस्तार कर चुका है और बराबर करता जा रहा है। विज्ञान का सागर अथाह और अपार है परंतु मनुष्य का साहस और अध्यवसाय उसी के जोड़ का देख पड़ता है। सब तरह की इंद्रियों को करण कहते हैं। वह उपेन्द्रियां या उपकरण बनाता जाता है और इन उपकरणों में अपने अंतःकरण की शक्ति लगाकर वह आज भी अपने ज्ञान की प्यास को बुझाने में लगा हुआ है। हम जो कुछ पीछे वर्णन कर आये हैं वह इन्हीं साधनों का फल है। परंतु अभी तक हमने जड़ और चेतन और मनुष्य के विकास की थोड़ा सा अनुशीलन किया है। आगे चलकर हम यह देखना चाहते हैं कि मनुष्य ने उपकरणों के द्वारा अब तक विशेष ज्ञान प्राप्त किया है और अपनी परिस्थिति को सुधारने में क्या-क्या उपाय सफलता पूर्वक कर पाया है।

२—विश्वभवन की ईंटें

खपरैल की छत में या फूस के छप्पर में कहीं-कहीं बहुत बारीक सूराख की राह से जब कभी सूरज की किरणें धरती पर आती हैं तो एक सीधी रोशनी की रस्सी सी दिखाई पड़ती है जिस में असंख्य कण वेग से उड़ते दिखाई पड़ते हैं। कोई कण किसी की अपेक्षा तेज होता है और कोई धीमा। इन्हें कोई उस रोशनी की डोरी से अलग करके देखना चाहे तो नहीं देख सकता। इन कणों को हमारे ऋषियों ने त्रसरेणु कहा है। उन्होंने इसी पर यह कल्पना की थी कि हम किसी पदार्थ को अत्यन्त छोटे खंडों में विभक्त होने की कल्पना करें तो अन्ततः ऐसे छोटे कणों तक पहुँचेंगे जिन के खंड-खंड करने से उस विशेष पदार्थ के गुण नष्ट हो जायेंगे। इन अन्तिम खंडों का नाम अणु अर्थात् अत्यन्त छोटा रखा। जब खंड इस प्रकार के हो जायँ कि जिस विशेष पदार्थ के खंड किये गये हैं उस के गुण ही नष्ट हो जायँ तो वह सब से छोटे कण अथवा परमाणु कहलायेंगे। हमारे ऋषियों ने अणुओं और परमाणुओं की कल्पना को बहुत बड़ा विस्तार दिया। इन के सम्बन्ध में भारतीय वैशेषिक और जैन शास्त्रों में विस्तार पूर्वक विचार है। पाश्चात्य देशों में यूनानियों ने इसी तरह की कल्पना की और अंतिम अणु वा परमाणु का नाम आटम अर्थात अखंडनीय रखा। पाश्चात्य देशों में इस विचार का विकास पिछले डेढ़ सौ बरसों के पहले तक कल्पना और तर्क-मात्र पर होता रहा। कोई सवा सौ बरस से ऊपर हुए कि मैनचेस्टर के एक अध्यापक जान डाल्टन ने परमाणुवाद की धारणाओं को बहुत स्पष्ट कर दिया। उस के समय के और पीछे के रासायनिक और भौतिक खोजियों ने असंख्य प्रयोगों और परीक्षाओं के द्वारा उस की धारणाओं की पुष्टि की और परमाणुवाद के सिद्धान्तों को ईसा की उन्नीसवीं सदी भर में पूर्णतया स्थापित कर दिया। डाल्टन का परमाणुवाद यह है कि जितना कुछ विश्व हमारे करणों और उपकरणों का विषय हो सकता है वह सब गिने हुए परिमित संख्या के मौलिक पदार्थों की कमी और बेशी के साथ मिश्रित और संयुक्त रूप में उन के कम या अधिक घनत्व के साथ

मिलकर बना हुआ है। इन मूल पदार्थों के अंतिम टुकड़े जिन में कि उन के गुण मौजूद हैं, परमाणु कहलाते हैं। प्रत्येक पदार्थ के परमाणु के विशिष्ट गुण हैं जो दूसरे पदार्थों के परमाणुओं के गुणों से नितांत भिन्न हैं। जब दो या अधिक मूल पदार्थों के परमाणु एक में मिल जाते हैं और मिल-जुल कर अपने मंडल के बाहरी पदार्थों पर प्रभाव डालते हैं तो उन मिले हुए परमाणुओं के समूह का नाम संयुक्त अणु होता है। जहां एक ही पदार्थ के कई परमाणु मिले हुए होते हैं वहां ऐसे संयुक्त समूह को मौलिक अणु कहते हैं। संसार में चराचर पदार्थ इन्हीं संयुक्त और मौलिक अणुओं के समूहन से बना हुआ है। यदि हम बाल के सिरे को या उस की चौड़ाई को दस लाख टुकड़ों में बाँट दें तो उन में से एक टुकड़ा भी एक परमाणु से शायद बड़ा ही निकलेगा। इस लिये सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थों को जिन उत्तम-से-उत्तम अनुवीक्षण यंत्रों के द्वारा हम देख सकते हैं उन के द्वारा भी हम परमाणुओं को नहीं देख सकते। तो भी जैसे किसी पदार्थ को एक सेर तौल कर उस के बहुत छोटे-छोटे समान अंशों का हम हिसाब से तौल निकाल सकते हैं उसी तरह अणुओं के छोटे-छोटे समूहों की उपकरणों द्वारा जांच करके पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने उन के तौल और आकार का भी अनुमान किया है। निदान उन्नीसवीं सदी के अन्त तक अणुओं परमाणुओं के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों को बहुत विस्तृत ज्ञान हो गया।

योग-साधन से हमारे ऋषियों ने अपनी इंद्रियों की शक्ति ऐसी बढ़ायी थी कि जो बातें आज उपकरणों के सहारे मालूम की जा सकती हैं उन का अनुभव वह इंद्रियों से कर लेते थे। हम थोड़ी देर के लिये मान लें कि हमारी आंखों में ऐसी विचित्र शक्ति पैदा हो गयी है कि हम तेज़ अणुवीक्षण यंत्र की तरह प्रत्येक पदार्थ की ठीक बनावट देख सकें तो हम देखेंगे कि हर ठोस चीज़ उसी तरह नहीं बनी हुई है जैसे ईंटों से ठोस दीवार बनी हुई है। देखने में जो ठोस मालूम होती हैं वह चीज़ें वस्तुतः परमाणु की ईंटों के कसे हुए या ठस बैठने से ठोस नहीं हुई हैं। यह ईंटें सब एक ही आकार-प्रकार की बड़ाई-छोटाई की नहीं हैं। इन ईंटों के भिन्न-भिन्न आकार-प्रकार के समूह बने हुए हैं। यही परमाणुओं के समूह अणु हैं जो अत्यंत पास-पास होने से ठोस, कुछ दूर-दूर होने से द्रव और अधिक दूर-दूर होने से वायु बनाते हैं। ठोस में किसी शक्ति के खिंचाव से यह समूह पास-पास रहते हैं। द्रव में किसी शक्ति के कारण यह एक दूसरे को खींचते तो रहते हैं। परंतु सारा पदार्थ भारी समूह के रूप में उन्हें साथ लिये हिलता-डोलता रहता है। इस आपस में एक दूसरे को खींचते रहने की शक्ति को "संसक्ति" कहते हैं। ठोस में संसक्ति अधिक होती है, द्रव में कम। वायव्य पदार्थों में अणुओं को पूरी स्वतंत्रता है। यह बड़े वेग से एक दूसरे से टकराते रहते हैं और समूह में नहीं रहते। यदि हम चाहें कि इन की गति और वेग को कम कर दें तो अत्यंत ठंढक और दबाव के द्वारा ऐसा हो सकेगा। आजकल वैज्ञानिक हवा को इसी अत्यंत ठंढ के सहारे पानी की तरह द्रव के रूप में बदल देते हैं। यह ऐसी अत्यंत शीत की दशा होती है, कि उस के सामने बरफ़ का एक टुकड़ा अंगारे की तरह जलती हुई आंच देनेवाला है। द्रव रूप में वायु को एक

चाय की केतली में लेकर बरफ़ की चट्टान पर रख दें तो बरफ़ की आँच की तेज़ी से यह द्रव उसी तरह खौलकर उड़ने लगेगा जैसे लाल तपते तवे पर पानी खौलने लगता है।

कोई ताकत ऐसा नहीं है जो साधारण दशा में हवा को पानी सा बना दे। किसी सुदूर भविष्य काल में शायद अरब दो अरब बरस बाद जब सूर्य बहुत ठंडा हो जायगा और पृथ्वी बरफ़ से भी दो सौ दर्जा नीचे ठंडी हो जायगी अर्थात् वह चन्द्रमा की शीतल दशा को

चित्र १३१ — बरफ़ पर द्रव का खौलना

पहुँच जायगी तो इस धरती के, वायु-मंडल की दशा विचित्र हो जायगी। उस समय पानी जमकर फौलाद की तरह कड़ा हो जायगा और वायुमंडल जमकर धरती पर पानी की तरह हो जायगा और सिमटकर अठारह हाथ गहरा सारी धरती पर महासागर की तरह फैल जायगा। उस समय धरती पर आजकल के से न तो पेड़ रह जायंगे और न कोई प्राणी।

ठोस पदार्थों के अणु बड़ी मजबूती के साथ परस्पर लगे रहते हैं। एक इंच मोटे लोहे के छड़ को फाड़ने के लिए छः सौ इकत्तीसी मन के बराबर की ताकत चाहिये। परंतु तो भी ठोस का यह अर्थ नहीं है कि अणु-अणु आपस में ऐसे ठस सटे हुए हैं कि बीच में कोई जगह खाली नहीं है। सोने का टुकड़ा देखने में कैसा ठस ठोस लगता है, परंतु उसी को पारा भरे एक प्याले में डाल दें तो वह पारे को ऐसा चूसता है जैसे स्पंज पानी को चूसे। अग

अणुओं के बीच-बीच में खाली जगह न होती तो ऐसा न होता। ठस-से-ठस ठोस चीज की बनावट में अणुओं के बीच-बीच में इतनी जगहें छूटी हुई हैं कि हमारी दृष्टि अगर अनुवीक्षणयंत्र से भी ज्यादः सूक्ष्मदर्शी हो जाय तो हम देखें कि यह ठस नहीं है बल्कि झञ्झरी की तरह है। झञ्झरी में स्थिरता होती है परंतु यहां सभी अणु बड़े वेग से आगे पीछे गति कर रहे हैं। उन्हें इस गति के लिए काफी जगह भी मिलती है और वह बड़े नियम से चलते हैं और अपनी स्थिति को कायम रखते हैं।
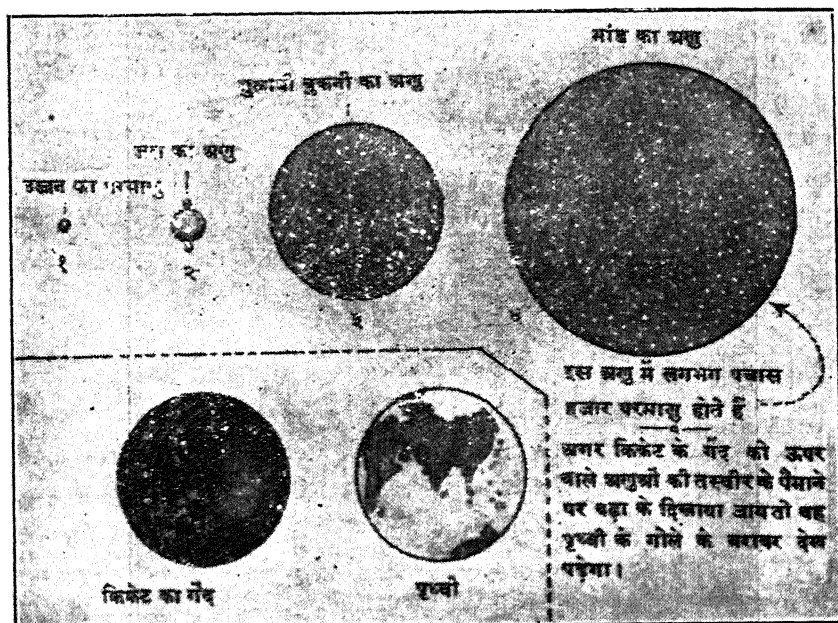
चित्र १३२ – अणुओं की बड़ाई और छोटाई की तुलना।

ज्यार्ज न्यूल्स की अनुमति से] **[टामसन से अनुवर्तित**

अणुओं की इस तरह की गति का प्रमाण भी मिला है। अत्यंत सूक्ष्मदर्शी अनुवीक्षण यंत्र के द्वारा ब्रौन नाम के एक वैज्ञानिक ने देखा कि एक घोल के ऊपर जब बहुत से सूक्ष्म कण बिना घुले हुए होते हैं तो वह निरंतर बड़े वेग से चलते रहते हैं, उन की गति स्वतंत्र होती है, एक दूसरे से टकराते हैं और सभी दिशाओं में उछलते और घूमते हैं। एक सेकंड में हजारों बार टकराते हैं। साधारण दशाओं में भी यही तेज़ गति, यही बारम्बार का टकराते रहना, निरंतर जारी रहता है। एक भी अणु स्थिर नहीं है। कणों की इस गति का हिसाब लगाया गया है। अब यह बात मालूम है कि यह कण निरंतर इसीलिए घूमते और टकराते रहते हैं कि उस घोल के अणु बराबर इन कणों के ऊपर गिरते और टकराते रहते हैं। अणुओं के धक्कों की इन कणों पर वर्षा होती रहती है, जैसे गोलों या ओलों की वर्षा

होती हो। अणु तो इतने छोटे होते हैं कि यंत्र से भी नहीं दीख सकते परन्तु कण इतने बड़े हैं कि उन के ऊपर अणुओं का जो अत्यंत वेगमय गति पैदा करनेवाला प्रभाव होता है उसे हम यंत्रद्वारा देख सकते हैं। अणुओं की गति की वास्तविकता जानने के लिये यह प्रयोग, जिसे वैज्ञानिक ब्राउनवाली गति कहते हैं, बड़े महत्व का है।

३--परमाणु-जगत

गणित विद्या के विशेषज्ञों ने जैसे विश्व के महापिंडों का हिसाब लगाया है वैसे ही परमाणु संसार के लिए भी उन का चमत्कार दर्शनीय है। सोना पीट कर बारीक पत्तर कर दिया जाता है, यह तो सभी लोग जानते हैं। गणित जाननेवाला अगर पीट कर बढ़ाये हुए सोने की तौल और लम्बाई-चौड़ाई जानता हो तो मोटाई निकालना कोई बड़ी बात नहीं है। एक ग्रेन सोने की ७५ वर्ग इंचों के पत्र का रूप दे सकते हैं। इस की मोटाई हिसाब से एक इञ्च का तीन लाख ६७ हजारवां भाग होगी अर्थात् ऐसे ऐसे एक हजार पत्र सटा दिये जायँ तो शायद इस किताब के एक वरक की मोटाई को पहुँच सकें। तो भी इतने बारीक पत्र में अनेक अणुओं की मोटाई होगी। अब साबुन का एक बुलबुला लीजिये जिसे फूंककर बहुत बड़ा कर दिया गया है। बड़े ध्यान से देखिये तो इस की बारीक भीत पर कहीं कहीं धुमले धब्बे हैं। यह उस बुलबुले के बहुत पतले भाग हैं। दो बिल्कुल स्वतंत्र रीतियों से,--एक बिजली की और दूसरी प्रकाश की,--यह पता लगा है कि इन धब्बों की जगह पर भीत की मोटाई एक इञ्च के तीस लाखवें भाग से भी कम है। इतनी बारीकी में भी आपस में ऐसी मजबूती से अणुओं का संगठन है कि ऐसी जगह पर भी बीस से लेकर तीस अणुओं की मोटाई अवश्य होगी। अर्थात् हर एक अणु की मोटाई इञ्च के दो करोड़वें से लेकर तीन करोड़वें अंश तक होगी। परंतु इस से भी बारीक तह पानी के ऊपर तेल की होती है। फरांसीसी विशेषज्ञ प्रो॰ पेरिन ने तेल की तह मोटाई इञ्च के पांच करोड़वें भाग तक निकाली। उन्होंने पानी पर तेल की नपी हुई बूंद डाली। जब तेल फैल गया तब उस का विस्तार जानने के लिये एक ऐसी बारीक बुकनी उस पर डाली जिस से उस की बाहरी रेखाएं स्पष्ट हो गयीं और तह नापी जा सकी। फिर तो मोटाई जानना आसान था। यह अनुमान किया गया कि यह तह कम-से-कम दो अणु गहराई की होगी। इसलिये इस जांच से यह अनुमान किया गया कि एक अणु का व्यास इञ्च के दस करोड़वें भाग से भी कम लम्बाई का होगा। और भी अनगिनतियों जांचें की गयीं परंतु सब का फल यही निकला। नील का एक ग्रेन सवा सत्ताईस मन पानी को रंगीन कर देता है। इस से मालूम होता है कि एक ग्रेन नील में गिनती के नीलों अणु होंगे। एक ग्रेन कस्तूरी से सारा कमरा सुगंधित हो जाता है और अनेक वर्ष तक बना रहता है। परंतु कस्तूरी की मात्रा में साल पीछे दस लाखवें अंश की भी कमी नहीं आती। अच्छी-से-अच्छी विधियों से जांच करके मालूम किया गया है कि एक औसत अणु इञ्च के साढ़े बारहवें करोड़ से भी कम लम्बाई का होता है। वायु के एक घन-शतांश-मिति में जो खेलनेवाली एक छोटी गोली के बराबर होगा, तीन महाशंख से कम अणुओं की संख्या न होगी।

अभी तक हम अणुओं पर विचार करते रहे हैं। अब परमाणुओं पर विचार करेंगे। हम तो कह आये हैं कि अनेक परमाणुओं के मिलने से एक अणु बनता है। और अणुओं में भी आपस में आकार का बहुत बड़ा भेद है। रासायनिकों ने हिसाब लगाया है कि मंड के एक अणु में पचीस हजार के लगभग परमाणु होते हैं और पानी की भाफ के अणु में केवल तीन परमाणु होते हैं। इस से यह तो स्पष्ट है कि बड़ाई-छोटाई के हिसाब से अणुओं में आपस का बहुत बड़ा भेद होगा। जब बड़े-से-बड़े आकार के अणु में पचीस हजार परमाणु
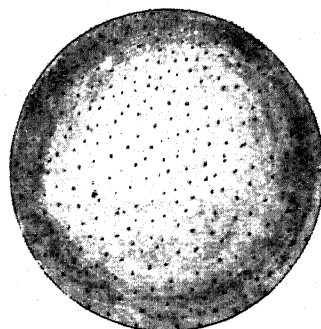
चित्र १३३—यदि उज्जन वायु के सरसों बराबर आयतन को बढ़ाकर पृथ्वी के बराबर होने की कल्पना करें तो उस सरसों भर में स्थित एक-एक परमाणु बढ़कर केवल टेनिस के गेंद के बराबर होंगे।

ग्रंथकार की कृपा] [सौर-परिवार से

हो सकते हैं तो यह सहज ही समझा जा सकता है कि अणुओं की अपेक्षा परमाणु कितने अधिक छोटे होंगे। परंतु यह बात भी रासायनिकों ने कई जाँचों से मालूम कर रखी है कि भिन्न-भिन्न प्रकार के परमाणुओं में आपस में भार, आकार, बड़ाई, छोटाई और गुणों का बड़ा भेद है। उज्जन एक वायु है जिस के परमाणुओं से हलके किसी के परमाणु नहीं हैं। उसी को प्रमाण मानकर सवा दो सौ गुने से भी अधिक भारी परमाणु मौजूद हैं। जब अणु नहीं देखे जा सकते तो एक परमाणु के देखे जाने की क्या कथा है। तो भी हिसाब लगाया गया है कि अनुस्वार के सबसे छोटे विन्दु की व्यासवाली रेखा पर सीधी या ऋजु रेखा में रखे जाँय तो सम्पूर्ण रेखा में पचास लाख हीलियम के परमाणु आ सकेंगे। कुछ परमाणुओं के लिए यह अन्दाजा किया गया है कि एक इंच की रेखा में चालीस करोड़ आ सकेंगे। यह परमाणु बड़े भयानक वेग से चक्कर लगा रहे हैं। हाथ में हम एक कंकड़ी उठा लेते हैं तो देखने में तो वह बड़ी क्षुद्र सी लगती है परन्तु उस के प्रत्येक कण जो सटे दीखते हैं ऐसे अणुओं से बने हुए हैं जो बड़े वेग से आपस में धक्कम-धक्का कर रहे हैं। पर यह धक्कम-धक्का करनेवाले अणु भी ऐसे परमाणुओं से बने हुए हैं जो उन अणुओं के विस्तार के भीतर ही बड़े भयानक वेग से चक्कर मार रहे हैं। इस हिसाब से यह क्षुद्र कंकड़ी बड़ी भयानक

शक्ति का खजाना है। यदि यह शक्ति वैज्ञानिक के हाथ आ जाय तो वह संसार में अद्भुत चमत्कारों का खजाना हो जाय।

पानी में जब हम किसी रंग का एक बहुत छोटा सा कण छोड़ देते हैं तो वह रंग कुछ देर में सारे पानी में फैल जाता है। कमरे की हवा ठहरी हुई है परन्तु गंध के फैलते देर नहीं लगती। इन बातों से अणुओं का बराबर चलते रहना तो सिद्ध ही है। वायव्य पदार्थ फैलकर सभी खाली जगहों में भर जाते हैं। इससे भी स्पष्ट है कि उन के छोटे-छोटे कण बड़े वेग से निरंतर चारों ओर चलते रहते हैं। विज्ञानी अपनी सूक्ष्म बुद्धि और यंत्रों से काम लेता है और इन अत्यंत छोटे अणुओं की शक्ति और वेग को नाप लेता है। उस ने बताया है कि गलती हुई बरफ के तापक्रम पर ओषजन वायु के अणु सेकंड पीछे पांच सौ गज के वेग से चलते हैं। उज्जन वायु के अणु उनसे चौगुने वेग से चलते हैं। जिस समय हवा बिलकुल रुकी हुई रहती है उस समय भी बन्द कमरे में वायु के अणु बंदूक की गोली के उस वेग से भी अधिक तेज चलते होते हैं जो छूटते समय होता है परंतु चलने में प्रायः इंच के दस हजारवें भाग पर एक अणु दूसरे से टकराता रहता है। इस टक्कर से हर सेकंड में पांच अरब बार उसे अपने मार्ग से मुड़ना पड़ता है। उज्जन वायु के अणुओं को रोककर उन की शक्ति को अगर हम काम में ला सकें,—जैसे गिरते हुए जल या रोकी हुई भाफ को हम काम में लाते हैं,—तो उस के एक माशे से कुछ कम ही मात्रा में (एक ग्राम में) नौ मन से कुछ अधिक भार को चालीस इंच की ऊँचाई तक उठा सकने की ताकत मिल सकेगी। एक-एक ढेले में कितना महान बल छिपा हुआ है। यदि मनुष्य किसी तरह इस बल से काम ले सके और अणुओं में से इस बल को निकालकर कारखानों की मशीनों को चलाना चाहे तो ईंधन और बिजली का सारा खर्च बच जाय और संसार की सभ्यता का रंग-रूप बिलकुल बदल जाय। परंतु मनुष्य लाचार है कि इन शक्तियों को जानता है पर इच्छानुसार काम नहीं कर सकता।

४—एक्स-किरणें और रेडियम

अणुओं और परमाणुओं की सत्ता ईसा की उन्नीसवीं सदी में पूरे तौर पर स्थापित हो गयी थी। परंतु एक भ्रम अभी तक बराबर चला जाता था। हम कह आये हैं कि यूनानी विद्वान परमाणुओं को अखंडनीय मानते थे, इसीलिए आटम कहते थे। वह भ्रम सदी का अंत होते-होते विज्ञान की खोजों ने मिटा दिया। पहले से ही वैज्ञानिकों के मन में यह बात खटका करती थी कि वस्तुसत्ता के लगभग अस्सी तरह के परमाणुओं का होना प्रकृति की विविधता बतलाता है, यद्यपि मन को संतोष इसी में होता कि जड़ प्रकृति एक ही होती और उस के सब से छोटे खंड एक ही प्रकार के होते, क्योंकि विज्ञान का सदा यही उद्देश्य रहा है कि एकता और सरलता का पता लगावे। रासायनिकों ने बहुत चाहा कि इस एकता को स्थापित करें, परंतु वह परमाणुओं को खंड-खंड न कर सके। तो भी उन में से कई विद्वानों ने अपनी यह धारणा प्रकट की कि अवश्य ही कोई ऐसा मूल

पदार्थ होगा जिस से मौलिकों के विविध रूप बने हुए जान पड़ते हैं। प्राउट ने तो यह बात डाल्टन के समय में ही कही थी। कोई पचास बरस से ऊपर हुए प्रो० क्रुक्स ने ऐसे मूलतत्व का नाम "प्रथिल" रखा। उन्होंने स० १९२६ में यह देखा था कि जब वायुशून्य नलिका में बिजली की धारा चलती है तो उस की भीतों में एक तरह की हरी ज्योति निकलने लगती है। एक दम वायु-शून्य कर देना साधारणतया असम्भव है। क्रुक्स ने ऐसे उपाय किये थे कि नलिका के भीतर वायु दो करोड़ गुनी अधिक पतली हो

चित्र १२४—मेडम क्युरी [सं० १९२४— १९९१ वि०]

गयी थी। धारा की ऋणात्मक छोर से एक तरह की किरणें निकलतीं थीं जिन से कि नली के भीतर के पतले वायव्य के अणु बहुत मंद-मंद चमकने लगते थे और नलिका की भीतों पर एक सुंदर ज्योति डालते थे। क्रुक्स ने सोचा कि यह वस्तु की नयी या चौथी अवस्था होगी जो घन द्रव और वायव्य से भी सूक्ष्म है। बीस बरस बाद यह पता लगाया गया कि इन किरणों में ऋण बिजली से लदे कण हैं जो एक सेकंड में दस हजार से लेकर एक लाख मील तक के वेग से दौड़ते हैं। इस के सिवा यह भी पता लगा कि ये कण अत्यंत सूक्ष्म हैं। उज्जन वायु के एक परमाणु से अठारह सौ गुने छोटे हैं। यह परमाणु

वा विद्युत्कण अब तक के माने हुए परमाणु से ही निकल रहे थे। क्रुक्स की नलिका में वस्तुः परमाणु के खंड-खंड हो रहे थे। परंतु उस समय ऐसी बात नहीं सोची जा सकती थी। इसलिए क्रुक्स ने कहा कि वायव्य के कण बिजली से लगकर नलिका की भीत से टकराते हैं। और यह साधारण वस्तु की नयी अवस्था है जिसको विकीरक अवस्था कह सकते हैं। एक दूसरे वैज्ञानिक लेनार्ड ने यह भी देखा कि नलिका की कांच की भीत में अल्युमिनियम का छोटा सा पत्तर लगा देते हैं तो किरणें उसके भीतर से उसी तरह से निकलती हैं जैसे एक खिड़की से। उसने समझा कि यह किरणें आकाश-तत्त्व की लहरें होंगी।

सन् १८९५ में राइंटगेन वा रंजन ने एक्स किरणों को ढूंढ़ निकाला। वह लेनार्ड-वाला प्रयोग कर रहा था। क्रुक्स की नलिका में उस ने एक काली सी चीज देखी। नलिका के पास ही रखा हुआ रासायनिक विधि से बन्द एक पर्दा चमकने लगा। बात यह हुई कि उस काली चीज के भीतर से होकर किरणें निकल गयीं और अधिक जांच करने से पता लगा कि यही किरणें पत्थर मांस आदि सभी तरह की अ-पारदर्शी वस्तुओं में पैठकर निकल जा सकती हैं। इससे मनुष्य की हड्डी की ठठरी का चित्र लिया जाना सहज हो गया। बच्चे ने आलपीन निगल ली है, वह कहाँ पहुँच गयी है इसका पता लग सकता है, पत्थर के नीचे नीचे पड़े हुए रुपये की छाया की फोटो ली जा सकती है। यह एक्स किरणें ऐसे नये प्रकार की ज्योति हैं जिसमें घुसने की अद्भुत शक्ति है। यह किरणें साधारण प्रकाश की किरणों से अत्यधिक सूक्ष्म होती हैं, और तब से आज तक बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

दुनियां इन किरणों को देख कर चकरा ही रही थी कि बेकरेल ने कुछ और अद्भुत बातें निकालीं। कुछ ऐसी वस्तुएं हैं जो कुछ काल तक सूर्य्य की किरणों में रहकर ज्योति देने लगती हैं। बेकरेल यह खोज कर रहा था कि देखें ऐसी वस्तुओं में से एक्स किरणें तो नहीं निकलतीं। उसने युरेनियम धातु वा पिनाकम् का एक लवण लिया। एक कागज पर स्वस्तिक चिह्न बनाया और फोटोवाली प्लेट के साथ लपेटकर और बीच में एक अपारदर्शी पर्दा रखकर लपेट दिया। वह प्रतीक्षा में था कि धूप निकले तो इसे धूप में रखूं। परंतु इसकी जरूरत न हुई। स्वस्तिक का चित्र प्लेट पर उतर आया। उसने प्रकाश या अन्धकार की परवाह न की। यह देख कर बारम्बार सभी दशाओं में जांच की गयी। पता लगा कि यह अद्भुत किरणें पिनाकम् के लवण से निरंतर निकला करती हैं और एक्स किरणों की तरह उन्हीं अ पारदर्शी पदार्थों में पैठकर आर-पार निकल जाती हैं।

कुरी दम्पती ने भी इस सबन्ध में खोज की। यह पता लगाने के लिए कि किरणें पिनाकम् के लवण से ही आती हैं या उसके साथ और कोई चीज मिली हुई है जो यह किरणें उपजाती है। उन्होंने उस तरह के खनिजों की बड़ी मात्राएं लेकर विश्लेषण किया। उन्हें पता लगा कि एक तरह का पिचब्लेंडी बहुत ही तेज़ है। उस मेल का सैकड़ों मन पिचब्लेंडी लेकर उन्होंने विश्लेषण कर डाला। अलगाते अलगाते दो-सौ-बीस मन पिचब्लेंडी से उन्होंने चाय के आधे चम्मच भर एक ऐसी चीज़ निकाली जो युरेनियम की अपेक्षा दस लाख गुना अधिक किरणों के निकालने की शक्ति रखती थी। उन्होंने इस पदार्थ का नाम रेडियम या रश्मिम रखा।

इस नये पदार्थ ने विज्ञान-संसार में हलचल पैदा कर दी। संसार की सभी प्रयोग-शालाओं में इस अनमोल धातु के लवणों की मांग आने लगी और सैकड़ों भारी-भारी
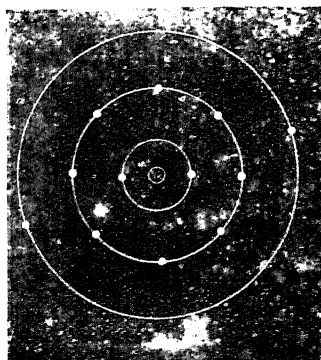
चित्र १३५—मगनीसियम परमाणु का कल्पित चित्र जिसके बीच में धनाणु है जिसकी बिजली की मात्रा १२ है। चारों ओर बारह ऋणाणु चक्कर लगाते हैं।

विद्वान् इस सम्बन्ध की खोज करने लगे। ऐसी किरणें निकालनेवाले विकीरक पदार्थ प्रायः हर साल नये नये निकाले जाने लगे। अब आज तो यह दशा है कि प्रायः सभी तरह के पदार्थ उत्तेजित करके विकीरक बनाये जा सकते हैं।
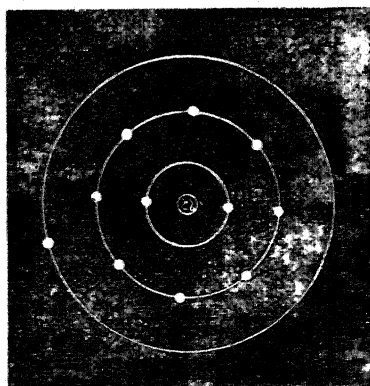
चित्र १३६—इसी के यावनीकरण पर इसका एक ऋणाणु निकल जाता है। इस चित्र में अब ग्यारह ही ऋणाणु रह गये हैं।

इस क्रिया को यावनीकरण कहते हैं। इस विकिरण का अर्थ क्या है? विकीरक पदार्थ के ऊपर प्रयोग-पर-प्रयोग करके यह पता लगाया गया है कि परमाणुओं के खंड-खंड

हो जाते हैं और उसके टुकड़े जो निकलते हैं वह चमकीले विद्युत्कण हैं जो सबके सब एक ही प्रकार के हैं चाहे कितने ही भिन्न पदार्थों के परमाणुओं से टूटकर निकलते हों। इन में अद्भुत शक्ति और तेजस है। इन को विद्युत्कण या अणुमाणु कहते हैं।

चित्र १३७—पृथ्वी पर सूर्य से विद्युत्कण की वर्षा

बहुत संभव है कि सूर्य्य के धब्बे जो कभी-कभी देख पड़ते हैं विद्युत्कणों की अत्यन्त प्रचंड आंधी ही हो जो अनरावर्त्त के रूप में प्रकट होती है।

ज्यार्ज न्यूनस की अनुमति से] [टामसन का अनुवर्त्तन

आज अब यह परमाणु अखंडनीय नहीं रहे। खंड्य हो गये। वास्तव में वह बराबर खंड-खंड होते जाते हैं और अपने-आप टुकड़े हो-होकर विश्व में विद्युत्कणों की वर्षा करते रहते हैं। अब तक इस विषय में विज्ञान-संसार में क्रान्तिकारी खोजें हो चुकी हैं। यह पता लगा है कि हर एक आँच से चमकती हुई धातु इन विद्युत्कणों की धारा बहा रही

है। बादल की हर गरज और बिजली की हर चमक के साथ इन की वर्षा होती रहती है। हर तारा आकाश में विद्युत्कण बरसाता रहता है। हम लोग जिन परमाणुओं को अखंड समझते थे वह हमारी आंखों के सामने अपने-आप बराबर टूटते रहते हैं। सूरज से विद्युत्-कणों की केवल अपार धारा ही नहीं आती रहती, बल्कि पराकासनी किरणें भी आती रहती हैं जिन्हें हम देख तो नहीं सकते पर जिन में ऐसी रासायानक शक्ति है कि धरती के ऊपरी तल के परमाणुओं के खंड-खंड करती हैं और विद्युत्कण निकालती रहती हैं। हमारे लिये यह कुशल है कि हमारा वायु-मंडल इन अदृश्य किरणों के अधिकांश को सोख लेता है। नहीं तो शायद सूरज से उस की पूरी धारा आ पाती तो हमारी सब धातुएँ बिखर जातीं और हमारी फौलादी सभ्यता मिट्टी में मिल जाती। कुरी दम्पती ने वस्तुतः रेडियम का पता लगाकर असली अखंड परमाणुओं के ज्ञान का फाटक खोल दिया जिस का फल यह हुआ कि प्रकृति के इस मन्दिर में प्रवेश करके पिछले तीस वर्षों में हमारा ज्ञान-विज्ञान का भंडार जितना बढ़ गया पिछले तीन सौ बरसों की भी जानकारी उस के सामने थोड़ी सी लगती है।

उन्नीसवां अध्याय

अखंड परमाणुओं द्वारा विचार-क्रान्ति

१–बिजली के परमाणु

रेडियम ने ज्ञान का नया द्वार खोल दिया और इस द्वार में सर जे० जे० टामसन, प्रोफ़ेसर रदरफोर्ड, सर विलियम रैमज़े, प्रो० साडी सरीखे अनेक प्रतिभाशाली वैज्ञानिकों ने प्रवेश किया और पाँच बरस के परिश्रम में उन्होंने प्रकृति के रहस्यों का एक भंडार संसार के सामने रख दिया। उन्हें तुरंत यह मालूम हुआ कि क्रुक्स की नली में जैसी किरणें निकलती हैं ठीक वैसी ही रेडियम से भी निकलती हैं। यह तो शीघ्र ही निश्चय हो गया कि रेडियम से तथा और धातुओं से परमाणुओं के खंड-खंड होते जाते हैं। ऐसा किस प्रकार होता है इस का पता नहीं लगा। पहले-पहल उन्होंने यह परखा कि (रेडियम) रश्मिम और पिनाकम (युरेनियम) आदि से तीन तरह की किरणें निकला करती हैं। उन तीनों के नाम क्रमशः अ, ब, ग रखे गये।

"अ" किरणें तुरंत पहचान ली गयीं। वह हिलियम नामक वायव्य के परमाणु थे जो सेकण्ड पीछे बारह हजार मील के वेग से निकल रहे थे और "ग" किरणें एक्स किरणों की तरह अव्यक्त प्रकाश की किरणें हैं जो अपारदर्शी पदार्थों में भी घुस जाती हैं यहां तक कि एक फुट मोटाई के लोहे में भी उन की गति अव्याहत है।

"ब" किरणों से अधिक महत्व का आविष्कार विज्ञान में आज तक नहीं हुआ था। क्रुक्स ने अपनी नलिका में इन्हें ही देखकर कहा था कि यह वस्तु की चौथी अवस्था मालूम होती है। परन्तु यह समस्त पदार्थों के प्रत्येक अणु में पाया जानेवाला गुण निकला। इन किरणों का नाम आगे चलकर एलेक्ट्रन ऋणाणु या विद्युत्कण पड़ा। यह स्वतंत्र बिजली के कण हैं जो परमाणुओं से छूटकर निकलते रहते हैं। यह पहले-पहल तब समझे गये जब परमाणुओं के टूटने से इनकी अलग सत्ता की जाँच की गयी। पता लगा कि ये परमाणुओं के बनानेवाले घटक हैं और यह अनेक विधियों से परमाणु से टूटकर निकल सकते हैं। यह सब तरह के परमाणु में मौजूद भी हैं।

इन की स्वतंत्र स्थिति तभी रह सकती है जब यह सेकण्ड पीछे कम-से-कम लगभग छः सौ मील के वेग से चल रहे हों। यदि वेग कम हुआ तो जो ही पहला परमाणु मिलेगा उसी में यह लग जायंगे। इन का वेग अद्भुत है। एक सेकण्ड में दस हज़ार से लेकर एक लाख से अधिक मीलों का वेग साधारणतया होता है। पहले जभी यह मालूम हुआ कि ये बिजली के से गुणवाले पदार्थ हैं, क्योंकि इनकी किरणें चुम्बक के पास लाने से अपने सीधे मार्ग से झुक जाया करती थीं, तभी वेगवाली महत्व की बात इस तरह मालूम की गयी। शून्य नलिका में एक प्रकार का छोटा सा रासायनिक पर्दा दिया गया और इस तरह पर प्रबन्ध किया गया कि एक बहुत पतली किरणमाला पर्दे पर पड़ सके। फिर चुम्बक के द्वारा वह किरणमाला अपने मार्ग से हटायी गयी और ज्योतिर्विन्दु जहाँ से जहाँ तक खसका था उसे बिल्कुल ठीक ठीक नाप लिया गया। चुम्बक और उस के क्षेत्र की ठीक नाप और उस से उपजाये झुकाव और चलनेवाले कणों की मात्रा मालूम होने से यह पता लगाया जा सका कि झुकनेवाले कण कितने वेग से दौड़ रहे हैं। इन का वेग अच्छी स्थितियों में लगभग प्रकाश के बराबर पाया गया जो कि प्रति सेकण्ड एक लाख छियासी हजार मील है। अनेक परीक्षाओं से इस वेग का समर्थन हुआ है।

वैज्ञानिकों ने इन कणों के आकार का भी पता लगाया है। यह बहुतों को मालूम है कि वायु-मंडल में धुएं और धूल के कण पर भाफ के कणों के पड़ जाने से कुहरा या कुहासा हो जाता है। छोटी कांच की नलिकाओं में पहले कमोवेश धूल फैला दी गयी और उस में अतिसम्पृक्त भाफ का प्रवेश कराकर उन कणों पर इकट्ठा होने दिया गया। अन्त में वर्षा की छोटी-छोटी बूंदें अपने अन्तःस्तल में एक-एक रजःकण लिये हुए चांदी के दर्पण पर गिरीं और गिनी जा सकीं। धूल के यह कण दिखाई नहीं पड़ते थे। इसलिए अलग-अलग गिने नहीं जा सकते थे। यह बूंदों के सहारे गिन लिये गये। ऐसी ही विधि से विद्युत् कणों की भी गिनती कर ली गयी। एक रासायनिक परदा बनाया गया जिस पर विद्युत् कणों की धारा छूटकर टकराती थी और परदे के परमाणुओं को चमका देती थी। एक सूक्ष्मदर्शी ताल के द्वारा चिनगारियों के रूप में इस चमक को देखा गया और चिनगारियाँ गिन ली गयीं। इस तरह का यंत्र पहले-पहल क्रुक्सने ही बनाया और स्फुलिंगमापक नाम रखा। ऐसे अनेक बड़े ही सुंदर प्रयोग संसार की बड़ी-बड़ी प्रयोग शालाओं में हुए जिन में एक दूसरे की पूरी जाँच की गयी और विद्युत्कणों के गुणों का निश्चय-पूर्वक अनुशीलन हो गया। बिजली के सिवाय और कोई बात इन कणों में नहीं मिली। इसलिए ये बिजली के कण ही समझे गये। उज्जन के एक परमाणु का आयतन यदि हम एक मानें तो एक विद्युत्कण का आयतन उसका १८४५ वां अंश होता है। **यह कण विद्युत् का एक परमाणु है।** इस का आयतन अत्यन्त छोटा है और शरीर पूर्णतया विद्युतमय है। विद्युत्कणों ने प्रकृति के बड़े भारी रहस्य का उद्घाटन कर दिया। जिसे हम अब तक बिजली की धारा कहते थे वह वस्तुतः बड़े वेग से चलनेवाले विद्युत्कणों की धारा है। जिन वस्तुओं को हम सर्वथा अ-पारदर्शी समझते हैं उन में से भी होकर विद्युत्कण निकल जाते हैं, और उन वस्तुओं के

गुणों से इन्हें कोई सरोकार नहीं होता। केवल घनत्व का थोड़ा प्रभाव उन की गति पर पड़ता है। जिन वस्तुओं पर उन का धक्का लगता है वह अंधेरे में चमकने लगती हैं। वह फोटो के काचखंड पर प्रभाव डालते हैं और वायु को बिजली का चालक बना देते हैं। नम हवा में वह बादल पैदा कर देते हैं। उन के कारण रासायनिक क्रिया होती है। अभी तक खोज का काम जारी है और यह नहीं कहा जा सकता कि विद्युत्कणों के ज्ञान से मानव जाति को कहाँ तक लाभ पहुँच सकता है।

२—विद्युत्कण-वाद

विद्युत्कणों के सम्बन्ध में अबतक जो बातें हम कह आये हैं वह विज्ञान-समाज में आज एक मत से मानी जाती हैं। हमें यह मालूम हो चुका है कि चाहे अपने-

चित्र १३८—लार्ड अर्नेस्ट रदरफ़ोर्ड, जन्म सं० १६२८
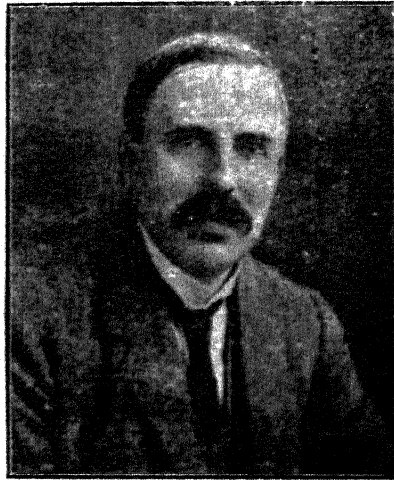
आप और चाहे कोई उत्तेजना पाकर निरंतर पदार्थों के परमाणु टूट-टूटकर विद्युत्कण फेंकते जाते हैं। इस से मालूम होता है कि उन में विद्युत्कण हैं और साथ ही यह भी पूरे तौर पर सिद्ध हो गया कि परमाणु और विद्युत्कण दोनों स्वतंत्र रूप से अवश्य अपनी-अपनी सत्ता रखते हैं। परंतु जब वैज्ञानिक यह बताने की कोशिश करता है कि किस प्रकार विद्युत्कण परमाणुओं का संगठन करते हैं तो वह कल्पना से ही काम ले सकता है। अभी तक उसे प्रयोग द्वारा अपनी कल्पनाओं को पुष्ट करने का आधार नहीं मिला है। ऐसे सूक्ष्म पदार्थों के सम्बन्ध में जो किसी यंत्र द्वारा देखे नहीं जा सकते आकार का ठीक-ठीक जानना सम्भव नहीं है। यह जानने के लिये कि किसी एक परमाणु में विद्युत्कण किस तरह मौजूद हैं कल्पना से ही काम लिया जा सकता है।

जो कल्पना जाने हुए तथ्यों के अनुकूल पड़ती है वही ठीक समझी जाती है। जो प्रतिकूल पड़ती है उसे त्याग देते हैं। इस तरह की कई कल्पनाएं परमाणु-रचना के सम्बन्ध में की गयी हैं। जो कल्पनाएं सब से अधिक मान्य हुई हैं वह इस प्रकार हैं। जैसे सूर्य के चारों ओर अनेक ग्रह चक्कर लगाया करते हैं और सब को लिये-दिये सूर्य का एक ब्रह्मांड समझा जाता है उसी तरह एक धनाणु या प्रकण के चारों ओर विद्युत्कण या ऋणाणु चक्कर लगाया करते हैं। इसी को एक परमाणु कहते हैं। प्रकण या धनाणु विद्युत्कण से कुछ बड़ा धन-विजली का एक कण या बीज है जिस के चारों ओर ऋण विजली के कण परिक्रमा करते हैं।
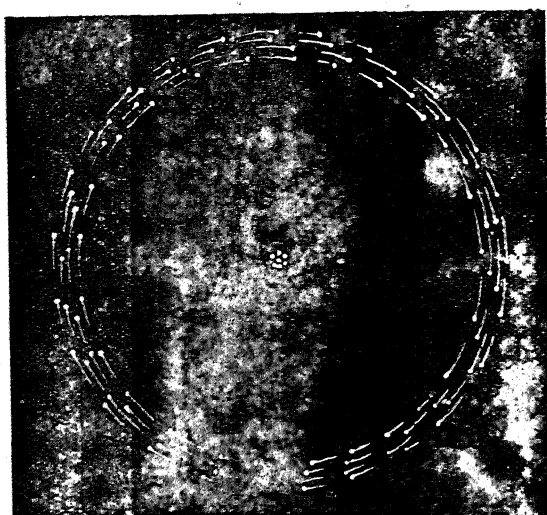
चित्र १३२—एक परमाणु का काल्पनिक रूप

ग्रन्थकार की कृपा] **[सौर-परिवार से**

बड़े से बड़ा परमाणु पराणुवीक्षण यंत्र से देखा नहीं जा सकता। परन्तु वह स्वयं अनेक विद्युत् कणों की जवीयस चक्र-गति से बनी हुई एक सामूहिक सत्ता है। वैज्ञानिकों ने उसके रूप की अनेक कल्पनाएं की हैं। इन में से एक का रूप ऊपर दिखाया गया है।

डाक्टर लांगम्योर की यह धारणा है कि विद्युत्कण चक्कर नहीं लगा रहे हैं बल्कि प्रकण से निश्चित दूरियों पर बड़े भयानक वेग से हलचल की अवस्थामें हैं। जो हो, चाहे चक्कर हो चाहे हलचल हो, बड़े वेग से किसी तरह की गति अवश्य है, इसलिये एक-एक परमाणु में शक्ति बहुत भारी परिमाण में भरी हुई है।

मोज़ले नामके के एक वैज्ञानिक ने जो पीछे युरोपीय महासमर में मारा गया कुछ

ही बरस पहले यह प्रमाणित कर के प्रकाशित किया कि विविध मौलिकों को यदि पारमाणविक भार के क्रम से लगावें, तो उन की रचना का क्रम भी लग जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि जितना ही भारी परमाणु होता है उतने ही अधिक उस में विद्युत्कण होते हैं। वस्तुतः हल्के-से-हल्के परमाणु से लेकर भारी-से भारी परमाणु तक विद्युत्कणों की संख्या के बढ़ते बढ़ते बन जाते हैं। मोज़ले के अनुसार यदि उज्जन में एक अखंड परमाणु या विद्युत्कण माना जाय तो हिमजन में दो, लिथियम में तीन, बेरीलम में चार, टंकम् में पाँच, कर्बन में छः, नोषजन में सात, ओषजन में आठ, प्लविन में नौ, नूतनम में दस, स्फटिकम में बीस, दस्तम में तीस, पारद में अस्सी, थोरम में नब्बे, इत्यादि अंकों से लेकर पिनाकम में जो सब से भारी अणु है बानबे तक अंक आता है। इस से यह बड़ी सम्भावना मालूम होती है कि प्रकृति में शायद बानबे मूल पदार्थ हैं। सत्तासी का पता रसायनिकों ने पहले लगा पाया था। और जो अंक श्री मोज़ले ने रखे हैं वह प्रत्येक खंड्य परमाणु में अखंड परमाणुओं की वा विद्युकणों की संख्या है। [अब इस वर्ष तक में तो समस्थानीयों को मिलाकर लगभग २५० तक संख्या पहुँच चुकी है !]
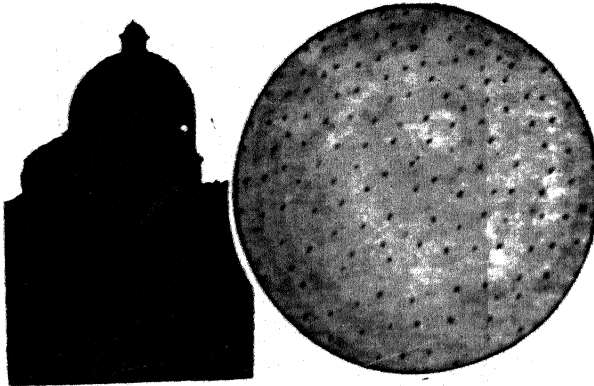
चित्र १४०—यदि एक परमाणु को हम प्रयाग-विश्वविद्यालय के विजयनगरम हाल के बराबर कल्पना करें तो उस में के अणाणु केवल छोटे छर्रों की तरह लगेंगे।
[सौर-परिवार से ग्रंथकार की कृपा]

अब हम संसार के मूल तत्वों के विषय में एक नया विचार रखते हैं। जितना कुछ कि इस विश्व में हम देखते हैं सभी पदार्थ बड़े-से बड़े पिंड से लेकर छोटे-से-छोटे पिंड तक और प्राणियों में भी अनुवीक्षण यंत्र से भी कठिनाई से देखे जानेवाले चराचर प्राणी तक अणुओं से बने हुए हैं। यह अणु परमाणुओं से बने हुए हैं। परमाणु प्रकण और विद्युत्कण से बने हुए हैं। प्रकण, विद्युत का धनाणु है, और विद्युत्कण ऋणाणु हैं। यह दोनों अणु बिजली के धन और ऋण या पुरुष और प्रकृति के रूप हैं। प्रकण के चारों ओर विद्युत्कण वेग से गति करते रहते हैं। पता नहीं कि प्रकण भी गति करता

रहता है या नहीं। सम्भवतः वह भी सूर्य की तरह अपने चारों ओर अपनी धुरी पर घूमता होगा। यह तो निश्चय ही है कि जब पूरा परमाणु बराबर वेग से गति करता रहता है तो अवश्य ही प्रकण भी यह गति करता ही है। बल्कि यों समझना चाहिये कि विद्युत्कण उसी से खिंचकर परमाणु-ब्रह्मांड के साथ-साथ उसी के कारण गतिशील है। इस तरह यह भी स्पष्ट हो गया कि सारा विश्व एक ही सत्ता का बना हुआ है जिसे हम बिजली कहते हैं। इसी बिजली के धन और ऋण
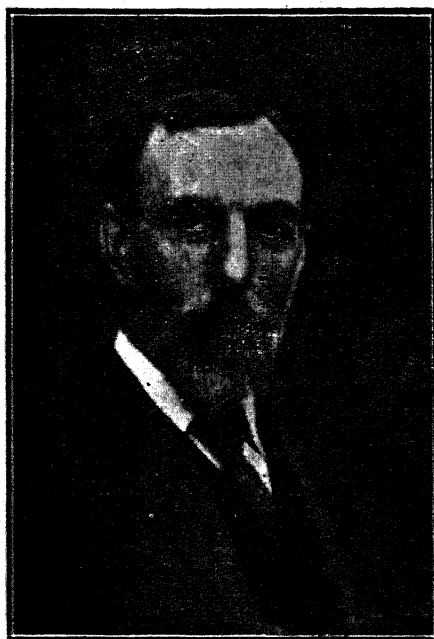
चित्र १४१—सर विलियम रामजे [सं० १९०९-१९७३ वि०]

रूपों के अनंत और असंख्य विधियों से मेल के कारण बड़े-बड़े विश्वों में अनंत और असंख्य प्रकार की चराचर सृष्टि बनती रहती है और बिगड़ती रहती है। समस्त सृष्टि की मूलसत्ता और समस्त जड़ पदार्थ का मूल रूप यही विद्युत है।

फिर भी यह पता नहीं कि विद्युत क्या है और उस के ऋण और धन रूप क्या हैं, इन की सत्ता और उत्पत्ति किस प्रकार है। क्या इन से भी सूक्ष्म कोई सत्ता है जिस से इन का विकास होता है ? इन प्रश्नों का उत्तर शायद भविष्य में कभी मिल सके।

३—सृष्टि-काल और विकास-क्रम

लार्ड केल्विन ने यह अनुमान किया था कि पृथ्वी जब से अलग पिंडरूप में बनी

तब से अब तक बराबर ठंढी होती जा रही है। जो वस्तुएँ ठंढी होती जाती हैं वह सुकड़ती भी जाती हैं और सुकड़ने से आंच भी देती जाती हैं। इस सुकड़ने और आंच देने का हिसाब लगाकर उन्होंने पृथ्वी की अवस्था लगभग दो करोड़ वर्षों की आँकी थी। केल्विन को तब यूरेनियम आदि विकीरक धातुओं का और विकिरण का पता न था। इस विद्युत्कणवाद ने उन के हिसाब को भी बदल दिया। अब तो यह अनुमान किया जाता है कि पृथ्वी का पिंड दिन-पर-दिन ठंढा होने के बदले गरम होता जाता हो तो कोई अचंभे की बात नहीं है। बहुत संभव है कि सुकड़ने से ताप में जो कमी आती रहती है वह पृथ्वी के पदार्थों की विकिरण-क्रिया से पूरी होती जाती है। इस तरह का अंदाजा लगाने से इस पिंड की अवस्था बहुत बढ़ जाती है। वैज्ञानिकों ने कई मौलिक पदार्थों की जो निरंतर टूटते रहते हैं अवस्था निकाली तो पिनाकम् की अवस्था सात-आठ अरब वर्षों की ठहरी। परंतु टूटते रहनेवाले मौलिक पदार्थ तो अल्पायु समझे जाते हैं। जिन का टूटता रहना अव्यक्त सा लगता है वह तो और भी दीर्घायु होंगे। इस से तो यह स्पष्ट है कि जिस मसाले का यह पृथ्वी-पिंड बना है वह अनंत काल से विश्व में मौजूद है। उसी से अदल बदलकर विश्वों का सर्ग और प्रतिसर्ग, जन्म और विनाश होता रहता है। अब तो यह अनुमान किया जाता है कि पृथ्वी पिंड पर चराचर प्राणियों की आदिम सृष्टि हुए कम-से-कम एक-अरब बरस अवश्य हो गया होगा। यह जड़ पिंड इससे कई अरब बरस पहले बन चुका होगा। और यह भी अनुमान किया जा सकता है कि आगे कई अरब बरसों तक इस का जीवन रहेगा।

विकास संबंधी विचार में भी परिवर्तन हो गया है। अब ऐसा समझा जाता है कि भारी-से-भारी मौलिक पदार्थ धीरे-धीरे हलके मौलिक पदार्थों से बने होंगे। उज्जन से हिमजन बना होगा, हिमजन से श्रोणम्, श्रोणम् से बेरीलम्, उस से टंकम और टंकम से कर्बन, और कर्बन से नोषजन और नोषजन से ओषजन बना होगा। इसी तरह उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते भारी-से भारी मौलिक पदार्थ पिनाकम् तक बना। यह विकास-क्रम आज विज्ञान-संसार में निश्चित है।* इसी तरह ह्रास भी समझा जाता है। जो मौलिक पदार्थ बहुत भारी हैं वह टूटते रहते हैं और अपने से हल्के मौलिकों में परिणत होते रहते हैं शायद मौलिक परमाणु की अपनी घनता भारी मौलिकों में अपनी हद को पहुँच चुकी होगी। इसी से यूरेनियम से भारी कोई धातु पायी नहीं जाती।

इसी तरह की एक बात का और भी निश्चय है। हम देख चुके हैं कि इस सृष्टि में अनंत विश्व हैं जिन में से प्रत्येक में अनंत ब्रह्मांड हैं। कोई ब्रह्माण्ड स्थिर नहीं है। प्रत्येक ब्रह्मांड में असंख्य पिंड हैं। कोई पिंड स्थिर नहीं है। प्रत्येक पिंड में चराचर प्राणी हैं और जड़ पदार्थ हैं, सब के सब अणुओं से बने हुए हैं, परंतु एक भी अणु स्थिर नहीं है। प्रत्येक

*** सूक्ष्म से ही स्थूल का उत्तरोत्तर विकास "आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यां पृथ्व्यः" यह श्रुति भी स्थापित करती है। परस्पर-सम्भूतिवाद भारतीय सृष्टिक्रम की विशेषता है जिस को विज्ञान आज पुष्ट कर रहा है। इस का उलटा महाप्रलय का क्रम है।**

परमाणु विद्युत्कणों और एक प्रकण का बना हुआ है, परंतु विद्युत्कण और प्रकण स्थिर नहीं हैं। निदान विश्वभर में कहीं स्थिरता नहीं है। सब कुछ निरंतर चलता रहता है। जो पिंड जितना ही सूक्ष्म है उतना ही अधिक वेग से चलता रहता है। जो पिंड जितना ही स्थूल है वह उतना ही कम वेग से चलता है। परंतु चलते सभी हैं। सृष्टि में स्थिर कुछ भी नहीं है। इसीलिए हमारे ऋषियों ने दुनिया को "जगत्" या "संसार" कहा है जिस का अर्थ है निरंतर चलनेवाला। वेदांतवादियों ने जीवन-मात्र को अत्यन्त चंचल बताया है। बौद्धों ने संसार को क्षणिक कहा है और सतत परिवर्तनशील बताया है। सौ सयाने एक मत, विज्ञान आज इसी तरह के निष्कर्ष पर पहुँचा हुआ है।

४—पारमाण्विक शक्ति

इस विश्व की रचना में केवल विद्युत्कण ही हो ऐसी बात तो नहीं है। विद्युत्कण के सिवाय शक्ति भी है। वह आत्यन्तिक गति जिस से कि विद्युत्कण, परमाणु, अणु और इस विश्व के सभी बड़े-बड़े पिंड बड़े वेग से चल रहे हैं, अपार है और विश्व में भरी हुई है। अब तक हम जिन शक्तियों से काम लेते रहे हैं उन की तो इस अगाध भंडार के सामने कोई गिनती ही नहीं है। यदि हम बंदूक की एक गोली को एक विद्युत्कण की तेजी तक पहुँचाना चाहें तो एक करोड़ चौंतीस लाख बंदूक की नालियों भर बारूद की जरूरत पड़ेगी। एक तांबे की एक पाई में आठ करोड़ घोड़े की ताकत कसी पड़ी हुई है। सेर भर कोयले के पारमाणुओं में जितनी शक्ति भितरायी हुई है उतनी शक्ति करोड़ों मन कोयला जलाकर हम पा नहीं सकते। क्या यह अपार शक्ति कभी मनुष्य के हाथ में आ सकती है? अब तो मनुष्य ने एक मौलिक पदार्थ से दूसरा मौलिक पदार्थ और एक धातु से दूसरी धातु बनाने की कीमियागरी सीख ली है। फिर भी परमाणु की असीम अन्तःशक्ति का लेशमात्र उसके हाथ नहीं लगा है। प्रो॰ साडी की नीचे लिखी आशा अभी पूरी होती नहीं दीखती। उन्होंने कभी* लिखा था—

"प्रायः नित्य इस बात की आशा बँधती जाती है कि कृत्रिम रीति से एक धातु से दूसरी धातु के बनाये जाने की क्रिया सफलता से पूरी हो जायगी। प्राचीनों को साधारण इशारा ही नहीं मिला था बल्कि उन्हें कुछ इस बात का अधिक ज्ञान था कि जो शक्तियां अभी तक देवताओं के ही हाथ में हैं वह धातु परिवर्तन की क्रिया के पूर्ण हो जाने से मनुष्यों के हाथ आ जायेंगी। परन्तु अब हम निश्चय रीति से यह जानते हैं कि धातु-परिवर्तन की क्रिया के सफलतापूर्वक पूर्ण होने से भीतरी पारमाण्विक शक्ति के अक्षय भंडारों पर जो हमारा अधिकार अनिवार्य रीति से हो जायगा उन के मुकाबिले तो धातुपरिवर्तन से पाये हुए पार्थिव लाभ की कोई गिनती ही नहीं है। अब जो समस्या हमारे सामने है वह कीमियागरों के निकृष्ट युगवाली नहीं है बल्कि वह ऐसी भारी समस्या है जिस के सुलझाने से यह आशा की जाती है कि सारे संसार का एक प्रकार का पूर्ण भौतिक कायाकल्प हो जायगा।"

---

* नेचर के ६ नवम्बर, सन् १९१९ के साडी के एक लेख से।

यदि उनकी आशा अब भी पूरी हुई तो निःसन्देह सारे संसार का आर्थिक रूप ही बदल जायगा।

५—बिजली का रूप

कोई तीस बरस हुए विज्ञान को यह बिल्कुल पता न था कि बिजली क्या है। तार और बेतार चल रहे थे। घंटियां बज रही थीं। दूर-दूर से लोग बातें कर रहे थे। समाचार
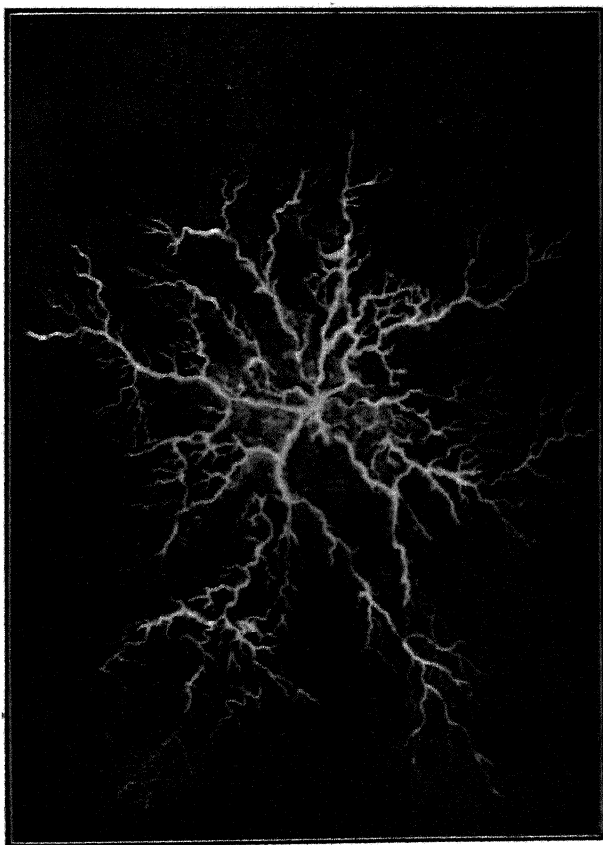
चित्र १४२—बिजली कौंधने का एक दृश्य

का विनिमय हो रहा था। रोशनी से काम लिया जाता था। बिजली के पंखों से हवा खा रहे थे। बिजली की गाड़ियों पर सवारी कर रहे थे। सब तरह के यंत्र बिजली के बल से हम चला

रहे थे। परंतु हमें यह मालूम न था कि बिजली क्या है। हम समझते थे कि एक तरह की कोई बहनेवाली ताकत की धारा है जो तारों की राह बहती है। परंतु आज हम यह जानते हैं कि तार में या और जहाँ कहीं बिजली की धारा है वहां बड़े वेग से एक परमाणु से दूसरे परमाणु को विद्युत्कणों की गति हो रही है। इसी बात को हम यहाँ कुछ समझने की कोशिश करेंगे।
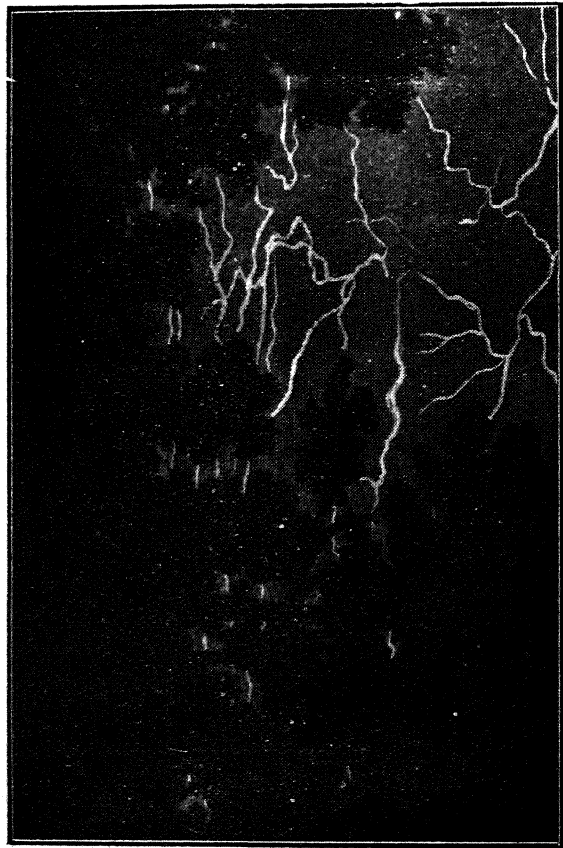
चित्र १४३—बिजली कौंधने का दूसरा दृश्य

हम देख चुके हैं कि प्रत्येक परमाणु के मध्य भाग में एक बिजली का धनाणु है जो ऋणाणुओं या विद्युत्कणों से घिरा हुआ है। यह बिजली के ऋण-कण हैं। अब हमें यह बात मालूम है कि बिजली भी कणों की बनी हुई है, जिसकी इकाई यही धन या ऋणकण है। बिजली की प्रत्येक मात्रा इन्हीं इकाइयों की बनी हुई है। एक नपी

हुई मात्रा में इन कणों की विशेष संख्या रहा करती है। पहले हम यह समझा करते थे कि जिस में अधिक बिजली का संचार है वह धन है, और जिस में कम है वह ऋण है। परन्तु अब आजकल कोई पदार्थ धन इसलिये कहा जाता है कि उस के परमाणुओं से कुछ विद्युत्कण निकल गये हैं, और ऋण उसे कहा जाता है जिस के परमाणुओं में प्रमित संख्या से अधिक विद्युत्कण मिल गये हैं।

यह क्रिया केवल बाहर की ओर रहनेवाले विद्युत्कणों में ही होती है। इस तरह विद्युत्कण एक परमाणु से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में जा सकते हैं। यदि यही क्रिया बहुत बड़े पैमाने पर हो तो एक धारा सी चलने लगे। इस तरह बिजली की धारा असल में विद्युत्कणों की धारा है जो एक परमाणु से दूसरे परमाणु पर बराबर चलते हुए अटूट धारा बना लेती है। किसी एक रासायनिक पदार्थ में एक ओर जस्ते का टुकड़ा और दूसरी ओर तांबे का टुकड़ा एक बर्त्तन में डुबो रखने से बिजली का एक घट बन जाता है। और बिजली की एक पतली धारा चलने लगती है। इसका मतलब यह हुआ कि जस्ता एक धातु है जिस के परमाणु अपने बाहरी कुछ विद्युत्कणों को छोड़ने के लिये तैयार हैं। क्यों तैयार हैं यह हम नहीं जानते। परन्तु तथ्य यह है कि जस्ते के परमाणुओं से निकलकर तांबे के परमाणुओं तक विद्युत्कण जाया करते हैं, यही धारा है। प्रत्येक परमाणु अपने पासवाले को अपने विद्युत्कण दे देता है। इस तरह से सिलसिला चलते रहने का ही। नाम "धारा" है। अगर इन दोनों धातुओं के टुकड़ों को तांबे के तार से जोड़ दें तो धारा तेज होने लगती है। अर्थात् अधिक तेजी के साथ विद्युत्कण निकलने लगते हैं। बात यह है कि जिस रासायनिक पदार्थ के भीतर जस्ता प्रवेश किये हुए है वह जस्ते के परमाणुओं को ले रहा है। यह परमाणु जस्ते में उन विद्युत्कणों को छोड़ते जाते हैं। वह जस्ते में विद्युत्कणों की संख्या बढ़ा देते हैं। इस तरह जस्ते के पास तांबे को भेजने के लिये अधिक विद्युत्कण हो जाते हैं। जस्ता इसीलिए तांबे को विद्युत्कण भेजता रहता है।

यह तो एक घट की बात हुई। इस तरह के कई घटों को तार से जोड़कर घटमाला या बाटरी बना लेते हैं। आजकल एक घट को भी बाटरी कहते हैं। इसी सिद्धान्त के ऊपर भिन्न-भिन्न रासायनिक पदार्थों के साथ कोयला, जस्ता, तांबा आदि अनेक वस्तुओं के चुने हुए प्लेट लगाकर विविध प्रकार की बाटरियां तैयार की जाती हैं। सिद्धान्त एक ही है। प्रयोग विविध हैं। बिजली का प्रवाह विद्युत्कणों का ही प्रवाह है। परन्तु ऐसा कोई न समझे कि जल की धारा की तरह उस के अणु मिले-जुले बहते हैं। विद्युत्कण अत्यन्त वेग से टूट कर उड़ते हैं, और एक परमाणु से दूसरे परमाणु में जाते हैं। जैसे बच्चे एक पंक्ति में जरा-जरा सी दूरी पर ईंटें खड़ी कर देते हैं और पहली ईंट को दूसरी पर गिरा देते हैं तो दूसरी तीसरी पर और तीसरी चौथी पर गिरकर गिरनेवाले धक्के को अन्तवाली ईंट तक पहुँचा देती है। इस तरह धक्के की या गति की एक धारा बन जाती है जो अन्तिम ईंट तक पहुँचती है। इसी तरह गति की धारा ही इन परमाणुओं के टूट-टूटकर एक अणु से दूसरे अणु पर जाने में बन जाती है। हां, इतनी बात ज़रूर है कि परमाणु से

परमाणु तक इतने वेग से गति चलती है कि गति की धारा बहते हुए जाती सी लगती है और वेग भी अप्रतिम होता है।

जैसे जस्ता अपने विद्युत्कणों को देने के लिए तैयार बैठा रहता है वैसे ही तांबा भी उन्हें आगे बढ़ाने के लिये उत्सुक रहता है। तांबा सब से उत्तम चालकों में है अर्थात्
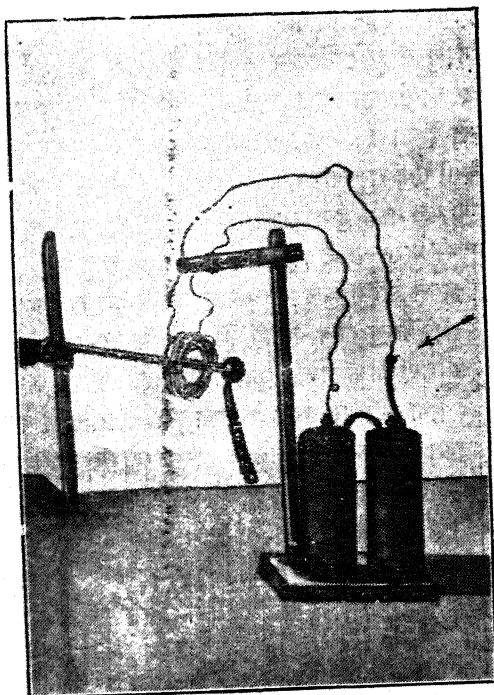
चित्र १४४—धारा बँधी रहने से लोहे का छड़ चुंबक बन जाता है और चाकू को खींच लेता है।

[सायंटिफिक ऐडियाज़ आफ़ टुडेसे अनुमति से]

इस के भीतर द्दियुत्कणों की गति में अत्यन्त कम रुकावटें पड़ती हैं, यद्यपि इसी तरह प्रायः हर एक धातु में विद्युत्कणों की गति बह सकती है। इस तरह की बाटरी से प्रत्येक प्लेट से तांबे के तार लगे होते हैं। जिन दो तारों के मिलने से चक्कर पूरा हो जाता है उन के सिरों पर बराबर विद्युत्कण मानों आगे बढ़ने के लिये और गति पहुंचाने के लिए तैयार बैठे रहते हैं। जब और जहां यह दोनों सिरे जुट जाते हैं गति की धारा बंध जाती है। इस धारा को, गति को या शक्ति को प्रकट करने के लिए इन दोनों सिरों का छू जाना या अगर धारा बहुत तेज हुई तो पास आ जाना भी काफी होता है। इसी तरह के दो सिरों के मिला

देने से वह गति या शक्ति प्रकट होती है जिससे कि घंटी बजती है, पंखा चलता है, प्रकाश होता है, ट्राम गाड़ी चलती है और मशीनें साधारणतया चलने लगती हैं।

जैसे तांबा बड़ा अच्छा चालक है वैसे ही कई चीज़ें बड़ी रुकावट डालने वाली हैं। यह विद्युत्कणों का मार्ग एक दम रोक देती हैं। इनका नाम रोधक है। कांच, चीनी, मिट्टी गन्धकित रबर, रेशम आदि अच्छे-अच्छे रोधक हैं। इसलिए हम चाहें तो इस गति के चलने के लिए ऐसा बन्द रास्ता बना दें कि भटक कर इधर उधर न जाने पावे। बाटरी इन्हीं वस्तुओं की बनती है और तांबे के तार पर रेशम आदि पदार्थ लपेट दिये जाते हैं कि इस गति का मार्ग निश्चित रहे।
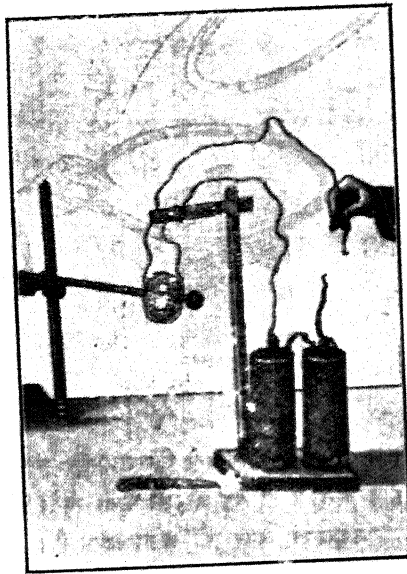
चित्र १४९—धारा तोड़ देने से छड़ का चुम्बकत्व नष्ट हो जाता है और चाकू छूट कर गिर जाता है।

प्रकाशक की अनुमति से] [सायंटिफिक ऐडिवाज़ आफ़ टुडेसे अनुवर्त्तन

आजकल के शिल्प के बड़े-बड़े कारखानों में इन मामूली बाटरियों से काम नहीं चलता और यह शक्ति की धारा दूसरी तरह पर पैदा की जाती है। अदृश्य विद्युत्कण जब तार में से गुज़रते रहते हैं तो उस के चारों ओर एक तरह का चुम्बकीय क्षेत्र बना देते हैं। इस का अर्थ यह है कि किसी बेजानी हुई विधि से विद्युत्कणों की इस वेगवती गति की धारा से एक अद्भुत प्रकार का खिचाव चारों ओर फैल जाता है। इस खिचाव की तेज़ी ज्यों-ज्यों धारा के पास जाया जाय त्यों-त्यों बढ़ती जाती है। यह खिचाव चुम्बकीय हुआ करता है

अर्थात् यह वही खिंचाव होता है जो किसी बलिष्ठ चुम्बक के चारों ओर लोहे के कणों के लिए साधारणतया देखा जाता है। चुम्बक के क्षेत्र में यदि कोई तांबे का तार लाया जाय तो उस के भीतर विद्युत्कणों की धारा चलने लगेगी। इसी का उलटा किया जाय अर्थात् जिन तारों में से विद्युत्कणों की धारा बह रही हो उन की कुंडली के भीतर से यदि कोई लोहे का छड़ निकला हुआ स्थिर रखा जाय तो वह चुम्बक बन जाता है और एक चाकू को भी पकड़ सकता है। परन्तु ज्यों ही धारा तोड़ दी जायगी त्यों ही चाकू छूट कर गिर जायगा।
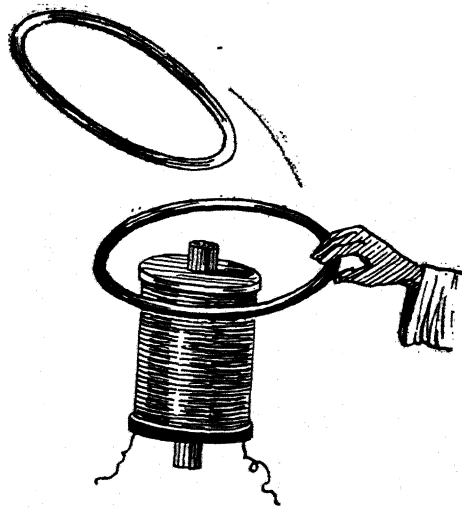
चित्र १४६—उलटी-सीधी धारा बहानेवाले विद्युच्चुम्बकीय यंत्र के ध्रुव पर जब एक तांबे का छल्ला ले जाते हैं तो वह जोर से फेंका जाता है और छूटते ही उछलकर ऊपर को चला आता है।

यदि ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि किसी बड़े चुम्बक के चारों ओर बिजली के तारों की कुंडली बड़े वेग से घुमाई जाय तो विद्युत्कणों के भारी समूह उन में से चमक-चमक कर निकलने लगेंगे। यही कुंडली चुम्बकीय क्षेत्र को छोड़ने लगती है तो फिर उसी तरह चमक के साथ विद्युत्कणों का समूह निकलने लगता है। परंतु धारा की दिशा बदल जाती है। यह कुंडली जब इसी प्रकार बहुत तेज घूमती रहती है तो दोनों दिशाओं में बिजली की बड़ी मजबूत धारा बहने लगती है। इसी को हम उलटी-सीधी धारा कहते हैं। ऐसे भी यंत्र हैं कि जहाँ जरूरत पड़े वहाँ इन उलटी-सीधी धाराओं को बदलकर एक ही दिशा में बहा सकते हैं। इन यंत्रों को "परिवर्त्तक" कहते हैं। डाइनमो यंत्र ऐसी ही उलटी-सीधी धारा उत्पन्न करने के लिए यंत्र है जिस में हम बहुत बड़े पैमाने पर काम कर सकते हैं। इस में यांत्रिक शक्ति बिजली की शक्ति में परिणत हो जाती है। प्रो० साडी का कहना है

कि डाइनमो को एक तरह का विद्युत्कण निकालने का पंप समझना चाहिए। इस में एक बहुत बड़े चुम्बक के दोनों ध्रुवों के बीच में उस के चारों ओर तांबे के तारों की एक बड़ी घनी कुंडली बड़े ज़ोरों से चक्कर लगाती रहती है। डाइनमो के निर्माण का यही तत्व है। बहुत भारी धाराओं के लिये डाइनमो काम में आता है। इन्हीं धाराओं के बल से कारखानों में दानवाकार यंत्र चलते हैं।

कभी-कभी बहुत से विद्युत्कण एक पिंड से फूटकर या टूटकर बड़े वेग से दूसरे पिंड को जाते दिखाई देते हैं। यही बिजली की चिनगारियां हैं जो यंत्रों में या कभी-कभी ट्राम-गाड़ियों में देख पड़ती हैं। इसी प्रकार का सब से उत्तम दृश्य आकाश में बिजली की चमक है और सूर्य की दुर्दम्य ज्योति से और ताप के भट्ठे से तो विद्युत्कणों की बाढ़ सारे आकाश मंडल में फैलती रहती है। वायु-मंडल के बीच में कुछ रुकावट पड़ जाती है। ऊपरी भाग में सौर विद्युत्कणों की धारा से धनीकृत और ऋणीकृत परमाणु अलग-अलग हो जाते हैं। समुद्र के ऊपरी तल से निरंतर उठती हुई भाफ अधिकांश धनीकृत परमाणुओं के चारों ओर घिर आती है और वर्षा के रूप में उन्हें धरती पर ले आती है। इस तरह वायु की ऊपरी तह धन विद्युत् से कुछ हीन हो जाती है अथवा उसका ऋणीकरण हो जाता है। जब बादल घिरे होते हैं तो दोनों तरह के बादलों में खिंचाव सा रहता है। कुछ ऋणीकृत होते हैं और कुछ धनीकृत। खिंचाव बढ़ते-बढ़ते विद्युत्कण बड़े वेग से एक बादल से दूसरे की ओर अथवा धरती की ही ओर आते हैं। यह भी वही बिजली की चिनगारी है जो भयानक पैमाने पर प्रकट होती है।

६—चुम्बकत्व

चुंबक पत्थर का एक टुकड़ा लोहे कणों को अपनी ओर खींच लेता है। इसी गुण को हम चुम्बकत्व कहते हैं। परंतु हम पिछले प्रकरण में यह समझ चुके हैं कि जहां कहीं बिजली की धारा चलती है। अपने चारों ओर चुम्बक की शक्ति का क्षेत्र बना लेती है इसे विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र कहते हैं। जिस शक्ति से यह प्रभाव उत्पन्न होता है उसे विद्युत्-चुम्बकीय शक्ति कहते हैं। यदि हम एक पुट्ठे के टुकड़े के भीतर से आरपार ऊपर-नीचे एक बिजली के तार को प्रवेश करावें और उस गत्ते पर लोहे का चूर्ण बिखेर दें तो देखेंगे कि लोहचूर्ण गत्ते पर गोलाकार रूप में हो जाता है। जान पड़ता है कि बिजली की धारा से उत्तेजित चुम्बक शक्ति तार के चारों ओर गोलाकार रहती है। एक अकेला विद्युत्कण भी चलते हुए अपने मार्ग में इस तरह का चुम्बक-मंडल बनाता चलता है। जहां कहीं विद्युत्कणों की गति होगी वहीं यह चुम्बक-मंडल भी होगा। जब तक यह रहता है तब तक विद्युत्कण की गति भी रहती है। इस संबंध में अब ऐसा समझा जाता है कि विद्युत्कणों की चक्करदार गतियों से ही चुम्बकत्व प्रकट होता है। इतनी बात तो प्रयोगों से मालूम है कि विद्युत्धारा जिस धरातल पर चलती रहती है उस पर के लम्ब की दिशा में ही चुंबकत्व का धरातल होता है।

यहाँ इस बात पर विचार करना कठिन है कि चुम्बकत्व किस तरह से प्रकट होता है या यह कि लोहे पर ही क्यों उस का ऐसा प्रभाव पड़ता है। परंतु इतनी बात विज्ञान से अवश्य ही स्थापित है कि धरती का यह पिंड एक बहुत भारी चुंबक है जिस के कारण दिशा-सूचक यंत्र काम करता है। हम यह अन्यत्र दिखा चुके हैं कि पृथ्वी का अन्तरतम भाग अनेक
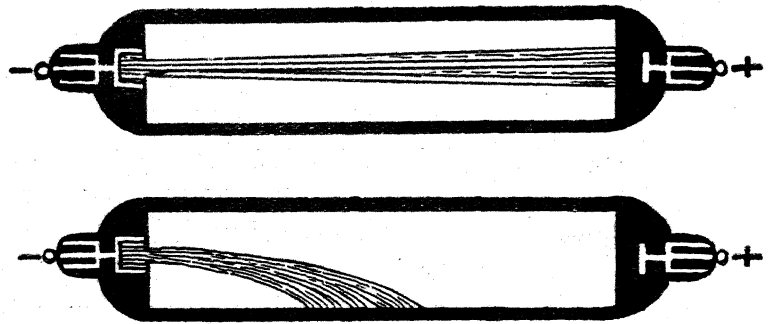
चित्र १४७—शून्य नलिका में विद्युत् का विसर्जन

एक नलिका हवा से प्रायः शून्य करके बन्द कर दी जाती है। उस के दोनों सिरों पर से धन और ऋण तार निकले हुए हैं। धारा से जोड़ देने पर नली से शून्य देश में बिजली का विसर्जन होता है। अँधेरे में एक सिरे से दूसरे सिरे तक सीधी प्रकाश की दौड़ती स्फुलिंगमाला दिखाई देती है, जैसा कि ऊपरवाली नलिका में चित्रित है। परन्तु ज्यों ही नलिका को चुम्बकीय क्षेत्र के अन्तर्गत कर दिया जाता है, स्फुलिंग माला, नीचेवाली नली में जैसा दिखाया गया है, झुक जाती है। रेडियम की किरणें भी इसी तरह झुक जाती हैं। अतः दोनों में एक ही तरह के विद्युत्कणों की धारा निकलती है।

वैज्ञानिकों के मत से लोहा है। और यह बात भी अच्छी तरह मालूम है कि जब सूर्य में काले धब्बे दीखते हैं तब पृथ्वी के चुंबकत्व पर बड़ा उग्र प्रभाव पड़ता है और यह बात अभी हाल में मालूम की गयी है कि यह धब्बे विद्युत्कणों के विशालभ्रमरावर्त्त हैं और इन का चुंबकत्व पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ता है। इन सब बातों में परस्पर क्या और कितना संबंध है और यह क्रियाएं किस प्रकार होती हैं इस पर अभी खोज बराबर जारी है।

७—आकाश-तत्व और लहरें

प्रकाश के संबंध में एक विचार यह है कि आकाशतत्व के भीतर लहरों के रूप में प्रकाश आता है अथवा यह कि आकाशतत्त्व की लहरें जो विविध बड़ाई-छोटाई की

होती हैं जब आँख के परदे पर लगती हैं तब हम प्रकाश का अनुभव करते हैं। वैज्ञानिक आकाश-तत्त्व की कल्पना मात्र करता है और वह इसलिये करता है कि प्रकाश के संबंध के नियमों की उस से व्याख्या हो जाती है। वह आकाश तत्त्व को अखंड मानता है। उस के परमाणु नहीं होते और वह ओतप्रोत भाव से सर्वत्र व्यापक है। इसी तरह की कल्पना आकाश के संबंध में वैशेषिक शास्त्र की भी है। हम इस बात को जानते हैं कि अनन्त दूरी से भी प्रकाश हमारे पास पहुँचता है और पहुँचने में समय सभी लेता है। वास्तविक सूर्योदय हो जाने के आठ मिनिट बाद हमें सूर्य का बिम्ब देख पड़ता है क्योंकि सूर्य की दूरी हम से सवा नौ करोड़ मील के लगभग है। उसे आठ
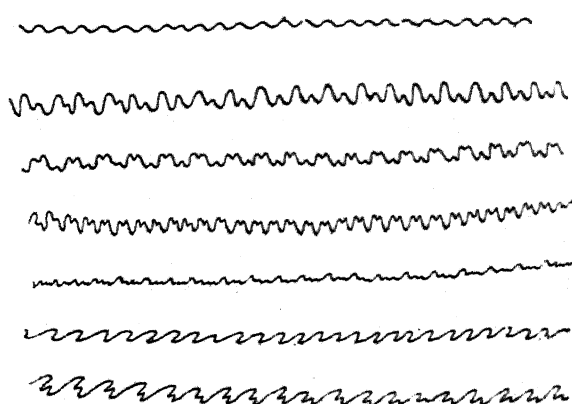
चित्र १४८—लहरों के विविध रूप

मिनिट में तय करके प्रकाश हमारे पास आता है। यदि हम व्योम-मंडल को शून्य कहें और आकाशतत्त्व से व्याप्त न मानें तो हमें यह भी मानना पड़ेगा कि तेजस की शक्ति शून्य में से होकर हमारे तक पहुँचती है। इस तरह हम को उस की निराधार गति माननी पड़ेगी। साथ ही हमें यह मालूम है कि प्रकाश लहरों के रूप में आता है। ध्वनि भी लहरों के रूप में आती है, परंतु हवा की लहरों के बिना वह हमारे कानों तक नहीं पहुँच सकती। शून्य काँच के पात्र में बिजली द्वारा घंटी बजायी जाय तो उस का सुनना असम्भव हो जाता है। परंतु घंटी को देखने में हमें कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इस से यह स्पष्ट है कि शून्य में से आते हुए प्रकाश को हम अनुभव कर लेते हैं। ध्वनि को नहीं। वैज्ञानिक यह मानते हैं कि विश्व का सारा शून्य देश मात्र आकाशतत्त्व से भरा हुआ है जो केवल तेज ही नहीं बल्कि सब तरह की शक्ति का वाहक है। जिस चुम्बकत्व की शक्ति पर हम विचार कर आये हैं वह भी इसी आकाश तत्त्व के भीतर खिंचाव वा उपद्रव रूप है। सूर्य से जितनी शक्तियाँ गरमी रोशनी विद्युत्कण आदि रूपों में हम पाते हैं उस का एक मात्र मध्यम यही आकाश

तत्त्व है, और शक्ति चाहे जिस रूप में हमें मिले इसी तत्व के भीतर लहरों के रूप में होकर प्रकट होती है। वैज्ञानिकों का एक दल सैकड़ों वर्षों से यह मानता आया है कि प्रकाश लहरों के रूप में आता है और भिन्न-भिन्न रंग की किरणों की लहरों की लम्बाई भी नापी गयी है। सब से लम्बी लहर गहरी लाल किरण की है जो इंच का २ लाख ५० हजारवां अंश लंबी रहती है। गहरी बैंगनी किरणों की लहरें प्रत्येक लम्बाई में एक इंच का ६७ हजारवाँ अंश होती हैं। परन्तु इस से कम और अधिक लम्बाई की लहरें होती हैं। जिन्हें हम देख नहीं सकते। कम लम्बाई की लहरों का पता फ़ोटो से लगता है। सब से कम लम्बाई की लहरें जो अब तक मालूम हुई हैं एक्स किरणें हैं। ज़्यादा लम्बाई की भी लहरों का पता लगाया गया है। लाल किरणों से ज्यादः लम्बाई की लहरें गरमी की होती हैं जो देख नहीं पड़तीं। आंच भी आकाश-तत्त्व की एक प्रकार की लहर है। प्रकाश से कुछ बड़ी लहरों को हम गरमी के रूप में अनुभव करते हैं। परन्तु गरमी की लहरों से भी बहुत बड़ी लहरें हैं जो हमारी इन्द्रियों के अनुभव में नहीं आ सकतीं। परन्तु यंत्रों के द्वारा हमें उन का पता लगता है। ऐसी लहरें बेतार के समाचार में और ध्वनि में काम में आती है। इन में से अनेक इतनी लम्बी होती हैं कि उनकी लम्बाई मीलों में बतायी जाती है। इन को विद्युत्-चुम्बकत्त्व लहरें कहते हैं। प्रकाश, ताप, आँच और विद्युत्-चुम्बक सभी एक ही प्रकार की वस्तुएं हैं, केवल लहरों की लम्बाई में अन्तर पड़ता है।

८—दृश्य और अदृश्य प्रकाश

यदि प्रकाश विद्युत्-चुम्बक ताप आदि सभी लहरें हैं, तो इन लहरों को उठानेवाला या आरम्भ करनेवाला कौन है? जिस किसी शक्ति से ऐसी अत्यन्त वेगवती और अद्भुत लहरें निरंतर उठती रहती हैं वह सचमुच बड़ी भयानक और बहुत भारी शक्ति होगी, जिस में बड़ा ही प्रचण्ड स्फुरण उठता रहता होगा। इस की व्याख्या करने के लिये फिर भी हम विद्युत्कणों पर ही आते हैं और उन्हीं में इन लहरों की व्याख्या पाते हैं।

ठंडे लोहे के एक टुकड़े के भी कण बराबर वेग से स्फुरण कर रहे हैं। इन के हिलने से जो लहरें उठती हैं हमारी इन्द्रियां उन का अनुभव नहीं कर सकतीं। परन्तु वास्तविक बात यह है कि ठंढा चीमटा भी चारों ओर लहरें फेंक रहा है। यह बात इसी से समझ में आ सकती है कि हम हर एक अणु और परमाणु को गतिशील समझा आये हैं। अब चीमटे को दहकते हुए कोयले में थोड़ी देर तक रखते हैं तो क्या होता है? दहकते कोयले के कणों में बड़े वेग की हलचल है। यही हलचल चीमटे के अणुओं में भी अपनी शक्ति पहुंचा देती है, उस में भी हलचल पड़ जाती है। उससे जो लहरें उठती हैं उन का असर हमारे हाथ की नाड़ियों तक पहुँच जाता है और हम उन्हीं लहरों से चीमटे में गरमी का अनुभव करने लगते हैं। चीमटे को इतनी देरतक आँच में रखते हैं कि लाल हो जाय। अब वही हलचल चीमटे में इतनी बढ़ी और उस के कण ऐसे प्रचंड वेग से हिलने लगे कि उत्तरोत्तर छोटी-से-छोटी और तेज़-से-तेज़ लहरें उठाने लगे। लहरें इतनी छोटी और तेज

हो गयीं कि आँखें अब देख सकती हैं। यह दृश्य प्रकाश हो गया। परन्तु फिर भी इस का प्रभाव फोटो के पट पर नहीं पड़ता। अब आँच और तेज की गयी और चीमटे को उसी में रहने दिया। अब और भी छोटी और ज्यादा तेज़ लहरें उठने लगीं जिस से सफ़ेद रोशनी बन गयी। वास्तव में हो यह रहा है कि अब विद्युत्कणों में हलचल बढ़ गयी है और वह अपने घेरे में एक सेकंड में खरबों और नीलों चक्कर लगा रहे हैं। आँच और भी बढ़ाएं तो नीले रंग का प्रकाश निकलने लगता है। इस प्रकाश के साथ-साथ और भी छोटी लहरें उठने लगीं जो दिखाई नहीं पड़ती हैं। परन्तु फोटो के पट पर अपना प्रभाव डाल सकती हैं। इन के बाद और भी अधिक छोटी लहरें उठती हैं, जिन के अन्त में एक्स किरणें हैं जो पत्थर और मांस के परमाणुओं के अन्तराल से भी अपना मार्ग कर लेती हैं।

कोई ढाई सौ बरस पहले यह अन्दाजा किया गया था कि रोशनी ध्वनि की अपेक्षा छः लाख गुने अधिक वेग से चलती है। परंतु अस्सी बरस हुए प्रकाश का वेग भी यंत्र द्वारा नाप लिया गया। घुमानेवाले यंत्र में एक दांतेदार पहिया इस तरह पर लगाया गया कि प्रकाश की एक किरण दो दांतों के बीच में से पैठ कर एक दर्पण पर पड़े और दर्पण से प्रतिफलित होकर फिर उसी पहिये पर दांतों के पास पड़े। पहिये से दर्पण की दूरी सचमुच बहुत ही थोड़ी है और इतनी दूर चलने में प्रकाश को सचमुच एक सेकंड का अत्यन्त सूक्ष्म अंश लगेगा। तो भी यंत्र द्वारा यह सम्भव है कि हम पहिये को इतनी तेजी से घुमावें कि जब रोशनी दर्पण से लौटे तब बादवाले दांत पर पड़कर रुक कर जाय। वेग और भी बढ़ा कर ऐसा कर सकते हैं कि जिस राह से किरण आकर दर्पण पर पड़ी उस के प्रतिफलित होने पर बादवाली राह से निकले। पहिये का वेग मालूम है। इस लिये किरण का भी वेग हम मालूम कर सकते हैं। यदि छोटी-से-छोटी भी लहर १।६७ हजार इंच लम्बी है और रोशनी एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकंड चलती है तो सीधा हिसाब है कि लगभग ८ नील लहरें प्रतिसेकंड हमारी आँख में आती रहती हैं, तब हम नीले रंग की रोशनी देखते हैं।

जब विद्युत्कण अपने चारों ओर छोटी-छोटी लहरें फेंकते-फेंकते ३५,००० इंच लम्बाई की फेंकने लगते हैं तब वह लहरें बहुत धुमली-सी दिखाई देने लगती हैं। लहरों की छोटाई और तेजी ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है त्यों-त्यों हमें क्रम से लाल नारंगी, पीला, हरा, आसमानी, नीला और बैंगनी रंग का प्रकाश दिखाई देने लगता है। हर रंग का अर्थ है लहर की भिन्न लम्बाई, परंतु जब सब मिल जाते हैं तब सफ़ेद रोशनी मालूम होने लगती है। सूरज की सफेद रोशनी जब कांच में प्रवेश करती है तो लहरों का वेग कुछ घट जाता है और अगर तिपहले कांच के भीतर पैठे तो अलग-अलग लम्बाई की किरणें उसमें से अलग-अलग राह से निकलने लगती हैं और इंद्र-धनुष के विविध रंगों का फैलाव देखने में आता है। तिपहले बिल्लौर में यह तमाशा हर आदमी देख सकता है या सातो रंगों को ठीक दिये हुए चित्र के अनुसार बड़ाई छोटाई का लिहाज करके एक गोले गत्ते पर चढ़ाकर एक पहिये में लगा दे और बड़े वेग से चक्कर दे तो सब मिलकर एक ही सफेद रंग होगा। यदि इस चक्कर में से कोई एक रंग छिपा दिया जाय तो छहों का मिला-जुला कोई रंग तेज घुमाने से दिखाई पड़ेगा। अनेक वस्तुएँ ऐसी हैं कि जो आँख के सामने रखकर सफेद रंग

को देखा जाय तो सभी किरणें उस के भीतर से नहीं गुजरेंगी कुछ रुक जायँगी। जिस में से छः तरह की किरणें रुक जायँगी और केवल उस गुजरनेवाले रंग का दिखाई पड़ेगा। हमें किसी कांच में हरा रंग इसलिये दीखता है कि हम यदि उसे आँख के सामने रखते हैं तो सफेद रोशनी के और बाकी रंग आने नहीं पाते, रुक जाते हैं।

तिपहले कांच में जैसे हम रोशनी के किरणों के टूटकर अलग-अलग रंगों में बँटते हुए देखते हैं उसी तरह प्रकृति में बराबर इस तरह पर प्रकाश का विश्लेषण होता रहता है। इन्द्र धनुष तभी दिखाई पड़ता है जब कि वायु के भीतर की घनी नमी तिपहले कांच का काम करने लगती है। सीप का एक टुकड़ा या गिरा हुआ तेल या पानी पर फैली हुई तेल की तह यही काम करती है। वायुमंडल इसी तरह प्रकाश के लहरों को दिन भर अलगाया करता है। रंग-बिरंग के बादल यही तमाशा दिखाते हैं। धरती पर की फूल पत्तियों और सभी वस्तुओं में यह क्रिया देख पड़ती है। हमारे सर पर का नीला आसमान क्या प्रकट करता है? ऊपरी वायुमंडल के बहुत सूक्ष्म कण बहुत नन्हें-नन्हें नीले रंग की लहरों को पकड़कर बिखेर देते हैं। आकाश की नीलिमा हम सहज में जब चाहें तब प्रयोगशाला में एक परख-नली के भीतर देख सकते हैं। जहाँ कहीं हम को सफेदी दिखाई पड़ती है हमें समझना चाहिये कि यह पदार्थ जो सफेद दीखता है सभी किरणों को फेंक देता है या लौटा देता है। जो चीज काली दीखती है वह सभी किरणों को सोख ले रही है। प्रत्येक पदार्थ में विद्युत्कण स्फुरण कर रहे हैं और उन के पास नीली लहरों की बाढ़ आती रहती है। अपनी स्फुरण की दशा के अनुकूल वह लम्बी मझोली या छोटी लहरों को या उन के मिले-जुले अंशों को सोख लेते हैं। जिन को वह छोड़ देते हैं उन का मिला-जुला या असली रंग हमें देख पड़ता है। कभी-कभी सूरज के छिप जाने पर भी या धूप के चले जाने पर भी वह प्रकाश की लहरें देते रहते हैं। यही काला प्रकाश या अदृश्य प्रकाश है, इस से हम फोटो ले सकते हैं। कांच की तरह कई पदार्थ ऐसे भी हैं जिन का स्फुरण बिल्कुल प्रकाश की लहरों के ही वेग से होता है। इसलिये उन के भीतर से यह लहरें गुजर जाती हैं।

ऐसी भी वस्तुएँ हैं जो विचित्र रीति से अपना ही प्रकाश देती हैं, अँधेरे में चमकती हैं। इन की ज्योति में आँच नहीं होती। यह विज्ञान का एक बहुत बड़ा रहस्य है कि ठंढी ज्योति किस तरह निकाली जाय। रोशनी करने में व्यर्थ ही बहुत-सी शक्ति आँच और अदृश्य प्रकाश उपजाने में लग जाती है, जिन की हमें जरूरत नहीं होती। यह भेद जुगनू से खुल सकता तो कैसा अच्छा होता! स्फुर यह काम दे सकता है परंतु उस में भयानक दुर्गंध है। हम बड़ा खर्च करके रात को रोशनी करते हैं परंतु वह अच्छे रंग नहीं देती जो हमें सूरज से मिलते हैं। इस तरह रात को रंगीन कपड़े खरीदने में हम धोखा खाते हैं।

बैंगनी रोशनी से भी छोटी लहरोंवाली तेज अदृश्य किरणें होती हैं जो फोटोवालों के बड़े काम की होती हैं। यह या नीली बैंगनी आदि किरणें लाल या नारंगी परदे से गुजर नहीं सकतीं। इसलिये फोटोलेनेवाला ऐसे परदों से काम लेता है। प्रकाश की यही लहरें हरियाली के कणों को यह शक्ति देती हैं कि वह वनस्पति की रचना कर सकें और इसलिये सभी पेड़ों की गति ऊपर की ओर होती है और अपने पत्ते वह पंखे की तरह इसलिये फैलाये रहते

हैं कि नीले आकाश से जितना अधिक हो सके इन किरणों को वह अपने पत्तों की हथेलियों में रोप लें। कोयले की खानों में इसी विधि से प्राचीन युगों में बटोरी हुई शक्ति गड़ी हुई है जिसे आज हम खोद-खोद कर निकालते हैं और कारून के खजाने की रत्नराशि को बेपरवाही से खर्च कर रहे हैं।
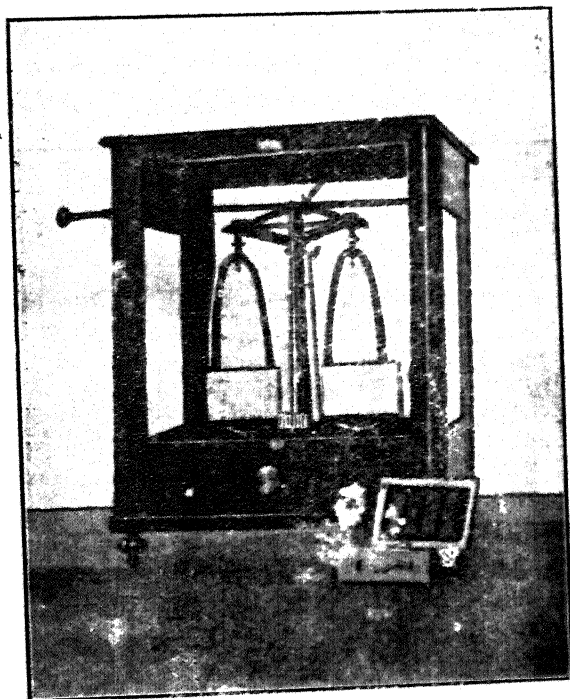
चित्र १४१—रासायनिक तुला के दोनों पलड़ों पर बराबर कटा सफेद कागज रखा हुआ है। दोनों तौल में बराबर हैं। कांटा ठीक शून्य पर है।

प्रकाशक की अनुमति से] [सायंटिफिक ऐडिवाज आफ़ टुडे से

इन लहरियों की माला के अन्तिम सिरे पर एक्स किरणें आती हैं। इन की लम्बाई भी नापी गयी है, और एक सहस्रांश-मिति का करोड़वां भाग अथवा एक इन्च का लगभग पचीस करोड़वाँ भाग पायी गयी है।

कोई दस बरस हुए सूर्य्यग्रहण के समय यह बात भी मालूम की गयी है कि गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव प्रकाश की किरण पर भी पड़ता है और एक तारे से आती हुई किरण जब

सूर्य के पिंड के पास से होकर गुजरती है तब सूर्य की ओर अपनी सीधी राह छोड़ कर झुक जाती है। प्रो० एडिंगटन कहते हैं कि रोशनी भी तौली जा सकती है और उन का अन्दाजा है कि धरती पर सूर्य से प्रतिवर्ष ४३६० मन के लगभग रोशनी आया करती है।

९—शक्ति के रूप

जैसे एक कण को उत्पन्न करने या नष्ट करने की शक्ति मनुष्य में नहीं है, वैसे ही शक्ति की एक छोटी-से-छोटी मात्रा भी न वह उपजा सकता है और न नष्ट कर सकता है।
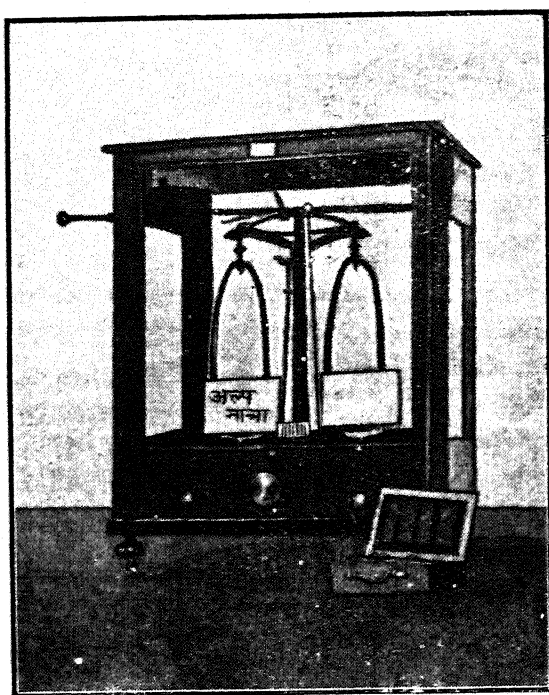
चित्र १४०—बायें पलड़े के सफेद कागज पर पेंसिल से "अल्पमात्रा" लिखकर रखा गया और फिर डांड़ी उठायी गयी तो कांटा शून्य से हटकर दाहनी ओर चला गया। यह तुला इतनी अल्पमात्रा को भी तौल सकती है। फिर भी आंच और रोशनी जैसी अति सूक्ष्म वस्तुओं को नहीं तौल सकती। इसी लिए इन्हें लोग वस्तु नहीं समझते थे।

[सायंटिफ़िक ऐडियाज़ आफ़ टुडे से प्रकाशक की अनुमति से]

जैसे हम यह नहीं जानते कि बिजली के धनाणु और ऋणाणु क्या हैं वैसे ही हमें यह भी पता नहीं है कि वास्तव में शक्ति या सामर्थ्य क्या है। उस के भिन्न-भिन्न रूप तो मनुष्य मुद्दत

से जानता है। किसी गिरती हुई वस्तु में कितनी शक्ति है यह तो हर पनचक्कीवाला जानता है। ईंधन जलानेवाले गर्मी की शक्ति जानते हैं। पिछले सवा सौ वर्षों में वैज्ञानिकों ने यह अच्छी तरह निश्चय कर लिया कि एक ही शक्ति के अनेक रूप हैं, एक रूप दूसरे रूप में बदल सकता है और शक्ति की मात्रा विश्व में स्थायी है और शाश्वत है।

शक्ति के सभी रूपों पर विचार कर उस के दो मुख्य रूप माने गये हैं। लुढ़कता हुआ पत्थर, बहता हुआ पानी, गिरता हुआ कोई पिंड, अथवा, गति की दशा में कोई भी पदार्थ जो शक्ति रखता है, उस शक्ति को "गति-जनित सामर्थ्य" कहा जाता है। यदि कोई पत्थर का भारी टुकड़ा किसी चट्टान के सिरे पर पड़ा हुआ है तो वह गति की दशा में नहीं है परन्तु उस की अवस्था ऐसी है कि वह गति-सामर्थ्य अपने में छिपा हुआ रखता है। इस तरह के सामर्थ्य को "अवस्था-जनित सामर्थ्य" कहेंगे। इन्हीं दोनों रूपों में हम सामर्थ्य के और सब रूपों को बांट सकते हैं। जो कोयला जल नहीं रहा है उस में अवस्था-जनित-सामर्थ्य भरा पड़ा है। जो जल रहा है उस के अणु परमाणु और विद्युत्कण बड़े वेग से गति कर रहे हैं। इसलिये जलते हुए कोयले में गति-जनित सामर्थ्य है। यह दोनों तो शुद्ध वैज्ञानिक विभाग हुए। परन्तु साधारणतया हम देखते क्या हैं? हम ताप को कहीं गर्मी के रूप में देखते हैं कहीं खिंचाव के, कहीं रोशनी के, कहीं यंत्रों के और कहीं बिजली के रूप में देखते हैं। यह भी हम देखते हैं कि एक रूप की ताकत दूसरे रूप में बदली जा सकती है। जैसे गिरते हुए पानी के बल से चक्की भी चलती है और डायनमो भी। पानी में सामर्थ्य है धरती के खिंचाव से। इस खिंचाव को हम पनचक्की में यंत्रबल बना देते हैं। और डायनमो में उसे बिजली का रूप देते हैं। बिजली से गरमी भी पैदा करते हैं और रोशनी भी, और यंत्र भी चलाते हैं, तार और टेलीफोन से ध्वनि भी पैदा करते हैं। इस तरह गुरुत्वाकर्षण के बल को भिन्न-भिन्न रूपों में हम काम में लाते हैं। एक रूप से दूसरे रूप में ताकत या सामर्थ्य का बदल जाना प्रकट ही है। परन्तु सब से अधिक महत्व की बात यह है कि सब तरह का सामर्थ्य गरमी का रूप धारण करने के लिए प्रवृत्त रहता है। गिरते हुए पत्थर से गरमी पैदा होती है। झरने का पानी ऊपर की अपेक्षा नीचे अधिक गरम होता है क्योंकि जल के कण धरती से टकरा-कर गर्मी पैदा करते हैं। अधिकांश रासायनिक क्रियाएं गरमी पैदा करती हैं। तुलसीदास जी ने लिखा है।

> एक दारुगत देखिय एकू।
> पावक सम युग ब्रह्म विवेकू।

इस से मालूम होता है कि भारत के लोगों को यह बहुत काल से मालूम है कि लकड़ी में गरमी या आग मौजूद है परन्तु छिपी हुई या सोयी हुई है। लकड़ी जलती है तब वह प्रकट हो जाती या निकल पड़ती है। रश्मिम् या किसी और रश्मिशक्तिक पदार्थ के परमाणु टूटती हुई अवस्था में गरमी पैदा करते हैं। हर घंटे में रश्मिम् इतनी आंच निकालता है कि उस के ही आयतन के बराबर जल बरफ की ठंडक की अवस्था से खौलाया जा सकता है।

यह गरमी क्या है ? हम कह चुके हैं कि सभी वस्तुओं के सब से छोटे टुकड़े जिस में उस वस्तु के सभी गुण मौजूद हों अणु कहलाते हैं और यह अणु बड़े वेग से बराबर हिलते रहते हैं। इनके हिलते रहने से वस्तु में गरमी की एक अवस्था बनी रहती है। परन्तु किसी कारण से भी हो यह जब ज्यादा तेजी के साथ हिलने लगते हैं तब गरमी बढ़ जाती है और हम कहते हैं कि यह चीज़ गरम हो गयी। लकड़ी या कोयला जब जलता है तब अणुओं में भयानक गति होती रहती है और अणु टूट-टूटकर परमाणु रूप में अलग होते रहते हैं और परमाणु टूट-टूटकर विद्युत्कण निकालते रहते हैं। जो गति केवल अणुओं में बढ़ी थी वह परमाणुओं में हलचल पैदा करने लगी और परमाणुओं की बढ़ी हुई हलचल विद्युत्कणों तक पहुँची। इन तीनों हलचलों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सूक्ष्मता के हिसाब से आकाश तत्त्व में सूक्ष्म-से-सूक्ष्म लहरें उठने लगीं। बड़ी लहरें हमारी त्वचा की नाड़ियों में आंच का अनुभव कराने लगीं और छोटी लहरें प्रकाश की किरणों के रूप में हमारी आंख की नाड़ियों को रोशनी दिखाने लगीं। इस तरह यह बात बहुत साफ हो जाती है कि हम को सामर्थ्य का अनुभव चाहे जिस तरह पर हो वह अन्त में गति ही है, जिस से आकाश तत्त्व में तरह-तरह की लहरें पैदा होती हैं। आकाश तत्त्व बहुत सूक्ष्म है, इसलिये सूक्ष्म-से-सूक्ष्म लहरें उठा सकता है। जो लहरें वायु में पैदा होती हैं वह बड़ी स्थूल होती हैं। उन में से कुछ का प्रभाव हमारे कानों पर पड़ता है, तब हम शब्द सुनते हैं। यह शब्द भी वायु में उस के अणुओं के भीतर हलचल पैदा होने से प्रकट होता है, चाहे वह हलचल दो जड़ वस्तुओं को टकराकर पैदा की जाय और चाहे किसी चेतनप्राणी के वाग्यंत्र द्वारा पैदा की जाय। इस तरह शब्द उत्पन्न करनेवाली जो हलचल पैदा की जाती है वह बड़ी ही स्थूल हलचल है। अणुओं की हलचल से गरमी पैदा होती है तब नापी जा सकती है, जब यह हलचल अधिक पैदा की जाय और भरसक ध्वनि में बदलने न दी जाय। जूल ने पानी को तेजी से मथकर यह नाप लिया कि कितने यांत्रिक बल से गरमी की कितनी मात्रा पैदा की जा सकती है। इस प्रयोगसे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य अपना सामर्थ्य नपे हुए यांत्रिक बल में बदल देता है। उस से जल में जो हलचल पैदा होती है और अणुओं में अधिक वेग उत्पन्न करती है तो वह यांत्रिक बल गरमी में बदल जाता है, गरमी से बढ़कर वही रोशनी में बदल जाता है। परंतु परिवर्त्तन चाहे कितना ही हो सामर्थ्य की पूर्ण मात्रा में कमी-बेशी नहीं आती। वह ज्यों-की-त्यों बनी रहती है।

पत्थर का कोयला काम में लानेवाली पच्छाहीं उद्योगी दुनियां आजकल इस बड़ी चिन्ता में है कि जब कोयलों की खानें खाली हो जायँगी और करोड़ों बरस का सूर्य से लेकर इकट्ठा किया हुआ ताकत का खजाना खाली हो जायगा तो कल-कारखानों के लिये ताकत कहाँ से आवेगी ? इस समस्या को सुलझाने के लिए बहुत से उपाय सोचे जा रहे हैं। गिरता हुआ जल, बहता हुआ पानी, ज्वार-भाटा, सूरज की रोशनी, भूगर्भ की आंच इत्यादि सामर्थ्य के अनेक भंडारों पर विचार किया गया है। परन्तु कोयले के मुकाबिले में इन में से हर एक भंडार बहुत छोटा जंचता है। परन्तु परमाणु के भीतर जितनी ताकत बन्द है, वह बेहद है। परमाणु सामर्थ्य का अटूट भंडार है। फिर भी अभी तक वैज्ञानिक इस भंडार

में हाथ लगाने का साधन नहीं पा सका है। इस विपुल धन को वह दूर से ललचाई निगाहों से देख रहा है, परन्तु कोई राह नहीं पाता जिस से वह बिना जोखिम के उसे निकाले और अपने काबू में कर के उसे काम में लावे।

हम यह कह चुके हैं कि सामर्थ्य या ताकत के रूप तो बदलते रहते हैं परन्तु ताकत नष्ट नहीं होती। फिर वह हो क्या जाती है? वह खर्च हो जाती है या अपने अधिकार से बाहर निकल जाती है और फिर उसे हम काम में नहीं ला सकते। वह कहीं दूर नहीं चली जाती। यह सारा जगत सामर्थ्य का विशाल महासागर है जिस में से अत्यन्त सूक्ष्म अंश हम लोगों को मिल सकता है और हम जब उस से काम ले लेते हैं तब वह उसी अनंत महासागर में विलीन हो जाता है और फिर हमें नहीं मिल सकता। हम लोहे को तपाकर सफेद कर दें और फिर उसे ज्यों-का-त्यों छोड़ दें तो धीरे-धीरे उस की आंच निकलती जायगी और अन्त में वह उसी तापक्रम को पहुंच जायगा जिस पर उस के चारों ओर की चीजें हैं। यह गरमी, यह ताकत भी ताकत के उसी अनंत महासागर में मिल गयी, और वह हमारे लिए अप्राप्य हो गयी। परन्तु इन सब बातों से यह भी स्पष्ट है कि सामर्थ्य सब जगह बराबर नहीं है, बल्कि जैसे पानी ऊपर से नीचे की ओर बहता रहता है उसी तरह सामर्थ्य भी बहता रहता है। यदि सामर्थ्य की मात्रा इस विश्व में सभी वस्तुओं में बराबर होती अथवा सब वस्तुओं में गरमी समान होती, तापक्रम एक-सा होता, तो हम गरमी का कुछ भी अनुभव न करते क्योंकि गरमी तो आखिर एक पदार्थ के ठण्डे और दूसरे के गरम होने से ही मालूम होती है।

गरमी बराबर वस्तुओं में से निकल-निकलकर विश्व के अनन्त देश में समाती जाती है और अप्राप्य होती जाती है। इस तरह हो सकता है कि किसी सुदूर भविष्य में हमारे जगत का तापक्रम समान हो जाय। इस का यह अर्थ न होगा कि वस्तुओं में सामर्थ्य रह ही न जायगा। जो सामर्थ्य वस्तुओं को धारण किये हुए है वह तो बना रहेगा और साथ ही जितना ताप सब वस्तुओं ने सोखकर अपने में मिला लिया है वह भी कहीं गया नहीं है। परन्तु सब का तापक्रम बराबर होने से अब गरमीवाला सामर्थ्य अप्राप्य है। इस का यह अर्थ है कि सारे संसार में शक्ति के भरे रहते भी संसार का सारा काम बन्द हो जायगा। इसी अवस्था को हमारे हिन्दू शास्त्रों ने प्रलय-काल की "साम्यावस्था" कही है। प्रकृति के गुणों का वैषम्य ही तो सर्ग की रचना करता रहता है। दुनिया का काम चलता रहता है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि ठंढक की एक ऐसी दशा हो सकती है जिस में अणुओं की गति भी बिलकुल रुक जाय। यह ठंढक गलते हुए बरफ से २७३ दर्जा नीचे होती है। इस से अधिक ठण्डक हो नहीं सकती। वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई दिन ऐसा आवेगा जब कि सूर्य का ज्वलन्त पिंड भी ठण्डा होकर गलते हुए बरफ से २७३ अंश नीचे पहुँच जायगा।

परन्तु कोई नहीं जानता कि आगे किसी प्रकार से परमाणुओं में छिपी हुई शक्ति काम में लायी जा सके, अथवा जो सामर्थ्य अप्राप्य हो गया हो उसे किसी विधि से प्राप्त किया जा सके, और इस तरह संसार को परम शून्य ताप तक पहुँचने और नष्ट हो जाने से बचाया जा सके।

बीसवां अध्याय

सापेक्षवाद द्वारा विचार-क्रान्ति

१—गुरुत्वाकर्षण

जो लोग समुद्र के किनारे रहते हैं वह ज्वार-भाटे का तमाशा अकसर देखा करते हैं। यह बड़े अचरज की बातें मालूम होती हैं कि चन्द्रमा जो हम से २ लाख ३८ हजार मील दूर है और सूरज जो ६ करोड़ मील से भी ज्यादा दूर है हमारी धरती पर ऐसा खिंचाव पैदा करे कि समुद्र में लहरें उठने लगें और धरती दोनों ध्रुवों पर चिपटी हो जाय और बीच में उस की तोंद निकलती आवे। परन्तु यह बात आज विज्ञान से सिद्ध मानी जाती है और पहले-पहल न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त के साथ-साथ ज्वार-भाटा के विषय को भी प्रमाणित किया था।

हम धरती के उस भाग पर यदि विचार करें जिस पर प्रशांत महासागर का विस्तार है और यह मान लें कि यही भाग चन्द्रमा के सम्मुख पड़ रहा है तो हम सहज में समझ सकते हैं कि जल के ढीले और चंचल कणों पर चंद्रमा का खिंचाव ऐसा पड़ सकता है कि जल को चबूतरों और टीलों की तरह ऊंचा उठा दे। खिंचाव तो सारी धरती पर पड़ता है परंतु ठोस भाग पर खिंचाव का वह प्रभाव नहीं पड़ सकता जो ढीले और स्वतंत्र जल पर पड़ सकता है। वैज्ञानिकों को तो यह भी अनुमान करने का हेतु है कि धरती के ठोस चिप्पड़ में भी ज्वार-भाटा के तरह की एक गति होती है। परन्तु जल भी सर्वत्र फैला और मिला हुआ है। इस लिये प्रशान्त महासागर के दूसरी ओर इसी तरह का जल का टीला बन जायगा। और यदि पृथ्वी का सारा ऊपरी तल जल की तरह तरल होता तो पृथ्वी के दैनिक चक्कर के साथ-साथ जगदव्यापी जल के दोनों टीले या उभार चौबीस घंटे में जगत् का चक्कर लगाया करते। यह भी सहज में सोचा जा सकता है कि इस प्रकार धरती के किसी भाग में भी समुद्र के जल का दो बार ऊँचे होना अथवा नित्य दो टीलों का उठना ज़रूरी है। ज्वार-भाटे के गुरुत्वाकर्षण वाले सिद्धान्त का यह मोटे-से-मोटा रूप है। परन्तु वास्तव में जो बातें देखी जाती हैं वह बहुत जटिल हैं और यह समस्या इतनी सीधी नहीं है

जितनी यहाँ समझायी गयी है। समुद्रतट का रहनेवाला यह भी प्रायः जानता है कि ऊँची लहरें ठीक उसी समय नहीं उठतीं जिस समय चन्द्रमा मध्याकाश या याम्योत्तर रेखा से गुज़रता है। उनके उठने का समय कई घंटे पहले या पीछे हुआ करता है। परन्तु ज्यौतिषी लोग हिसाब लगाकर बहुत पहले से ऊँची लहरों के उठने का ठीक-ठीक समय बता देते हैं। यद्यपि यहाँ वह हिसाब तो नहीं दिया जा सकता और पूरे सिद्धान्त की व्याख्या नहीं की जा सकती तो भी इतना सहज में समझा जा सकता है कि अकेले चन्द्रमा ही नहीं खींच रहा है, सूर्य्य भी खींचता है। यद्यपि सूर्य का पिंड चन्द्रमा के पिंड से दो करोड़ साठ लाख गुना बड़ा है और इसलिये उसका खिंचाव अधिक होना चाहिये तथापि वह चन्द्रमा से ३८९ गुना अधिक दूरी पर है। इस दूरी के कारण उसका खिंचाव पिंड की इतनी बड़ाई होते हुए भी बहुत कम पड़ जाता है और चद्रंमा का खिंचाव अधिक पास होने के कारण उसके दूने से अधिक मज़बूती का होता है। इसीलिए जब सूर्य और चद्रंमा दोनों मिलकर खींचते हैं तो सबसे ऊँची लहरें उठती हैं। उसे पूर्ण ज्वार-भाटा कहते हैं। और जब एक दूसरे के विरुद्ध खींचते हैं तब छोटी लहरें उठती हैं और उसे "लघु ज्वार-भाटा" कहते हैं। इन के सिवाय कई और कारण भी हो जाते हैं जिनसे विविध स्थानों में विविध प्रकार की लहरें उठती हैं।

हम पहले खंड में यह दिखा चुके हैं कि धरती की रचना के आरम्भिक युग में यह पिंड अत्यन्त वेग से चक्कर लगा रहा था। चक्कर इतना तेज था कि दो तीन घंटे में दिन और रात दोनों हो जाते थे। उस समय इतने वेग से चलने के कारण इस पृथ्वी से अनेक टुकड़ों का टूटकर उड़ने लगना स्वाभाविक है। चद्रंमा उन्हीं में से एक बहुत बड़ा टुकड़ा है जो पहले-पहल पृथ्वी से बिल्कुल रगड़ खाते हुए घूम रहा था। फिर धीरे-धीरे दूर होता गया और उसका चक्कर भी धीमा होता गया। धरती का भी चक्कर तब से बराबर धीमा होता आ रहा है। अब चौबीस घंटे का अहोरात्र है। चन्द्रमा का भी चक्कर ऐसा धीमा हो गया है कि वह प्रायः २९ दिनों में धरती की परिक्रमा पूरी करता है। पृथ्वी के धीमे होने में चन्द्रमा का खिंचाव और उससे उठनेवाली लहरें भी कारण हैं। यह लहरें पृथ्वी के चक्कर मारने में रुकावट डालती है और उसकी गति धीमी करती रहती हैं। पृथ्वी को चद्रंमा और सूर्य के खिंचाव के विरुद्ध इन लहरों को घसीटते हुए चक्कर लगाना पड़ता है, जिससे चक्कर का वेग बराबर कुछ न कुछ घटता जाता है। दो चार हजार वर्ष में तो इसका पता नही लगता, परंतु करोड़ों बरसों में तो इस अत्यन्त थोड़े-थोड़े घटाव का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ जाता है।

२—सापेक्षवाद का त्रपात

गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत पाश्चात्य देशों में न्यूटन के समय से माना जाता है और भारतवर्ष में उस के समय के कई सौ वर्ष पूर्व से अब तक ज्यौतिष शास्त्र की जटिल से जटिल गुत्थियों को इसी सिद्धांत से सुलझाया गया है। परंतु जर्मनी के प्रसिद्ध गणिताचार्य आलबर्ट ऐंस्टैन ने अपने नये सिद्धान्तों से विज्ञान का एक दम कायापलट कर दिया है। उनकी यह धारणा है कि गुरुत्वाकर्षण कोई शक्ति या बल या सामर्थ्य नहीं है। यह केवल "देश" का एक गुण

या स्वभाव है। उनकी यह भी धारणा है कि प्रकाश भारवान् वस्तु है और उसके परमाणु या कण विशेष मात्राओं में नापे या तोले जा सकते हैं। और उनकी यह भी धारणा है कि प्रकाश की लहरों की गति मानने के लिये जो आकाशतत्त्व मान लिया गया है उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। उन्होंने काल को एक चौथी दिशा या चौथा परिमाण माना है और गणित विज्ञान से अपनी इन धारणाओं के द्वारा प्रायः सभी नियमों को स्थापित कर दिया है और अनेक त्रुटियों को भी सुधार दिया है। यह सारे क्रान्तिकारी विचार ऐंस्टैन के सापेक्ष वाद के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं और इनसे वैज्ञानिक संसार में बड़ा उथल-पथल मच गया है।

एक सफ़ेद कागज़ के तख्ते पर एक फ़ुट लम्बी सीधी लकीर एक सेकंड में एक पेन्सिल से हम खींचते हैं। हम समझते हैं कि यह बिल्कुल सीधी है और हमने इसे एक सेकन्ड में सादे कागज पर खींचा है। परन्तु मान लो कि सूर्य्य के पिंड में रहनेवाला कोई प्राणी हमारी इस क्रिया को देख सकता है। उसने क्या देखा ? कि हाथ में पकड़ी हुई पेन्सिल केवल एक फुट नहीं दौड़ी बल्कि पृथ्वी के धुरे पर वाले चक्कर के साथ एक बहुत लम्बी परन्तु झुकी हुई लकीर बन गयी। परन्तु इतनी ही बात नहीं हुई। धरती जो सूरज के चारों ओर चक्कर लगा रही है उसके साथ-साथ पेन्सिल लिये हाथ घूम गया है। और जहाँ केवल एक फुट लम्बी सीधी लकीर हम देखते हैं वहाँ सूर्य के पिंड वाले पुरुष के देखने में अन्तरिक्ष देश में पूरे चालीस मील वक्र या झुकी हुई लकीर दिखाई पड़ती है। अब जो कुछ उसने देखा वह ठीक है या जो हमने देखा वह ठीक है ? ठीक दोनों ही हैं। हम बिलकुल पास से देखते हैं और धरती के साथ दोनों तरह का चक्कर लगाते हुए देखते हैं। परंतु सूर्य के पिंडवाला दर्शक धरती के चक्करों के बाहर से और नौ करोड़ मील से भी अधिक दूरी से देखता है। दोनों अपने हिसाब से ठीक देखते हैं और दोनों की दृष्टि अपनी-अपनी परि-स्थिति से सापेक्ष है। गति और दिशा सदा देखनेवाले की स्थिति पर निर्भर है। किसी वस्तु को हम चलती हुई इसी लिये समझते हैं कि वह किसी दूसरी वस्तु से अधिक पास या दूर हो जाती है। अगर दूसरी वस्तु न हो तो पहली वस्तु को चल या अचल कुछ भी नहीं कह सकते। इसलिये गति का विचार सापेक्ष है। कभी-कभी दो रेलगाड़ियाँ एक ही दिशा में चलती हैं और हम तेज गाड़ी में बैठे होते हैं तो देखते हैं कि दूसरी गाड़ी मन्द गति से पीछे की ओर जा रही है। परंतु बाहरवाला यही देखता है कि एक गाड़ी दूसरे के साथ चली जा रही है। देखना दोनों का ठीक है और दोनों का विचार अपनी स्थिति से सापेक्ष है। इस तरह गति और दिशा देखनेवाले के लिये सापेक्ष हैं।

हम रेलगाड़ी में बैठे हुए हैं और सारी खिड़कियाँ बन्द हैं। गाड़ी बहुत तेज चली जा रही है, मगर रास्ता सीधा है और वेग समान है, गाड़ी हिल नहीं रही है। ऐसी दशा में यह पता नहीं लगता कि गाड़ी चल रही है या नहीं। जब तक गाड़ी से बाहर की किसी चीज से हम मिलान न करें तब तक न गति का पता लग सकता है, न दिशा का। खिड़की खोल दी और दूसरी गाड़ी गुजरती हुई देख पड़ती है तो यह कहना मुश्किल होता है कि वस्तुतः हमारी गाड़ी चल रही है या दूसरी अथवा कौन सी गाड़ी खड़ी है या कौन हमारे साथ या हमारे

विपरीत दिशा में दौड़ रही है। सापेक्षवाद देखनेवाले की स्थिति के अनुसार विचार करनेकी विधि है। हमने यह छोटे-छोटे उदाहरण विचार के ढंग को दिखाने के लिये दिये हैं। वस्तुतः ऐंस्टैन के विचार बड़े गम्भीर और दुरुह हैं।

भारतीय वेदान्तवालों के निकट देश, काल और वस्तु का विचार नया नहीं है। इन्हीं पर ऐंस्टैन ने भी विचार किया है। उनका कहना है कि देश की कल्पना भी सापेक्ष है। देश में अगर कोई वस्तु न रह जाय तो नितान्त शून्य देश हमारे विचार में आ नहीं सकता। देश में वस्तुओं की कल्पना ही हमें देश का भान कराती है। अगर हमारा सारा दृश्य जगत् दबकर नारंगी सा छोटा हो जाय तो उसके भीतर की सारी चीजें उसी अनुपात से छोटी हो जायँगी। फल यह होगा कि सूर्य्य की दूरी तब भी हम से ९।। करोड़ मील ही रहेगी। इसलिये बड़ाई छोटाई या परिमाण भी सापेक्ष है।

अगर कभी कोई घटना न हो तो समय कहाँ रह जाय? उस का पता कैसे लगे? जिस तरह गज और हाथ से हम दूरी नापते हैं उसी तरह घड़ी की सुई की चाल से हम समय नापते हैं। वस्तुतः देश क्या है, कितना है, या काल क्या है, कितना है, इसका कोई पता हम को नहीं है। यह सोच लेना कि दो घटनाओं के बीच में जितना समय या जितनी दूरी लगती है सदा बराबर ही होती है, भारी भूल है। हर देखनेवाला अपनी तरह पर विचार करता है। हर एक का अन्दाजा अलग अलग होता है। समय के लिये हम नपना क्या बनाते हैं? वह तो किसी वस्तु की एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक गति मात्र है चाहे वह वस्तु एक सुई हो या एक ग्रह।

परंतु यह गति और देश तो सचमुच कोई वस्तु नहीं है बल्कि देखनेवाले की सापेक्ष दृष्टिमात्र है। यदि किसी अज्ञात शक्ति के सहारे इस दृश्य जगत् की सारी घटनाएँ एक हजार गुना अधिक धीमी हो जायँ तो क्या होगा? घड़ियां जितनी देर में पांच हजार मिनिट की दूरी तय करेंगी या जितनी देर में हम एक हजार बार सांस लेते उतनी देर में एक बार सांस लेंगे। दिन, रात, महीने, ऋतु पौधों का अंकुर निकलना और बढ़ना जीव-जन्तुओं की सारी क्रियाएं, जीवन-मरण, सब कुछ एक हजार गुना ज्यादा सुस्त हो जायगा। हमारा जीवन एक हजार गुना अधिक लम्बा हो जायगा? यह सब होते हुए भी किसी को रत्ती भर यह पता न लगेगा कि समय में कुछ भी हेर-फेर हुआ है। * ऐंस्टैन ने यह प्रमाणित कर दिया है कि देश और काल सब सापेक्ष है और असल में यह गुणमात्र हैं जिन का हम वस्तुओं पर आरोप करते हैं। ऐंस्टैन यह भी कहता है कि किसी पदार्थ की लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई, और देखने में वह जितने देश में असाया हुआ है वह सब देश, उस पदार्थ के वेग पर निर्भर है। किसी वस्तु का रूप और उस की बड़ाई-छोटाई उस की गति की दिशा पर और वेग पर निर्भर है। यह सब बातें एक सापेक्षताके विचार पर निर्भर हैं।

---

* "मास दिवसकर दिवस भा मरमु न जानइ कोइ" रामचरितमानस के इस दोहे की गुत्थी ऐन्स्टैन के सापेक्षवाद से ख़ूब सुलझ सकती है।

३—गुरुत्वाकर्षण पर नया विचार

ऐंस्टैन का विचार है कि गुरुत्वाकर्षण कोई शक्ति या बल नहीं है। यह केवल देश का एक गुण है। इसे समझने के लिये कल्पना कीजिये कि आकाश के किसी सुदूर अन्तरिक्ष देश में किसी स्वतंत्र तारे की तरह आप का कमरा अकेला निश्चल शून्य देशों में स्थिर है, उस के भीतर आप बैठे हुए हैं, तो वहाँ आपके शरीर में कोई भी भार नहीं हो सकता। आपके पाँव नीचे धरती को नहीं दबावेंगे और अगर आप एक गेंद छत की ओर फेंकें तो वह छत में जाकर रुक जायगा और वहीं रह जायगा। एक भारी चीज कमानी-वाले काँटे पर लगा दीजिये तो भी कमानी नहीं खींचेगी क्योंकि खिंचने के लिये उस में बोझा नहीं है। अब यह मान लीजिए कि आप का कमरा उस देश में ठीक वैसे ही बढ़ते हुए वेग से चलने लगा जिस बढ़ते हुए वेग से धरती पर कोई चीज गिरती है। अब क्या होगा? उस कमरे का फर्श आप के पाँवों को ऊपर की तरफ दबाने लगेगा और गेंद को पकड़ लेगा परंतु यह पकड़ना ऐसा मालूम होगा कि गेंद गिर गया है। अब काँटा जो ऊपर की तरफ लगाया हुआ है ठीक ठीक तौलने लगेगा। कोई ऐसा प्रयोग नहीं है जिसे आप करके जान सकें कि आप का कमरा निरंतर बढ़ते हुए वेग से दौड़ रहा है या स्थिर है और सब चीजों को अपनी ओर खींच रहा है। आपको तो यही ख्याल होगा कि कमरे में आकर्षण शक्ति है। परंतु आप की यह भारी भूल हो सकती है। इसी तरह पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के सम्बन्ध में भी हमारी ऐसी ही भूल हो सकती है। इस प्रकार के सापेक्ष विचार से इस में तो सन्देह नहीं रह जाता कि गुरुत्वाकर्षण के समझने की और भी विधियां हो सकती हैं।

न्यूटन ने पेड़ से सेब गिरते देखा तो समझा कि धरती उसे खींचती है। ऐंस्टैन कहता है कि सेब इसलिए गिरता है कि जहाँ कहीं पदार्थ होता है वहां स्वयं देश ही वक्र हो जाता है। एक बहुत थोड़े नतोदर दर्पण में कहीं सीधी रेखाएँ नहीं होतीं और उस पर कोई चीज चलायी भी जाय तो वक्र रेखा में ही चलेगी। एक नतोदर कमरे के ठीक बीचो-बीच एक तकिया पड़ा हुआ है। उस कमरे में भीत के पास जिस ही ओर गोली फेंको, वह लौटकर तकिये के पास आ जाती है। देखने में ऐसा मालूम होगा कि तकिया हर तरफ से गोली को खींच लाता है। परंतु असल बात यह है कि कमरे का फर्श कुछ नतोदर है जैसे एक चिलमची। इसी से गोली तकिये के पास चली आती है। वास्तव में तकिया से उस से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी तरह देशमात्र वक्र है और इसीलिये जितनी चीजें देश के भीतर चल रही हैं सब की ही वक्र गति है। यहाँ तक कि प्रकाश भी वक्र गति से चलता है। इस भौतिक संसार में जो कुछ हमारे जानने में आता है, देश काल वस्तु से मिलकर बना हुआ है। यह तीनों एक ही सत्ता के तीन पहलू हैं। वस्तुमात्रा देश काल के भीतर चल रही है, भरसक सीधे ही रेखा में चलती है, परन्तु वक्रता को क्या करे। देश और काल में एक साथ ही स्थिति-परिवर्त्तन मात्र गति है। जितनी ही अधिक वस्तु की सत्ता होती है उतनी ही अधिक वक्रता देश में आती है। देश काल के भीतर वस्तु-सत्ता के होने से वक्रता के बढ़ जाने का ही नाम गुरुत्वाकर्षण है। पृथ्वी सूर्य के चारों ओर दीर्घवृत्त

मार्ग में घूमती है, इसलिये नहीं कि सूर्य उसे इस प्रकार खींच रहा है बल्कि इसलिये कि सूर्य के महापिंड के होने से देश काल में वक्रता बढ़ गयी है। इसीलिए देश के भीतर गति करने
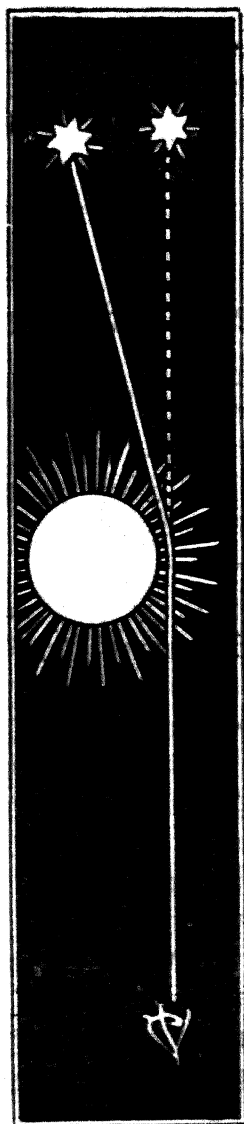
चित्र १२१—"सूर्य के ठीक पीछे रहनेवाले तारे का प्रकाश उस के पास से झुककर हमारी आँखों तक पहुँचेगा", यह बात ग्रहण के समय प्रत्यक्ष हो गयी।

ज्यार्ज न्यून्स की अनुमति से] [टामसन से

हुए भूपिंड के लिये चलने का सबसे निकट का और सीधा मार्ग दीर्घवृत्ताकार है। इसलिये गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त की कोई आवश्यकता नहीं है। असल बात यह है कि वस्तुकी अधिकता से देश की वक्रता बढ़ जाती है। सूर्य के ठीक पीछे रहनेवाले तारे का प्रकाश उस के पास से झुककर हमारी आँखों तक ठीक उसी तरह पहुँचेगा जैसे कि रेलगाड़ी कभी-कभी घूमकर आया करती है। यह बात पूर्ण ग्रहण के समय आँखों से देखी जा सकती है और फोटो ली जा सकती है। इस तरह तारा अपनी सच्ची जगह से हटा हुआ जान पड़ेगा। लगभग पन्द्रह बरस के हुए कि ग्रहण के समय में ठीक यही बात देखी गयी और ऐन्स्टैन ने पहले से हिसाब निकालकर तारे की जो स्थिति बतायी थी वह भविष्यवाद बिल्कुल ठीक निकला।

निष्कर्ष यह निकला कि गुरुत्वाकर्षण देश का एक गुण या धर्म्म है और वस्तु की कोई शक्ति नहीं है।

४—वक्रता की समस्या

प्राचीन उकलैदस के रेखागणित का यह सिद्धान्त है, कि जिस रेखा के एक अंतिम विन्दु की सीध में दूसरे अंतिम विन्दु को इस तरह पर रख सकें कि पहले विन्दु के पीछे दूसरा इस तरह पर छिप जाय कि सारी रेखा अदृश्य होकर एक विंदु ही दिखाई पड़े तो वह रेखा सीधी रेखा होगी।* यह परिभाषा स्पष्ट ही इस बात पर अवलम्बित है कि प्रकाश की किरण सीधी ही रेखा में चलती है। परंतु अभी हम देख चुके हैं कि प्रकाश का भी सीधी रेखा में चलना आवश्यक नहीं है। इसलिये जिसे रेखागणित में सीधी रेखा कहते हैं वह शुद्ध कल्पना है क्योंकि जब देश का एक गुण ही वक्रता है तब सीधी रेखा वास्तव में कभी हो नहीं सकती। यह विषय बहुत कठिन है। परंतु हम कोशिश करेंगे कि पाठकों को भरसक कुछ समझ में आ जाय।

हम वस्तुओं के तीन परिमाण जानते हैं और उसी के भीतर हमारा जीवन है। यह तीन परिमाण हैं लम्बाई, चौड़ाई, और मोटाई। जितनी वस्तुएँ हैं सब में यह तीन बातें जरूर पायी जाती हैं। परंतु थोड़ी देर के लिये मान लो कि कुछ ऐसे प्राणी हैं जिन के शरीर में लम्बाई और चौड़ाई तो है परंतु मोटाई नहीं है। उन्हें मोटाई की खबर भी नहीं है। उन की दुनिया में लंबाई और चौड़ाई यही दो चीजें हो सकती हैं। न तो वह ऊँचाई या गहराई का पता रखते हैं और न वह एक रेखा को लांघ कर दूसरी रेखा तक पहुँच सकते हैं। क्योंकि लांघने में ऊँचाई का पता होना जरूरी है। वह सीधे चल सकते हैं। परंतु जहाँ उन्हें रेखा मिलेगी वहाँ उन की गति रुक जायगी। वह अवश्य ही सीधी रेखा के सिवाय कुछ नहीं जानते। वह समानांतर रेखा खींच सकते हैं और अवश्य ही उन के निकट दो विंदुओं के बीच में सब से छोटी रेखा ऋजु रेखा ही होगी और ऐसी रेखा इन्हीं दो विंदुओं के

---

* उकलैदस के अरबी संस्करण का अनुवाद जयपुर के सम्राट जगन्नाथ ने संस्कृत में किया है। उस में ऋजुरेखा की यही परिभाषा दी गयी है।

बीच में एक ही हो सकती है। अब ऐसे ही किसी प्राणी को ठीक चपटे तल से उठाकर एक गोले के ऊपर रख दो। इस गोले पर अब वह प्राणी सीधी रेखा में रेंगेगा और सीधे बराबर चलेगा तो जहाँ से चला था वहीं लौट आवेगा। कागज के चपटे तल पर उस की रेखा अनंत होती है और वह कभी जहाँ से चला था वहाँ लौट नहीं सकता। उस की समझ में गोले पर की रेखाएँ भी बिल्कुल सीधी ही होंगी। परन्तु वह ऐसी समानान्तर कई सीधी रेखाएँ बना सकेगा जो दो विन्दुओं के बीच में होंगी और जो नाप में सब से छोटी रेखाएं समझी जायँगी। आज कल के रेखागणित में यह परिभाषा दी हुई है कि दो विंदुओं के बीच में सब से कम दूरी ऋजु रेखा की होती है और इस प्रकार की रेखा एक ही हो सकती है। परंतु इस प्राणी को यह पता चलेगा कि दो विन्दुओं के बीच में सब से कम दूरी रखनेवाली अनन्त रेखाएं हो सकती हैं और उसके निकट सब की सब रेखाएं बिल्कुल सीधी होंगी। चिपटे तल पर केवल दो ऋजु रेखाओं से देश का कोई भाग बंद नहीं हो सकता था। परंतु गोले के ऊपर उस प्राणी को यह प्रतीत होगा कि दो रेखाओं से देश का एक भाग बिल्कुल घिर जाता है। अब हम उन्हीं प्राणियों की स्थिति में अपने को रख कर देखें तो हम को ज्ञान पड़ेगा कि धरती की अक्षांश और देशान्तर रेखाएं वस्तुतः वक्र होते हुए भी हमारे लिये क्यों बिल्कुल सीधी हैं और सीधी रेखा अगर अनन्त देश तक बराबर बढ़ायी जाय तो क्यों अपने पहले विन्दु पर आकर मिल जायगी। यदि वह कल्पित प्राणी रेखागणित ठीक-ठीक जानते हैं तो जरूर यह कहेंगे कि हमारा देश अवश्य ही वक्र है और वक्रता के कारण ही यह सब बातें होती हैं। साथ ही वह इस वक्रता को ठीक-ठीक नाप भी लेंगे। ऐंस्टैन का कहना है कि देश के सम्बन्ध में हमारे ठीक विचार भी इसी तरह के होंगे। इस देश में वक्रता प्रधान गुण है। इसी के कारण पदार्थ-मात्र वक्र या गोलाकार होकर निरंतर वक्र ही गति करता रहता है। वक्रगति होने से गति का मार्ग अनन्त नहीं है, सान्त है। हमारा देश हमारे लिये अनन्त नहीं है, सान्त है। हम निरन्तर सीध में एक ही ओर चले जायँ तो जहाँ से चले थे वहीं फिर पहुँच जायँगे। पृथ्वी आदि ग्रह, चंद्रमा आदि उपग्रह, नक्षत्र और तारे सभी पिंड अपने-अपने सान्त देश में निरन्तर चक्कर लगाते रहते हैं। इनमें से किसी का देश अनन्त नहीं है। परन्तु प्रत्येक की गति सान्त देश में होते हुए भी देश स्वयम् सीमारहित है और अनन्त है। यह वक्र ठीक गोलाकार नहीं है। अंडाकार होने की इसमें अधिक प्रवृत्ति देख पड़ती है। एक तारे से प्रकाश की किरण चलती है तो सारे विश्व में घूमकर फिर उसी तारे तक पहुँच जाती है। यदि हम सीधे न चल कर इधर-उधर भटक के चलते रहें कि देश की सीमा का पता लग सके तो हम निराश होंगे कि कहीं उसका अन्त न मिलेगा, परन्तु यदि हम सीधे किसी दिशा को चलते जायँ तो फिर अन्त में वहीं पहुँच जायँगे जहाँ से चले थे। इस तरह देश तो अनंत है परंतु वह अंडाकार है या वक्र है। इसलिये हमारा या किसी पिंड का मार्ग अनंत नहीं हो सकता।

५—सापेक्षवाद और देश-काल-वस्तु की एकता

मान लो कि कोई देवदूत जो शुद्ध बुद्धि रखनेवाला किसी दूसरी सृष्टि का प्राणी है,

एकाएकी इस जगत् में आ गया और एक बाग में होश में आकर उसने आँखें खोलीं। उसे इस सृष्टि का बिल्कुल पता नहीं है। वह आँख खोलते ही देखता है कि सामने कुछ दूरी पर एक सुंदर गुलाब का फूल है जिस पर एक भौंरा बैठा हुआ है। देखने में उसे भौंरा फूल और पेड़ एक ही जान पड़ता है। उसे मालूम नहीं है कि भौंरा और फूल अलग अलग चीजें हैं। वह अपने को फूल से दूर, फूल को वहां और अपने को यहाँ पाता है। थोड़ी देर बाद भौंरा जब उस पर से उड़ता है और देवदूत के अंग पर बैठ कर काटता है, उस समय देवदूत को यह पता लगता है कि पहले फूल और काला भौंरा एक चीज थी, अब दो चीजें हो गयीं। इस तरह यहाँ वहाँ से देश, और तब और अब से काल का विचार पैदा हुआ। परंतु देवदूत ने यह देखा कि भौंरा वही है जो फूल पर बैठा था। इसलिये उसे यह पता चला कि भौंरा ऐसी वस्तु है जो देश और काल दोनों में बराबर रहता है। अर्थात् देश के भिन्न-भिन्न अंगों में और काल के भिन्न-भिन्न अंशों में मौजूद रहता है। इस प्रकार देवदूत ने देखी तो एक ही घटना, एक ही बात अर्थात् वस्तु का बराबर बना रहना,—वस्तु की सत्ता,—और इसी वस्तु की सत्ता को उसने तीन नाम दिये, वस्तु, उसका देश में होना, उसका काल में होना। उसने जिस के तीन विभाग किये वह वास्तव में एक ही है। इस एक का विस्तार चार दिशाओं में है। लम्बाई, चौड़ाई और मोटाई यह तीन दिशाएँ तो देश की हैं और चौथी दिशा सत्ता अर्थात् बराबर बना रहना यह काल की दिशा है। देश की तीन दिशाओं का तो हम को इसलिये अनुभव है कि हम देश की तीनों दिशाओं में रहते और चलते फिरते हैं,परंतु काल की एकही दिशा का ज्ञान इसलिये है कि जन्म से मरण तक हमारी चेतना काल की एक ही दिशा में निरंतर चलती रहती है। जिस तरह दो ही दिशाओं का ज्ञान रखनेवाला प्राणी, जिस का उदाहरण हमने पिछले प्रकरण में दिया है, ऊँचाई या गहराई या नीचाई की कल्पना नहीं कर सकता, उसी तरह काल की और दिशाओं की कल्पना हम नहीं कर सकते। देश और काल वस्तु की सत्ता के दो पहलू हैं जो उससे कभी अलग नहीं हो सकते। जो घटना होती है वह किसी देश और काल के भीतर ही होती है।

परंतु सब से बड़े महत्व की बात जो ऐन्स्टैन ने ढूंढ़ निकाली वह यह है कि हर दो अनुभव करनेवाले के लिए,—यदि दोनों अनुभव करनेवालों की स्थिति भिन्न-भिन्न है—दो घटनाओं में जो देश और काल का अन्तर लगता है वह एक ही नहीं होता। मान लो कि दौड़ की बाजी का निर्णय करनेवाले दो तरह के हैं। एक तो फीते के पास खड़े हैं और दूसरे विमान में घंटा पीछे सौ मील के हिसाब से आकाश में उड़ रहे हैं। दोनों की घड़ियाँ बिल्कुल ठीक मिली हुई हैं। विमानवालों के पास बड़ी अच्छी दूरबीनें हैं। एक आदमी दौड़कर फीते के पास पहुँच जाता है। उस जगह खड़े निर्णायक एक स्वर से कहते हैं कि सौ गज की दौड़ ग्यारह सेकंड में हुई परंतु विमान पर बैठे हुए निर्णायक दोनों में से एक में भी सहमत नहीं हो सकते। यह मत-भेद निश्चित है और ठीक-ठीक हिसाब पर अवलंबित है। यद्यपि साधारणतया यही मालूम होता है कि खड़े और उड़ते हुए निर्णायकों के देश आर काल की नाप में अंतर नहीं पड़ सकता। असल बात यह है कि जितना कुछ कि वास्तविक ससार है वह हर देखनेवाले की दृष्टि से देश और काल के मिल जाने से एक विशेष ढंग पर

अनुभूत होता है। देश और काल इस तरह पर परस्पर मिले हुए हैं कि हम विभेद नहीं कर सकते। परंतु अपने सुभीते के लिए अपनी-अपनी दृष्टि से देश और काल का अन्तर निकाल लिया करते हैं। परंतु यह आवश्यक नहीं है कि हर आदमी सदा एक ही तरह से देश और काल का भेद किया करे। जिस तरह एक ही घटना के संबंध में दो व्यक्तियों की दो भिन्न रायें हुआ करती हैं। उसी तरह से देश और काल के संबंध में आदमी-आदमी में अनुभव का भेद हो सकता है। हमने जो दौड़ की बाजीवाला उदाहरण लिया है उसमें दोनों प्रकार के निर्णायकों में तभी मतभेद हो सकता है जब उनके देखने और नापने के यंत्र साधारण रीति से परम विशुद्ध हों। वास्तविक बात यह है कि हम भूतल के ऊपर जितना वेग हम उत्पन्न कर सकते हैं उस से देश काल के नाप में वह अन्तर नहीं पड़ सकता जिस का हमारे सूक्ष्म-से-सूक्ष्म यंत्रों को पता लग सके। देश और काल के नाप में अन्तर पड़ने के लिये हमें हजारों मील प्रति सेकंड का वेग चाहिये। सूर्य के चारों ओर पृथ्वी घंटे में ७० हजार मील चलती है। यदि विमानवाले निर्णायकों की गति भी इसी वेग की होती तो स्थल पर खड़े निर्णायक की घड़ी दिन भर में केवल १।२६०० सेकंड सुस्त होती और एक फुट रूल केवल इंच का पौने दो करोड़वां अंश कम जान पड़ता। परन्तु यदि इससे भी अधिक वेग से विमान चल सकते,मान लो कि एक सेकंड में १,६१,००० मील चलते तो घड़ी बारह घंटे सुस्त हो जाती और फुट रूलर ६ इंच का लगता। और अगर एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकंड चलते तो घड़ी तो बिल्कुल बन्द दीखती और फुटरूल लापता हो जाता। यह प्रकाश का वेग है। इस से अधिक वेग की कल्पना असंभव समझी जाती है। देश और काल की अलग-अलग सत्ता तो कल्पना-मात्र है परंतु दोनों को एक में मिली हुई दशा में मानने को तो सभी तैय्यार हैं। चाहे जो हो संमिलित देश-काल को भिन्न भिन्न विधियों से अलगाने में मतभेद हो सकता है, परंतु एक में समझने में मतभेद नहीं है।

ऐंस्टैन का सापेक्षवाद केवल दार्शनिक कल्पना नहीं है। वह वैज्ञानिक प्रयोगों पर अवलम्बित है और गणित द्वारा सिद्ध किया गया है। रेलगाड़ी अगर ठहरी हुई है और एक चिड़िया उसकी लम्बाई भर एक सिरे से दूसरे सिरे तक उड़ जाती है तो एक निश्चित समय लगाती है। यदि गाड़ी चल रही हो और चिड़िया की ओर आती हो तो बहुत कम समय लगेगा। यदि चिड़िया से गाड़ी दूर भाग रही हो तो चिड़िया को ज्यादा समय लगेगा। माइकेल्सन और मोर्लेने इसी तरह का प्रयोग प्रकाश के वेग के सम्बन्ध में किया। परन्तु वेग समान ही पाया। यह रहस्य समझ में नहीं आया। परन्तु ऐन्स्टैन के सापेक्षवाद से इसकी पूरी व्याख्या मिल जाती है। हम गाड़ी से ही उड़ने की दूरी और समय नाप रहे हैं परन्तु देश और काल की नाप हमारी गति के अनुसार बदलता रहता है और ठीक उतना ही बदलता है जिस से कि लेखे की कमी बेशी ठीक पूरी हो जाती है। और हर हालत में प्रकाश का वेग नाप में एक सा ही ठहरता है। गाड़ी चाहे कितनी ही तेज़ जा रही हो। गाड़ी की तेज़ी जो अधिक से अधिक हो सकती है वह प्रकाश के वेग के सामने नगण्य है।

सापेक्षवाद और भी विचित्र बात बताता है, पदार्थ का कोई पिंड जितने ही अधिक वेगसे चलेगा उतना ही उसका भार बढ़ेगा। साधारण वेगों पर यह बात नहीं मालूम

होती। पृथ्वी की गति अर्थात् ६७००० मील प्रति घंटा वेग पर आध सेर में केवल बीस करोड़वां अंश बढ़ेगा। परन्तु प्रति सेकंड १,६१,००० मील के वेग पर आधसेर की चीज सेर भर के वजन की हो जायगी और प्रकाश के वेग पर तो उसके वज़न का कोई ठिकाना ही नहीं है। इसी से जान पड़ता है कि प्रकाश का वेग अन्तिम है। ऋणोद किरणें और रश्मिम से निकलनेवाले कुछ कण लगभग प्रकाश के वेग से मिलते जुलते वेग रखते हैं। इनके भार में जो वृद्धि होती है वह निकाली जा सकती है जिससे कि सापेक्षवाद का समर्थन होता है। ऐन्स्टैन ने सापेक्षवाद का वर्णन पहले-पहल संवत् १९६२ वि० में किया था। तब से अब तक की अवधि में सापेक्षवाद की कड़ी-से-कड़ी जांच हुई है और वह ठीक उतरा। सूर्य के सब से निकटवर्त्ती ग्रह बुध की गति में जो विशेषताएं थीं, न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से उनकी व्याख्या नहीं हो सकती थी। ऐन्स्टैन ने यह कहा कि जहां वस्तु की जितनी ही अधिकता होती है वहाँ देश में उतना ही अधिक मरोड़ या वक्रता आ जाती है। इसी से बुध में भी गति की अधिक वक्रता है, जिसका हिसाब ठीक ठीक मिल जाता है। प्रकाश की वक्रता के सम्बन्ध में जो सूर्य से पास से चलने में हो जाती है हम पहले कह चुके हैं।

सापेक्षवाद से यह सिद्ध होता है कि विश्व में कोई परम सत्ता है जिसके सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता, अर्थात् जो मन और वाणी से परे है। इसी परम सत्ता के किसी एक विशेष रूप को मनने गोचर कर लिया है जिस को वह " वस्तु " कहता है और जिस की सत्ता के लिये वह देश और काल रूपी दो विभाग बना लेता है। इस अर्थ में सारा पदार्थमय संसार मन की ही सृष्टि मालूम होती है।

छठा खंड

रसायन विज्ञान

इक्कीसवां अध्याय

रसायन के चमत्कार

१—विश्व की सूक्ष्म ईंटों की जांच

घर गृहस्थी में हम सैकड़ों तरह की चीज़ें देखते हैं. खाने-पीने की चीज़ों में चावल, दाल, आटा, घी, शकर, मैदा, जलाने के लिये लकड़ी, तेल, पहनने के कपड़े और बैठने-सोने आराम करने के लिये लकड़ी, बांस, रस्सी, नेवाड़ आदि के बने हुए चौकी, मोढ़े, खाट, पलंग, और चीज़ों के रखने के लिये अलमारियाँ खूटियां आदि, जितनी चीज़ें हम गिना सकते हैं सब देखने में तो भिन्न चीज़ें हैं परन्तु रसायन-विज्ञानी से पूछा जाय तो वह हमारे समझने लायक शब्दों में तो कहेगा कि इन सारी चीज़ों में जो तुम गिना गये हो, दो वस्तुएँ प्रधान हैं, कोयला और पानी। मतलब यह कि इन सब चीज़ों में मुख्य रीति से कोयला पानी ही सब से अधिक है। परन्तु विज्ञान की दृष्टि से पानी भी ओषजन और उज्जन, इन दो पदार्थों से बना है। सारांश यह कि जितने पदार्थ हमने गिनाये वह सब-के सब तीन मूल पदार्थों से बने हैं, उज्जन-ओषजन और कोयला या कर्बन, क्योंकि रसायन-विज्ञानवाले जिस मूल पदार्थ का नाम कर्बन देते हैं, वह शुद्ध कोयला ही है। परन्तु जिस धरती पर हम रहते हैं और हमारा घर है वह धरती और हमारे घर की दीवारें ईंट, चूना और पत्थर आदि की बनी हुई चीज़ें उन गिनायी हुई चीज़ों से कुछ भिन्न हैं और इन में अधिक भाग उज्जन ओषजन आदि के सिवाय सिलकन का भी है। रसायन-विज्ञानवालों ने पृथ्वी पर मिलनेवाले सभी पदार्थों की जाँच की है। इतना ही नहीं, जहाँ से रोशनी आती है उन अनन्त दूरी पर से टिम-टिमानेवाले तारों और नीहारिकाओं में कौन-कौन से तत्त्व या मौलिक पदार्थ मौजूद हैं इस बात का भी पता रसायन-विज्ञानियों ने लगाया है और अन्त में यह निष्कर्ष निकाला है कि सारे विश्व में जहाँ तक विज्ञानी के करणों और उपकरणों की पहुँच है, वहाँ तक कुल सत्तासी से लेकर बानबे तक मूल पदार्थ या तत्त्व हैं जिन के संयोग और मिश्रण से विश्व की असंख्य वस्तुएँ, सजीव और निर्जीव, जड़ और चेतन, चर और अचर, सभी बनी

हुई हैं। इस विश्व की बड़ी भारी इमारत में जो ईंटें लगी हुई हैं उन की चर्चा हम पिछले अध्यायों में कर आये हैं। यह विश्व वस्तुतः विद्युत् का बना हुआ है जिस के दो कण विद्युत्करण और प्रकरण हैं। प्रत्येक परमाणु में एक प्रकरण और एक या अनेक विद्युत्करण हैं। और हर एक अणु में एक या अनेक परमाणु हैं और हर एक पदार्थ का छोटे-से-छोटा टुकड़ा असंख्य अणुओं का बना हुआ है। संस्कृत के व्याकरण में माहेश्वर सूत्रों में केवल तैंतालीस अक्षर गिनाये हैं। इन्हीं तैंतालीस से मिलकर असंख्य शब्द बनते हैं और इन्हीं शब्दों से विविध विषयों और विद्याओं पर लिखे हुए बड़े विशाल ग्रन्थ हैं। चारों वेद चारों उपवेद छहों अंग अट्ठाईसों स्मृतियां बारहों दर्शन, अठारहों पुराण, अठारहों उपपुराण अगणित तन्त्र तो धार्मिक साहित्य के हैं। इन के सिवाय रामायण, महाभारत, आदि इतिहास ग्रंथ और चौसठों महाविद्याओं के सम्बन्ध का अपरिमित साहित्य इन्हीं थोड़े से अक्षरों की करामात है। उसी तरह यह सारा विश्व इन्हीं सत्तासी तत्त्वों के मेल से अत्यन्त विविध और असंख्य प्रकार का बना हुआ है। यह अद्भुत अनेकता और विविधता केवल एक पदार्थ से उत्पन्न हुई है और वह पदार्थ विद्युत् है।

धनाणु और ऋणाणु दोनों प्रकार के विद्युत्करण एक से गुण रखते हैं। विद्युत्करणों की भिन्न संख्याएँ भिन्न गुणोंवाले परमाणु बनाती हैं। विविधता का आरम्भ यहीं से होता है। एक ही प्रकार के विद्युत्करणों से बने हुए सत्तासी तत्त्व एक दूसरे से भिन्न गुण रखनेवाले हैं। इन तत्त्वों के भिन्न-भिन्न गुणोंवाले अणुओं के मेल से असंख्य प्रकार के विविध गुण-वाले पदार्थ बने हुए हैं। परन्तु सभी तरह के पदार्थों में यह बात देखी गयी है कि हर एक तीन अवस्थाओं में रह सकता है, घन, द्रव और वायव्य। यह सभी जानते हैं कि जल का ठोस रूप बरफ़ है, द्रव रूप पानी है और वायव्य रूप भाफ है। और यह भी सब को मालूम है कि गरमी पहुँचाने से बरफ़ से पानी और पानी से भाफ बन जाता है और ठंढा करने से भाफ से पानी और पानी से बरफ़ बन जाता है। घन में पदार्थ के अणु अधिक पास-पास होते हैं और बहुत कम वेग से स्पन्दन करते रहते हैं। द्रव में अणु कुछ दूर-दूर रहते हैं और कुछ अधिक वेग से स्पंदन करते हैं। यही वेग और परस्पर की दूरी बढ़ने से घन की स्वाभाविक दृढ़ता बदलकर द्रव की तरलता और बहाव के रूप में दिखाई पड़ती है। वायव्य में अणु अधिक दूर-दूर होते हैं और अधिक वेग से स्पन्दन करते हैं। इसलिये इस में तरलता बढ़ी हुई है और चारों ओर गौंजने का गुण रखती है।

इन सत्तासी मूल पदार्थों के परमाणुओं के मेल से संयुक्त पदार्थ के बनने में समूचे परमाणु ही मिलते हैं। परमाणुओं के टुकड़े नहीं होते, और न टुकड़ों के मेल से संयुक्त पदार्थ ही बनता है। जल का एक अणु दो परमाणु उज्जन और परमाणु ओषजन से मिल कर बनता है। जल कहीं से भी लिया जाय उस के अणु इस तरह बने हुए मिलेंगे। शुद्ध गन्ने की शक्कर के एक अणु में कर्बन के बारह उज्जन के बाइस और ओषजन के ग्यारह परमाणु मिले हुए होते हैं। इसी तरह शुद्ध खड़िया मिट्टी के एक अणु में एक परमाणु खटिकम् एक परमाणु करबन, और तीन परमाणु ओषजन मिले हुए होते हैं। इस से कम या अधिक से खड़िया मिट्टी नहीं बन सकती। इस तरह से अलग-अलग गुण रखने-

वाले पदार्थों के संगठन को हम रासायनिक संयोग कहते हैं। रासायनिक संयोग में जितने पदार्थ मिलते हैं उन का परिमाण निश्चित होता है। साधारण मिश्रण में परिमाण का निश्चित होना ज़रूरी नहीं है। शकर और खड़िया मिट्टी चाहे जिस परिमाण में चूर्ण करके मिला दो मिल जायँगे और पानी में घोलने से शकर घुलकर अलग हो जायगी और खड़िया मिट्टी बेघुली हुई छानकर अलग की जा सकती है। गंधक और तांबा ६३॥ और ३२ के ही अनुपात में आग के सहारे मिलकर तांबे का काला रस बना देंगे। यह न तो किसी और अनुपात में बना हुआ पाया जा सकता है और न अत्यंत तेज़ आंचवाली अथवा किसी अन्य

चित्र १२२—सर एडविन रे लनकेस्टर, जन्म सं० १९०४ वि०

रासायनिक विधि से गंधक को अलगाये बिना तांबा कभी निकल सकता है। यह काला रस और वह खड़िया मिट्टी और शकर और पानी प्रत्येक यौगिक पदार्थ हैं। इन सब को एक में मिलायें तो सब का मिश्रण बन सकता है। मिश्रण किसी अनुपात में बन सकता है परंतु यौगिक के संघटन का अनुपात निश्चित है।

इन तत्वों में एक यह विशेषता है कि यह एक दूसरे से विविध परंतु निश्चित अनुपातों में मिलते हैं और विविध यौगिक बनाते हैं। परंतु आपस में ऐसा कुछ नाता है कि किसी एक का परमाणु दूसरे के परमाणु से बड़ी तेज़ी से मिलता है और किसी-किसी से

आपस में मेल ही नहीं होता। जिन से मेल होता है उन में भी आपस का नाता इस तरह का है कि किसी में मिलने की ताकत कम है और किसी में ज़्यादा। ऐसा मालूम पड़ता है कि मिलने के लिए किसी तत्त्व के परमाणु एक हाथवाले होते हैं तो दूसरे तत्त्व के दो हाथ वाले और तीसरे के तीन हाथवाले, इस प्रकार सात-सात हाथवाले तक परमाणुवाले तत्त्व जाने गये हैं। कभी-कभी दो हाथवाले तत्त्वों में चार और छः हाथों के गुण भी देखे जाते हैं और तीन हाथवालों में पाँच और सात हाथवालों के गुण भी देखे जाते हैं। जैसे, करबन सदा चतुर्भुजी दिखाई पड़ता है। ओषजन द्विभुजी और उज्जन एक भुजी। इस तरह करबन का एक परमाणु उज्जन के चार से मिलकर या ओषजन के दो से मिलकर सन्तुष्ट होता है। इस प्रवृत्ति का नाम संयोग शक्ति है।

अंडमिन या अल्बूमेन में करबन के बहत्तर उज्जन के एक-सौ-बारह नोषजन के अठारह परमाणु और गंधक के एक परमाणु मिलकर उस का एक अणु बनाते हैं। यह वस्तु अंडे में पायी जाती है। प्राणि-मात्र के सेल के कलल रस या प्रोटोप्लाज़्म में प्रत्यमिन करबोदेत और मज्जा का मिश्रण पाया जाता है। इसी से जीवन का आरम्भ होता हैं। कुछ जीव-वैज्ञानिकों का कहना है कि इसी कलल रस में समस्त जीवन का मूल-बीज कोई अणु छिपा हुआ रहता है जिस से जीवन का आरम्भ होता है। सर रे लनकेस्टर ने इस का नाम प्लास्टोजेन या कललजन रखा है। उन का कहना है कि इस अणु का पता अभी तक नहीं लगा है और इस की रचना की व्याख्या नहीं हो सकती।

२—इन ईंटों में जोड़-तोड़

हम जितनी मूल वस्तुएं या तत्त्व देखते हैं, या जानते हैं, उन में से कुछ तो हवाई या वायव्य हैं, जिन के भाँति-भाँति के गुण हैं, जैसे जलनेवाली हवाएं उज्जन आदि, जलानेवाली हवाएं ओषजन आदि और तटस्थ हवाएं नोषजन आदि। कुछ जल की तरह द्रव पदार्थ हैं, जैसे पारा और ब्रम। परन्तु जो घन रूप हैं उन की संख्या अधिक है। अधिकांश तो धातुएं हैं। थोड़ी संख्या अधातुओं की भी है। अधातुएं हैं कर्बन (कोयला), गंधक, सिलकन, स्फुर आदि। धातुओं में सोना, चांदी, तांबा, लोहा, अलुमिनम, प्लाटिनम, जस्ता, रांगा आदि प्रसिद्ध हैं। धरती के जितने चिप्पड़ पर हम रहते हैं और जितने की खुदाई से जांच कर सकते हैं उस का तीन चौथाई भाग ओषजन और सिलकन का बना हुआ है जिस में आधे के लगभग ओषजन है। सारे पिंड में सैकड़ा पीछे निन्नानबे भाग में अट्ठासी में से केवल बीस मौलिक पदार्थ पाये जाते हैं। शेष सभी दुर्लभ धातुएं हैं। यह सब मूल रूप में अलग-अलग तो अत्यन्त कम मिलते हैं। सारा पिंड प्रायः मिश्रणों और संयुक्त पदार्थों का बना हुआ है। यह अनुमान किया जाता है कि धरती के केन्द्र के पास हजारों मील की घनता में सोना आदि अनमोल रत्न या मौलिक पदार्थ होंगे।

चीनी और बालू जैसे मिश्रणों में और चीनी या बालू ही जैसे संयुक्त पदार्थों में बड़ा अन्तर है। पानी में घुलाकर छान लेने से बालू को अलगा सकते हैं। पानी को खौला-

कर उड़ा दें तो चीनी भी मिल सकती है। परन्तु कोयला और पानी के संयोग से चीनी बनी है और पानी स्वयं उज्जन और ओषजन नाम के दो वायव्यों के मिलने से बना है, यह बातें जल्दी समझ में नहीं आतीं। बालू और चीनी का मिश्रण चाहे जितना चाहो जिस परिमाण में चाहो मिला लो। परन्तु चीनी में कोयले और पानी का परिमाण बिल्कुल निश्चित है। घट-बढ़ नहीं सकता। पानी में भी दो आयतन उज्जन से एक आयतन ओषजन का मिला हुआ है। तौल में भी उज्जन का एक भाग और ओषजन के आठ भाग मिलने से ही पानी बनता है। इस से कमोबेश में मिश्रण भले ही बन जाय, परन्तु जल नहीं बन सकता। मिश्रण को तो हम सहज में अलगा सकते हैं पर जल जैसे संयुक्त-पदार्थ को तोड़कर मौलिकों में परिणत कर देना जरा कठिन काम है। फिर भी मिश्रण और यौगिक में भेद समझ लेना कभी-कभी कठिन हो जाता है। जिस वायु में हम सांस लेते हैं उस में सात मौलिक और दो यौगिक वायव्य मिले हुए हैं। परंतु ऐसा जान पड़ता है कि सारा वायु-मंडल एक-रस है। इसी तरह जो जल साधारणतया शुद्ध और निर्म्मल समझा जाता है उस में हवा घुली हुई है और अनेक घन वस्तुएं उस में घुली हुई हैं। पीने लायक पानी में जो ईषत् मिठास है उस का कारण है घुली हुई वायु। विश्लेषण द्वारा भिन्न-भिन्न स्थानों के पेय जलों में भी लवण आदि अनेक वस्तुएँ घुली पायी गयी हैं। सच तो यों है कि जल ऐसा प्रचंड घोलक है कि उस में घुलने से संसार की कोई चीज़ बच नहीं सकती। भाफ से टपकाकर खींचा हुआ शुद्ध जल शुद्ध कांच के बोतल में रखा जाता है तो बोतल को ही घुलाकर अपने को अशुद्ध कर लेता है। ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जिस के बरतन में पानी रखा जाय और उस के एक अंश को घुला न ले।

इस तरह यद्यपि सत्तासी मौलिक पदार्थ और लाखों यौगिक पदार्थ रसायन-विज्ञान ने मालूम किये हैं तो भी कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो परम शुद्ध कहा जा सके। परम शुद्ध पदार्थ तो वस्तुतः मिलना ही असम्भव है। इतने पर भी जहाँ तक शुद्धता हो सकती है वहाँ तक व्यवहार में लाकर वैज्ञानिक इन समस्त पदार्थों का परिशीलन करता है। किसी ने सच ही कहा है कि रसायन विज्ञान के मौलिक और यौगिक सभी पदार्थ काल्पनिक हैं, क्योंकि वास्तविक जगत् में रसायन की एक भी परम विशुद्ध चीज़ नहीं मिलती। रासायनिक अशुद्धताएँ इतनी सूक्ष्म हैं कि साधारण व्यवहार में उन का अभाव ही मान लेना पड़ता है। परंतु वैज्ञानिक सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अशुद्धि का पता लगा सकता है।

यह रासायनिक अशुद्धियाँ अनेक स्थलों में बड़े महत्व के प्रभाव डालती हैं। विवियन का कहना है कि आंजनम का सहस्रांश कण उत्तम-से-उत्तम तांबे को निकम्मा कर डालता है। केल्विन ने लिखा है कि यदि बिस्मथ 'विशदम' का सहस्रांश भी मिल जाय तो तांबा सामुद्रिक तार में लगने लायक नहीं रह जाता। आस्टिन का कहना है कि यदि उत्तम सोने में बिस्मथ का पाँच-सौवां भाग भी मिल जाय तो सोना सिक्का ढालने लायक नहीं रह जाता, तांबे में तड़ित की चालकता नहीं रह जाती और सोना ठप्पे के दबाव से टुकड़े-टुकड़े हो जाता है।

सोडियम (सैन्धकम) और हरिन् इन दो मौलिकों के संयोग से खाने का नमक बना

है। इस का एक अत्यंत छोटा टुकड़ा लेकर छोटे-से-छोटे भाग में विभक्त करो। विभाजन की किसी क्रिया से इस के टुकड़े सैंधकम् और हरिन् में परिणत नहीं हो सकते। छोटे-से-छोटा अन्तिम टुकड़ा नमक का ही होगा जिसे हम अणु कह सकेंगे। इस अणु के दो ही टुकड़े हो सकते हैं, एक होगा सैंधकम का परमाणु और दूसरा होगा हरिन् का परमाणु। नमक की एक छोटी सी डली में अरबों अणु मौजूद हैं, जिनमें से प्रत्येक अणु एक-एक परमाणु सैंधकम् और हरिन् से बना है। मौलिक पदार्थ में अणु उसी एक जाति के परमाणुओं से बने होते है। परन्तु यूरेनियम और थोरियम आदि कुछ ऐसी धातुएँ भी हैं जिन के अणु टूट-टूटकर दूसरी धातुएँ और हीलियम नाम का अधातु मूलक तत्व बनाती रहती है।

३–बिजली और रसायन

जब पानी में बिजली की धारा चलती है तो एक धुरे से उज्जन वायु और दूसरे से ओषजन वायु निकलती है। बात यह है कि जल जिन दो वायव्यों से बना है फटकर उन्हीं में बँट जाता है। यह तो वह बात है जो हम आंखों से देखते हैं परन्तु अनुमान यह किया जाता है कि ओषजन के अणु एक ओर और उज्जन के दूसरी ओर चले जाते हैं। जब तक यह अणु जल में होते हैं तब तक इन के परमाणुओं के समूह वायव्य रूप धारण नहीं किये होते। ऐसा अनुभव किया गया है कि परमाणु जितने ही अधिक भारी होंगे उतनी ही अधिक उन की गति होगी। सोने चाँदी आदि भारी परमाणुओं की गति अधिक होती है। इसी सिद्धान्त पर एक धातु के पदार्थ पर दूसरी धातु बिजली की धारा के द्वारा, चढ़ायी जाती है। तांबे पर चाँदी या सोना इसी विधि से चढ़ाकर बरतनों और जेवरों को रुपहला या सुनहला रूप दे देते हैं। एक बरतन में चाँदी या सोने का (सैनैड) श्यामिद जैसा लवण जल में घुला हुआ रहता है। इस में दो ध्रुवों की जगह एक ध्रुव तो वह धातु की चीज होती है जिस पर सोना या चाँदी चढ़ानी है, और दूसरा ध्रुव सोने या चांदी का पत्तर होता है। जो धातु चढ़ानी है, उसी धातु के पत्तर और घोल दोनों हुआ करते हैं।

हम जितने पदार्थों का अपने चारों ओर अनुभव करते रहते हैं, जल, वायु, मिट्टी, भोजन और पहनने की सामाग्री, घर और घर की सजावट का सामान, लिखने-पढ़ने की सामग्री, यंत्र आदि सभी चीज़ें अपने अपने मूल रूप में रासायनिक परिवर्त्तन के फल हैं और चाहे अत्यंत धीरे-धीरे हो और चाहे वेग से हो बराबर लगातार रासायनिक क्रिया जारी है। हमारे शरीर में स्वयं और हमारे सिवा भी जितने प्राणी हमारे चारों ओर देख पड़ते हैं सब के शरीरों में निरंतर रासायनिक क्रिया जारी है। जलवायु की क्रिया धातु पर होने से मोरचा लग रहा है, हमारे शरीर के भीतर जलवायु और अन्न से बराबर बड़ी ही जटिल और असंख्य क्रियाएं प्रतिक्षण होती रहती हैं। मिट्टी में अनेक क्रियाएँ होती रहती हैं जिन का पता हमें नहीं लगता। इसी तरह इस दृश्य और अदृश्य जगत् में कोई चीज़ ऐसी नहीं है जो थोड़े या बहुत वेग से बराबर परिवर्त्तन न करती जा रही हो।

४—रासायनिक क्रियाएं

इन परिवर्त्तनों का अध्ययन बड़े मनोयोग से किया गया है। प्रत्येक परिवर्त्तन में पूर्व और उत्तर दशाओं का पूरा विवरण रक्खा गया। प्रत्येक सामग्री ठीक-ठीक तौली और नापी गयी, उस की शुद्धता की पूरी जांच कर ली गयी। गरमी और दबाव ठीक-ठीक नाप लिये गये। इस तरह ठीक-ठीक हिसाब लगाकर मौलिकों और यौगिकों के संयोग और वियोग के सारे नियम मालूम कर लिये गये। वह नियम ऐसे ठहरे कि उन के बल से अनेक परिणामों का काम के शुरू में ही विस्तार से जान लिया जाता है। रासायनिक क्रिया इतने धीरे-धीरे होती है कि राई से भी छोटा बीज धीरे-धीरे ही बढ़कर भारी बरगद का पेड़ हो जाता है। लोहे में मोरचा लगकर उसे धीरे-धीरे गला डालता है। हमारे भोजन का पाचन धीरे-धीरे होता है। परंतु रासायनिक क्रिया के वेग भी भिन्न-भिन्न हैं। तोप के भीतर ऐसे वेग की क्रिया होती है कि फूट या फट पड़ती है। पिस्तौल और बन्दूक से तेजी से जो गोली चलती है, रासायनिक क्रिया है। दियासलाई के जलने से लेकर प्राणियों के जीवन के अगणित अनुभव, अनन्त घटनाएँ, सब कुछ रासायनिक क्रियाओं से संबंध रखती हैं। ईंधन जलता है तो लकड़ी के भीतर की सभी चीज़ें जो अधिकांश कर्बन और उज्जन की ही बनी हुई हैं, हवा के ओषजन से मिलकर कर्बन द्वयोषिद वायव्य और जल का वाष्प बनाती हैं। जो अंश पूरी तौर से जल नहीं जाता वह धुआं होकर उड़ता है। धुएँ में अधिकांश शुद्ध कर्बन है। हमारे पेट के भीतर भी जो अन्न जाता है वह भी एक तरह से धीरे-धीरे जलता ही है। वहां भी सांस के द्वारा भीतर जानेवाला ओषजन ही अन्न को जलाता है और अन्न में भी लकड़ी की तरह अधिकांश कर्बन और उज्जन है जिससे कर्बन द्वयोषिद वायव्य और जलवाष्प बनता है। भीतर जानेवाली सांस ओषजन को लेकर भीतर जाती है। ऊपर आनेवाली सांस में नोषजन के साथ ही जलवाष्प और कर्बन-द्वयोषिद बाहर निकल जाया करते हैं। कुछ बे जले अंश भी उस के साथ ही-साथ निकल जाते हैं।

५—वायुमंडल

हम इन चर्चाओं में तीन तरह की वस्तुओं का नाम ले आये। अधिकांश घन या दृढ़ हैं, जैसे कलम, कागज, मिट्टी, धातुएँ, पत्थर काँच आदि कुछ द्रव हैं जैसे जल, दूध, शरबत, शराब, शहद, सिरका आदि जिन में अपनी दृढ़ता या रूप नहीं है, जो अपने पात्रों के अनुरूप रूप ग्रहण करते हैं। कुछ वायव्य हैं जो प्रायः देख नहीं पड़ते परंतु जो अपने होने का प्रमाण बराबर देते रहते हैं। एक काँच के बड़े मर्त्तबान को पानी के ऊपर इस तरह रक्खो कि हवा भरी रहे और उस में तार के एक दीवट पर एक टुकड़ा स्फुर रक्खा हो। स्फुर हवा में अपने-आप जल जाता है। जब इस बन्द हवा में जलकर उस का सफेद धुआं जल में बैठ जाता है तब हम देखते हैं कि पानी कुछ ऊपर चढ़ गया है। और बाकी बची वायु में हम कुछ जलाना चाहें तो वह जला नहीं सकती। इन दोनों वायव्यों को अलग-अलग विविध रीतियों से निकाल कर अच्छी तरह जांचा और परखा गया है। जलानेवाली वायु

ओषजन हैं। न जलानेवाली नोषजन। दोनों में बड़ा भेद है। वायु में ओषजन एक भाग है, नोषजन चार भाग। नोषजन की तरह, बल्कि उस से भी अधिक नितांत अकर्मण्य पांच और मौलिक वायव्य भी इस हमारे वायु मंडल में हैं परंतु उन का परिमाण बहुत कम है। इस वायुमंडल के सिवा अनेक वायव्य खनिजों में सोखे हुए हैं और संयुक्त रूप में भी मौजूद हैं। हम अन्यत्र यह बता आये हैं कि घन से द्रव, द्रव से वायव्य उत्तरोत्तर आंच के बढ़ाने से बनते हैं। इसी तरह अत्यन्त ठंढ से वायव्य से द्रव और द्रव से घन भी बन जाते हैं। इस तरह अदृश्य वायव्य भी दृश्य द्रव और घन बन जा सकते हैं।

ओषजन ही मोरचा लगाकर लोहे को खा जाता है। हमारे सांस का कर्बन-द्वयोषिद् वायव्य चूने के पानी को दूधिया कर देता है। कर्बन-एकोषिद से भरी खानि में चूहे मर जाते हैं। यह वायव्य हलके भी होते हैं भारी भी। उज्जन वायु इतनी हलकी होती है कि गुब्बारे में भरते हैं तो भारी चीज से बना हुआ होने पर भी वह वायु में उड़ जाता है। वायु रूप में भूगर्भ में जो लोहा है वह पानी से पंचगुना भारी आंका जाता है।

हलका भारी सभी तरह का वायव्य अब अत्यंत ठंढ और दबाव से सुकड़कर द्रव और द्रव से घन बन चुका है। जिस वायु के भीतर हम रहते और सांस लेते हैं उसे भी ठंढ और दबाव से द्रव और घन कर दिया गया है। अब तो वायव्य को द्रव बनानेवाले कारखाने खुले हैं जहां फौलाद की भारी और मोटे दल की पेंचदार बोतलों में यह द्रवीभूत वायव्य भरी हुई बिकती है और कई कामों में इस की जरूरत पड़ती है। यह विचित्र बात इसी पिछले सौ बरसों के भीतर व्यवहार-साध्य हो गयी है।

६—एक मौलिक पदार्थ से दूसरे का बनना

परन्तु सब से बड़ा चमत्कार तो रसायन का यह है कि अब एक धातु से दूसरी धातु भी बनने लगी है। पहले के लोग कहते थे कि पारस पत्थर के स्पर्श से लोहे को सोना बनाया जा सकता है। यह बात तो ठीक इसी रूप में अब तक देखने में नहीं आयी है। परन्तु पिछले दस-पन्द्रह बरसों में एक मौलिक पदार्थ से दूसरे मौलिक पदार्थ बनाये गये हैं, और प्रकृति में तो सदा से निरन्तर बनते आये हैं। युरेनियम और थोरियम धातु से निरन्तर विकिरण होता रहता है, विद्युत्कण निकलते रहते हैं, हीलियम वायव्य निकलता रहता है और रेडियम भी बनता रहता है, टूट-टूटकर उस से भी हलकी धातु बनती जाती है। फिर इसी हलकी धातु से और भी अधिक हलकी धातु बनती जाती है। यहां तक कि अन्त में सीसा बनता है। इसी विधि से सोना भी बनाया गया है। ईसा की उन्नीसवीं सदी भर एक धातु से दूसरी धातु का बनना असंभव समझा जाता था। परन्तु अब देखा गया है कि प्रकृति में यही क्रिया निरन्तर होती रहती है और जिन खनिजों में युरेनियम और थोरियम मिलते हैं उन्हीं में रेडियम और सीसा तथा हीलियम वायव्य भी घुले मिलते हैं। प्रोफेसर साडी का कहना है कि खनिज में युरेनियम के प्रत्येक शतांश सीसे का यह अर्थ है कि सीसे में परिणत होने में युरेनियम को आठ करोड़ बरस लगे हैं। यह हो सकता है कि परिणाम के पहले का उस में सीसा मौजूद रहा हो, परन्तु परीक्षा तो खनिज के सैकड़ों नमूनों

से की गयी है और यह निश्चय हो चुका है कि जो सीसा युरेनियम के साथ निकलता है वह उसी से उत्पन्न होता है। हीलियम वायव्य उस के साथ निकलता है। उस के प्रत्येक सीसी के प्रति ग्राम युरेनियम के अनुपात से यह पता लगता है कि नब्बे लाख बरस लगे हैं। यह तो निश्चय है कि हीलियम वायव्य किसी और पदार्थ से नहीं जुड़ता। इस लिये उस का पहले से होना संभव नहीं है। परन्तु इस से ठीक हिसाब इस लिये नहीं हो सकता कि बहुत-कुछ हीलियम वायव्य के रूप में उड़ भी गया होगा। इस लिये नब्बे लाख या एक करोड़ बरस तो बहुत घटी हुई संख्या होगी। इसे ही हम कम-से-कम की कालावधि मान लेंगे। सीसे के हिसाब से जो संख्या मिलती है उसे ऊंची-से-ऊंची मान लेंगे। इस तरह कुछ कर्बन-भरी चट्टानों की आयु पैंतीस करोड़ बरसों के लगभग होगी और सब से प्राचीन चट्टानों की आयु कम-से-कम डेढ़ अरब बरसों के लगभग होगी।

परमाणुओं के टूट-टूटकर विद्युत्कण देते रहने का वर्णन हम अन्यत्र कर चुके हैं। भारी परमाणुओं से इस भूमंडल पर हलके परमाणु बनते हुए हमें प्रतीत होते हैं। मौलिक पदार्थों के संयोग-वियोग से निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं। एक क्षण के लिये भी इस संसार में किसी एक दशा की स्थिरता नहीं है। इसी तरह इस भूतल से अत्यन्त दूर, इस ब्रह्मांड के बाहर विश्व में किसी विशाल विस्तीर्ण आकाश-देश में ताप और चाप की आत्यन्तिक भिन्न परिस्थिति में हलके-हलके परमाणु जुट-जुटकर भारी-भारी परमाणु बनते जाते होंगे और किसी भावी स्थूल ब्रह्मांड को दृढ़ नींव रखते होंगे।

७—प्राणि-शरीर में रासायनिक पदार्थ

अट्ठासी मौलिक पदार्थों में से उन्नीस के लगभग प्राणियों के शरीर में पाये जाते हैं। इन में से बारह तो अत्यन्त कम मिलते हैं। सत्रह अच्छे परिमाण में पाये जाते हैं। उज्जन, कर्बन, ओषजन, नोषजन, स्फुर, गंधक, पांशुजम् (पोटासियम), मगनीसम् खटिकम्, और लोहा, यह दस तो सदा सर्वत्र पाये जाते हैं। और सैंधकम्, (सोडियम्), हरिन्, और सिलकन भी अधिकांश प्राणियों में अवश्य पाये जाते हैं। चुल्लि-ग्रन्थियों में एवं सामुद्रिक वनस्पतियों में नैल (अयोडीन), अधिकांश प्राणियों में चिह्नमात्र की तरह मांगनीज, अति अल्पांश में कुछ प्राणियों में और अधिकांश सामुद्रिक भूरे उद्भिज्जों में अरुणिन (ब्रोमीन), हड्डियों और कुछ उद्भिज्जों में प्रव यह चार भी अधिक पाये जाते हैं। यह सब मिलाकर सत्रह हुए।

यह एक बहुत विलक्षण बात है कि जड़ और चेतन दोनों तरह की वस्तुओं में इन्हीं मूल पदार्थों की अधिकता है। इस बात में जड़ चेतन प्रायः समान हैं। परन्तु प्राणियों के शरीर में सब से अधिक महत्व के उपादान चार हैं, उज्जन, कर्बन, ओषजन और नोषजन। इन के बाद अधिकांश प्राणियों की सेलों में पाये जानेवाले गंधक और स्फुर का नम्बर आता है। जलस्थ उज्जन यवन (आयन) शरीर के भीतर श्वसन और पाचन क्रिया के लिये बड़े उपयोगी हैं। प्राणि-शरीर के भीतर अन्न के दाह में शक्ति

वा सामर्थ्य देना और दूसरे उपयोगी मौलिकों को आकृष्ट करना ओषजन का काम है। जीवित पदार्थ में सैकड़ा पीछे सत्तर भाग से अधिक उपादान जल रहता है। सभी प्राणी, अंडज, पिंडज और उद्भिज्ज, प्रत्यमिनों (प्रोटीन्स) से बने हुए हैं जो सेलों के मुख्य उपादान हैं, जो निरन्तर टूटते-जुड़ते रहते हैं। प्रत्यमिनों में नोषजन से कर्बन, उज्जन, ओषजन और गंधक जुटे हुए हैं। इन पांचों में कर्बन एक ऐसा मौलिक है जो असंख्य यौगिक बनाता है। इस के लाख से अधिक यौगिक पदार्थ अब तक जाने गये हैं और अभी सूची पूरी नहीं हुई है।

कर्बन कई रूपों में इस धरती पर पाया जाता है। एक तो साधारण कोयला या दीपक की या धुएं की कजली है। पत्थर का कोयला भी यही चीज है पर उस में असंख्य और वस्तुएं भी मौजूद हैं। दूसरा रूप है चमकीला काला पदार्थ जिसे ग्रेफाइट (लेखनिक) कहते हैं जिस में चिकनी मिट्टी मिलाकर भांति-भांति की काली पेंसिलें बनाते हैं। तीसरा रूप है हीरा जो शुद्ध वर्णहीन चमकीला रवा होता है और बड़े दामों को मिलता है। इस में अन्य पदार्थों की अत्यल्प अशुद्धि से भी रंग आ जाते हैं। फ्रांस के मोइसां नामक प्रसिद्ध रासायनिक ने प्रचंड ताप और चाप के प्रभाव से कुछ कृत्रिम हीरे बनाये परन्तु वह ऐसे श्वेत नहीं बन सके और न निर्माण-व्यय इतनी सीमा के भीतर हुआ कि नकली हीरे के व्यवसाय में सुभीता हो।

प्रत्यमिन में गंधक और हड्डी और मस्तिष्क के पदार्थों में स्फुर विशेष महत्व रखते हैं। पांशुजम् के लवण प्राणशक्ति के नियमन में बड़ा काम करते हैं। पत्तियों में हरापन लानेवाले पदार्थ पर्णहरिन में मगनीस एक विशेष उपादान है। क्लोरोफ़िल या पर्णहरिन की रचना में सहायक रूप से लोहा भी काम देता है। रक्त-कणों में लोहा होता है। इसी के प्रभाव से बाह्य जगत् से रक्त-कण ओषजन वायु को चूसते रहते हैं। शरीर की जीवनी शक्ति की क्रियाओं में उत्तेजना या ह्रास उपजाने में खटिकम् के लवण बड़े महत्व का काम करते हैं। इस तरह जीवन की क्रिया में शरीर के इन उपदानों के विविध कर्तव्य हैं जिन से जीवनी शक्ति की रक्षा और ह्रास दोनों क्रियाएं चलती रहती हैं।

८—परिवर्त्तन-चक्र

संसार में जीवों की उत्पत्ति, रक्षा और विनाश बराबर चलता रहता है। नये शरीर बनते हैं, बढ़ते हैं और अपने सरीखे शरीर उत्पन्न करते हैं, और फिर नष्ट हो जाते हैं। प्रत्येक शरीर अपनी तृप्ति और सुख के लिये दूसरे शरीरों को नष्ट करता है अथवा नष्ट शरीरों और मलों को खा जाता है। "जीवो जीवस्य जीवनम्" "जीवै जीव अहार, बिना जीव जीवै नहीं।" उद्भिज्ज खनिज का भोजन करता है और उद्भिज्ज को भी खाता है। अंडज और पिंडज उद्भिज्जों और अपनी जातिवालों को भी खाते हैं। स्वेदज, पराश्रित, परसत्वाद सभी तरह के प्राणियों को खाते हैं। इस प्रकार वह सत्रहों वा उन्तीसों मूल पदार्थ भी एक से दूसरे शरीर में, और दूसरे से तीसरे में चक्कर लगाते रहते हैं। इस तरह आहार के रूप में वह प्रकृति-

परिवर्त्तन का महाचक्र निरंतर चलता रहता है। परंतु इस स्थूल रूप के सिवा सूक्ष्म रूप में भी भारी परिवर्त्तन चक्र चलता रहता है। जो हवा हम भीतर ले जाते हैं वह रक्त में घुस जाती है। उस के बदले कर्बनद्वयोषिद के रूप में हम अपने शरीर का मल बाहर निकालते हैं। इसी कर्बनद्वयोषिद को सूर्य्य की किरणों के बल से पत्तियाँ की हरियाली चूस लेती है और अपने मल के रूप में शुद्ध ओषजन अपने में से निकालकर बाहर करती है। यह शुद्ध ओषजन हमारा प्राण है और इसे ही हम शुद्ध वायु के रूप में सांस से भीतर की ओर ले जाते हैं। ओषजन और कर्बनद्वयोषिद का यह परिवर्त्तन-चक्र निरंतर चलता रहता है और चमत्कार की बात यह है कि इन का अनुपात हमारे वायुमंडल में प्रायः निरंतर समान और स्थिर बना रहता है।

नत्रजन का परिवर्त्तन चक्र इस से कम अद्भुत नहीं है। उद्भिज्ज और अन्य प्राणि-शरीर धरती में सड़ता है और उस से नोषजन के ऐसे लवण बन जाते हैं जो उद्भिज्जों के लिये भोजन हैं। इन्हें जड़ के तंतुओं के सहारे पेड़ खींच कर खा जाता है। साथ ही जो नोषजन और ओषजन वायुमंडल में हैं जब बिजली कौंदती है तब मिलकर यौगिक बनाते हैं और मेघ के जल से मिलकर नोषिकाम्ल या शोरे का तेजाब बनाते हैं। यह वर्षा के जल में मिलकर धरती पर गिरता है और उस में समाकर उद्भिज्जों का भोजन बन जाता है। साथ ही जो प्राणि-शरीर एक दम जल जाता है या पूर्णतया विघटित हो जाता है उस से भी नोषजन और ओषजन तथा कर्बन सभी किसी-न-किसी रूप में निकलते ही हैं और फिर वायुमंडल में मौलिक या यौगिक रूप में लौट आते हैं। इस प्रकार वायुमंडल में सभी उपादानों का अनुपात सतत परिवर्त्तन के होते भी स्थिर बना रहता है।

समस्त पदार्थों के उपादानों के अनुपात में स्थिरता बनी रहने के लिये भी सतत परिवर्त्तन आवश्यक सा जान पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि सारे विश्व में सम्पूर्ण पदार्थों का, एक-एक परमाणु और विद्युत्कण का, एक नियमित और निश्चित रूप से नाच हो रहा है। इस नाच के ताल अनंत प्रकार के हैं जिन की अवधि एक पल के कोटि-कोटि अंश से लेकर ब्रह्मा की आयु तक है। सारे विश्वों की सारी सृष्टि, बड़े कड़े नियमों के बंधन में बँधकर निरंतर नाच रही है। उस की गति में तनिक भी अंतर नहीं पड़ता। उस की गति अप्रमेय और अनंत है। हम रसायन की दृष्टि से जिन परिवर्त्तन चक्रों की चर्चा कर आये हैं वह इस अनंत अखंड और अज्ञेय नाच का एक अत्यन्त छोटा, अत्यन्त सूक्ष्म, अंश है। यह परिवर्त्तन चक्र जिन के दो ही उदाहरण हमने दिये हैं, प्रत्येक मौलिक तत्त्व में वर्त्तमान है। प्रत्येक मौलिक तत्त्व या पदार्थ इन विश्वों में अनवरत चक्कर मारते हुए अपना अनुपात बनाये रहता है। विद्युत्कणों के टूटने और जुटने की अनवरत क्रिया में भी यही नृत्य का नित्यत्व बना रहता है। सब को इसीलिये "जगत्" या "संसार" या "भव-सागर" कहते हैं। सचमुच यह "जगत्" प्रकृति की रंगभूमि है जहाँ उस की रासलीला निरंतर होती रहती है।

९—परिवर्त्तन की उत्प्रेरणा

ईसा की वर्त्तमान शताब्दी के आरंभ से ही रसायन-विज्ञान के परीक्षण और

परिशीलन करनेवालों ने अशुद्धियों की उत्प्रेरणा-शक्ति पर विशेष ध्यान दिया जिस से एक बड़ी ही विलक्षण बात मालूम हुई। उज्जन और ओषजन ठीक परिमाण में किसी पात्र में मौजूद हों तो उन में बिजली की एक चिनगारी से भी विस्फोटनपूर्वक संयोग हो जाता है और जल बन जाता है। परंतु यदि पूरा प्रबंध कर के दोनों वायुओं और पात्र को भी पूर्ण अनार्द्र कर दिया जाय, पूरी तौर पर सुखा लिया जाय, तो एक नहीं हजारों चिनगारियों के निरंतर चलते रहने पर भी विस्फोटन नहीं होता और जल नहीं बनता। अत्यन्त थोड़ी नमी, नाम-मात्र को, मौजूद रहे तो एक चिनगारी से विस्फोटन हो जाता है यद्यपि आर्द्रता या नमी इस विस्फोटन में बिल्कुल तटस्थ रहती है और कोई काम नहीं करती। बिल्कुल सूखी हरिन् वायु और बिल्कुल सूखी उज्जन वायु सूखे पात्र में हों और उस पात्र पर धूप भी पड़ती हो तब भी विस्फोटन नहीं होता, यद्यपि साधारण दशा में नमी नाम-मात्र को भी मौजूद रहने से सूर्य्य की किरणों के पड़ते ही विस्फोटन होता है और उद् हरिकाम्ल वायव्य बन जाता है। इन दोनों क्रियाओं में आर्द्रता या नमी का मौजूद रहना ही प्रेरणा करता है और दोनों उपादानों या घटकों को मिला देता है। इन दोनों उदाहरणों में आर्द्रता या जल वायव्य अशुद्धि के रूप में मौजूद है। ऐसी अशुद्धि के रासायनिक क्रिया के उत्प्रेरक होने के सैकड़ों उदाहरण हैं। अब तो रसायन-विज्ञान में अशुद्धियों की उत्प्रेरणा शक्ति वा क्रिया से बड़े महत्व के परिणाम माने जाते हैं और इस उत्प्रेरणा क्रिया से अनेक रासायनिक उद्योगों में अब बहुत लाभ उठाया जाता है। अब थोड़े से प्लाटिनम के उत्प्रेरण के सहारे गंधक जल और ओषजन वायु का संयोग कराकर बड़े परिमाण में गंधकाम्ल बनाया जाता है। प्लाटिनम् इस काम में रत्ती भर भी खर्च नहीं होता। उत्प्रेरक पदार्थ स्वयं कोई भाग नहीं लेता, परंतु वह मैदान में मौजूद रहता है तो मानो उस की आज्ञा चलती है कि अमुक काम हो या अमुक काम न हो। वह तनिक सा होने पर भी बड़ी हुकूमत रखता है।

कर्बन के कुछ अत्यंत सूक्ष्म यौगिक होते हैं जो अणुरूप में प्रेरणा का ही काम करते हैं। खमीर नामक उद्भिज्ज से और कीटाणुओं से यह प्रेरकाणु पैदा होते हैं। खमीर का एक सेल बड़ाई में इंच के तीन सहस्रांश भाग के बराबर के व्यास का होता है। इस सेल से अनेक अद्भुत रासायनिक परिवर्तन होते हैं। इस से प्राप्त प्रेरकाणुओं की अत्यंत अल्प मात्रा से थोड़े ही समय में आप-से आप भारी से-भारी रासायनिक परिवर्त्तन हो जाते हैं, जिन के सम्पन्न करने में प्रयोगशाला में बहुत ऊंची आंच और बड़ी तेज दवाओं या रासायनिक घोलों की आवश्यकता बड़ी-बड़ी मात्राओं में पड़ती। यह जीवित प्राणी तो नहीं समझे जाते किंतु जीवन के लिये अनिवार्य्य अवश्य समझे जाते हैं और किसी निश्चित ताप और दबाव की सीमाओं के भीतर ही काम करते हैं। मुंह के लाला में टायलिन ऐसा ही प्रेरकाणु है जो मंड को शर्करा बन जाने में प्रवृत्त करता है। आमाशय में पेप्सिन से इसी विधि से प्रत्यमिन को पेप्टोन बनने की उत्तेजना मिलती है। क्लोम में टिप्सिन से, और पत्तियों की हरियाली में एक विशेष दास्तेज से मंड अपने आप विलेय शर्करा में परिणत हो जाता है। इन प्रेरकाणुओं से जो-जो क्रियाएं होती हैं वह तो हमें समझ में आती हैं परन्तु आज तक किसी की समझ में नहीं आया है कि यह प्रेरकाणु हैं क्या ?

१०—स्फटोद और कलोद*

अनेक लवणों के अनेक तरह के रवे देखे जाते हैं। जो नमक हम खाते हैं उस के रवे ठीक घन के आकार के होते हैं। तूतिया के रवे उस से भिन्न आकार के होते हैं। फिट-किरी के रवे और ही तरह के होते हैं। हर चीज के रवे एक विशेष आकार प्रकार के होते

चित्र १४३—स्फटिक मणि (क्वार्ट्ज़)
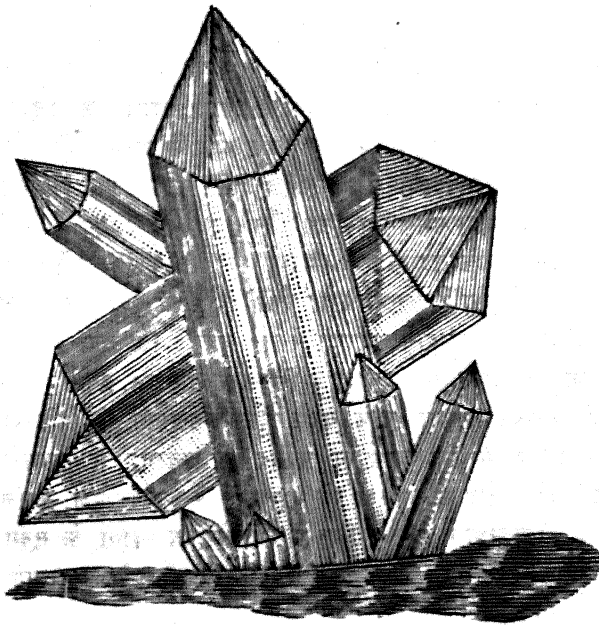
[परिषत् की कृपा

हैं। जब कभी जमाया जाय वही रूप देखने में आता है। यह पता अभी नहीं लगा है कि किसी रवे का कोई विशेष ही रूप क्यों होता है। इतनी बात जानी गयी है कि नमक के रवे में प्रत्येक सैंधकम् के परमाणु के छः-छः हरित् पड़ोसी होते हैं और प्रत्येक हरित् के परमाणु के छः-छः सैंधकम् पड़ोसी होते हैं। परमाणुओं के बीच अन्तरवकाश एक इंच के दस लाखवें भाग के लगभग है। हीरे का रवा चौपहला होता है जिस का हर एक पहल सम-कोण त्रिभुज है। उस में त्रिभुज के सिरों पर एक-एक कर्बन का परमाणु है जो चारों ओर समान अन्तरवकाश पर चार कर्बन परमाणुओं से घिरा रहता है। इस प्रकार उस का एक-एक अणु बना होता है। उस की सब से अधिक कड़ाई और घनता का कारण उस के

* क्रिस्टलोइड और कलोइड।

अणु की इसी प्रकार की रचना समझी जाती है। रत्नों का रूप-रंग सदा से मनुष्य को मोहित करता आया है। उस का आकार और उस के पहलों की काट से ही उस में रंग बिरंगी चमक पैदा होती है। उस के और भी अनेक गुण समझे जाते हैं जिन के कारण लोग उन्हें धारण करना शुभ या अशुभ समझा करते हैं। रत्नों का आकार प्रकार अभी गभीर अनुशीलन का विषय है और संभव है कि शीघ्र ही यह पता लगे कि इन आकारों की विविधता से परमाणुओं और विद्युत्कणों के संघठन और रचना का घनिष्ठ सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध ही इन्हें निश्चित् रूप देता है।

संवत् १९१८ वि० में ग्रेहम नाम के एक रसायनतत्त्ववित् ने झिल्ली का एक छन्ना बनाया। उस में यह बात देखी गयी कि उस में से रवेदार पदार्थों के घोल तो झट छन जाते हैं परन्तु कई बे-रवेवाले पदार्थों के घोल बहुत काल में अत्यन्त धीरे-धीरे छनते हैं। उस ने जल्दी छन-जानेवाले पदार्थों को "स्फटोद" और अत्यन्त धीरे छननेवाले पदार्थों को "कलोद" नाम दिया। नमक शकर आदि स्फटोद के उदाहरण हैं। गोंद, अंडे की सफेदी आदि "कलोद" के उदाहरण हैं। परन्तु एक ही पदार्थ कलोद और स्फटोद दोनों दशाओं में पाया जाता है। इसलिये यह दोनों पदार्थ की दो दशाएं समझी जानी चाहियें। कलोद घन और द्रव दोनों दशाओं में पाये जाते हैं। कलोदों का भी अनुशीलन और परीक्षण जारी हैं। ऐसा समझा जाता है कि किसी और घन, द्रव का वायव्य में किसी घन के पराणुवीक्ष्य सूक्ष्म कण या द्रव के सूक्ष्म सीकर अवलम्बन या विकिरण की दशा में जब मौजूद होते हैं तब हम उस पदार्थ को कलोद की अवस्था में समझते हैं। शरीर-विज्ञानवाले के निकट कलोद की अवस्था बड़े महत्त्व की है। जीवन-मूल, कललरस वा प्रोटोप्लाज़्म कलोद की ही अवस्था में होता है जिस में घन और द्रव पदार्थों के सूक्ष्म कण और सीकर तरल अवस्था में रहते हैं। जीवन और प्राणि-शरीर की अनेक समस्याएं इसी कलोद विषयक खोजों से सम्बद्ध हैं।

११—दुर्लभ मौलिक पदार्थ और उन के उपयोग

अस्सी से ऊपर जो मौलिक पदार्थ अब तक मालूम किये गये हैं उन में से आधे से अधिक ऐसे हैं जिन के नाम भी साधारण लोग नहीं जानते। फिर उन को देखने-जानने-पहचानने की बात तो बड़ी दूर की है। हवा में पांच मौलिक वायव्य ऐसे हैं जो किसी से कभी मिलते-जुलते नहीं। उन की मात्रा भी वायुमंडल में इतनी कम है कि वह दुष्प्राप्य हैं। उन में से हीलियम (हिमजन) इतनी हलकी वायु है कि हवाई जहाज में उज्जन की जगह भरी जा सकती है। ज्जन वायुमंडल के ओषजन में बड़ी भयानकता से जल जाती है, इस से हवाई जहाज बहुधा जल जाया करते हैं। जितनी चाहिये उतनी मिले तो हिमजन वायु में तनिक भी जोखिम नहीं है, परन्तु वायु से अलगाकर बड़ी मात्रा में इस का इकट्ठा करना अत्यन्त व्ययसाध्य है। अमेरिका में टेक्सास की खान में से यह बहुतायत से युरोपीय महायुद्ध के अन्त में उपलब्ध हुई थी। परन्तु इस की दुष्प्राप्यता साधारण उपयोग में बाधक है।

इसी तरह लांथानम् आदि बहुत सी दुष्प्राप्य धातुएं हैं जिन का अनुशीलन करके वैज्ञानिकों ने अच्छे अच्छे उपयोग निकाले हैं। सब से उत्तम काम जो इनसे लिया जा सका है वह है प्रकाश। ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के लगभग वेल्सबाख ने परीक्षा से यह पाया कि यदि लांथनम जैसी दुर्लभ धातु के किसी घोल में रुई की जाली तर करके सुखा ली जाय और फिर गैस की तेज आंच में उसे जला दिया जाय, तो उस समय धातु का ओषिद तेज आंच में लाल होकर बड़ी तेज रोशनी देता है। इस विषय में तब से अब तक बहुत सुधार हुए। अब तो चीना घास की जाली को निन्नानबे भाग थोरिया और एक भाग सीरिया से संपृक्त करके जलाते हैं। उसमें क्रिया किस प्रकार होती है यह तो अभी नहीं मालूम हुआ है, परन्तु रोशनी बहुत तेज होती है।

सं० १९५४ वि० में नर्न्स्ट ने पता लगाया कि इन दुर्लभ मिट्टियों का तार या पतली धज्जी बना लें तो यद्यपि साधारण दशा में वह बिजली का चालक नहीं है तथापि आंच देने पर चालक हो जाती है। इस रीति से बिजली के लम्प बनने लगे। इसमें भी सुधार हुए, अब कर्बन, आस्मियम्, टंग्स्टेन आदि के तार लगाये जाते हैं। निदान यह दुर्लभ धातुएं अब बिजली के लम्पों में घर-घर काम में आ रही हैं।

बाईसवा अध्याय

रासायनिक के चमत्कार

१—रासायनिक की शक्ति का विकास

स्वाभाविक दशा में प्राणी सर्वथा प्रकृति के भरोसे रहता था। उस के भोजनाच्छादन और छाया के लिये जो साधारण सामग्री प्राप्त थी उसी पर संतोष करता था। भोजन के लिये कच्चे दाने फल-फूल-मूल, छोटे शरीरों के कच्चे मांस, आच्छादन के लिये पत्ते, खाल आदि और छाया के लिये वृक्ष और गुफाएँ काफी थीं। परन्तु मनुष्य ने अपनी बुद्धि के विकास से, जो सभी प्राणियों से बढ़ी चढ़ी थी पहले घास-फूस की छाया कर के घर, रेशों को बटकर और बुनकर कपड़े, और अग्नि का आविष्कार कर के पकाकर भोजन बनाये। आग पैदा करना मनुष्य का सब से बड़ा चमत्कार था। इसी ने मनुष्य को रासायनिक बनाया, क्योंकि ईंधन जलाकर उस से काम लेना मनुष्य की अपनी इच्छा और बुद्धि से की हुई प्रायः पहली रासायनिक क्रिया थी। इस के बाद तो उस ने न केवल भोजन पकाना ही सीखा बल्कि मिट्टी के बरतन बनाना, कच्ची धातुओं से पक्की धातुएँ निकालना, धातुओं के औजार हथियार गहने बरतन तथा इमारत आदि की सामग्री बनाना, पानी के साथ अनेक वस्तुओं का उबालना, मिश्रण तैयार करना, यौगिक बनाना, यौगिकों को तोड़-फोड़कर मौलिकों में अलगाना आदि सभी क्रियाएँ अग्नि के आविष्कार से पीछे की हैं। पिछले डेढ़ सौ बरसों के पहले तक मनुष्य ने व्यावहारिक रसायन की सैकड़ों आवश्यक बातें जान लीं जिन की मजबूत नींव पर ही आधुनिक रसायन का महल खड़ा किया गया है। आज जो इमारत खड़ी है उस की कल्पना स्वप्न में भी नींव भरनेवाले नहीं कर सकते थे और अगले चालीस-पचास बरसों में संभव है कि रंगरूप सजावट और नकशे में आज की इमारत ऐसी बदल जाय कि हमारे सामने जो नकशा मौजूद है उस से बिल्कुल न मिल सके।

मनुष्य ने पहले प्रकृति से ही अपने पसन्द की चीज़ें तैयार करानी शुरू कीं। खेती और बागवानी कर के उस ने भाँति-भाँति के नाज और फल-फूल आदि उपजाये। उस ने

पाल डालकर कृत्रिम विधि से फलों का पकाना सीखा। दही जमाना, पनीर बनाना, शराब और सिरका बनाना, अचार डालना आदि सीखा। इसी प्रकार उस ने अनेक धातुओं से दवाएँ बनायीं। निदान जो वस्तुएँ उसे प्रकृति में तैयार मिलीं या जिन के तैयार करने के साधन प्रकृति में मिले उन से काम लेकर उस ने भाँति-भाँति की वस्तुएँ तैयार कीं। कीड़ों से रेशम, पशुओं से ऊन, घासों और पौधों से रेशे लिये और काम में लाया। मधु-मक्खियों से शहद इकट्ठा कर उस के स्वाद लेने लगा। पेड़ों के छालों और रसों और आसवों से गन्दा बिरोजा, रबड़, गोंद, लाख आदि पदार्थ लेकर काम में लाने लगा। फूलों, छालों, पत्तियों छिलकों और खनिजों से भाँति-भाँति के रंग निकालने लगा। इस तरह और आगे बढ़कर उसने गन्ने चुकन्दर आदि को निचोड़ कर मीठा रस और शक्कर निकाला। उस ने बीजों से भाँति-भाँति के तेल निकाले और पक्षियों और पशुओं की चर्बी से भी चिकनाई निकाल कर काम में लाया। उस ने पृथु बनकर पृथ्वी रूपी गऊ के चारों थन अच्छी तरह दुहकर अनन्त रत्न और धन निकाल लिये और आज भी उसी उद्योग में लगा हुआ है।

उस की रत्नलिप्सा घटी नहीं। उस ने रासायनिक सिद्धांतों का अनुशीलन किया और जितने पदार्थ उस के हाथों पड़ सके और उस के करणों और उपकरणों के काबू में आये सब की ओत-प्रोत भाव से पूरी परीक्षा की, प्रकृति की शक्तियों के काम करने के नियमों की जांच की, उन का प्रयोग करके यौगिकों को तोड़-फोड़कर देखा और मौलिकों को जोड़-जोड़कर भाँति-भाँति के यौगिक बनाये। उसने रसायन के मूल तत्वों के सामान्य और विशेष गुणों का ऐसा विश्लेषण किया कि उस की अदालत के सामने एक एक परमाणु हाजिर हो हो कर इजहार देने लगा। उस ने इस विश्व की ईंट-ईंट का पता लगा लिया। एक एक का स्वभाव जांच लिया। अब वह कागज पेंसिल लेकर बैठता है और चतुर्भुज कर्बन के चौपहले रूप की कल्पना कर के उस की भुजाओं में विविध मौलिकों का मेल कराकर, उन में भी तरह-तरह के जोड़-तोड़ करके, कागज पर ही कर्बन के यौगिकों की रचना करता है और फिर अपनी प्रयोग-शाला में जाकर उस को वास्तविक जगत् में पैदा करके बोतलों में भरकर रख लेता है और कल्पना और नियमों के अनुसार जो गुण उस यौगिक में आरोपित करता है वही गुण उस वास्तविक यौगिक में पाये जाते हैं। सचमुच आज वह ब्रह्मा और विश्वामित्र की तरह नयी सृष्टि करता है और जगत् को बिलकुल नयी चीजें देता है जो ब्रह्मा ने नहीं रची थीं।

सौ बरस से कुछ ऊपर हुए कि लोग ऐसा समझते थे कि शक्कर, सिरका, शराब, यूरिया, चरबी, तेल आदि पदार्थ जो हम को चेतन संसार से ही मिलते हैं हम कृत्रिम रीति से नहीं बना सकते। हम केवल जड़ संसार की वस्तुएँ जोड़कर तैयार कर सकते हैं। संवत् १८८५ वि० में वूलर नामक एक रासायनिक अमोनियम-श्यामेत नामक ऐसे ही जड़ यौगिक को गरम कर रहा था। वह एकाएकी यूरिया में परिणत हो गया। यूरिया पेशाब में ही मिलता है जो चेतन जगत् के शरीर में जीवन की क्रिया से ही उत्पन्न होता है। यह अपने प्रकार का पहला परिवर्त्तन था। इस परिवर्त्तन ने मनुष्य के सामने से रहस्य का परदा हटा दिया। अब यह सिद्ध हो गया कि जड़ जगत् से मिलनेवाले पदार्थों के ही जोड़-तोड़ से

चेतन जगत् के शरीर के द्वारा उपजे हुए पदार्थ भी कृत्रिम विधियों से बनाये जा सकते हैं। फिर तो ऐसी और वस्तुओं के निर्म्माण की बराबर कोशिशें होने लगीं और रसायनवेत्ता ब्रह्मा की होड़ करने के लिये प्रस्तुत हो गया। अब शक्कर, सिरका, शराब, चरबी, तेल, वानस्पतिक खटाइयां आदि सभी चीजें वह कृत्रिम तैयार करने में समर्थ हो गया।

२—कोयले से हीरा

भारत में नील के सैकड़ों गोदाम और कारखाने थे और आज भी बहुतेरे मौजूद हैं। नील जिन पौधों से निकाला जाता है उन की खेती होती है, परन्तु अब उस का रोजगार नष्टप्राय है, क्योंकि कृत्रिम नील बहुतायत से तैयार होता है। इसी तरह फ्रांस में पहले मजीठ की खेती बहुत हुआ करती थी। परन्तु जब से "अलीजरीन" रंग तैयार होने लगा इस खेती का फ्रांस में अन्त हो गया। इसी प्रकार जितने तरह के रंग पहले बरते जाते थे उन के बदले के रंग तथा उन के सिवा हजारों और तरह के रंग कोलतार वा अलकतरे से निकाले गये और पुराने रंगों का रवाज उठ गया।

पत्थर का कोयला जो पहले केवल आँच देता था, रासायनिकों के प्रयोगों में आया। उन्होंने उसे बन्द मूषा यंत्र में तेज आंच दी। उस में से जलनेवाले वायव्य निकले जो रोशनी देने के काम में आने लगे। इस के साथ ही कोलतार या धूना और पकाया हुआ कोयला जिसे "कोक" कहते हैं, निकलने लगे। कोलतार लकड़ी और धातु पर लेप करने से कीड़ों और मुरचे से रक्षा करने लगा और कोक अत्यन्त तेज आंच देने के काम में लाया जाने लगा। परन्तु रासायनिक इतने से ही संतुष्ट न हुए। उन्होंने वायव्यों की परीक्षा की और यह मालूम किया कि वह भाँति-भाँति के अनेक वायव्यों के मिश्रण हैं। उन्होंने कोलतार को देग में चढ़ाकर आंच दी और खौलाकर उसे भभके से चुलाया। उस में से अनेक प्रकार की वस्तुएँ निकलीं। इनके हम पाँच विभाग करेंगे। (१) अमोनिया, (२) नफ़्ता, (३) क्रियोसोट (४) अंथ्रासीन तेल और (५) पिच या कोलतार की काली कीचड़ जिसे तारकोल कहते हैं और जो दीमक से बचाने को पोतने के काम में लायी जाती है। नफ्ता को भी देग में चढ़ाकर भपके से खींचा तो बानजावीन, तोलवीन, घोलक नफ्ता और कार्बोलिकाम्ल मिला। क्रियोसोट से नफ़्तलीन मिला जिसे भूल से फुनेल की गोलियां कहते हैं, परन्तु जो कपड़ों को कीड़ों से बचाने और कृमिनाशक होने के सिवा सैकड़ों रंगों एवं पदार्थों का पिता है। अन्थ्रासीन के तेल से अन्थ्रासीन मिला जो अली-जरीन वा मजीठवाले लाल रंग का ही पिता नहीं है बल्कि गंधकाम्ल के संयोग से सैकड़ों रंगों का मूलपुरुष है। बानजावीन और कार्बोलिकाम्ल तो स्वयं असंख्य यौगिकों और रंगों के मूलपुरुष हैं। इसी कोलतार से संसार के पहले के सभी रंगों की प्रतिष्ठा उठ गयी और सस्ते नये रंगों ने उन का स्थान ले लिया। कोलतार से निकलनेवाले पदार्थों में से तीन-चौथाई से अधिक रंग सारे संसार के लिये संवत् १९७१ वि० तक अकेले जर्मनी बनाने लगा था और शेष चौथाई के लिये संसार के लिये सामग्री जुटाने लगा था, इतने

में युरोपीय महायुद्ध छिड़ गया। इन रंगों में केवल विविध प्रकार के वस्त्रों के रंगने का ही गुण न था। अनेक रंग दवाओं के गुण रखनेवाले हैं। आंख आयी हो तो गुलाबी बुकनी मलना अपने ही देश में बहुत गुणकारी सिद्ध हुआ है। "फ्लेवीन" नामक रंग कृमिनाशक है और फोड़ों पर लगाया जाता है। इन्हीं रंगों के सहजात पदार्थ अनेक दवाइयां भी कोलतार से निकली हैं। इनमें से अधिकांश गुणदोष दोनों रखती हैं। "अस्पिरिन" "फिनासिटिन" "सलफोनल" "वीरोनल" आदि इसके उदाहरण हैं। अनेक वस्तुएं इसी कोलतार से कृत्रिम भी बनी हैं। परन्तु कृत्रिमता से कोई यह न समझे कि घटिया वस्तुएं होंगी। कोलतार से बनी कस्तूरी मृगमद-कस्तूरी से रत्ती भर भी कम नहीं होती। बनावटी रूहे-गुलाब असली रूहे गुलाब से किसी बात में कम नहीं होता।

स्वाभाविक और बनावटी पदार्थों में इतना ही अंतर होता है कि दोनों भिन्न विधियों से तैयार होती हैं परंतु तैयार हो जाने पर रासायनिक दृष्टि से दोनों समान होते हैं, बल्कि शुद्धता की दृष्टि से कृत्रिम वस्तु अधिक शुद्ध होती है।

स्वाद की दृष्टि से भी कोलतार से अनेक अभूतपूर्व स्वादिष्ट पदार्थ निकले हैं। यों तो कृत्रिम शर्करा की अष्टोत्तर-शतवाली माला बन चुकी है, परंतु सकरीन नाम की चीज, जिस का आविष्कार संयोगवशात् अमेरिका के इरा रेमसेन नामक रासायनिक के हाथों हुआ इसी कोलतार से निकली, जो साधारण शर्करा से कई-सौ गुनी अधिक मीठी होती है और जो वस्तुतः शक्कर नहीं है और जिसे वह रोगी भी सेवन कर सकते हैं जिन को शक्कर से परहेज है।

पेड़ों के गोंद से मनुष्य भांति-भांति के काम लेता है। रबड़ भी कुछ पेड़ों का गोंद है। इस की सैकड़ों तरह की चीजें बनती हैं। गट्टा परचा दूसरी तरह का गोंद है। गंदा-बिरोजा चीड़ का गोंद है। परंतु गोंद भी कृत्रिम बनने लगा है। आलू के मंड से रबड़ बनाया गया है। यद्यपि अभी बड़े पैमाने पर नहीं बनता तथापि कोयले और चूने के योग से कृत्रिम रबड़ बनाने में सस्ता पड़ेगा और संभव है कि आगे इस का रोजगार जोरों से बढ़े।

रासायनिक आज जादूगर का काम कर रहा है। नकली घी, नकली मयदा, नकली शक्कर वह बात-की-बात में तैयार करने लगा है। अब मिठाइयों के बनाने में उसे न तो गाय पालने की जरूरत है और न खेती करने की। वह कोयला पानी के सहारे सब कुछ कर सकता है। उस ने लकड़ी से कागज, बरतन, झाड़न, प्याले, रस्सियाँ और कई और वस्तुओं के योग से नकली रेशम तक बना लिया है। लकड़ी के बुरादे से उत्तम-से-उत्तम तख्ते और सेलूलोइड तक बनता है। बड़े-से-बड़ा विस्फोट करनेवाला पदार्थ भी इसी से बनता है जो वर्त्तमान काल के महायुद्धों में काम आता है।

३—नोषजन के ह्रास का प्रतीकार

परंतु लकड़ी और पत्थर का कोयला तो हम ईंधन की तरह जला डालते हैं। इन

में नोषजन के बहुत से यौगिक जल जाते हैं और शुद्ध नोषजन वायुमंडल में मिल जाती है। मुर्दों के जलने से भी इसी तरह बहुत सा नोषजन निकलकर वायु में मिल जाता है। इस तरह वायु में नोषजन की मात्रा बढ़ जाती है। परन्तु नोषजन बड़ा अकर्म्मण्य है। साधारण दशा में वह किसी और मौलिक पदार्थ से मिलता-जुलता नहीं। परंतु प्रणिमात्र को बड़ी अच्छी मात्रा में संयुक्त रूप में नोषजन चाहिये। सांस लेने से नोषजन शरीर में जाता है परंतु बिना मिले ज्यों-का-त्यों लौट आता है। पत्तियां और पौधे नोषजन को वायु में से ले नहीं सकते। फिर नोषजन इन के शरीर में कैसे प्रवेश करता है? पौधे लकड़ी आदि से तथा जानवरों की लाशों से धरती में नोषजनीय पदार्थ अलग होते हैं। अत्यंत बारीक कीटाणु इन पदार्थों को सड़ाकर नोषेत उत्पन्न करते हैं। विष्ठा और मूत्र से भी नोषजनीय पदार्थ धरती में समाते हैं। इन्हीं से पौधे उगते-बढ़ते और फूलते-फलते हैं। इन्हीं पौधों से असंख्य पशु अपनी तृप्ति करते हैं। और पशुओं और पौधों से मनुष्य समेत अनेक प्राणी तृप्त होते हैं और नोषजन को आत्मसात् करते हैं। परंतु जितना नोषजन हम जलाकर अलग करते हैं, उस की मात्रा बड़ी है। बारूद द्वारा भी नोषजन का एक बड़ी मात्रा वायु में मिल जाती है। यह देखकर कुछ काल हुए मनुष्य जाति की चिन्ता बढ़ गयी थी कि नोषजन धीरे-धीरे वायु में बढ़ जायगा तो नोषजन के दुर्भिक्ष से पीड़ित शरीरों का अन्त हो जायगा। इस चिन्ता का निवारण अन्तरिक्ष देश में बिजली किया करती है। जब-जब बिजली कौंदती है, एक विशाल-काय विद्युल्लेखा वायुमंडल में एक मेघमाला से दूसरी मेघमाला तक चली जाती है। इस वेगवती गति से वह अपने मार्ग की हवा पर विचित्र प्रभाव डालती है, नोषजन और ओषजन को इतना उत्ताप देती है कि दोनों संयुक्त हो जाते हैं और मेघ के जल से मिलकर नोषिकाम्ल बनाते हैं। वर्षा के जल से यह अम्ल हलका घोल होकर धरती में समा जाता है और पौधों को पुष्ट करता है। वैज्ञानिक ने भी इसी विधि से बिजली की चिनगारियाँ चलाकर मध्यवर्त्ती वायु को संयुक्त करके नोषिकाम्ल बनाना आरंभ किया। इस विधि से बड़े परिमाण में वायव्य नोषजन को संयुक्त किया जाने लगा।

जब फसिल काट लेते हैं तब खेतों में पौधों के जो अंश खड़े रह जाते हैं उन्हें जोत कर हल के द्वारा धरती में मिला देते हैं। उस में वह सड़कर मिल जाता और खाद बन जाता है। परंतु बारंबार इस तरह खेत की पूँजी से ही खेत को खिलाते खिलाते घाटा आ जाता है। खेत कमजोर हो जाते हैं। उन की सहायता के लिये शोरा डालने की विधि है। सं० १९७० वि० में अमेरिका के संयुक्त राज्यों ने जर्मनी के शोरे के खेतों से दो करोड़ साढ़े बहत्तर लाख मन शोरा खरीदा था जिस के लिये वहां के किसानों ने साढ़े पांच करोड़ रुपये दिये। रुपये में साढ़े पांच मन के अत्यंत सस्ते भाव पर खरीदकर भी कितनी रकम देनी पड़ी। परंतु शोरे के खेत अक्षय नहीं हैं। उन के खतम हो जाने पर क्या होगा? इसी समस्या को सुलझाने के लिये कृत्रिम बिजली से नोषजन का संयोग किया जाने लगा। स्कन्दीनवीय देश में जल-बल की प्रचुरता के कारण बिजली सस्ती पड़ती थी। इसलिये यह विधि वहां बड़े परिमाण से चल पड़ी।

परंतु जर्मनी में जल बल की प्रचुरता न होने से एक और विधि बरती गयी। यहां

कुछ दुर्लभ धातुओं के उत्प्रेरणा-बल से काम लिया गया। विशुद्ध नोषजन और विशुद्ध उज्जन का संयोग पिनाकम् या अशिमम् जैसी धातुओं की उपस्थिति में बहुत भारी परिमाण में निरन्तर होते हुए अमोनिया उत्पन्न किया जाता है। फिर प्लाटिनम की उत्प्रेरणा से अमोनिया का परिवर्त्तन नोषिकाम्ल में हो जाता है। इस तरह खाद बनाने की दूसरी विधि जर्मनी में बरती जाती है। वायु से कितने काम लिये जाते हैं, सोचकर बुद्धि चकरा जाती है। वायु से विशुद्ध नोषजन इसलिए निकालते हैं कि खाद बनावें। ओषजन इसलिये निकालते हैं कि इंजिनियरी के कामों में असीटर्लीन के साथ उत्तम करके गलाने और जोड़ने के लिये प्रचंड आंच पैदा करें। अब बचा हुआ अर्गन और नीयन बिजली की रोशनी के कुमकुमों में भरे जाते हैं। इन में यदि हवा भरी जाय तो तार तुरंत जल जायँ और शून्य करने में कठिनाई और दोष आते हैं। और अरगन आदि भरने से न तो तार जलता है और न कोई दोष है और न कठिनाई। निदान हमारे वायुमंडल के कर्मण्य, उदासीन और अकर्मण्य सभी घटक बड़े पैमाने पर हमारे उद्योग-धंधों में काम आते हैं।

हमारे रासायनिक कूड़े से कुबेर का धन निकाल लेते हैं। कोयले सी निकम्मी चीज से उन्होंने कितनी असंख्य अनमोल वस्तुएं निकालीं और अरबों रुपयों का नया रोजगार ढूँढ़ निकाला। पौधों के छिलकों से शराब निकाली। लकड़ी से सैकड़ों अनमोल चीज़ें बनायीं। मिट्टी के तेल से बड़े-बड़े काम लिये। तेलहन की खली फेंकते थे पर उस के भी सदुपयोग निकाले। कपास के बीज जिन्हें वह फेंक देते थे पेले गये और खाने योग्य तेल निकला। उस की खली मवेशी के लिए उत्तम भोजन सिद्ध हुआ। उसी से खाद का काम लिया। लिखने का कागज बनाया। पुटीन और साबुन और वारनिश भी तैयार किये। यहां तक कि बे-धुएँ की बारूद भी बनायी। टमाटर के बीज से उस का पंचमांश खाने लायक तेल भी निकाला। रासायनिक की निगाहों में संसार में कोई वस्तु व्यर्थ और फेंकने योग्य नहीं है। वह धुएँ में हीरा, धूल में रत्न और रेत में सोना खोज निकालता है। वह इस समय विधाता की होड़ कर रहा है और विश्वामित्र की तरह नयी सृष्टि की रचना में लगा हुआ है।

सातवां खंड

परिस्थिति-विज्ञान

तेईसवां अध्याय

सागर-विज्ञान

१—जल खारी क्यों है ?

धरती के रचना के आरंभ में किसी युग में सारा स्थल छिछले जल से ढका सा था। न पहाड़ बने थे और न समुद्र। और वह जल भी था अत्यन्त तप्त और भारी। बादल भी जलते हुए जल की वर्षा किया करते थे। इसी समय जल की बहुत बड़ी मात्रा उत्तप्त धरती के गर्भ में भी समाती जाती थी और अनेक स्थलों में उबलते हुए जल के फौवारे भी फूटे पड़ते थे। करोड़ों बरस तक यह तमाशे होते रहे, धरती का ऊपरी चिप्पड़ धीरे-धीरे ठंढा होता रहा, कहीं सुकड़ता था तो कहीं तेज़ आँच से फैलता था। इसी सुकड़ने और फैलने की क्रिया से धरती का ऊपरी तल ऊँचा-नीचा होता गया पहाड़ और मैदान बनते गये। कहीं-कहीं धरती का ऊपरी तल उभरता गया और सुकड़ता गया और कहीं-कहीं फैलता गया और धँसता गया। यह सब क्रियाएं हज़ारों मीलों के फैलाव में, बड़े विस्तृत देश में बहुत दीर्घकाल तक बराबर होती गयीं जिन से पहाड़ बने, घाटियां बनीं और समुन्दर बने, धरती के धंसते जाने से गहरे महासागर बन गये और उधर नये बने पहाड़ों पर चट्टानें पानी के जमकर फैलने से चिर गयीं, फट गयीं, चूर-चूर हो गयीं और रेत और मिट्टी बनकर पानी के साथ बहीं। पानी की धारा ने चट्टानों को तोड़-फोड़ और विशाल वृक्षों को बहाकर घाटियों के भीतर से अपनी राह बनायी और गहराई को रेते और मिट्टी और पत्थर के रोड़ों से पाटकर मैदान बनाया।

समुद्र और मैदान के फैलाव में पानी के ऊपरी तल का सूरज की गरमी से भाप बनता रहना निरन्तर जारी है। बादल बनते रहते हैं और जितना पानी भाप के रूप में ऊपर जाता है सब ओस, बूंदें, ओले बनकर बरस जाता है और बह-बहकर सोतों, नालों की राह नदियों और नदियों की राह समुन्दर में जाता है। यह जलवहन-चक्र निरन्तर जारी रहता है जिस से समुद्र देखने में न तो घटता है न बढ़ता है बरन् अपनी मर्य्यादा बनाये रहता है।

जो पानी धरती पर बरसता है वह तो प्रायः घन पदार्थों से शुद्ध और निर्मल होता है परंतु ज्योंही धरती पर गिरता है त्योंही घुलनेवाले घन पदार्थ उस में मिलने लगते हैं। चट्टानों के अनेक स्तरों से होता हुआ, ऊपरी और भीतरी नमकों को घुलाता हुआ नदी की धाराओं में भांति-भांति के नमकों को घोलता हुआ समुद्र में पहुँचता रहता है। अरबों बरस से इसी तरह पहाड़ों के और चट्टानों के घुलनशील अंश घुल-घुलकर समुद्र के भीतर आते रहे हैं। समुद्र में इस तरह नमक का अंश बराबर बढ़ता रहा है। भाफ बनकर जब पानी उड़ने लगता है तब अपने में घुले हुए नमक को जल में ही छोड़ जाता है, क्योंकि ठोस पदार्थ भाफ में नहीं मिल सकते। इस तरह समुद्र में चट्टानों से बराबर नमक की आमदनी अनेक युगों से होती रही है परंतु खर्च न होने के कारण समुद्र में नमक बराबर घुलता रहा है और बढ़ता आया है। आरंभ में स्थल से यह नमक बड़ी मात्रा में आता रहा होगा, परंतु ऊपरी तल का नमक ज्यों-ज्यों घटता गया त्यों-त्यों जल के द्वारा समुद्र में पहुँचनेवाले नमक की मात्रा भी घटती गयी। समुद्र का जल सर्वत्र इन्हीं कारणों से अत्यंत खारी है। इस समय औसत सामुद्रिक जल में प्रत्येक सौ मन में लगभग साढ़े तीन मन के विविध नमकों की मात्रा आंकी जाती है। यह औसत है। वास्तविक बात यह है कि समुद्र के भिन्न-भिन्न भागों की लावण्यता विविध सांद्रताओं की पायी गयी है। जहां-जहां शोषण अत्यधिक होता है वहां लवण की मात्रा भी अत्यधिक होती है। लाल समुद्र और ईसा के पैत्रिक देश का मृत समुद्र और राजपुताने का सांभर झील इस बात के कुछ उदाहरण हैं। जहां वर्षा बहुत होती है वहां सामुद्रिक लावण्यता अत्यंत कम होती है। समुद्र की औसत लावण्यता रुपये में बारह आने से अधिक साधारण खाने के नमक के कारण होती है। शेष चार आने से कम भाग में मगनीस हरिद सब से अधिक है। इसी के बराबर की मात्रा में मगनीस खटिकम और पांशुजम के गंधेत हैं। खटिक कर्बनेत, मगनीस कर्बनेत, मगनीसब्रमिद और कोई-कोई और लवण अत्यंत थोड़ी मात्रा में हैं। यह घुलित अंश का लेखा है। वैसे तो शंख सीपी आदि अनंत प्राणियों के शरीर की रचना में खटिक-कर्बनेत और स्पंज आदि की देह में रेते की मात्रा अत्यधिक है। स्थलचर और नभचर प्राणियों के शरीर में भ्रमण करनेवाले रक्त में भी लावण्यता वा लवणों की मात्रा समुद्र जल के ही अनुरूप है, बल्कि वैज्ञानिकों का कहना है कि यह अनुरूपता इस बात का प्रमाण है कि समस्त प्राणियों की सृष्टि का आरंभ समुद्र के भीतर ही हुआ है और हमारा यह रक्त भी उसी समुद्रजल (नारा) का ही अंश है।

२—गहराई गरमी और दबाव

इस पृथ्वी का सम्पूर्ण ऊपरी तल का क्षेत्रफल लगभग उन्नीस अरोड़ सत्तर लाख वर्गमील है। इस में से तीन चौथाई से कुछ कम और एक तिहाई से उतना ही अधिक अर्थात् चौदह करोड़ वर्गमील सागरों समुद्रों और झीलों का तल है। स्थलचर मनुष्य समझता है कि सागर का जलतल सीधा-सपाट दर्पण-सा होगा, न कहीं ऊँचा न कहीं नीचा

परंतु वास्तविक तथ्य यह नहीं है। अनेक कारणों से जलतल में जगह-जगह ऊँचा-नीचा पड़ा हुआ है। महाद्वीपों के और उन में के पहाड़ों के खिंचाव से कहिये, या देशमात्र की वक्रता के कारण कहिये, सागरों का जलतल मध्य में गहरा होता है जिस से किसी महासागर को एक छिछले प्याले के अनुरूप अनुमान किया जा सकता है। हिमालय के कारण हिन्द महासागर का मध्य जलतल बहुत धँसा हुआ है। यह ऊपरी जलतल की चर्चा है। जल की गहराई के भीतर नीचे की तली की बात नहीं है। तली की गहराई जानने के लिये तो हजारों परीक्षाएँ की गयी हैं। हिसाब लगाया गया है कि समुद्र की गहराई ढाई मील के औसत में है। महासागर की तली के छठे अंश के लगभग तो किनारे से लेकर एक हजार पोरसों तक की गहराई का होगा। आधे के लगभग दो से

चित्र १२४—सागर-तल बड़ी गहराई के नीचे का दृश्य

लेकर तीन हजार पोरसों तक होगा। सागरों और समुद्रों में बहुत से ऐसे गड्ढे और नालियां और बिलें और सुरंग भी हैं जो तीन हजार पोरसों से भी अधिक गहराई के हैं। प्रशान्त महासागर के वायव्य कोण पर सवा पाँच हजार पोरसों से भी अधिक गहरे गर्त हैं अर्थात् छः मील से भी अधिक गहरे। कहीं हिमालय का गौरीशंकर शिखर, जो संसार की सब से ऊँची चोटी है, इन गर्तों में डाल दिया जा सके, तो ऐसा डूबे कि उसके ऊपर आधे मील से अधिक उँचाई तक जल रहे, अर्थात् उस का पता लगाने को आधे मील से अधिक गहराई तक गोता लगाने की जरूरत पड़े। इस प्रकार गौरीशंकर शिखर की ऊँचाई से लेकर प्रशान्त

महासागर की अधिकतम गहराई तक इस धरती की ऊँचाई-नीचाई की हद है। यह हद कुल साढ़े ग्यारह मील है। इसी हद के भीतर अंडज, पिंडज, उद्भिज्ज और स्वेदज सभी तरह के प्राणी इस संसार में रहते हैं।

जल की ऐसी प्रचंड गहराई के भीतर सूर्य्य के ताप की पहुँच बहुत थोड़ी दूर तक है। ढाई सौ पोरसों से अधिक सूर्य की किरणें नहीं जातीं। इस तरह जल का अधिक भाग ठंढा ही रहता है। जो गरमी ऊपरी तल पर बढ़ती है वह भाफ बन कर पानी के उड़ते रहने से ऊपरी तल पर ही खर्च होती रहती है। उस के नीचे जाने की नौबत नहीं आती। यदि ऊपरी तल अधिक ठंढा हो जाय तो भाफ का एक आवरण बन कर उस की बिखरनेवाली गरमी को रोक रखता है। यद्यपि ऊपरी तल पर कहीं कम और कहीं अधिक गरमी होती है तो भी यह तारतम्य बहुत थोड़ी गहराई पर जाकर सामान हो जाता है, क्योंकि जल गरमी का बुरा चालक है। सागर-विज्ञान के विशेषज्ञ सर जान मरेने हिसाब लगाया है कि पांच सौ पोरसों के नीचे तापक्रम प्रायः ४० फ० से कुछ कम ही रहता है। इस तापांश पर पानी सबसे अधिक घनी दशा में होता है इसलिये दक्षिणी ध्रुव की ओर से हिमसागर का अत्यंत ठंढा जल अपने भार के कारण तली में से ही धीरे-धीरे रेंगता हुआ सारे सागर में फैल जाता है। यह जल प्रायः बरफ के लगभग शीतल होता है। इसके गरम होने की कभी नौबत नहीं आ सकती। निदान गहरे समुद्र में शाश्वत शीत का साम्राज्य है।

जब एक लकड़ी के टुकड़े में बोझ बाँध कर समुद्र में गहराई में पहुँचते हैं और फिर उसे ऊपर खींच लेते हैं, तो बोझ से अलग कर लेने पर वह लकड़ी अब पानी पर नहीं तैरती। कारण यह है कि लकड़ी के सूक्ष्म रंध्रों में से वायु निकल भागती है और दबाव पाकर पानी भर जाता है। लकड़ी भारी हो जाती है और तैर नहीं सकती। इससे यह पता लगता है कि गहराई के भीतर पानी का दबाव बहुत है। हिसाब से पता चलता है कि ढाई हजार पोरसों के नीचे की गहराई में प्रत्येक वर्ग इंच पर अठहत्तर मन के लगभग दबाव है। इतने भयंकर चाप पर भी ऐसी गहराई में अत्यंत कोमल और निर्बल शरीरवाले पदार्थ वहाँ सहज में ही पनपते हैं और रहते हैं। यह बड़ी विचित्र बात मालूम होती है परंतु अचरज का कोई कारण नहीं है। पानी का भारी दबाव चारों ओर से अणुओं को अत्यंत अधिक सटा देता है। खुला बरतन अगर बहुत गहराई में डाल दिया जाय तो वह तुरंत पानी से भर जाता है और गहराई का उस पर कोई असर नहीं दीखता। अब एक बोतल लीजिये जो बिल्कुल भरी नहीं है मगर काग कसा हुआ है। उसे गहराई में डालिये तो या तो काग उसके भीतर घुस जायगा या बोतल दब कर पिचक जायगी। भौतिक विज्ञानी श्री बुकानन् ने सन् १८७३ में चलेंजर नामक जहाज से पौने अड़तीस सौ पोरसों की गहराई में दो तापमापक यंत्र उतारे थे। वह बिल्कुल चिपके हुए वापस आये। तब उन्होंने एक कांच की नली ली जो दोनों ओर बन्द थी। उसे कपड़े में लपेटा और फिर बेलन के आकार के ताँबे के पात्र में उसे बंद कर दिया। इसके दोनों सिरों पर पानी जाने के लिये छेद बने हुए थे। यह डब्बा तीन हजार पोरसों के नीचे डाला गया और फिर निकाल लिया गया। जान पड़ता था कि इस डब्बे पर जहाँ काँच की बन्द नलिका रखी हुई थी वहाँ घन से पीटा गया है। काँच की

नलिका तो भीतर ही-भीतर ऐसा चूर्ण बन गयी थी कि बारीक बरफ की धूल की तरह लगती थी। सर जान मरे ने इस घटना की व्याख्या इस तरह की कि जान पड़ता है कि भीतरी नली डूबते समय बहुत देर तक दबाव का मुकाबला करती रही परंतु अन्त में उसे हारना पड़ा।
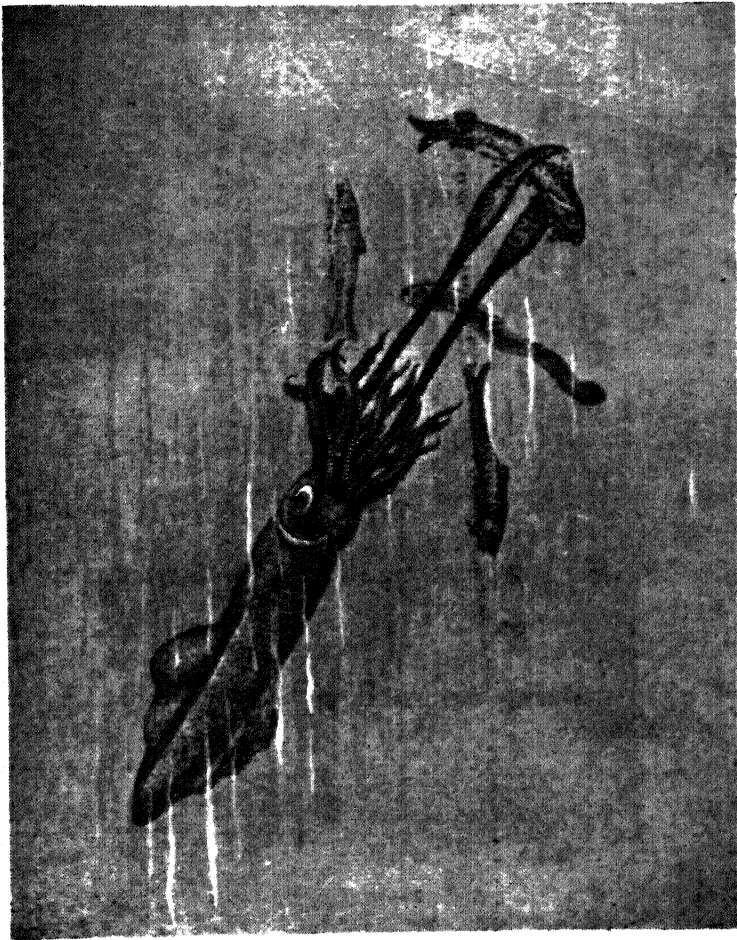
चित्र १२२—अष्टपाद जलदानव

इतनी जल्दी यह डब्बा पिचक गया कि पानी को समय नहीं मिला कि छेदों के भीतर से आर-पार जा सके। यदि जा सकता तो पिचकने की नौबत न आती। यही बात अत्यंत गहरे देश में बहुत नाजुक चीजों के सही सलामत रहने का भी कारण बनाती है। रन्ध्रों में से होकर

चारों ओर समान भाव से जल पहुँच जाता है और व्याप जाता है और दबाव समान हो जाता है। इसलिये इतने भयंकर दबाव का कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता। जब कोई चीज बहुत गहराई तक डूबने लगती है तो उसके छिद्र भरने लगते हैं। जल्दी भरने के कारण जो जगह भर नहीं सकती तुरन्त पिचक जाती है इसी से आकृति बिगड़ जाती है। परन्तु जो वस्तुएँ उस दबाव के भीतर ही उत्पन्न होती हैं उन में तो वहाँ का जल ओत-प्रोत भाव से आरम्भ

चित्र १२६—मूंगा-मछली

ज्यार्ज न्यून्स की कृपा] **[टामसन से**

से ही व्यापा रहता है। उस में पिचकने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। समुद्रवाले मांझियों का साधारण विचार यह है कि जो चीजें समुद्र में डूबती हैं वह कहीं सुभीते की जगह पर पहुँचकर तैरती रह जाती हैं। परन्तु यह भ्रम है। ज्यों-ज्यों जल डूबनेवाली चीज़ में व्यापता जाता है या पिचका कर ठोस कर देता है त्यों-त्यों डूबनेवाली चीज़ नीचे की ओर चलती जाती है और अन्त में तली तक पहुँच जाती है। इसी के विपरीत अपने

शिकार का पीछा करते हुए कोई जलजन्तु अपने शरीर के अनुकूल दबाववाले प्रदेश से ज्यादा ऊपर को उठ जाता है तब दबाव की कमी के कारण उस का शरीर फूलकर हलका हो जाता है और उस के लाख जतन करने पर भी वह ऊपर की तरफ लुढ़के बिना रह नहीं सकता। दबाव के कारण पानी उसे ऊपर को फेंक देता है और जब वह बिलकुल ऊपर को आने लगता है तभी उस का शरीर फैलकर फूट जाता है और प्रत्येक अवयव के फटने से वह बिलकुल चिथड़े-चिथड़े हो जाता है।

समुद्र निरन्तर चंचल रहता है। पृथ्वी के बराबर घूमते रहने से और ग्रहों के खिंचाव से ज्वार-भाटा उठता ही रहता है। परन्तु जब और जहां कहीं तूफान आता है वहां तूफान के बीत जाने पर भी कई घंटे तक बराबर जल में थर्राहट बनी रहती है क्योंकि जल बड़ा ही स्थितिस्थापक है। तूफान का कम्पन बड़ी देर में मिटता है और बहुत दूर तक जाता है। वायु के कारण तो लहरें उठती ही रहती हैं। कहीं कहीं तो जैसे फराडी की खाड़ी में, सैंतालीस-अड़तालीस हाथ ऊंची भेड़ें उठती हैं और कन्याकुमारी के घाट की तरह कहीं-कहीं जल शांत होता है। जैसे साधारणतः तालावों में हुआ करता है। समुद्र की गति में सब से भयानक चीज़ भवंर या भ्रमरावर्त्त है जो लहरोंवाली धारा के दो भागों में बँट जाने से बनता है। यह चूसने की विचित्र शक्ति रखता है और इस के चक्कर में पड़ कर कोई चीज़ नहीं बच सकती।

३—धारा, तूफान और तर्ला

सूर्य की भिन्न-भिन्न स्थितियों से सागर के ऊपरी तल के तापक्रम, घनता और वायुवेग में बराबर देश-देश में अन्तर पड़ता रहता है। इन कारणों से जल के नीचे ऊपर की गति तो बहुत मन्द हुआ करती है परंतु सीधी दिशाओं में वेग से धारा चलती रहती है। सम्पूर्ण सागर में सर्वत्र धाराओं की सी गति नहीं है। महाद्वीपों को घेरते हुए सागर के भागों में नदियों की धारा की तरह पचासों मील के पाट में सागर की धाराएं बहती हैं। विशाल विस्तृत जल के फैलाव के भीतर ऐसी धारा भी दीखती है और उसके दोनों किनारे भी साफ अलग मालूम पड़ते हैं। खाड़ी नदी (गल्फ स्ट्रीम) के नाम से प्रसिद्ध धारा मील की चौड़ाई में पाँच मील प्रति घण्टे के वेग से बहती है। इस का नाम खाड़ी नदी इसलिये पड़ा कि यह मेक्सिको की खाड़ी से चलती है और अत्यंत नमकीन गरम पानी के नदी के रूप में फ्लारिडा के डमरूमध्य से होकर निकलती है और हटेरों के अंतरीप को छोड़कर पूरब की तरफ को बल खाती हुई अतलांतिक महासागर में फैल जाती है। इस से कई शाखाएँ निकलती हैं। उत्तर को जानेवाली शाखाएं ब्रिटेन और नारवे के समुद्र तट के पास से होकर जाती हैं। परन्तु मुख्य धारा दक्षिण की ओर जाती है और कनारी द्वीपों से दूर पर उत्तरी भूमध्य रेखावाली धारा में मिल जाती है। और उत्तरी भूमध्य-वाली रेखा अनुकूल वायु की उस धारा से उठती है जो अफ्रीका के समुद्र तट से बहा करती है। सागर में ऐसी धाराएँ नियम से बहती रहती हैं। ऐसा जान पड़ता है कि समुद्र का मंथन हो रहा है जिस में परमेश्वरी मथानी उत्तर की ओर तो घड़ी की सुइयो

की दिशा में चलती है और दक्षिण की ओर उलटी दिशा में। जब यह मंथन है तो बीच की शांत जगह भी कोई होनी चाहिये। ऐसी पांच जगहें सागरों में पायी जाती हैं जिन में से मुख्य सर्गस्सा समुद्र है जो अतलांतिक महासागर में उत्तरी भाग में स्थिति है और जिस के किनारे से होते हुए कोलम्बस ने अपनी पहली यात्रा की थी। यहां का जल प्रशांत होने के कारण आप-पास से बहती हुई चीजें आकर इकठ्ठी हो जाती हैं। लाखों बरस से टूटे हुए जहाज बहते हुए पेड़ आदि के सिवाय सामुद्रिक सेवार यहाँ इकट्ठा होता रहा है। लैटिन भाषा में शैवाल या सेवार को सर्गस्सा कहते हैं। इसलिये इस का सर्गस्सा समुद्र नाम पड़ा। बहुत काल पीछे यही समुद्र का विस्तार पटते-पटते एक महाद्वीप बन जा सकता है और काल पाकर प्राचीन संसार की सभ्यता अपने प्राचीन स्थान को छोड़कर यहां नवीन रूप धारण कर सकती है।

ऊपर से नीचे की ओर वेग से बहती हुई वायु के प्रबल धक्कों से जलतल दबकर गहरा हो जाता है, परंतु जिधर धक्के की गति होती है उसी ओर को। दबा हुआ जल ऊंची लहर का रूप ग्रहण करता है और धक्के के कारण आगे बढ़ता है। तुंग तरंगमाला का यही कारण होता है। लहर का शिखर जितना ही आगे बढ़ता है उतना ही उस का खड पीछे को हटता है। जब यहीं तरंगमाला छिछले जल में पहुँचती है तो खडकी गति धरती से लगकर शिथिल हो जाती है और शिखर का भाग टूटकर विंदु-सीकरमाला का रूप ग्रहण कर लेता है। यह टूटनेवाली लहरें ऐसे धक्के देती हैं कि चट्टानें चिर जाती और चूर-चूर हो जाती हैं। लहर के एक शिखर से दूसरे की दूरी पाव मीलत तक हो सकती है और शिखर की ऊंचाई पचास फुट से भी अधिक हो सकती है। कुछ भी हो कितनी ही अधिक वेग और बलवाली लहर हो उस का प्रभाव गहराई में सौ पोरसां से अधिक नहीं होता। अधिक वेग से चलनेवाली वायु बड़ी-बड़ी विशाल लहरें उठाकर इसी तरह तूफान पैदा करती है। कभी-कभी छिछले चलनेवाली आंधी जल की एक पतली तह को वेग से अपने आगे उठाकर बहा ले जाती है जो या तो स्थल पर एका-एकी बाढ़ लाती है अथवा जल को समुद्र की ओर खींच ले जाकर किनारे को खाली छोड़ देती है। भूकम्प और बड़वानल के फूटने से भी विशाल भेड़ें उठती हैं। दो विरोधी दिशाओं में जानेवाली वायुधारा के वेग से मिलने पर बवंडर या वायु का भ्रमरावर्त्त बनता है और समुद्र में वायु के भ्रमरावर्त्त से जल का फौवारा उठता है। परंतु जल में इस से बहुत वेग का भ्रमरावर्त्त नहीं बनता।

भूपिंड के सारे धरातल पर विचार करें तो हम धरातल को तीन प्रकारों में बांट सकते हैं। एक तो महाद्वीपीय धरातल हैं जिन में (१) समुद्र तट से सवा दो हजार फुट की औसत ऊँचाई की धरती, (२) महाद्वीपों के चारों ओर के छिछले पानीवाले धरातल, और (३) महाद्वीपीय टापू जो महाद्वीप से छिछले जलाशयों द्वारा ही अलग हुए हैं, यह तीन शामिल हैं। दूसरे, महाद्वीपीय ढाल है जो छिछले पानीवाले धरातल से आरम्भ होकर समुद्र की गहराई तक पहुँचा हुआ है, जो धरती के संपूर्ण धरातल के षष्ठांश के लगभग घेरे हुए हैं। तीसरे समुद्र की प्रकृत गहराई के नीचे की विस्तीर्ण धरातल है जो सब मिलाकर लगभग एक अरब वर्ग मील के विस्तार में फैला हुआ है। इतने विस्तीर्ण क्षेत्र में

कहीं-कहीं ऊँची-नीची लहरीले तल की धरती भी है और कहीं-कहीं अत्यंत ऊँचे शिखर और बड़वानल के बनाये द्वीप हैं जो जल से ऊपर गये हैं। परंतु यह सब इस विशाल विस्तार में विंदु के समान हैं। कहीं-कहीं भयानक गहराई के गर्त्त भी इसी क्षेत्र में हैं। मरे महोदय का विश्वास है कि विस्तीर्ण क्षेत्र बड़े-बड़े भयानक बड़वानलीय चिरावों के द्वारा विशाल भागों में विभक्त हैं और इन्हीं चिरावों में से धरती अपनी भीतरी ज्वाला उगलती और धरातल में परिवर्त्तन करती रहती है। जान पड़ता है कि सामुद्रिक बड़वानल से धरती धँसती है और स्थलीय ज्वालामुखी से धरती उभरती है। लगभग साढ़े पांच करोड़ वर्ग मील के फैलाव में लाल मिट्टी की जमती हुई तह है जो विलक्षण है और जिस के कारण का पता अभी नहीं लगा है।

४—सामुद्रिक जीवन

स्थलचरों और नभचरों, स्वेदजों और उद्भिज्जों आदि सब को मिलाकर भी देखा जाय तो गिनती में जल के प्राणियों की अपेक्षा कम ही ठहरेंगे। जल का एक नाम "जीवन" भी है। जल का अनन्त पारावार वास्तव में सभी अर्थों में जीवन का अनन्त पारावार है। हम अन्यत्र जल के सभी तरह के प्राणियों के जीवन का दिग्दर्शन विकास के प्रसंग में कर आये हैं। यहां हम इतना कह देना आवश्यक समझते हैं कि सूर्य्य की प्रत्यक्ष किरणें पांच सौ पोरसों तक पहुंच जाती हैं और अप्रत्यक्ष रासायनिक किरणें और अधिक गहराई तक पहुँचती हैं। इस प्रकार सूर्य्य का उत्पादक प्रभाव बहुत बड़े क्षेत्र तक पहुँचता रहता है। शैवाल आदि जलोद्भिज्जों के बहते बागों से लेकर पारमाणविक जलोद्भिज्ज तक इन्हीं किरणों के आश्रित हैं। इनमें निरंतर प्रकाश द्वारा रासायनिक क्रिया से असंख्य प्रकार के यौगिक बनते रहते हैं। कर्बन-द्वयोषिद के टूटने से और जल में वायवीय ओषजन के घुलते रहने से ऊपरी तल में अनन्त प्रकार के प्राणी एवं मछलियां ओषजन पाकर जीवन-रक्षा करती हैं। अत्यंत सूक्ष्म अणुवीक्षण यंत्र से भी दुर्भेद्य प्राणी एक-एक जलबिंदु में कोटि-कोटि की संख्या में रहनेवाले समुद्र में अनन्त हैं. बड़े-बड़े प्राणियों की भी चर्चा अन्यत्र हो चुकी है।

समुद्र का जल कहीं आसमानी, कहीं नीला, कही गाढ़ा नीला, कहीं काला, घोर काला, और ध्रुव प्रदेश आदि में बिल्कुल हरा देख पड़ता है। शुद्ध स्वच्छ जल का वास्तविक रंग आसमानी है जो खाड़ी-धारा का भी रंग है। जान पड़ता है कि खाड़ी धारा में शुद्ध जल बहता है। ध्रुव प्रदेश में जलोद्भिज्ज, घुलित लवण, प्रकाश के किरण आदि अनेक कारणों से हरा रंग दीखता है। आकाश के रंग के प्रतिफलित होने से भी समुद्र के जल का रंग नीला, काला आदि दीखता है।

समुद्र अत्यंत उत्तर खंड में जाड़ों में बरफ की चट्टानों से पटा रहा करता है। समुद्र के नमक से लदे जल का बरफ शुद्ध जल के बरफ से भारी होता है, पर तो भी उस पर एस-किमो जाति के लोग अपनी बे-पहिया की, फिसलनेवाली नावगाड़ी पर निर्भय चढ़े दौड़ते रहते हैं। बरफ की चट्टानें स्थिर धरती सी हो जाती हैं।

जहाँ दिन-रात साल-के-साल बरफ जमा रहता है वहाँ भी भीतर गहराई में जल रहता है। उत्तरी और दक्षिणी मेरु-प्रदेशों में यही हाल है। जल में धीरे-धीरे बहते हुए बरफ के पहाड़ जो देख पड़ते हैं उन के नव भाग से अधिक जल के भीतर रहते हैं, केवल एक भाग जल के ऊपर रहता है। यह पहाड़ बह-बह कर गरम प्रदेशों में भी पहुँच जाया करते हैं और भयंकर उपद्रव के कारण हुआ करते हैं। समुद्र के पानी के ठंढे रहने के कारण यह बड़ी देर में गलते हैं। सौर संवत १९६९ वि० के पहले दिन टैटनिक नाम का जहाज एक ऐसे ही चल हिमशैल से टकराकर नष्ट हो गया और १५१७ मनुष्यों के प्राण लिये। यह हिम-शैल लंबे-चौड़े टापुओं की तरह होते हैं। इन के साथ बहुत-कुछ विजातीय पदार्थ और लवण आदि भी रहते हैं और इन के गलने से समुद्र के ताप और लावण्यता दोनों में कमी-बेशी पड़ जाती है।

समुद्र जैसे जीवन से भरा हुआ है उसी तरह सांसारिक जीवन की रक्षा में इस से बहुत सहायता भी मिलती है। समुद्र से उष्ण कटिबंधवाली सूर्य्य की भयानक गरमी का शोषण हो जाता है और वह उन जगहों पर पहुँचायी जाती है जहाँ शीत अधिक है। जहाँ अत्यंत गरमी है वहाँ बहाव से मेरु प्रदेशों की जलधारा आकर ठंढक पैदा कर के गरमी की तेजी को घटा देती है। समुद्र के जल की ही गरमी सरदी से सब तरह की हवा उठती है जिस से भलाई-बुराई दोनों होती है। समुद्र के ही कारखाने से संसार को जल मिलता है। समुद्र नदी को आदि और अन्त दोनों है। वायुमंडल के वायव्यों के शोषण और विसर्जन से यह वायुमंडल को एकरस बनाता रहता है। समुद्र रत्नाकर है। इस से मनुष्य अनेक रत्न पाते हैं।

जल का आरम्भ भी चट्टानों से हुआ है। उन्हीं में से अत्यंत उत्तप्त दशा में उज्जन और ओषजन अलग हुए। फिर ताप के कुछ कम होने पर दोनों ने मिलकर जल का रूप ग्रहण किया था। सुदूर भविष्य में जब सूर्य्य शीतल हो जायगा और धरती पर अत्यंत शीत का साम्राज्य हो जायगा तब सारा समुद्र जमकर चट्टान का धरातल हो जायगा और उस के ऊपर द्रवीभूत वायुमंडल का समुद्र लगभग चालीस फुट औसत गहराई का बहने लगेगा।

चौबीसवां अध्याय

ऋतु-विज्ञान

१—तब की और अब की दुनियां

पृथ्वी का धरातल दो बड़े वेष्ठनों से घिरा हुआ है। एक तो जल है जिस का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। दूसरा वेष्ठन वायु है जिस पर ही प्रायः इस संसार में ऋतु-परिवर्तन अवलंबित है और जिसकी ऊँचाई दो सौ मील से भी अधिक समझी जाती है। इन दोनों महावेष्ठनों में निरंतर परिवर्तन होते रहने से धरातल के आकार और ऊँचाई-नीचाई में बराबर परिवर्तन होता रहता है। भूगर्भ के बड़वानल से भी पृथ्वी भर में उस के धरातल का परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन दस-बीस बरस में ऐसे भारी और स्पष्ट नहीं होते कि जिन पर साधारण लोगों की निगाह पड़े। परन्तु लाखों बरस के बीच तो संसार का इतना प्राकृतिक परिवर्तन हो जाता है कि पृथ्वी का नक्शा ही बदल जाता है।

भूगोल आज दो भागों में बँटा समझा जाता है। एक में उत्तर मध्य और दक्षिण अमेरिका है और दूसरे में यूरोप एशिया अफ्रीका और आस्ट्रेलिया है। पहले विभाग के पूर्व में अतलांतिक और पश्चिम में प्रशान्त महासागर है। दक्षिण में दक्षिण महासागर और उत्तर में उत्तर तथा हिम महासागर है। इसी प्रकार दूसरे विभाग के उत्तर में उत्तरीय तथा हिम महासागर और दक्षिण में हिन्द तथा दक्षिण महासागर है, और पूर्व तथा पश्चिम में क्रमशः प्रशान्त तथा अतलान्तिक महासागर है। आस्ट्रेलिया के ईशान कोण में प्रशान्त महासागर के विशाल वक्षस्थल पर नकशे में अनेक नन्हें-नन्हें टापू देखे जाते हैं जिन सब के समूह को पालिनीशिया कहते हैं। उत्तर और दक्षिण मेरुओं पर भी बरफ से ढका स्थल का बड़ा विस्तार है परन्तु यह द्वीप प्रायः जनशून्य हैं यद्यपि जीवन-शून्य नहीं हैं। उत्तरी अमेरिका के ईशान में हरितद्वीप के नाम का विस्तीर्ण टापू है जिस पर एस्किमो जाति के मनुष्य रहते हैं। आस्ट्रेलिया के पास तस्मान्या और नवजीलैंड नाम के द्वीप भी हैं जो आस्ट्रेलिया से ही सम्बद्ध समझे जाते हैं।

प्राकृतिक रूप से अमेरिकावाला गोलार्ध जिसे नयी दुनियां भी कहते हैं एक ही भूखंड का विस्तार है, उत्तरी अमेरिका से मध्य और दक्षिण अमेरिका बिलकुल मिला हुआ है। इधर एशिया वा जम्बूद्वीप के उत्तरी अमेरिका हमारे ईशान और अमेरिका के वायव्य कोण में अलूशियन द्वीपमाला के द्वारा मिला सा ही है। दूसरे गोलार्ध में एशिया और युरोप का भूखंड तो एक ही है। यह दोनों महाद्वीप वस्तुतः प्राकृतिक रीति से अलग नहीं हुए हैं। अफरीका भी इतना अधिक मिला हुआ है कि हम एशिया और अफरीका को भी एक ही भूखंड मानने को लाचार हैं। आस्ट्रेलिया और इस महाभूखंड के दक्षिण एवं अग्निकोणवर्त्ती द्वीप तो सभी अलग हैं। परन्तु इन द्वीपसमूहों को एक अलग विभाग मान लें तो इस पुराने गोलार्ध में केवल दो भूखंड हुए।

हमने धरती के वर्त्तमान रूप को हस्तामलकवत् यहां दिखा दिया। परन्तु अत्यंत प्राचीन काल में, जिस की कोई सुधि या स्मरण मानव इतिहास को नहीं है और जिस के लाखों बरस से अधिक बीते होंगे, धरती का नक्शा वर्त्तमान से बिलकुल भिन्न था। अनुमान से हम उस का वर्णन यहां देते हैं।

पालीनीशिया द्वीपपुंज की जगह एक बहुत विस्तृत महाद्वीप था जिस के बड़े ऊंचे-ऊंचे पर्वत-शिखर आज छोटे-छोटे टापू से दीखते हैं। आस्ट्रेलिया आदि द्वीप उस से प्राय-द्वीप के रूप में मिले हुए थे। दक्षिणी अफरीका का भाग उत्तरी से सहारा महासागर द्वारा बिलकुल अलग था और अपने आस-पास के द्वीपों से मिलकर एक छोटा-सा महाद्वीप था जो एशिया से सर्वथा अलग था। सहारा सागर और भूमध्य सागर और काला और कश्यप और लाल समुद्र सब एक थे। और इस महासागर के भीतर बहुत छोटे-छोटे टापू छिटके हुए थे। यह नैऋत्य महासागर था जो नैऋत्य दिशा में दूर तक बढ़कर अतलांतिक महा-द्वीप से वर्त्तमान दक्षिण अफरीका को अलगाता था। वर्त्तमान अतलांतिक महासागर जहां लहरें मार रहा है वहां एक अत्यन्त विस्तीर्ण और सभ्य समृद्ध महाद्वीप था जहां मायावी दानवों का निवास था। इस के पच्छिमी किनारे पर उसी जगह प्रशान्त महासागर फैला हुआ था जहां आज उत्तरी अमरीका बसा हुआ है। इस प्रशान्त महासागर का पच्छिमी किनारा उस समय के पालिनीशिया महाद्वीप का पूर्वी तट था। मेक्सिको और दक्षिणी अमेरिका एक और महाद्वीप बनाते थे। इधर एशिया में भी भारतवर्ष में बंगाल में समुद्र लहराता था। राजस्थान भी एक स्थलावेष्ठित समुद्र था। शेष प्रांत जैसे आज हैं वैसे ही तब थे। परंतु एशिया में गोबी महासागर उधर उत्तर कुरु को उत्तर में और चीन को पूर्व में, तिब्बत को दक्षिण में अपने किनारे पर बसाये हुए था। पश्चिम में इस का एक खंड नैऋत्य सागर से और अग्निकोण में इस का दूसरा खंड चीन समुद्र से जाकर मिलता था। उस समय महा-ब्रिटेन का अधिकांश उत्तर महासागर के जल के नीचे था। उत्तर और दक्षिण महासागर के उत्तरी और दक्षिणी किनारों पर क्रमशः सुमेरु और मेरु महाद्वीप थे। यह महाद्वीप जना-कीर्ण थे, सभ्य और समृद्ध थे, क्योंकि उस समय इन द्वीपों में आज-कल की सी घोर सरदी न थी। उस समय बारहों मास वहां बसन्त ऋतु बनी रहती थी। संसार के और महाद्वीपों की भी ऋतुएं बहुत ही अनुकूल थीं। यह सचमुच सतयुग रहा होगा।

चित्र १२०—समुद्रतल से सत्ताईस मील अन्तरिक्ष तक मनुष्य के करणों और उपकरणों की पहुँच की सीमा [रामलाल का अनुकरण]
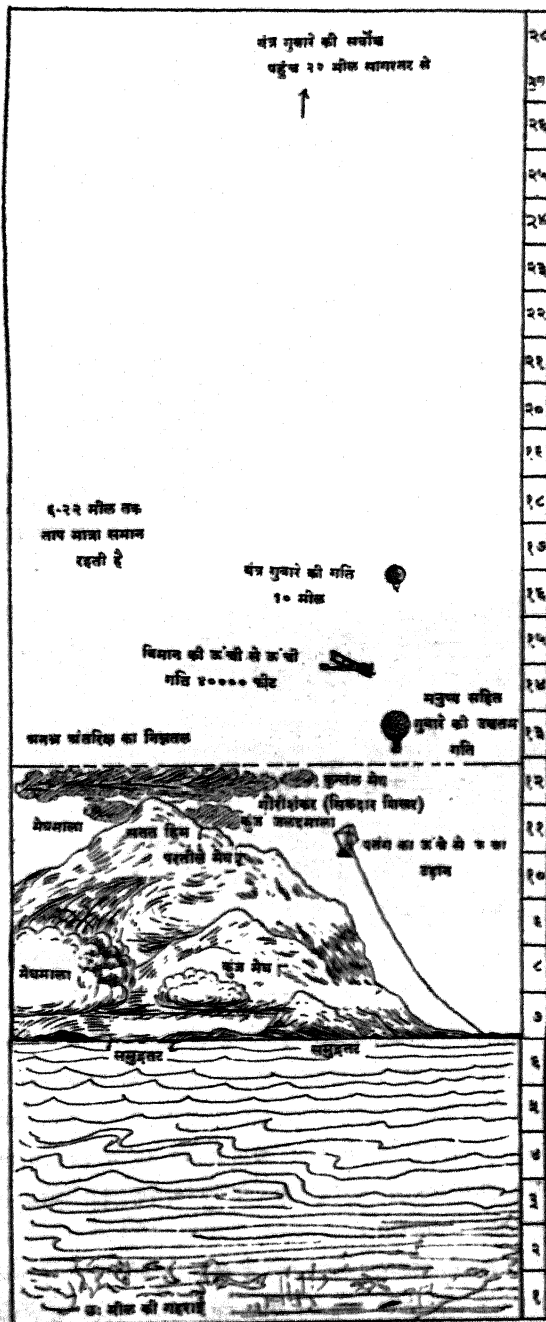
ऋतुओं की दशा प्राचीनकाल में और प्राचीन देशों में जैसी थी वैसी आजकल नहीं है। इस बात का प्रमाण तो प्राचीन वैदिक मंत्रों से भी मिलता है और यह बातें विज्ञान से भी इसी तरह प्रमाणित होती हैं।

ऋतुओं की दशा आज विभिन्न है। उत्तर खंड में आत्यंतिक शीत के कारण बहुत कम मनुष्य रहते हैं। छः मास की रात में विद्युज्ज्योति का प्रकाश रहता है। [चित्र ५६ क, ख, देखिये।] परन्तु हिम के आधिक्य से इस प्रकाश में भी मनुष्य कुछ कर नहीं सकता। जीवन रक्षा ही कठिन होती है। समझने के सुभीते के लिये धरती का जो विभाग कटिबन्धों में किया गया है, उसमें समशीतोष्ण कटिबंधों में सरदी भी घोर पड़ती है और गरमी भी। उष्ण कटिबंध में गरमी अधिक पड़ती है। सरदी तो पड़ती ही नहीं। मनुष्य प्रायः सभी ऋतुओं और सभी देशों में रहता है और अपने जीवनक्रम को तदनुकूल बना लेता है।

हमारा भूमंडल वायुमंडल के महासागर से घिरा हुआ है जिसका निचला भाग अधिक घना है और ऊँचा भाग बहुत तरल है। निचले में भारी भारी वायव्य हैं, जैसे नोषजन, ओषजन, कर्बनद्वयोषिद, अर्गन, जलवाष्प आदि। ऊपरी भाग में शायद उज्जन और हिमजन यही दोनों हलके वायव्य हैं। इन दोनों में हिमजन या हीलियम की ही मात्रा अधिक समझी जाती है। सरदी गरमी की दृष्टि से भी दो विभाग माने जाते हैं। धरातल से कुछ ऊँचाई तक तो ज्यों ज्यों ऊपर उठते हैं सरदी बढ़ती जाती है, परंतु एक हद तक पहुँच जाने के बाद सरदी अपनी हद को पहुँची जान पड़ती है और प्रायः स्थिर सी हो जाती है। इस ऊपरी तह को स्थिर मंडल और निचली तह को अस्थिर मंडल कहते हैं।

२—वायुमंडल की जांच

वायुमंडल के ऊपरी भाग को जाँचने और थहाने के लिये गुबारे काम में आते हैं। गुबारे के भीतर ऋतुमापक यंत्र लगा रहता है। यह इतना छोटा होता है कि एक डाक के टिकट से छिप जा सकता है। परंतु इसके चारों ओर बाँस की खपाचियों का एक पिंजरा सा बना रहता है। जब निर्दिष्ट ऊँचाई तक पहुँच कर गुबारा फट जाता है तब उस का बचा-बचाया चौखटा उस बाँस के पिंजरे के भीतर उस नन्हें से यंत्र को लिये झोंके को सँभालता हुआ धरती पर गिरता है। पिंजरे के कारण यंत्र को तनिक भी धक्का नहीं पहुँचता। चढ़ते हुए मार्ग में यंत्र वहाँ के ताप चाप आर्द्रता आदि अनेक बातों को अंकित कर लिये रहता है। इसी विधि से बारंबार के प्रयोग से ऊपरी वायुमंडल की दशा की अटकल लगायी जाती है। इस यंत्र का अंकन बड़ा सूक्ष्म होता है और अणुवीक्षण यंत्र से पढ़ा जाता है। ऐसे गुबारों में एक सूचना यंत्र के साथ रखी रहती है कि इसे जो अमुक कार्य्यालय तक पहुँचा देगा उसे इतना धन पुरस्कार में मिलेगा।

एक और तरह के गुबारे जो बहुत छोटे होते हैं और फूलने पर १८ इंच से लेकर २४ इंच तक ही बढ़ सकते हैं छोड़े जाते हैं। यह नष्ट नहीं होने पाते और इनकी चाल दूरबीन लगाकर देखी जाती है। यह पहले रबड़ के बने रहते हैं और किसी गहरे रंग में रंगे

रहते हैं कि आसानी से दिखाई पड़ सकें। हवा की विविध दिशाओं में पड़कर विविध मार्गों से यह गुब्बारे चलते हैं और दूरवीक्षण यंत्र लगाकर इन्हें बराबर देखा जाता है।

गुब्बारों की विधि से यह देखा गया है कि ज्यों-ज्यों गुब्बारा ऊँचाई पर चढ़ता है त्यों-त्यों ठंढक पड़ती ही जाती है। परंतु यह बाढ़ छः मील से अधिक ऊँचे नहीं जाती। सब से अधिक दूरी जो अब तक इस तरह थहायी गयी है बाईस मील है। यह मालूम हुआ कि छः से लेकर बाईस मील तक ठंढक स्थायी सी रहती है, न घटती है और न बढ़ती है। हवा, आंधी, तूफान, बादल, सब की सीमा छः मील तक है। इसके ऊपर शान्त और क्षीण
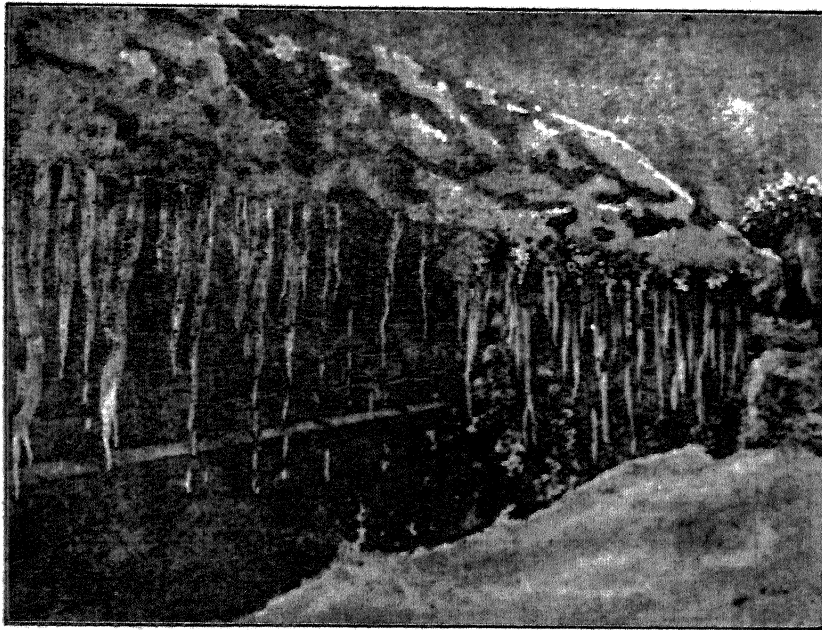
चित्र १४८—आत्यंतिक शीत से रुई के गाले की तरह जमता हुआ हिम छत से लटक रहा है और कहीं-कहीं टपक रहा है।

[टामसन का अनुकरण

वायुमंडल है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस सीमा से ऊपर भी इसी प्रकार शान्त अवस्था है। ऊँचाई के साथ मिलान करने पर यह पता लगता है कि भूमध्य रेखा पर अधिक-से-अधिक तीन मील की ऊँचाई तक जीवन का अस्तित्व पाया जाता है। ज्यों-ज्यों यहां से ध्रुवों की ओर बढ़ते हैं त्यों-त्यों जीवन-योग्य वायुमंडल की ऊँचाई और गरमी धीरे-धीरे घटती जाती है। यहाँ तक कि मेरु देश में पहुँचते-पहुँचते यही सीमा धरातल के लग-

भग पहुँच जाती है। तात्पर्य यह कि जीवित प्राणी भूमध्य रेखा पर तीन मील की ऊँचाई पर पाये जाते हैं परंतु ध्रुवों के प्रदेश में धरातल पर ही जीवन का सुरक्षित रहना कठिन होता है।

३—ऋतुपरिवर्तन के कारण

वायुमंडल में जो परिवर्तन निरंतर होते रहते हैं उनका कारण ताप और चाप का निरंतर होते रहनेवाला परिवर्तन है। एक तो धरती में ही भीतरी गरमी है जो बाहरी चिप्पड़ को निरंतर एक गरमी पर रखे रहती है। दूसरे सूरज की किरणों से बराबर उसपर बाहरी गरमी का भी प्रभाव पड़ता रहता है। धरातल की दशाएँ भी भिन्न-भिन्न हैं। कहीं मिट्टी है कहीं रेत, कहीं पत्थर है कहीं जल, कहीं हरियाली है और कहीं ऊसर-बंजर। इस प्रकार ऊपर से आनेवाली गरमी कहीं बिलकुल सोख ली जाती है और कहीं उलटकर ऊपर को ही आँच उठती है। कहीं कुछ-कुछ दोनों बातें होती हैं। जल पर जब धूप पड़ती है तब उसे गरमा देती है, साथ ही ऊपरी तह भाफ बनकर उड़ जाती और वायु में मिल जाती है। सूखी धरती बड़ी जल्दी तप जाती है परंतु जल के तपने में बड़ी देर लगती है। यही बात है कि दुपहरी में धरती पर बड़ी गरमी होती है परंतु जल में फिर भी ठंढक ही होती है। इसीलिए समुद्रतट से दूर ग्रीष्म ऋतु में भयानक गरमी पड़ती है परंतु समुद्र के आस-पास के देशों में वायु में बड़ी आर्द्रता होती है और तपन कम होती है। इसी तरह जाड़ों में समुद्र से दूरवाले देशों में दिन भर की तपी हुई भूमि विकिरण के कारण बहुत जल्दी ठंढी हो जाती है और जाड़ा तेज पड़ने लगता है। परंतु समुद्र तट पर पानी से गरमी का विकिरण बहुत ही मंद होता है। इसीलिए जाड़ों में समुद्रतट पर सरदी भी तेज नहीं पड़ती। इस प्रकार समुद्र के आस-पास ऋतुओं की कड़ाई कम होती है।

वायव्यमात्र में कुछ विशेष गुण होते हैं। गरमी से वायु चारों ओर फैलती है और आयतन बढ़ जाता है। आयतन बढ़ने से वायु ठंढी हो जाती है और तापांश घट जाता है। ठंढक से संकोच होता है। दबाव से आयतन घटता है और गरमी बढ़ जाती है। दबाव घटा देने से आयतन बढ़ जाता है और साथ ही ठंढक भी बढ़ जाती है। हमारे वायुमंडल में जब एक ओर दबाव बढ़ जाने से आयतन घट जाता है। तो उस ओर और तरफ से हवा बह आती है और इस तरह हवा में बहाव पैदा होता है। साथ ही अधिक दबाव की दिशा से कम दबाव की दिशा में भी हवा का बहाव होना स्वाभाविक है। इसी तरह हवा की धारा बंध जाती है।

४—हवा की धाराएं और मौसमी हवा

अब यदि भूतल के एक भाग में गरमी के बढ़ने से हवा में फैलाव बढ़ जाय तो उस के ऊपर की हवा बहुत दब जायगी। अब यहां की हवा में उसके चारों ओर की हवा की अपेक्षा अधिक दबाव होगा। इसलिए जिधर दबाव कम है उधर की ओर हवा की धारा

बह चलेगी। परन्तु इस धारा के बहने से आगे की ओर नीचे की तहों की हवा दबती जायगी। इसका फल यह होगा कि अब जिस स्थान में हवा में ज्यादा तपन पैदा हुई थी उसके चारों ओर की हवा में ज्यादा दबाव पैदा हो जायगा और चारों ओर से उमड़कर गरम हवा की ओर धारा बहेगी। इस तरह वायु के प्रवाह का एक चक्र बन जायगा जिससे बेग से हवा बहने लगेगी। घर में जब नीचे और ऊपर दोनों ओर खिड़कियां खुली होती हैं तब गरम हवा ऊपरवाली से बाहर को निकल जाती है और नीचेवाली से ठंढी हवा भीतर की ओर आती है। इस प्रकार का वायुचक्र हर जगह संसार के सभी भागों में बराबर चलता रहता है। परन्तु यह सभी स्थानीय वायु-प्रवाह हैं।

परंतु सूर्य्य की तपन भूमध्यरेखा पर सब से अधिक होती है और ऐसे देशों में वर्ष के भीतर सूर्य्य की ऊंचाई में बहुत कमी-बेशी पड़ती रहती है। इसलिए यह तो स्पष्ट ही है कि वर्ष के भीतर ही ऋतुओं में बड़े-बड़े परिवर्तन होने चाहियें। यह महान परिवर्त्तन यदि यहां विस्तार से वर्णन किये जायँ तो पाठकों को उन के एच-पेंच में रस न आयेगा। इसलिये हम यहां बहुत मोटी-मोटी बातें बतायेंगे।

भूमध्यरेखावाले प्रदेशों में सूर्य्य का सब से अधिक ताप काम करता है। हवा गरम होकर ऊपर की ओर उठती है और फैल जाती है और उस की जगह लेने के लिये उत्तर और दक्षिण की ओर से, विशेषतया कर्क और मकर रेखाओं की ओर से, ठंढी हवा बहती है। यह भी ध्यान रहे कि यह हवा की धाराएं एक गोल और अपनी धुरी पर घूमते हुए महापिंड पर चल रही हैं। इस लट्टू की सी-गति के कारण सीधे पिंड के साथ-ही-साथ धारा नहीं चल सकती, वरन एक ओर को फेंकी सी जाती है। उसे लाचार हो धरती की गति की दिशा से चलना पड़ता है। इस प्रकार उत्तरी गोलार्ध में वायु की धारा दाहिनी ओर को और दक्षिणी गोलार्ध में बायीं ओर को, मुड़ती और घूमती रहती है। अब भूमध्य रेखा की दक्षिण और उत्तर की ओर जो हवा बहती रहती है उसे मुड़ते रहना पड़ता है और क्रमशः ईशान, आग्नेय कोणों से बहते रहना पड़ता है। इन्हें ईशान और आग्नेय व्यापारी हवाएं कहते हैं। इस के विपरीत भूमध्य प्रदेशों में जो गरम हवा ऊपर को उठी है वह व्यापारी हवाओं के ऊपर होकर बहती है और इस की दिशाएं क्रमशः नैऋत्य या वायव्य हैं और यह धाराएं प्रति-व्यापारी हवाएं कहलाती हैं। यह धाराएं कर्क और मकर रेखाओं के प्रदेशों में धीरे-धीरे उतरती हैं। कर्क रेखा के उत्तर की ओर धरातल को छूनेवाली हवा की एक मुख्य धारा नैऋत्य दिशा से आती है, पर मकर रेखा के दक्षिण अथवा दक्षिण गोलार्ध में इसी तरह की धरातलस्पर्शी धारा पश्चिमी वायव्य कोण की ओर से आती है। ऊपरी वायुमंडल में यह दिशाएं लगभग पश्चिमावर्त्ती हो जाती हैं। दक्षिणी गोलार्ध में सागर की अधिकता और उत्तरी में स्थल की अधिकता के कारण ऋतुओं का आत्यन्तिक घट-बढ़ उत्तरी गोलार्ध में ही होता है।

ऋतु-परिवर्त्तन का एक महत्व का प्रभाव सारे संसार में हमारे भारत देश की मौसमी हवाओं में ही देखा जाता है। प्रतिवर्ष नियमपूर्वक भारत देश पर मौसमी हवा की धारा आया करती है। हमारे देश में जाड़ों में ईशान कोण से हवा की धारा बहती है। जाड़ों में

एशिया के ईशान भाग में वायुमंडल का दबाव बहुत बढ़ा हुआ रहता है और उस ओर से हवा की धारा का बहाव बाहर की ओर चलता है। इसीलिए यह वायु ठंढी और सूखी हुआ करती है। परंतु जब गरमी पड़ने लगती है तो एशिया के ईशान का अत्यधिक दबाव एक साधारण घटे हुए दबाव में बदल जाता है। यह घटा हुआ दबाव चारों ओर ईरान और बलूचिस्तान के ऊपर अपना केन्द्र बनाकर फैलता है। साथ ही उसी समय हिन्द महासागर के दक्षिण में मदागास्कर और आस्ट्रेलिया के बीच के आकाश में आत्यन्तिक दबाव की अवस्था होती है और जब इस ऊंचे दबाव से हवा कम दबाव की ओर बहती है तो दहिनी ओर उस का मुड़ जाना आवश्यक है, इसलिये जब वह भारतवर्ष के किनारे टकराती है तो दक्षिण के बदले नैऋत्य दिशा से आती है। भूमध्य रेखा के नीचे सागर के विशाल विस्तार से वाष्प लेकर यह वायु जल से लदी हुई आती है। भारत के पच्छिमी किनारे पर ऊंचे पर्वत शिखरों से यह टकराती है, उसे ऊंचे उठना पड़ता है, उस का दबाव घट जाता है, वायु ठंढी हो जाती है और अब पहले की तरह अधिक मात्रा में भाफ को रख नहीं सकती। इसी भाफ के बादल बन जाते हैं और उसी नैऋत्य वायु से प्रेरित होकर देश के भीतर पहाड़ों को पार करके आकर बरसते हैं। इस प्रकार भारत के पच्छिमी किनारों पर नैऋत्य मौसमी हवा बादलों को लाकर मूसलाधार पानी बरसाया करती है। इसी तरह बंगाल की खाड़ी से आनेवाली दक्षिणी हवा आसाम के दक्खिन के पहाड़ों से टकराती है और बरमी किनारों तक भयानक वर्षा होती है। दोनों ओर से आनेवाली मौसमी हवाओं की सारी नमी पूरब और पच्छिम किनारों पर ही खर्च नहीं हो जाती। इसका बहुत सा भाग लंबी यात्रा करके हिमालय के दक्षिणी भाग से जाकर टकराता है और समस्त उत्तर भारत को जल से भर देता है। मध्य भारत में भी सब ओर से बादल आते हैं। निदान भारतवर्ष में उस की भौगोलिक स्थिति के कारण मौसमी हवाएं ठीक समय पर निश्चित रूप से आती रहती हैं। खासिया पर्वतमाला में दक्षिण आसाम में चेरापूंजी नामक स्थान में साल में लगभग पांच सौ इंच पानी बरसा करता है। संसार में कहीं इतना पानी नहीं बरसता।

५—अन्तरिक्ष-विद्या और अन्तरिक्ष-मान

सभ्य देशों में प्रायः ऋतु वर्षा आदि अंतरिक्ष संबंधी विषयों की जांच के लिये मान-मंदिर बने होते हैं। मानमंदिरों में भांति-भांति के यंत्रों के प्रयोग से अंतरिक्ष संबंधी सभी बातों की जांच नित्य क्षण-प्रति-क्षण होती रहती है। केन्द्रीय मानमंदिरों को चारों ओर के मान-मंदिर तार द्वारा बराबर रिपोर्ट भेजते रहते हैं। केंद्रकार्य्यालय सब का संग्रह करके ऋतु संबंधी अनुमान-पत्र निकाला करता है। केंद्र मानमंदिर में जो विवरण आते हैं उन में प्रत्येक स्थान के दबाव, तापांश, वायुधारा की दिशा और शक्ति, आर्द्रता, दृश्यता, धूप, वर्षा, मेघाच्छन्नता, ऋतु की विशेषता आदि अनेक बड़े काम की बातें दी हुई रहती हैं। इन बातों के जानने के लिये मानमंदिरों में यंत्रों का सुभीता रहता है और कहीं-कहीं बड़े मोल के यंत्रों की कमी बड़े चतुर और परिश्रमी कार्य्यकर्त्ता ही पूरी करते हैं। वायु का दबाव

जानने के लिये वायुभारमापक यंत्र काम में आता है। पारा भरी प्याली में एक गजभर की कांच की नली, एक ओर बंद दूसरी ओर खुली, शुद्ध पारे से पूरा भरकर प्याली के भीतर उलट दी जाती है। नली के साथ नापने के चिह्नों से युक्त एक चपटा सा गज लगाया जाता है। पारे की ऊंचाई से ही वायुमंडल के दबाव का पता लगता है। घड़ी की तरह का कमानीदार वायु-भार-मापक भी मिलता है। वायुभारमापक यंत्र के साथ-ही-साथ एक बेलन भी रहता है जिस पर ब्रोमाइड-पेपर इस तरह लिपटा रहता है कि उसके साथ के लगे हुए फोटो यंत्र के द्वारा इस घड़ी-यंत्र से घूमते हुए बेलन पर वायुभार के उतार-चढ़ाव की रेखाएं बराबर अंकित होती रहें। यह फोटो-यंत्र कमानीदार वायुमापक में इसलिये नहीं लगाया जाता कि उसमें नलिकावाले मापक की तरह बिलकुल ठीक अंक नहीं आते। तब भी ऐसे आठ यंत्रों को एक शृंखला में इस तरह मिलाकर रखते हैं कि सब की सम्मिलित गति से एक कलम घूमे और एक बेलन पर फैलाये हुए कागज पर रेखा अंकित करता रहे। यह बेलन भी यंत्र द्वारा धीरे-धीरे घूमता रहता है और सप्ताह में प्रायः एक चक्कर पूरा करता है।

वायु का तापांश तापमापक यंत्रों (थर्मामीटरों) से नापते हैं। पारे की नलिका में बहुत सूक्ष्म ताप पहुँचने पर भी पारा उठता है और बहुत सूक्ष्म कमी होने पर पारा उतर आता है। यंत्र पर अंशों के अंक बने रहते हैं जो तापांशों की कमी-बेशी की सूचना देते रहते हैं। मानमंदिरों में चार यंत्र विशेष ढंग से एक विशेष रचना के काठ-घर में लगाये रहते हैं। इस घर को स्टीवेंसन का चौकठा कहते हैं। यह घर पूरब पच्छिम २० इंच, दक्खिन उत्तर की दिशा में १३ इंच और भीतर-ही-भीतर पेंदे से छत तक १४ इंच ऊँचाई का होता है। छत दोहरी होती है जिस के भीतर की पोल हवादार होती है। इसी तरह सब ओर से इस घर में हवा आती है, परन्तु धूप नहीं पड़ने पाती। इस के भीतर एक चौकठे पर दो तापमापक खड़े लगे रहते हैं। इन में से एक की घुंडी बारीक तंजेब के गीले टुकड़े से ढकी रहती है जो पास रखे हुए एक जलपात्र में डूबे हुए धागों से बराबर भीगती रहती है। दूसरा यंत्र वास्तविक तापांश और पहला गीली घुंडीवाला उस से कुछ कम, प्रकट करता रहता है। सूखी ऋतु में दोनों का अन्तर बहुत रहता है। आर्द्र ऋतुओं में कम। कुहरा पड़ती बेर दोनों में अन्तर बहुत कम वा कुछ भी नहीं होता। परन्तु वर्षा के समय कभी-कभी बड़ा अन्तर होता है क्योंकि पानी बरसने से यह तो आवश्यक नहीं है कि हवा नम हो। इसी में दो और चौकठे लगे हुए हैं जिनमें आड़े तापमापक यंत्र लगे हुए हैं। इन यंत्रों से यह पता लगता है कि दी हुई अवधि में सबसे कम और सबसे अधिक कितना तापांश रहा है।

आँधी का बल और दिशा जानने के लिये वात-धारा मापक यंत्र काम में आता है। इस में एक ईस्पात के दंड के ऊपर नलीदार पंखा लगा रहता है। दंड की लम्बाई १५ से ८० फुट तक होती है। इसके सिरे पर का पंखा इस तरह बना होता है कि नली का खुला मुँह सीधे वायु की ओर रहा करता है जिस से वायु उसमें सीधे निरन्तर प्रवेश करती रहती है। उससे सम्बन्ध रखनेवाली नलियों के द्वारा नलिका के मुख पर की वायु के दबाव को नीचे के लेखन-यंत्र तक पहुँचाया जाता है। लेखन-यंत्र में एक खोखली बन्द चीज पानी पर कलम

चित्र १२१—वातावरण यन्त्र

ज्यार्ज न्यूज्स की कृपा]

[टामसन से अनुवर्त्तित

पकड़े बराबर बहती रहती है। वायु के दबाव से यह बहती चीज चढ़ती-उतरती रहती है। इसी से कागज पर अपने आप स्याही से रेखा करनेवाला कलम चलता रहता है। हवा के हर झोंके की कमी-बेशी से कलम बढ़ता-घटता हुआ चलता रहता है और रेखापुंज खिंचता रहता है। इसी रेखा-पुंज के मध्य भाग से नाप लेकर वायु की गति वेग और दिशा आदि का अनुमान किया जाता है। जिस कागज पर यह रेखाएँ होती हैं वह एक बेलन पर लिपटा रहता है जो घड़ी के यंत्र के सहारे दिन-रात में एक फेरा कर देता है। इसी तरह वायु की धारा क्षण-पर-क्षण नपती जाती है। जब आंधी चलती है तब उस का वेग औसत ५० मील तक हो जाता है। परन्तु अलग-अलग झोंके तो अस्सी-अस्सी मील प्रति घंटे के हो जाते हैं और मन्द वायु २० मील प्रति घंटे तक गिर जाती है। दिशा का लेखन भी पंखे के फिरने से उसी बेलन के नीचे एक और यंत्र के सहारे होता है।

वर्षा नापने के लिये एक विशेष प्रकार का नपना काम में लाते हैं। इसमें ऊपर एक कीप लगी रहती है। इसी पर से पानी बहकर कांच के नपने में जाता है जिस में घन इंच के शतांश तक की रेखा बनी होती है। ऊपर की कीप ५ या ८ इंच व्यास की होती है। इसी यंत्र से यह पता लगता है कि कितने इंच पानी बरसा है।

धूप नापने के लिये भी एक यंत्र कैम्बेल-स्टोक्स का बनाया हुआ काम में आता है, परन्तु अभी उस में बहुत से सुधारों की आवश्यकता है।

६—चक्रवात और मेघ

कभी-कभी असाधारण कारणों से वायुमंडल में बड़े भयानक चक्रवात और प्रति-चक्रवात भी उठते हैं जिन्हें बवंडर तूफान आदि नामों से लोग पुकारते हैं। यह साधारण नियमों के अपवाद के रूप में एकाएकी निकल पड़ते हैं, परन्तु इन की सीमा मर्यादित होती है और उस मर्यादा के भीतर-ही-भीतर जितने क्षेत्रफल पर यह तूफान आ पड़ते हैं उनकी बरबादी में एक रत्ती भी बाकी नहीं रह जाता। भारतवर्ष के भीतर इस तरह के बवंडर आते तो बहुत हैं परन्तु भयंकर बहुत कम होते हैं। कभी-कभी आसाम की ओर ऐसे भी सुने गये हैं जिन से भारी हानि हुई है। परन्तु शायद चालीस-पचास बरस में एक बार। अनुमान किया जाता है कि चक्रवातों और प्रतिचक्रवातों का कारण अस्थिर नीची वायु में ही नहीं है। इस का कारण स्थिर वायुमंडल अथवा अन्तरिक्ष में होगा जहाँ की असाधारण अस्थिरता से अस्थिर वायुमंडल में भयानक परिणाम देखने में आते होंगे। अमेरिका, जापान, एशिया के पूर्वी समुद्रतट पर एवं अमेरिका और युरोप के पच्छिमी तटों पर कभी-कभी भयानक चक्र-वात आ जाते हैं जो बस्ती-की-बस्ती उजाड़ डालते हैं।

समुद्र, झील, ताल, नद, नदी, तालाब, गड्ढे, कुएँ, निदान सभी जलाशयों से निरंतर भाफ के रूप में परिणत होकर जल उड़ता रहता है। यह भाफ हवा में मिलकर उसे आर्द्र बनाये रहती है। गरम हवा भाफ को वायव्य रूप में अपने में मिलाये रहती है परन्तु जब

ठंढी होती है, भाफ जम जाती है, नन्हें-नन्हें सीकर बन जाते हैं, और ओस-कण, कुहरा, मेघ और वर्षा का रूप देख पड़ता है। ठंढी हवा बिलकुल अनार्द्र तो नहीं हो जाती परन्तु वह गरम होकर जिस मात्रा में आर्द्रता को धारण करती थी, ठंढी होकर उतनी ही आर्द्रता नहीं धारण कर सकती। अन्तरिक्ष देश में अत्यन्त सूक्ष्म जलसीकर वा हिमसीकर जो वायु की शीतलता के कारण अलग-अलग जम जाते हैं वायु में भाफ की ही तरह अवलम्बित रहकर कुहरे या कुहासे का रूप ग्रहण करते हैं। इन के समूह का विस्तार और गहराई दोनों अत्य-धिक होने के कारण यह बहुत घने होकर हमें जिस रूप में दिखाई देते हैं उसे हम "घन" या बादल कहते हैं। नीचे की धरती से यह अनेक रूपों में दिखाई पड़ते हैं। ऊँचाई-नीचाई, प्रकाश के सीधे या आड़े-तिरछे पड़ने या न पड़ने से, धूपछाँह के तारतम्य से, तरह-तरह के रूप देख पड़ते हैं। पच्छाहीं अन्तरिक्ष विद्यावालों ने इसी हिसाब से बादलों के भाँति-भाँति के नाम रखे हैं।

आकाश में अनन्त रूपों और आकारों के बादलों में से कुछ का वर्णन करके हम वर्गीकरण का प्रयत्न करेंगे। सब से ऊँचे बहुत पतले परों के समूह की तरह घूंघराले बादल जो दिखाई पड़ते हैं उन्हें कुन्तलमेघ (सिर्रस) कहते हैं। यह लगभग पांच मील की ऊँचाई पर होते हैं। यह हिमकण के बने हुए होते हैं। इन पर प्रकाश पड़ने से बड़े विचित्र दृश्य देखने में आते हैं। चंद्रमा पर सूर्य्य के चारों ओर बड़े-बड़े मंडल भी इन्हीं से बनते हैं।

इन से कुछ ही नीचे उतर कर ऊँचे कुंज और उनीले मेघ (आल्टो-क्युम्युलस और सिर्रो क्युम्युलस) होते हैं। इन से अधिक सुन्दर मेघ आकाश में देखने को नहीं मिल सकते। बड़े विचित्र क्रम से तह-ब-तह रिसाले से छा जाते हैं। बरफ की तरह सफेद चौड़े सीधे समानान्तर रुई के गालों के बीच-बीच में छोटे-छोटे लहरीले बादलों की अनंत राशि देख पड़ती है। कभी-कभी जब आकाश थोड़ी देर को खुला रहता है इन्हीं बादलों की राशि से सूर्य्य और चंद्रमा के चारों ओर छोटी रंगीन मंडली दीखती है। इन की ही जगह कभी-कभी ऊँचे परतीले (आल्टो स्ट्रेटस) भी दीखते हैं। जान पड़ता है कि आकाश पर चिकना भूरा रंग सा चढ़ गया है जिस के बीच सूर्य्य या चंद्रमा का गोल प्रकाश का धब्बा सा दीखता है। यह दृश्य साधारणतया तब दिखाई पड़ता है जब आगे तो वायु-मंडल में चाप की कमी होती है और उस के पीछे कुंतल मेघमाला आ चुकी रहती है। इस दृश्य के बाद पानी जरूर बरसता है।

इस से भी नीचे धरती से लगभग एक मील की ऊँचाई पर काले मेघों की बहुत भारी राशि देख पड़ती है जिस के किनारे चाँदी की तरह चमकते सफेद होते हैं। यह कुंजमेघ (क्युम्युलस) कहलाते हैं। ऊपर चढ़ती हुई धरती के स्पर्श से गरमायी हुई वायु की धाराओं से जो भाफ ऊपर को चढ़ती जाती है, उसी के ठंढे पड़ जाने से यह कुंज मेघमाला बन जाती है। इसी जगह इन्हीं मेघों के ऊपर प्रायः बरसनेवाले "जलद" (निम्बस) बादल की भारी खाकी या काली चीथड़ों से बनी हुई चांदनी पड़ी दिखाई पड़ती है। कभी-कभी इन कुंज जलदों के मिलकर बढ़ते-बढ़ते यह बादल डेढ़-डेढ़ कोस तक की गहराई की

मेघराशि या कादम्बिनी बन जाते हैं। यही कुंज रूप के घने जलद हैं जो देर तक छाये नहीं रह सकते। इन्हीं से घोर मूसलाधार जल बरसता है और ओले भी पड़ते हैं। इन्हीं में बिजली चमकती और कड़कती है। बादल के भीतर जल सीकरों पर बिजली इकट्ठी हो जाती है। यही बिजली एक ओर से दूसरी ओर को चिनगारियों के रूप में टूटकर बड़े वेग से चली जाती है इसी क्रिया में कड़क होती है, यही बादल की गरज है। परन्तु शब्द से लगभग दस लाख गुना अधिक वेग से प्रकाश चलता है। इसीलिये हमें बिजली की चमक पहले दिखाई देती है और गरज कुछ देर बाद सुनाई देती है, यद्यपि दोनों क्रियाएं बिलकुल एक साथ होती हैं और बादल से पृथ्वी की ओर भी आती हैं।

बड़े-बड़े ओलों की परीक्षा से पता लगा है कि यह ओले बरफ के छोटे-छोटे परतों से मिलकर बने हैं। कारण यह समझा जाता है कि जहां हिमसीकर बन जाते हैं वहां हवा की बड़ी वेगवती धाराएं ऊपर नीचे की दिशा में बहती हैं, और यह हिमसीकर भी उन्हीं धाराओं में पड़कर बड़े वेग से अनेक बार ऊपर-नीचे चक्कर खाकर एक दूसरे से टकराकर बढ़ते जाते हैं और जब काफी बड़े हो जाते हैं कि वहां के झोंकों में बहुत देर तक ठहर नहीं सकते और धरती से आकृष्ट होकर गिरते हैं, तो वेग के साथ गिरते हैं।

कुहरा या कुहासा वस्तुत: वह बादल है जो धरती को छूता हुआ रहता है। यह जलसीकरों का समूह है जो अत्यन्त दूर से देखने पर बादलों सा ही दीखता है। जब यह बहुत घना होकर पहाड़ों पर जलदवाले कुहासे के रूप में रहता है तो इस के भीतर चलने फिरनेवाले छतरी लिये भी और बिना वर्षा हुए भी पानी से शराबोर हो जाते हैं। रात में जब धरती बहुत जल्द ठंढी हो जाती है तो वायु की आर्द्रता उस के सम्पर्क में आकर जलसीकर बनकर ठंढी चीजों पर ओस के रूप में जम जाती है। जाड़ों में जहां अत्यंत सरदी पड़ती है, कुहासे के जलसीकर जमकर हिमसीकर बन जाते हैं और हिमसीकर ही इकट्ठे होकर रुई के गाले की तरह छतों, पेड़ों आदि पर जम जाते हैं। यही "पाला" कहलाता है। टपकता हुआ जल भी जमकर पाला बन जाता है। इन के भांति-भांति के अद्भुत रूप और आकार बन जाते हैं।

इस जगतीतल में सर्वत्र वायुमंडल रज-कण से लदा हुआ है। मिट्टी के, धुएं के, रेते के, सामुद्रिक सीकर के, नमक के, ज्वालामुखी की राख के, उल्कापात की धूल के, फूलों के, पराग के, अत्यंत नन्हे-नन्हे कणों की अनंत राशि सारे वायुमंडल में फैली हुई है। सूरज की रोशनी और धूप के और हमारे बीच में इन का बहुत गहरा-सा परदा पड़ा हुआ है। इनकी बदौलत आकाश में नीलिमा है नहीं तो घोर काला और भयानक सा लगता और आकाश में जो रंग बिरंगे दृश्य देखने को मिलते हैं वह न मिलते। उषा और गोधूलि वेला की मनोहारिणी अरुणिमा एवं अन्य मनोहर रंग इन्हीं कणों के प्रभाव से दीखते हैं। और वास्तविक बात तो यह है कि काफी ठंढक होने पर भी यह धूल और धुएं के कण न हों तो जलसीकर और हिमसीकर न बनें और न बादल ही बरसें। बादलों के बनने की ही नौबत न आये। धुएं की ही महिमा में तुलसीदास जी ने कैसी वैज्ञानिक बात कही है—

सोइ, जल अनल अनिल संघाता,
होइ जलद जग-जीवन-दाता।

नन्हे-नन्हे जलसीकरों की राशि पर जब सूर्य्य की किरणें पड़ती हैं और यह राशि सारे नभोमंडल में एक ही धरातल में होती है तो हर एक सीकर त्रिपार्श्वकांच का काम करता है और किरणों का प्रतिफलन और त्रोटन दोनों होने से इन्द्रधनुष की छवि देखने में आती है। यह जब निकलते हैं तब दो, एक चटकीला होता है तो दूसरा कुछ मंद। इन में से प्रत्येक में क्रम से बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी लाल यह सात रङ्ग दिखाई पड़ते हैं। जब कभी त्रिपार्श्व कांच में सूरज की किरणें पैठती हैं तो इन्हीं सातों रंगों में उन का विश्लेषण हो जाता है।

रंगों की विचित्रता सब से सुंदर भव्य मनोहर उन विद्युज्ज्योतियों में देख पड़ती है जो उत्तर और दक्षिण के सुमेरु और कुमेरु प्रदेशों में और उन के पास के अक्षांशों पर छः महीनों की रात में बराबर दिखाई पड़ती हैं और जिन की बदौलत वहां रात में भी उषा का-सा उजाला बना रहता है। इस ज्योति की पीली-हरी, गुलाबी या ईंगुरी किरणें जाड़ों में ध्रुव रेखाओं के बाहर के देशों में भी चमकती दिखाई देती हैं। यह ज्योति इंग्लिस्तान के वायुमंडल में लगभग ५० मील की ऊंचाई पर दिखाई देती है। हमारे देश में यह मनोरम दृश्य देखने में नहीं आ सकता। ऐसा समझा जाता है कि यह ज्योति सूर्य की ही ऋण विद्युत्कणों से आती है क्योंकि उन दिनों जब सूर्य के धब्बे सब से अधिक और बड़े होते हैं तब यह ज्योति सब से अधिक तेजोमय और विस्तृत दिखाई देती है। [देखिये चित्र ५६ क, ५६ ख, पृष्ठ ७६-८०]

ऋतु के संबन्ध में भारतीय ज्योतिष विद्यावाले अपनी गणना से वर्षा आदि के सम्बन्ध में लगभग ठीक ही अनुमान किया करते हैं. परंतु उनकी गणना ग्रहोपग्रह के योग पर निर्भर है। यह असंभव नहीं कि ग्रहोपग्रहों का ऋतु पर प्रभाव पड़ता हो क्योंकि अभी पाश्चात्य अन्तरिक्ष विद्या ऐसी अवस्था को नहीं पहुंची है कि सभी बातों को उसने नियमों के शिकंजे में बांध लिया हो और साधारण परिवर्त्तनों और विपर्ययों के मूल कारण को ठीक-ठीक समझ सकी हो। अनेक कहावतें भी अपने देश में प्रचलित हैं जो घाघ, भड्डर आदि के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिन की सत्यता की जांच हजारों बरस से अनुभव की कसौटी पर होती आयी है। इस तरह की कहावतें सभी देशों में चलती हैं, परन्तु हमारे देशों में यह बहुत हैं और किसान इन पर निर्भर करते हैं।

पचीसवां अध्याय

जीवाणु-विज्ञान

१—जीवाणुओं की खोज

जल स्थल और वायु तीनों से मनुष्य घिरा हुआ है। इनके बिना वह रह नहीं सकता। परंतु वह इस जलस्थल वायु-संसार में अनंत प्राणियों से भी घिरा है। यों तो छोटे-बड़े सभी तरह के प्राणी उस के चारों ओर जल स्थल और वायु तीनों में मौजूद हैं फिर भी यह तो बड़े-बड़े शरीरधारियों की बात हुई। वह पशुओं-पक्षियों जलचरों से कुछ काल के लिए एकांत पा सकता है। मक्खियों-मच्छरों से भी वह नजात पा सकता है क्योंकि यह भी आंखों से दीखते हैं। परंतु ऐसे अनंत और असंख्य जीवाणु जल-स्थल-वायु तीनों में भरे पड़े हैं जिन्हें अणुवीक्षण यंत्र से भी देखना कठिन है और जिन से एक इंच जगह भी बिल्कुल खाली मिलना प्रायः असंभव है। सारा जगत ही इन से भरा नहीं है. हमारी देह भी इन से खाली नहीं है। निदान यह सर्वत्र व्याप रहे हैं। अणुवीक्षण यंत्रों में आज तक ज्यों-ज्यों उन्नति हुई है त्यों-त्यों इन की व्यापकता की वैज्ञानिक कल्पना बढ़ती ही गयी है। इन का परिशीलन दिनों-दिन अधिकाधिक महत्व का समझा जा रहा है।

इस विषय का परिशीलन अणुवीक्षण यंत्र से आरंभ होता है। उस समय के वैज्ञानिकों ने जब पहले-पहल जीवाणुओं का निरीक्षण आरंभ किया तो उन की धारणा यह हुई कि यह चेतन प्राणी जड़ पदार्थ से ही किसी अविज्ञात रासायनिक क्रिया से बन जाते हैं। विकास सिद्धांत पर विचार करते हुए हम इस धारणा की चर्चा कर आये हैं। यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं है। इस धारणा पर साम्प्रतिक विचार यह है कि करोड़ों बरस पहले की आज की परिस्थिति से नितान्त भिन्न परिस्थति में संभव है कि जड़ से चेतन की उद्भावना हुई हो, परन्तु वर्त्तमान काल में तो जड़ से चेतन की उत्पत्ति असंभव समझी जाती है। फिर ज्यों-ज्यों इस विज्ञान का विकास हुआ त्यों-त्यों ठीक स्थिति के जानने में उन्नति हुई, जान पड़ा कि जीवाणु दो प्रकार के हैं, एक

तो उद्भिज्जाणु और दूसरे कीटाणु । फिर इन में भी अनेक प्रकार हैं। कीटाणुओं के विकास की चर्चा अन्यत्र हो चुकी है। उद्भिज्जाणुओं की चर्चा हम इस अध्याय में करेंगे।

यह जीवाणु अत्यंत सूक्ष्म छड़ की तरह लम्बे, या रेशेदार जलीय पौधे होते हैं। यह अत्यन्त सीधे-सादे आकार और बनावट के होते हैं और आड़े-तिरछे फटकर वृद्धि पाते हैं। यह विधि रासायनिक क्रियाओं के प्रवर्त्तक होते हैं, अनेक तरह के ख़मीर उपजाते हैं, परंतु जो शक्करों को फाड़कर मद्यसार बनाते हैं खमीरों से नितान्त भिन्न होते हैं। यह इकट्ठे करोड़ों की संख्या में एक साथ मिलते हैं और चौड़ाई में इंच के पचास सहस्र अंश होते हैं और लम्बाई में दूने अर्थात् इंच के पचीस सहस्र अंश होते हैं। इन राशियों में बहुतेरे सात आठ गुने लम्बे और कुछ अधिक चौड़े भी पाये जाते हैं। यह जब फटकर बढ़ते हैं तो कोई तो सीधे छड़ों के रूप में, कोई सर्पाकार और कोई-कोई कुंडल्याकार हो जाते हैं। कुंडल्याकार अणुओं के भी टुकड़े जो कामा (,) के रूप में कट जाते हैं, हैजा पैदा करनेवाले उद्भिज्जाणु होते हैं।

यह सूक्ष्म पौधे बड़ी तेजी से बढ़ते और एक से अनेक होते हैं। घास का एक विशेष उद्भिज्जाणु हर आध घंटे में दूनी लम्बाई का होकर कट जाता है और एक से दो हो जाता है। इसी प्रकार का एक और उद्भिज्जाणु अनुकूल दशा में पांच घंटे में १०२४ उद्भिज्जाणुओं में परिणत हो जाता है, दस घंटे में दस लाख से भी अधिक हो जाता है और २४ घंटों में तो दस खरब से भी अधिक हो जाता है। जिस द्रव में यह बन जाते हैं उस में देखने में तो गौंजनेवाले बादल से जान पड़ते हैं क्योंकि उन की ऊपरी तह पर प्राथमिक जीवपंक के बड़े कोमल रेशे प्रेरक गति उत्पन्न करते रहते हैं। कभी-कभी यह रेशे इन उद्भिज्जाणुओं से छूट जाते हैं। उस समय उद्भिज्जाणुओं के स्थिर रहने की दशा आ जाती है। तब यह बरतन की तली में स्थिर रूप से ठहर जाते हैं। इन रेशों का पता हाल में बहुत सूक्ष्म अणुवीक्षण यंत्रों में रंगों के सहारे लग सका है।

उद्भिज्जाणुओं की वृद्धि योनिज नहीं जान पड़ती क्योंकि इन में नर-मादे का कोई भेद नहीं देखा गया है। पौधों की तरह इन में से अनेकों में बीजों का होना देखा गया है। यह अत्यंत सूक्ष्म बीजाणु होते हैं जो सहज ही अनुकूल अवस्था पाकर बढ़ते हैं। यों तो फटकर इन सूक्ष्म जलीय पौधों की वृद्धि होती ही है परंतु बीजों के द्वारा यह सहज में स्थान परिवर्त्तन भी करते हैं, वृद्धि भी पाते हैं। इस तरह इन जीवाणुओं की वृद्धि के दो उपाय देखे जाते हैं।

इन के मूल पंक की बनावट का जानना अब तक अणुवीक्षण यंत्रों की शक्ति के बाहर है, क्योंकि इन की सूक्ष्मता आत्यन्तिक है। अब तक इस संबंध में अनुमान से ही काम लिया जाता है। परंतु इस में संदेह नहीं कि सभी जीवित प्राणियों की तरह इन के मूलपंक में भी कर्बन उज्जन नोषजन ओषजन हैं। कुछ गंधक है और अत्यन्त सूक्ष्म मात्रा में कुछ स्फुरेत, चूना और क्षार भी हैं। इस के जीवन के लिये भी जल का ओत-प्रोत भाव से व्यापा रहना यद्यपि आवश्यक है तथापि इन जीवाणुओं में अद्भुत बात देखी गयी है कि यदि इन्हें सर्वथा अनार्द्र कर दिया जाय तो भी इन में की अनेक जातियां ऐसी हैं कि मर

नहीं जातीं। इन का जीवन स्तम्भित सा रहता है। अनुकूल दशा हो जाने पर वह फिर बढ़ने और काम करने लगती हैं।

२—परिस्थितियों का प्रभाव और जलवायु-परीक्षा

बहुतेरे उद्भिज्जाणु शून्य शतांश के ठंढे समुद्र-जल में भी जीवित रहते हैं। परीक्षा से पाया गया है कि द्रव उज्जन में भी (–२५२°श) इन की क्रिया-मात्र बन्द हुई परंतु कोई हानि नहीं पहुँची। परंतु अधिकांश तो ५५° शतांशवाले ताप पर ही मर जाते हैं। कुछ ऐसे हैं जो ७२° श की गरमीवाले स्रोतों में भी जीते हैं। जितने उद्भिज्जाणु बीजाणु नहीं उपजाते खौलते पानी में पड़ते ही तुरंत मर जाते हैं। जो उपजाते हैं उन के बीजाणु यदि पुराने और सूखे हों तो तीन घंटे तक उबालने पर भी जीवित रह जाते हैं। ताजे और गीले होने पर सहज में मर जाते हैं। यदि कोई द्रव इन से मुक्त तैयार करना अभीष्ट हो तो इन बातों पर विचार रखना आवश्यक है। फल तरकारियां मछली मांस आदि बहुत कालतक बिना बिगड़े रखने के लिये जो उपाय किये जाते हैं उन में इन बातों के ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है।

अब तो यह बात पूर्ण रीति से सिद्ध हो गयी है कि सूर्य की किरणों से अनेक तरह के उद्भिज्जाणु नष्ट हो जाते हैं। सब से अधिक नाशक बैंगनी किरणें हैं। छिछली झीलों, खुले जलाशयों और नदियों में धूप के पड़ने से अनेक रोगाणु नष्ट हो जाते हैं, जैसे आंत्रज्वर, जहरबाद, प्लीहा, ज्वर आदि। जो जीवाणु आत्यंतिक शीत से नहीं मरते, वह बैंगनी किरणों से मर जाते हैं।

जो जीवाणु जल के ऊपरी तल पर रहते हैं, ऊपर से भारी चूना मिट्टी आदि पदार्थों के पड़ने से तली में पहुँच जाते हैं, और भार से नष्ट भी हो जाते हैं। इस तरह जिन तालाबों या झीलों का पानी सड़ गया हो उनके ऊपरी भाग को इस तरह सहज ही साफ कर सकते हैं। भार का जीवाणुओं पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। वह हवा में बहुत देर तक बहते नहीं रह सकते। धूल के साथ हवा में जीवाणु भी उड़ते फिरते हैं परन्तु जहां धूल नहीं उड़ती और हवा थमी हुई है जैसी कि एक शान्त कमरे की या किसी रमने की दशा हो सकती है वहां हवा में प्रायः जीवाणु नहीं होते। अन्यथा वह सभी ऊपरी तलों पर इकट्ठे हो जाते हैं। विशेष कर के आदमी की अंगुलियों पर और द्रवों में तो इकट्ठे हो ही जाते हैं।

यदि कहीं के वायु या जल की परीक्षा जीवाणुओं के लिये करनी हो तो जीव-विहीन भोज्य-द्रव में जिसमें अगर-अगर वा अन्य किसी लपसी की तरह जम जानेवाली चीज जरा गरमाकर मिलायी गयी हो, नपी हुई वायु का प्रवेश कराया जाता है या जल की नपी हुई मात्रा डाल दी जाती है, और मिश्रण किसी निर्जीवीकृत तश्तरी में डाल कर ढककर जमने को रख दिया जाता है। परीक्ष्य वस्तुओं का प्रत्येक जीवाणु उस लपसी में फँसकर एक ही जगह रह जाता है और बिना जगह बदले उसकी उसी जगह

बृद्धि होती है। दूसरे दिन जब तश्तरी उघाड़कर देखते हैं तो जीवाणुओं के समूह का प्रदर्शक एक एक बिंदु या घुंडी सरीखा उस लपसी में देख पड़ता है। इन घुंडियों की संख्या गिन सकते हैं और इस तरह बता सकते हैं कि कितने जीवाणु कितनी मात्रा में मौजूद थे। जो जीवाणु पकड़े जा सके हैं उनके प्रकार की भी जांच हो सकती है। म्युनिसिपलिटियों में पानी की जीवाणिवक जांच प्रायः इसी तरह की जाती है।

जीवाणुओं के प्रकारों की ठीक-ठीक जांच और विधि से की जाती है। लार्ड लिस्टर ने दूध के सम्बन्ध में इसी विधि से जांच की थी। जिस वस्तु की जांच करनी है उसका ठीक एक सीसी या घन-सहस्रांशमीटर लेकर उसे एक वर्ग-खानेदार काचखंड पर फैलाकर अणुवीक्षण-यंत्र द्वारा जीवाणुओं की गिनती कर ली। मान लो कि प्रति सीसी एक सहस्र मिले तो हम उतना ही वह द्रव लेकर उसके हजार गुने शुद्ध जीवविहीन जल में घुलाकर खूब हिला देते हैं। अब इस घोल में प्रायः प्रति सीसी एक जीवाणु होगा। अब एक निशान लगी नपनी नली से उसमें से एक सीसी घोल निकाल लें तो मानों एक जीवाणु निकाला गया। इसी तरह पचास नमूने लेकर अलग-अलग पचास भोज्य-द्रव की नलिकाओं में रखकर देख सकते हैं कि निश्चित अवधि बीत जाने पर किस-किस में क्या फल आता है। किसी-किसी में तो एक भी जीवाणु न होगा। किसी-किसी में दो-दो तीन-तीन होंगे। परन्तु अधिकांश में एक-ही-एक जीवाणु देख पड़ेंगे। इनमें अलग-अलग जाति के जीवाणुओं के अलग-अलग मिलने से परीक्षा का सुभीता होता है। अब परीक्षक इन की अलग-अलग परीक्षा कर सकता है और अलग अलग ही वृद्धि भी कर सकता है। हां, उसे बड़े धीरज से निरन्तर हर एक प्रकार को किसी और के मेल से बचा रखना पड़ेगा और बड़ी चौकसी रखनी पड़ेगी। क्योंकि जीवाणुओं की वृद्धि के लिये केवल भोजन ही पर्याप्त नहीं है, ज़रा-ज़रा सी जोखिम से उसकी रक्षा भी होनी चाहिये। जैसे कुछ जीवाणु ऐसे हैं जिन्हें अत्यन्त ज़रा सी खटाई मार डालती है। चूना, कारबोलिक, अम्ल, हरिन और नैल और विविध धातुज लवण और अनिलिन रंग भी जीवाणुओं के लिये घातक हैं। परन्तु यह साधारण अवस्थाओं में बरतनों में अशुद्धि के रूप में नहीं पाये जाते तो भी लोग जीवाणुओं के मारने के लिये ही प्रायः अपने पास रखते हैं जिससे उनका विनाश सहज हो जाता है। कुछ जीवाणुओं के जीवन के लिये शुद्ध ओषजन आवश्यक है और कुछ के लिये घातक भी है। इन्हीं गुणों पर कुछ जीवाणुओं की रासायनिक क्रिया सर्वथा निर्भर है।

३—जीवाणुओं के काम

हम अन्यत्र दिखा आये हैं कि सेल का प्रथम पंक प्रत्यमीन का बना होता है। प्रत्यमीन में कर्बन उज्जन नोषजन ओषजन और गंधक यह पांच मूल पदार्थ होते हैं। इन्हीं से समस्त मांसकण बना हुआ है, समस्त प्राणियों के शरीर के कोमल अंश इसी प्रत्यमिन के बने हुए हैं। प्रत्यमिन यदि जल में भिगोया हो जैसा कि तालाबों या गढ्ढों के

थमे हुए जल में पत्तियाँ आदि गिरने से होता है या उसका काढ़ा किया हुआ हो जैसा कि मांस के शोरबे में होता है तो इनमें जो सड़ाइँध उत्पन्न होती है उसके पैदा करनेवाले एक प्रकार के उद्भिज्जाणु ही होते हैं। सड़ान में दुर्गंधवाले पदार्थ उत्पन्न होते हैं और उद्भिज्जाणुओं की वृद्धि होती है, यह दो बातें मुख्य रूप से दिखाई पड़ती हैं। वस्तुतः होता यह है कि यह उद्भिज्जाणु अपने भोजन के लिये प्रत्यमिन को तोड़ डालता है और उसके टुकड़े करके अनेक तरह के पदार्थ बनाता है जिनसे बहुत दुर्गन्ध निकलती है। प्रत्यमिन को खाकर यह उद्भिज्जाणु बढ़ते जाते हैं। यह तोड़ना ही पचाना है। मूलपदार्थों को अलगाकर यह उद्भिज्जाणु अपने लिये नये जीवनपंक बनाते हैं। यह सड़ना प्रकृति में अत्यन्त आवश्यक क्रिया है। यह न हो तो शीघ्र ही सृष्टि का अन्त हो जाय। यह कैसे, सो सुनिये।

जितने जीवधारी हैं सब को कर्बन, ओषजन, नोषजन, उज्जन, गंधक, स्फुर आदि भोजन के लिये चाहिये। परन्तु चाहिए प्रत्यमिनों के रूप में, और संसार में इनकी प्रचुरता है सही, पर प्रत्यमिनों के रूप में नहीं है। कर्बन-द्वयोषिद, कर्बनेत, गंधेत, अमोनिया, नोषजन, ओषजन, जल, उज्जन, स्फुरेत आदि रूपों में स्थल-जलवायु मंडलों में यह छहों मौलिक पदार्थ भरे पड़े हैं परन्तु जीवधारी इन रूपों में इन्हें आत्मसात् नहीं कर सकता। प्रत्यमिन के ही रूप में कर सकता है। जो प्राणी दूसरे प्राणी को खाकर प्रत्यमिन लेता है वह तो स्पष्ट ही वृद्धि में सहायक नहीं हो सकता। एक-मात्र सहायक उद्भिज्ज हैं। उद्भिज्जों की हरियाली एक अद्भुत काम करती है। वह सूर्य्य की किरणों के सहारे वायुमंडल के कर्बन-द्वयोषिद को तोड़कर कर्बन ले लेती है और ओषजन छोड़ देती है। कर्बन द्वयोषिद फिर भी कर्बनमय पदार्थों के जलने-पचने आदि से बनता है। इस तरह कर्बन-द्वयोषिद टूटता बनता रहता है। जड़ों के द्वारा धरती से रस चूसकर जल और अन्य मौलिक पदार्थों को उद्भिज्ज खींच लेता है और सब मिलाकर प्रत्यमिन बनाता है। उद्भिज्जों से अन्य जीवधारी प्रत्यमिन लेकर जीते हैं। परन्तु यदि जल-स्थलवायु-मंडलों से प्रत्यमिन के मूलपदार्थ ले तो लिये जाँय परन्तु लौटाये न जाँय तो धीरे-धीरे जल-स्थल-वायुमंडलों में इन वस्तुओं का उत्तरोत्तर ह्रास होता जाय और सृष्टि की परम्परा रुक जाय और संसार प्रत्यमिनों से भर जाय। इसीलिये प्रत्यमिनों को हरे उद्भिज्ज जैसे बनाते हैं उसी तरह सूक्ष्म उद्भिज्ज उन्हें नष्ट भी कर डालते हैं और मूल पदार्थों को फिर जहाँ-जहाँ से आये वहीं पहुँचा देते हैं।

बड़े प्राणियों की तरह उद्भिज्जाणु कर्बनद्वयोषिद और अमोनिया को खा नहीं सकते। कुछ ऐसे उद्भिज्जाणु जरूर हैं जो अमोनियाँ तिंतिड़ेत जैसे कम जटिल पदार्थों से भोजन ले लेते हैं। परन्तु अधिकांश तो ऐसे हैं जो बड़े-बड़े जटिल पदार्थों पर ही चढ़ाई करते हैं और खमीर या प्रेरकाणुओं के सहारे उन्हें तोड़कर पचा लेते हैं। यह खमीर या प्रेरकाणु उसी तरह पाचक खमीर हैं जैसे पेप्सिन, टिप्सिन, आदि हैं जो पेट में ऊपरी तह की सेलों से ही मिलते हैं। यह प्रेरकाणु इन्हीं प्रत्यमिनवाले ही मौलिकों के बने होते हैं। पेट के भीतर उद्भिज्जाणु भोजन के पदार्थों में घुसकर अपने पिंड से प्रेरकाणु निकालते हैं और भोजन के पदार्थों को घुलनशील रसों में परिणत कर देते हैं। साथ ही वह अपनी वृद्धि भी कर लेते हैं।

सड़ने में एक-एक करके अनेक तरह के उद्भिज्जाणु काम करते हैं। हर एक का अलग-अलग काम है। हर एक अपना काम पूरा करके अपना (एन्ज़ाइम्) प्रेरकाणु उपजाकर, आगे का काम आनेवाले को सौंप देता है। मांस के सड़ाने में पहला काम "टोमेन" या "मस्त्यिन" जाति के यौगिकों का बनना है। इन में दुर्गंध तो नहीं होती परन्तु इन में से कई बड़े उग्र विष होते हैं। इस के बाद इंडोल, स्कटोल आदि दुर्गंधमय पदार्थों के बनने की बारी आती है। इन का विश्लेषण हुआ है और इन की रासायनिक बनावट अच्छी तरह मालूम है। यह भी विषैले पदार्थ हैं। इन के बाद सड़न आगे बढ़ती है और तीसरे प्रकार के उद्भिज्जाणु, अमोनिया, उज्जनगंधिद और कर्बनद्वयोषिद बनाते हैं। इस प्रकार सड़कर धीरे- धीरे प्रत्यमिन से अमोनिया और कर्बनद्वयोषिद बन जाते हैं। पेशाब से इन्हीं जीवाणुओं की क्रिया से अमोनिया की बदबू आने लगती है। अब और जीवाणु अमोनिया से नोषाइत और नोषाइत से फिर नोषेत बनाते हैं। अन्त में इसी नोषेत के रूप में फिर उद्भिज्ज नोषजन को आत्मसात् करते हैं और प्रत्यमिन बनाते हैं। प्राणिजगत् में इसी तरह भोजन से ही सृष्टि, भोजन से ही पालन और भोजन से ही संहार होता रहता है। इसे अन्न-चक्र कहना चाहिये। इस चक्र में एक भी कड़ी ऐसी नहीं है जो हटायी जा सके। इसी चक्र से मौलिक पदार्थ बराबर स्थान-परिवर्त्तन करते हुए इस संसार में बने रहते और संसार को बनाये रखते हैं। उपनिषद् में पृथ्वी से अन्न और अन्न से रेतस् की उत्पत्ति जो बतायी है, वहां अन्न का ऐसा ही महत्त्वशाली तात्पर्य है।

४—जीवाणुओं के प्रकार

जीवाणु-विज्ञानी अनेक विचारों से उद्भिज्जाणुओं का वर्गीकरण करता है। कुछ वर्ग आकार पर कुछ उन के गुणों पर कुछ उन की क्रियाओं पर और कुछ उन के स्वभावों पर बनाये गये हैं। अब तक मुख्य तीस जातियां मानी गयी हैं जिन की एक हजार से ऊपर उपजातियां मानी गयी हैं। हम यहां इतने विस्तार से तो वर्णन कर नहीं सकते। परन्तु उन की कुछ विशेष क्रियाओं की चर्चा करेंगे।

जीवाणुओं का कार्य्यक्षेत्र बहुत विस्तीर्ण है। हम यहां कुछ ऐसी क्रियाएं बतलाते हैं जिन से मनुष्य-जाति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्रत्यमिन का सड़ना तो जीवन के लिये आवश्यक है और उस की चर्चा हो चुकी। छिद्रोज बराबर गड्ढों के जल में सड़ता है और कई वायव्य बनते हैं। सिरके का बनना, दही का जमना और दूध का फटना, नील की पत्तियों के सड़ने पर नीले रंग का निकलना, चमड़े का कमाया जाना, रंगने की पपड़ी का बनना, कांजी की तैयारी, इत्यादि जीवाणुओं की ही क्रिया है। इन क्रियाओं से मनुष्य लाभ उठाता है। परन्तु सड़ने की क्रिया से हानि भी होती है जिस से बराबर बचते रहना भी पड़ता है कि सड़ना आवश्यकता से अधिक न हो। इष्ट हद तक पहुंचने पर क्रिया रोक दी जाती है। कहीं-कहीं तो सड़ने का आरंभ ही भयानक होता है।

घाव को जीवाणुओं से बड़ी सावधानी से बचाया जाता है। यह सभी जीवाणु गरमी पैदा करते हैं। परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो तापहीन प्रकाश देते हैं। यह जीवाणु विशेषतः समुद्र में अत्यधिक होते हैं और तटवाले प्रदेशों में भोजन के पदार्थों में सहज ही पड़ जाते हैं। परन्तु सब से बड़े महत्व के जीवाणु हैं रोगाणु। यह भी प्रायः उद्भिज्जाणु ही होते हैं। इन के अन्वेषण में पाश्चात्य डाक्टरी इन दिनों व्यस्त है। ऐसा जान पड़ता है कि छूत से फैलनेवाली सभी बीमारियों के कारण यही हैं जो परसत्वाद होकर प्राणियों में विशेष रोग फैलाते हैं। कुछ जीवाणु कीट की तरह भी होते हैं जैसे फसली ज्वरवाले। परन्तु अधिकांश उद्भिज्जाणु ही होते हैं। मनुष्य की अँतड़ियां इन की वृद्धि के लिये अनुपम क्षेत्र हैं। अंतड़ियाँ में तो आधे के लगभग उद्भिज्जाणु ही भरे हुए हैं। इन में से अधिकांश कोई हानि नहीं पहुँचाते बल्कि पाचन में सहायता देते हैं। कुछ विष भी बनाते हैं जिसे प्राणी सह लेता है। परन्तु कभी-कभी बाहरी भयानक जीवाणु प्रवेश करके भारी परिमाण में विष बनाने लगते हैं जो घातक हो जाते हैं। आन्त्रज्वर, हैजा, आमातिसार संग्रहणी, जहरबाद, दाँत के रोग, राजयक्ष्मा, इत्यादि-इत्यादि अनेक रोग इसी प्रकार होते हैं। वैज्ञानिकों ने रोगाणुओं को अलगाकर, पालकर, फिर स्वस्थ शरीर में प्रवेश कराकर इस का निश्चय किया है कि अमुक रोगाणु अमुक रोग पैदा करते हैं। कोई प्राणी ऐसे भी होते हैं कि रोगाणुओं को पचा भी डालते हैं। रक्त के भीतर के श्वेताणु इसी पचाने के काम में मनुष्य के सहायक होते हैं। हनुस्तंभ के रोगाणु बिगड़े हुए घाव में पैठ जाते हैं, परन्तु श्वेताणु उन्हें तुरन्त हजम कर लेते हैं। संयोगवश उसी समय जो और प्रकार के रोगाणुओं का आक्रमण हुआ जिन से लड़ने को श्वेताणुओं की सेना दूसरी ओर लग गयी तो हनुस्तंभ के रोगाणु बड़े वेग से फैल जाते हैं, मैदान उन्हीं के हाथ रहता है और रोग काबू से बाहर हो जाता है। लिस्टर ने यह पता लगाया कि घाव में विष उपजानेवाले रोगाणु पैठकर उसे सड़ा देते हैं, इसी लिये मरहम पट्टी की ऐसी विधियां निकालीं कि रोगाणु पड़ने न पावें और पड़ें भी तो मर जायँ।

प्राणियों की ऊपरी खाल में से रोगाणु शरीर के भीतर नहीं जा सकते। हवा में मिलकर साँस से भीतर जाते हैं, पर स्वाभाविक भीतरी कफ के छत्ते में फँसकर वहीं नष्ट हो जाते हैं। भोजन में असावधानी होने से उस में पड़कर पेट में जरूर पहुँचते हैं और आमाशय के रसों से यदि नहीं मरे रेचन-वमन द्वारा यदि बाहर फेंक नहीं दिये गये, और बढ़ पाये तो रोग पैदा करते ही हैं। शरीर के बाहर की जरासी खरोंच, या किसी तरह के घाव सहज ही उनको मार्ग दे देते हैं। अथवा जूं, चीलर, मच्छर, पिस्सू, खटमल, किलनी, आदि के काटते ही उन के द्वारा रोगाणुओं का प्रवेश हो जाता है। अभी तक इंफ्लुएंजा, कुत्ते के काटने से पागलपन आदि कई रोगों के रोगाणुओं का पता नहीं लगा है। परन्तु इनके उपजानेवाले रोगाणु ही हैं इस में सन्देह नहीं रह गया है।

जैसे भोजन की असावधानी से रोगाणुओं का शरीर के भीतर प्रवेश हो जाता है वैसे ही अनिष्ट भोजन से रोगाणु पलते और बढ़ते भी हैं। मक्खियाँ भोजन पर बैठ कर रोगाणु

भोजन में डाल देती हैं। घाव पर बैठकर उसे बिगाड़ देती हैं। बिना अच्छी तरह हाथ धोये भोजन करने लग जाने से, बासी, जूठे और असावधानी से रक्खे हुए भोजन करने से, खाने के बरतन ठीक मँजे धुले और साफ न होने से, गन्दी जगह में भोजन के रहने से, गन्दे कपड़े या वस्तुओं से छू जाने से भी, रोगाणुओं का प्रवेश हो जाता है। यद्यपि इनके मारने के लिये आमाशय के रस प्रायः पर्य्याप्त होते हैं तथापि जोखिम से बचने के लिये सफाई और सावधानी रखनी ही चाहिये। शुद्ध स्वच्छ रीति से बने, ताज़े गरम भोजन शुद्ध स्थान में स्वयं शुद्ध होकर शुद्ध धुले और धूप में सुखाये हुए कपड़े पहनकर भोजन करने से मनुष्य जोखिमों से बचा रहता है। हिन्दुओं के चौके के नियमों में इतनी बातें बहुत अच्छी और सभी मनुष्यों के लिये अनुकरणीय हैं। भोजन की ही अनिष्टता से कोढ़, क्षय आदि रोग बहुधा फैलते हैं।

५—पौधों का भोजन

धरती में पौधों के भोजन के लिये खाद बनानेवाले जीवाणु मुख्यतः तीन प्रकार के होते हैं, गंधकी लोही और नोषजनी। वानस्पतिक छिद्रोज जहाँ जल भरे गढ़ों और दल-दलों में सड़ते हैं और उज्जन-गंधिद वायु निकलती है, वहाँ इस वायु को ओषजन देकर गंधकी जीवाणु तोड़ डालते हैं और इसमें से गंधक निकालकर पचाकर अपने पंक में मिला लेते हैं। गदले जलाशयों में ऊपर शराब के रंग की जो तह जमी रहती है वह इन्हीं जीवाणुओं की है। बैंगनी लाल और बेरंग के भी इसी जाति के जीवाणु होते हैं।

चहबच्चों में और गढ्ढों में जहाँ गंदा पानी सड़कर काला हो जाता है वहाँ उज्ज-नगंधिद की क्रिया से लोहे का काला गंधिद बन गया होता है। जिन सोतों के जलों में घुलन-शील लौह-द्विकर्बनेत होता है लोहे के मोरचे के रंग की एक तह जम जाती है। पानी के नलों में भी यह बात देखी जाती है। यहाँ लोही जीवाणु काम करते हैं। नोषजनीय जीवाणु का सबसे अधिक महत्त्व है, क्योंकि वायु में स्वतंत्र भाव से भरा हुआ नोषजन पौधों के भोजन के काम में नहीं आ सकता। सोतों नदियों आदि के जल में तथा मिट्टी में यह जीवाणु विशेष काम करते हैं। इन्हें खेती और पौधों की जान कहें तो अनुचित न होगा। एक प्रकार के जीवाणु अमोनिया से नोषाइत और दूसरे प्रकार के नोषाइत से नोषेत बनाते हैं। यह नोषेत ही खाद के काम में आते हैं। परंतु हरे पौधे को नोषजन की रसद एक और विधि से मिल जाती है। वह है एक ऐसा जीवाणु जो सीधे वायु से स्वतंत्र नोषजन को पकड़कर खाद नोषजन बना डालता है। यह खेतों में बड़ी बहुतायत से रहा करता है और अनेक दालों के पौधों की जड़ों पर घुंडियां बनाता है, जिन में वृद्धि पाता है। जब नोषेत नहीं मिलते तब यह पौधे सीधे वायु से नोषजन चूस लेते हैं। इन जीवाणुओं को अब अलग उगाकर और बढ़ा-कर खेती के काम के लिये रोजगारी लोग बेंचने लगे हैं। इस समय कुछ ऐसे जीवाणुओं के ढूंढ़ निकालने की कोशिश हो रही है जो उलटी क्रिया करते हैं। नोषेत से नोषाइत और नोषाइत से अमोनिया बनाते हैं और फिर अमोनियां को तोड़कर नोषजन वायु अलग कर

लेते हैं। बड़े भारी-भारी कारखाने केवल इस बात के लिए बने हुए हैं कि वह मैला इकट्ठा करके उसे उत्तम-से-उत्तम खाद के रूप में परिणत करें और यह सब केवल इन्हीं जीवाणु-ओं के सहारे। आजकल युरोपीय देशों में नदियों में मैला बहाना कानूनी अपराध बन गया है और नदियों की शुद्धता की रक्षा की जाती है और उन का जल पेय रखने के लिये सब ही रासायनिक साधन काम में लाये जाते हैं और मैले से खाद बनाने के कारखाने अलग बनाये गये हैं। और हमारे देश में बड़े-बड़े शहरों का सारा मैला गंगाजी में बहाये जाने के लिये नित्य नये प्रबन्ध किये जा रहे हैं, जिस से पानी भी खराब होता है और खाद की अनमोल सामग्री भी नष्ट होती है। मनुष्य अपनी परिस्थिति को ठीक समझ ले तो उस की आँखें खुल जायँ और वह समझ जाय कि नदियों में मैला बहाना और ईंधन की जगह उपले जलाना सम्पत्ति की कितनी बड़ी बरबादी है और स्वास्थ्य के लिये कितना हानिकारक है।

छब्बीसवां अध्याय

वनस्पति-विज्ञान

२-जीवो जीवस्य जीवनम्। हरियाली का पराक्रम

जीवाणुओं के परिशीलन के आरम्भ में वैज्ञानिकों को यह समझने में कठिनाई थी कि विचार्य्य जीवाणु कीटाणु है वा उद्भिज्जाणु, क्योंकि दोनों के लक्षण रूप आदि समान दीखते थे। जैसे इन सूक्ष्म जीवों में यह प्रभेद भी अत्यन्त सूक्ष्म है वैसे ही कुछ बड़े जीवों में भी एकाएकी देखने में पता नहीं लगता कि यह जीव चर है या अचर, कीटों या विशिष्ट शरीर-धारियों में है अथवा उद्भिज्जों में है। जैसे कुकुरमुत्ता और स्पंज देखकर सहसा कोई यह विवेक नहीं कर सकता कि कुकुरमुत्ते की तरह यह अचर नहीं है। सृष्टि में बहुत सूक्ष्म सेलों में भी एक सीमा ऐसी है जहाँ दोनों का भेद होता ही नहीं। यहीं जीवन के वृक्ष का मूल समझना चाहिए। यहीं से जीवन की दो बड़ी शाखाएँ फूटकर अलग हो गयी हैं। एक शाखा तो चर प्राणियों की है और दूसरी अचर प्राणियों की। विकासवाद के सम्बन्ध में चर प्राणियों की शाखा का हम कुछ विस्तार से चर्चा कर आये हैं। अचर प्राणी उद्भिज्ज हैं। पौधों को उद्भिज्ज इसी लिए कहते हैं कि वह जहाँ जमकर वृद्धि पाते हैं वहाँ वह बीज और क्षेत्र दोनों का भेदन करके ऊपर की ओर निकले हुए होते हैं। पौधे अचर हैं इस लिए उन्हें उन की जगह पर ही भोजन और पानी मिलना चाहिए। उनके जीवन की सारी व्यवस्था उनके सुभीते से उनके पास पहुँचनी चाहिए। इसके लिए उनका जन्म ऐसी ही जगह पर होता है जहाँ सारी सामग्री उपलब्ध होती है। सामग्री ज्यों ही चुक जाती है त्योंही पौधे का अन्त हो जाता है। इसीलिये इन अचरों को खाद्य पहुँचाने का प्रबन्ध इन्हीं के सजातीय उद्भिज्जाणु करते हैं और यह अचर पौधे स्वयं जिस सामग्री को आत्मसात् करते हैं, पचाते हैं उसीसे अपने शरीर में ऐसी सामग्री तैयार करते हैं जो प्राणियों के जीवन का सहारा है, भोजन है। हरी पत्तियों के द्वारा सूर्य्य की किरणों के सहारे और जड़ों और रेशों के चूसने की क्रियाओं से कर्बोदेत

छिद्रोज, तैल, हरियाली (पर्णहरिन, क्लोरोफिल) और प्रत्यमिन बनते हैं और यही चर प्राणियों के भोजन हैं। इसी की चर्चा पिछले अध्याय में हो चुकी है। खनिजों को खाकर उद्भिज्ज और उद्भिज्जों को खाकर चर प्राणी जीते हैं, "जीवो जीवस्य जीवनम्" ।

सूर्य्य की किरणों से ही गरमी और शक्ति लेकर पौधे की सारी सामग्री बनती है । किरणें न हों तो उज्जन, कर्बन, ओषजन, स्फुर, गंधक,आदि सभी मूल पदार्थ अलग-अलग रह जायँ । कुछ बने ही नहीं । वस्तुतः सारी शक्ति सूर्य्य की किरणों से ही आती है काष्ठौज आदि कर्बोज, सब तरह के तैल, सभी प्रत्यमिन और मूलपंक मात्र इसी सूर्य्य की शक्ति से बनते हैं । सूर्य्य की शक्ति अचर प्राणियों में मानो जमकर ठोस रूप में मौजूद रहती है । चर प्राणी इन्हीं अचरों पर जो निर्वाह करते हैं वह वस्तुतः सूर्य्य की शक्ति पर जीते हैं । लकड़ी जलाकर जो आग पैदा करते हैं वह भी सूर्य्य की शक्ति ही आग के रूप में प्रकट होती है । मिट्टी का तेल एक प्रकार से द्रव रूप में सूर्य्य की किरणें हैं जो प्रकाश देती हैं । पत्थर का कोयला भी जलता है तो आँच उसी सूर्य्य के ताप से देता है जो लाखों बरस पहले अपने में जमा कर रखा है । समस्त चर प्राणियों में भोजन के पदार्थों के पचा लेने पर जो शक्ति आती है वह भी उन पदार्थों में जमी हुई सूर्य्य की शक्तिही है । निदान इस भूतल पर वनस्पति के सहारे प्राणिमात्र में सूर्य्य की शक्ति ही काम कर रही है ।

कुछ उद्भिज्ज ऐसे भी होते हैं जिन में हरियाली नहीं होती, जैसे कुकुरमुत्ते वा फफूंदी की जाति के उद्भिज्ज। बासी रोटी आदि भोजन के पदार्थों में फफूंदी लग जाती है जो काली होती है। मुरब्बे पर नीली लगती है। गेहूं में लाल गेरुई लग जाती है। यह पौधे औरों के लिये भोजन के पदार्थ नहीं बनाते वरन् आप औरों से अपने लिये भोजन लेते हैं । इन में से जो फफूंदी जीवित पौधों में लगती है परसत्वाद या पराश्रित की तरह होती है और जिस पौधे पर होती है उसे खा जाती है। गेरुई ऐसी ही फफूंदी है। कोई-कोई फफूंदी काम की चीज़ होती है जैसे खमीर, जिस से शराब बनायी जाती है। फफूंदियां जड़ से भोजन चूसती हैं। रोशनी का सहारा नहीं लेतीं परन्तु जिस के सहारे जमती हैं उसे भी चूसती हैं।

कुछ ऐसे पौधे भी होते हैं जिन में हरियाली तो होती है और वह अपना भोजन रोशनी, वायु और पृथ्वी से लेते हैं, तो भी वह कीड़े-मकोड़े और कभी-कभी इन से कुछ बड़े चर प्राणियों को भी खाते और पचाते हैं। किसी-किसी में कीड़ों को पकड़ने के लिये पत्तियों के सिरों पर लम्बे-लम्बे रेशे निकले होते हैं और पत्ती पर लसदार पदार्थ लगा रहता है । रेशे पकड़ते हैं, लसी में कीड़े फँस जाते हैं, पत्तियां मुँद जाती हैं और जब कीड़ा पच जाता है तब फिर खुल जाती हैं। कुछ फेर-फार के साथ विविध आकार के अनेक प्रकार के मांस भोजी पौधे भी होते हैं।

२—चर और अचर में समानता

पिछले अध्याय में हम जिन उद्भिजाणुओं का वर्णन कर आये हैं उन से लेकर

बड़े-से-बड़े शहबलूत या बड़ के वृक्ष तक सभी उद्भिज्ज या वनस्पति हैं। सभी भोजन पचाते हैं, सभी बढ़ते हैं सब का जीवन है और सब के जीवन की अवधि है। सब अपनी परिस्थिति से रगड़ा करके अपने जीवन की रक्षा करते हैं, जहाँ सहायता मिल सकती है वहाँ पारस्परिक सहायता करते हैं, एक दूसरे का आश्रय लेते हैं। वृक्ष के सहारे लता रहती है, एक से दूसरा पौधा पोषण पाता है। जहाँ सहायता सहज में नहीं मिलती वहाँ बरबस ली जाती है, आत्म-रक्षा के लिये आपस में झगड़ा-रगड़ा भी होता है, एक दूसरे का नाश भी करते हैं। चर प्राणी दौड़ता है शिकार करता है, क्योंकि उस के भोजन के लिये सामग्री जलवायु धरती में सब जगह नहीं मिलती। उसकी सामग्री तो विशेष प्रकार के वानस्पतिक और चर प्राणियों से प्राप्य पदार्थ हैं। वह शाक आदि उद्भिज्ज और मास आदि अंडज और पिंडज पदार्थ खाते हैं। मांसाहारा प्राणी एक-मात्र मांस ही खाता है। परन्तु मांसाहारी पौधे मांस न पावें तब भी जीते रहते हैं। तब भी वह चोरों की तरह छल-छद्म आदि से काम लेते हैं। अचर होते हुए भी अपना शिकार फँसाते हैं। जिस तरह चर प्राणी चलता है उस तरह पौधा चलता नहीं तो भी अपने भोजन की दिशा में कुछ गति तो करता ही है। सूर्य की किरणों की दिशा में बहुधा पत्तियाँ या फूल फिरा करते हैं। डालियाँ और पत्तियाँ इस ढंग से निकलती हैं कि अधिक-से-अधिक रोशनी पा सकें। एक दूसरे पर छाया पड़ती भी है तो एक तो सूर्य अपनी दिशा बदलता रहता है दूसरे हवा से पत्तियाँ हिलती रहती हैं जिससे पत्तियों को अधिक-से-अधिक रोशनी पहुँचती रहती है। लताएं पकड़ की दिशा में लपटती हैं और अपनी नसें लपेटती हैं। पेड़ ऊपर की ओर और जड़ नीचे की ओर बढ़ता है। अमर बेल अपने आश्रयवाले पेड़ पर फैलती जाती है और उसकी हरियाली को नष्ट करती जाती है। कीड़े खाने वाले पौधे कीड़ों को पकड़ते ही छोप लेते हैं। यह तो उनकी गति हुई। साथ ही यदि कीड़े खानेवाले पौधों को एकाध बार वैसा ही गीले कागज का टुकड़ा पकड़ा दिया जाय तो धोखा खा जाते हैं। परन्तु दो एक बार ही यह धोखा चल सकता है। फिर पत्तियां नहीं छोपतीं और धोखा देना व्यर्थ हो जाता है। लाजवन्ती के पौधों से सैकड़ों प्रयोग आचार्य जगदीशचन्द्र वसु ने किये हैं। और पौधों पर भी असंख्य प्रयोग कर के यह सिद्ध किया है कि पौधों की रगें भी हमारी रगों की तरह काम करती हैं, उनके शरीर में भी रस का उसी तरह चक्कर लगता है जैसे हमारे शरीर में खून का। उनकी नाड़ी भी हमारी नाड़ी की तरह चलती है। हमारी तरह वह भी सांस लेते हैं। हमारी आंख से ज्यादा उनकी त्वचा काम करती हैं। त्वचा के सहारे वह प्राय: वह सब काम लेते हैं जो हम अपनी पांचों ज्ञान की इन्द्रियों से लेते हैं। पौधे समय पर भोजन करते हैं। समय पर आराम करते हैं। समय पर सोते हैं और समय पर जागते हैं। पौधों में किसी में अधिक और किसी में कम अनुभव-प्रवणता होती है, परन्तु होती है प्रायः समस्त पौधों में। वटवृक्ष के एक नन्हे से बीज का छेदन कीजिये अथवा शहबलूत जैसे विशाल वृक्ष के बीज का आणुवीक्षणिक विश्लेषण कीजिये तो पता चलता है कि बीज के भीतर एक डिम्ब है और यह डिम्ब एक आहित सेल है जो और प्राणियों के सेलों की तरह बढ़ता है, बँटता है, एक से दो, दो से चार, चार से आठ होता चलता है। यह क्रिया चराचर में एक सी है। कलमवाली क्रिया जैसे पौधों में

है वैसे ही छोटी श्रेणी के चरों में भी है। फूटकर अलग होना और व्यक्तित्व पाने की क्रिया भी जैसे पौधों में है वैसे ही चरों में। पौधों में इन्द्रियों की बहुलता और विकास नहीं है। चर प्राणियों को अपनी रक्षा के लिये और गति के सुभीते के लिये आहार का पता लगाने के लिये और चुनने के लिये दृष्टि, श्रवण, रसन, घ्राण इन चारों के साधन जरूर चाहिएं। टांगें चलने को चाहिएं। सरकने या उड़ने के साधन चाहिये। परन्तु पौधों को इन साधनों की अत्यंत कम आवश्यकता है। इसी लिये इन में यह इंद्रियाँ नहीं हैं। भीतरी इंद्रियों या यंत्रों में आमाशय पक्वाशय, वृक्क, मूत्राशय, मलद्वार आदि पौधों को नहीं चाहिए क्योंकि जहाँ चर प्राणी बहुत से पदार्थों को शरीर के लिए अनावश्यक देखकर निकाल डालने की जरूरत रखते हैं वहाँ पौधों को जगत् के हित के लिए चर प्राणियों के काम की सामग्री संचित कर रखना पड़ता है। चर प्राणी को चलने-फिरने के लिये जाग्रत दशा में बहुत देर तक रहना पड़ता है, परन्तु पौधों को जाग्रत दशा में रहने की उनकी अपेक्षा कम आवश्यकता पड़ती है। संक्षेप में यों समझना चाहिये कि खनिज आत्यन्तिक सुपुप्त अवस्था में हैं, तो पौधे सुषुप्त अधिक और कुछ स्वप्न की अवस्था में हैं, पशु आदि मनुष्येतर प्राणी अधिक स्वप्न और कम जाग्रत अवस्था में हैं, एवं मनुष्य इस सृष्टि में मुख्यतः जाग्रत अवस्था का प्राणी है।

३—जड़ की क्रिया

साधारणतया जड़ सीधे नीचे की ओर और धड़ सीधे ऊपर की ओर जाना चाहिए। परन्तु बीज उलटा पड़ता है या करवट हो जाता है तब जड़ और धड़ दोनों को घूमकर क्रमशः अपनी नीची और ऊँची दिशा को ग्रहण करना पड़ता है। इसीलिये बीज बोने में उलटे सीधे का कोई विचार नहीं किया जाता। बहुतेरे बीजों में तो गर्भ स्वयं टेढ़ा ही रहता है। उसे सीधे निकलना पड़ता ही है। जो धड़ पहले कुछ टेढ़ा हो गया होता है उसे भी सीधा होना ही पड़ता है। परन्तु प्रधान जड़ नीचे की ओर जाते हुए भी अपना भोजन खोजने के लिये अगल-बगल रेशे फेंकती है और पता लगाती है। जिधर कोई जोखिम मालूम होती है या चोट लगती है उधर से जड़ें हट जाती हैं और गति की दिशा बदल देती हैं। जहाँ भोजन के पदार्थ मिल जाते हैं वहाँ जड़ों के सिरों पर निमित्त के अनुकूल चूसनेवाली सेलें बन जाती हैं और बढ़ने लगती हैं। जड़ों का ठीक सिरा सब से अधिक सचेत होता है, यहाँ तक कि डारविन ने तो कहा है कि उद्भिज्जों का दिमाग यही है। इतनी बात तो प्रत्यक्ष ही है कि जड़ें कहीं झुकती हैं, कहीं हटती हैं, कहीं जरा ऊपर को चल पड़ती हैं कभी फिर नीचे की ओर जाती हैं. निदान विविध दिशाओं और गतियों से यह स्पष्ट है कि धरती के भीतर भोजन की खोज में जड़ें कोई बात उठा नहीं रखतीं। ककड़ी के एक बड़े पौधे की जड़ों की विविध दिशाओं में गति और एचपेच को नापकर श्री क्लार्क ने अन्दाजा किया था कि कुल जड़ें पचीस हजार की लम्बाई में होंगी। केवल साल भर के पेड़ की जड़ें बारह गज तक लम्बी होती हैं।

गेंदे की तरह कई पौधों में धड़ में से भी जड़ें निकलती हैं और धरती पाते ही अपना काम करने लगती हैं। ऐसे पौधों का कलम आसानी से लग सकता है। वटवृक्ष तो अपनी पुरानी शाखाओं से जड़ें फेंकता है। जो लटकते-लटकते धरती को पकड़ लेती हैं और अपना काम करने लगती हैं। इस तरह बड़ के पेड़ के अनेक धड़ पैदा हो जाते हैं।

४—धड़ की क्रिया

पेड़ के धड़ का मुख्य काम है पत्तियों को संभालना और उन की रक्षा। ज्यों-ज्यो पेड़ बढ़ता है त्यों-त्यों पत्तियाँ बढ़ती जाती हैं। उन का बोझ संभालने को उसी हिसाब से धड़ को पुष्ट होते जाना चाहिए। लताओं में धड़ बहुत कमजोर होता है परन्तु किसी और पेड़ आदि के चारों ओर लिपटकर सँभलता है। किसी-किसी लता में अधिक दृढ़ बन्दोबस्त रहता है, वह पतली परन्तु मज़बूत नसों से पास की चीज़ को जो बहुत मोटी न हो कसकर लपेट लेती है। कुम्हड़ा, घीया, घीया- तोरई, करेले, आदि अनेक तरह की तरकारियां इसी तरह की लताओं में होती हैं। मालती केवल लिपटकर रहती है, नसें नहीं फेंकती। माधवी-मल्लिका की पत्तियां बहुत होती हैं, वह लिपटती भी नहीं परन्तु भीत आदि का सहारा ढूंढती है। पेड़ों के तने मोटे और मुदृढ़ होते हैं और अपने बल पर खड़े होते हैं। फिर भी जोर की आंधी बड़े-बड़े दृढ़ वृक्षों को उखाड़ फेंकती है, पर लताओं और नन्हे-नन्हे पौधों को कोई हानि नहीं पहुँचाती। बे-नस की लताओं की अधिकांश लम्बाई लपटने में खर्च हो जाती है परन्तु नसोंवाली लता नसों के सहारे सीधी बढ़ सकती है। इन नसों के अग्रभाग को जरा अंगुली से छू दो और देखो कि कुछ मिनिटों बाद वह नस स्पर्श की ओर झुकता सा दीखता है। यह बात बूंदों के स्पर्श से नहीं होती। ठोस वस्तु को पकड़ने को नसें तैयार रहती हैं।

जड़ का रेशा बहुत फूंक-फूंक कर कदम रखता है, चोट की जगह से हट जाता है, कड़ी जमीन या कंकड़ पाकर मुड़ जाता है , नमी और नमक पाकर चाव से आगे बढ़ता है। परन्तु बीज से ऊपर की ओर निकलनेवाला अंकुर सीधे रोशनी का रुख पकड़ता है। वायु में उसे कोई रुकावट नहीं मिलती। मिली भी तो वह मुड़ जाता है। जड़ के लिये धरती का गुरुत्वाकर्षण और अंकुर के लिये सूर्य्य का प्रकाश मार्ग की ओर प्रवर्त्तक होता है। यही अंकुर पेड़ का धड़ बनाता है।

पत्तियां ऐसे ढंग पर फैलती हैं कि अधिक-से-अधिक तल प्रकाश की किरणों में नहाता रहे। एक पर एक या आड़े-तिरछे रहने से प्रकाश का यह लाभ नहीं मिल सकता। पत्तियों का ऊपरी भाग प्रायः निचले भाग की अपेक्षा अधिक गहरा हरा रहता है। पत्तियों में भी चेतनता मौजूद दीखती है। कुछ पौधों की पत्तियां सूर्य्यास्त के बाद मुरझा सी जाती हैं। लाजवन्ती की पत्तियां तो तनिक सा छू देने से सुकड़ जाती हैं। पत्तियों के बाद नीचे की टहनियां भी सुकड़ जाती हैं, पौधा मुरझा-सा जाता है। परन्तु पन्द्रह मिनिट बाद फिर ज्यों-का-त्यों हो जाता है।

रात होते ही अनेक फूल मुँद जाते हैं, कमल मुँद जाता है, अनेक की पत्तियां लटक जाती या मुरझा जाती हैं। रात में बहुत से पौधे सोते हैं और सूरज के निकलने पर जग पड़ते हैं। कमल खिल जाता है, पत्तियां फिर धूप में पसरकर धूप स्नान करने लगती हैं। टामसन की राय है कि यदि सोना इसीलिये होता है कि थकान मिटे तो पौधों को थकान का कोई काम नहीं है। अतः उनका सोना नहीं कहा जा सकता। आचार्य सर जगदीशचन्द्र बसु ने सैकड़ों प्रयोगों से यह सिद्ध किया है कि पौधों को थकान होता है, नशे की चीजों से नशा होता है, गरम चीज़ों से गरमी आती है, जहर से मर जाते हैं। चराचर प्राणी ही नहीं, जड़

चित्र १६०—मेघनाथ साहा, जन्म सं० १९५०

पदार्थों में भी यह सभी बातें होती हैं। केवल गति से ही थकान नहीं होता। अपने शरीर के भीतर और बाहर के अनेक काम पौधों को भी करने पड़ते हैं। कोई-कोई पौधे अपने शरीर को हिलाते भी रहते हैं। अनेक पौधे अपने शत्रुओं और विनाशकों से बचने के लिये अपने अंगों में विष पैदा करते हैं और स्वाद में कड़वापन तिक्तता, दुर्गंध, उग्रता आदि दुर्गुण ला देते हैं, बहुतों में यह दुर्गुण ऐसे होते हैं जिनकी प्रतीति उन के शत्रुओं को ही होती है। हमें पता नहीं लगता। बिच्छू पौधे की पत्तियों पर रोएँ होते हैं जो खाल में चुभ जाते हैं और

एक प्रकार का विष डाल देते हैं जिस से जलन मालूम होने लगती है। नागफनी के तो बहुत बारीक असंख्य कांटे होते हैं। मोटे मोटे भी कांटे होते हैं। उस के फल तो चुभनेवाले हथियार ही सरीखे होते हैं। आत्मरक्षा के लिये जो उपाय पौधे करते हैं, वे साधारण जीवन के काम से सर्वथा अलग हैं। वह श्रम उन्हें ऊपर से पड़ता है।

५—पौधों की संतति

बरसात पड़ते ही सारी धरती हरियाली से ढक जाती है। नये अंकुर नयी पत्तियां नयी टहनियां और शाखाएँ दीखने लगती हैं। फूल भी खिलने शुरू हो जाते हैं। परन्तु शरद ऋतु में तो इन की पूरी बहार होती है। सरदियों के मौसिम में भी कुछ वर्षा हो जाती है। तब शिशिर ऋतु और पतझड़ आता है। चैत्र के लगते-लगते अथवा बसंत के आरम्भ में फिर पेड़ नयी पोशाक पहन लेते हैं। पेड़ों में या लताओं में पहले फूल लगते हैं। इन्हीं फूलों के साथ फल लगते हैं और फलों में बीज होते हैं और यही बीज अनुकूल अवस्था पाकर जमते हैं तो फिर वृक्ष होते हैं। पेड़ों में पत्तियां तक तो पेड़ के जीवन के लिये आवश्यक हैं, परंतु फूल से ही पेड़ की संतान होने का साधन बनना आरंभ होता है। फूल का बाहरी भाग हरे पत्र का होता है जो कई मिलकर नन्हा सा दोना सा बनाते हैं जिसे पुटचक्रिका या द्रोणी कहते हैं। वह कली की अवस्था में भीतरी कोमल भागों की रक्षा करती है और खिलने पर फूल को संभालती है। फिर उस के ऊपर दलों या पंखड़ियों की कटोरी होती है जिस के भीतर अनगिनित पुंकेसर होते हैं। हर पुंकेसर में एक लिंगच्छत्र होता है जिस के सिरे पर वीर्य्य-पात्र होता है। इसी पात्र में पराग भरा होता है। बिलकुल केंद्र में बहुत से नन्हें-नन्हें कण होते है जिन्हें योनिनलिका कहते हैं। हर योनिनलिका में कलल या रजोविन्दु होता है जिस के भीतर एक डिम्बाणु हुआ करता है। साधारणतया सभी फूलों की बनावट ऐसी ही होती है। इन अंगो के रंग-रूप, संख्या और क्रम में भेद होने से ही फूलों में विविधता होती है। किसी में कुछ अंग होते है और कुछ नहीं भी होते। रजोविन्दु ही विकसकर बीज बन जाता है, परन्तु इस विकास के लिए डिम्बाणु को पराग से आहित हो जाना अनिवार्य्य है। फूल के योनिछत्र में पराग का पड़ना ही आधान है। आधान होते ही परागकण अंकुरित होकर योनि-सूत्र या गर्भाशय से लेकर नीचे रजोविन्दु तक एक सूक्ष्म नलिका फेंकता है जो रजोविन्दु के पदार्थ को गर्भ-कोष तक खींच लाती है और जीवाणु और डिम्बाणु मिलकर एक हो जाते हैं। आधान से उत्तेजित होकर डिम्बाणु बढ़ता है, बँटता है एक से अनेक होता है और गर्भ बन जाता है जिस में से एक जड़ दो पत्तियाँ और एक अंकुर, यह चार निकलते हैं। यह चार निकल कर रह जाते हैं, बीज पकने लगता है और यह चारों सूखने लगते हैं। सूखकर ढीली दशा में बीजकोष में विश्राम करते रहते हैं। सूखी मटर या सेम के बीज को भिगोकर रखो। फूल जाने पर चाकू से दोनों दलों को सावधानी से अलगाकर यह चारों देखे जा सकते हैं।

इस प्रकार बीज के भीतर बच्चा-पेड़ मौजूद होता है। बीजवाले बड़े पौधे और पेड़ इसी तरह एक प्रकार से पिंडज हैं और उपनिषद का ऋषि जो बीज के भीतर समूचा पेड़ देखता था वनस्पति-विज्ञान के इस तत्व को यथार्थ रीति से जानता था।

दलावली या पंखड़ियाँ ही फूल को विशिष्ट रंग-रूप देनेवाली चीज़ें हैं। इन्हीं में से सुगन्धि आती है। मकरन्द की ग्रंथियां किसी-किसी फूल में दलावली में और किसी में पुंकेसर या डिम्बाशय में होती हैं। फूल का आकार विशेषतः परागाधान के सुभीते की दृष्टि से हुआ करता है। वस्तुतः पुष्प के सारे भाग पत्तियों के ही बने हुए हैं जिनका रूपान्तर इसी दृष्टि से हो गया है कि बीज का निर्माण हो। पराग या तो हवा में उड़ता है या मक्खियों, तितलियों आदि कीड़ों के पावों में लगकर और फूलों में पहुँचता है जिससे भिन्न-भिन्न फूलों में गर्भाधान की क्रिया होती है।

जैसे छोटे-छोटे कीड़े मक्खियां आदि पराग को एक फूल से दूसरे फूल तक पहुँचाती हैं उसी तरह फलों के द्वारा चिड़ियां बीजों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाती और बिखेरती है। फूलों और फलों में जो आकर्षण होता है उस का प्रकृति ने यही लाभ रखा है कि पौधों की संतति बढ़े, पौधे फैलें। हवा के द्वारा उड़कर परागों के कणों का सजातीय फूलों के योनिच्छत्र में पहुँचने के सुयोग बहुत कम होते हैं, इसीलिये ऐसे परागकण धूलकण की तरह असंख्य होते हैं और त्रसरेणु की तरह फैले होते हैं।

विकास के लिये आधान-सांकर्य्य बड़े महत्व की क्रिया है। जाति के थोड़े से शाखा-भेदवाले, अथवा भिन्न जाति के समान गुणवाले पौधों में सांकर्य्य से नये गुणोंवाला नया वंश उत्पन्न होता है। जिस तरह अन्य प्राणियों में विकासवाद के अनुसार सांकर्य्य से वंशविकास होता है वैसे ही पौधों में भी वंशविकास होता है। यह सांकर्य्य कभी-कभी स्वाभाविक साधनों से, वायु या कीड़ों के सहारे, अपने आप हो जाता है और कभी-कभी बागबान या वैज्ञानिक स्वयं कृत्रिम रीति से करता है। अमेरिका के लूथर बरबंक नामक अभिनव विश्वामित्र ने इस तरह अनेक नये फल और नये बीज बनाये। नागफनी की एक जाति को कांटों और चेंपों से रहित करके खाने योग्य पदार्थ बना दिया। पेड़ और खुबानी को इस तरह मिलाया कि बिना गुठलीवाला एक फल बन गया जो स्वाद और मिठास में दोनों फलों से मिला-जुला बहुत ही उत्तम सिद्ध हुआ।

वृक्ष का बीज फूलनेवाले पौधों को फिर से उपजानेवाला अंग समझा जाता है, परन्तु वस्तुतः यहां भी वीर्य्याणु और डिम्बाणु के संयोग से ही उत्पत्ति होती है। इन के आधान के बाद के सभी काम उस पौधे की व्यक्ति के विकास के ही साधन हैं। बीज में व्यक्ति का जन्म होकर विकास के रुक जाने का भी विशेष प्रयोजन है। बीज तो जब तक अनुकूल परिस्थिति न मिले तब तक उस पौधे की नवजात व्यक्ति के सुषुप्त बने रहने में ही उस की रक्षा है। साथ ही अनुकूल परिस्थिति में सुरक्षित पहुँचने के लिये व्यक्ति का सुरक्षित होकर बीज के अन्दर सोते रहना ही सब से अच्छा है। बीज के ऊपर का आवरण बहुत ही मज़बूत और टिकाऊ होता है। तेज गरमी में भीतरी व्यक्ति पर आंच नहीं आती। तेज सरदी में भीतरी व्यक्ति ठिठुर नहीं जाता। पौधे अन्चर हैं परन्तु बीज के रूप में औरों की

सवारी करके बड़े वेग से देश और काल दोनों का अतिक्रम कर लेते हैं। चिड़ियों के पंखों पर सवार होकर हवाई जहाज से या व्यापारी की बोरियों में भरकर रेलगाड़ियों से, बड़े लंबे फासले तय करता है। चींटियों और मकोड़ों की रसद के रूप में उन की बांबियों तक जाता है। वह फलों वा फलियों से भी उन के सूखनेपर और चटखकर फटने पर योंही आस-पास बिखर जाता है और पौधे से कुछ दूर जाकर गिरता है। इस में भी मसलहत
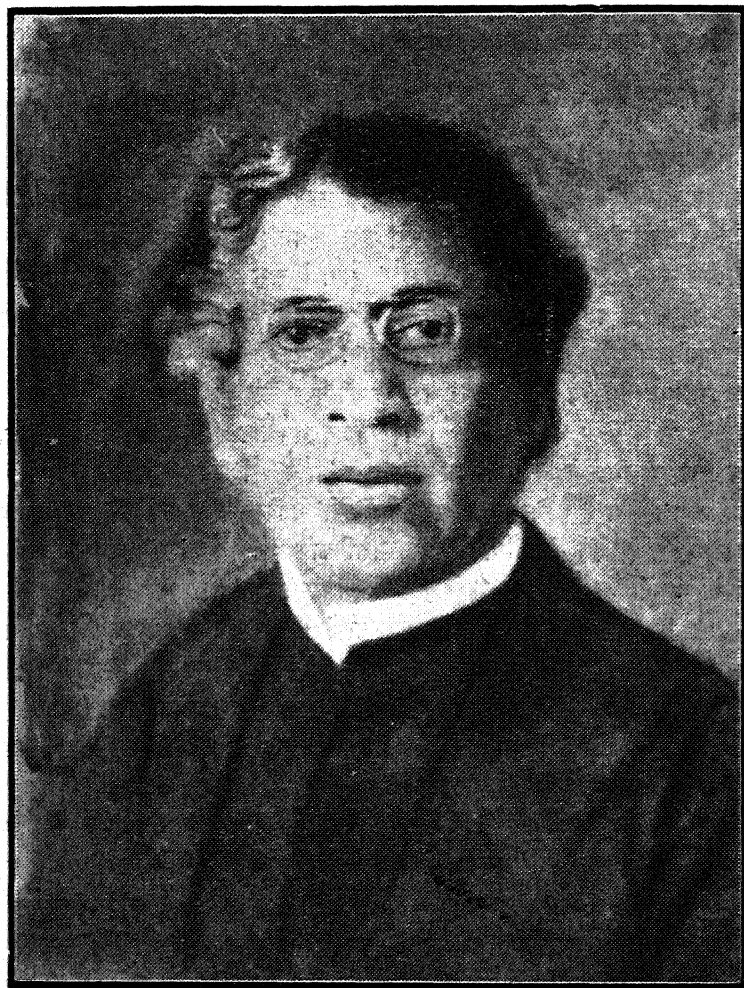
चित्र १६१—सर जगदीशचंद्र वसु, जन्म सं० १९१५ वि० [इंडियन प्रेस की कृपा

यह है कि साधारण भार के कारण गिरेगा तो धरती पर पौधे के पास ही ढेर हो जायगा जिस से उस के जमने में फैलने का सुभीता न होगा। इन अचर प्राणियों के बीज इस तरह विविध विधियों से संसार के सभी भागों में घूमे और फैल गये हैं।

माली कलम लगाने के अतिरिक्त पैवन्द भी लगाता है। वह एक पौधे के धड़ को काटकर दूसरे का धड़ बांध कर कुछ काल तक उस की सेवा कर के एक कर देता है। अथवा एक पेड़ में दूसरा पेड़ इस तरह जोड़ देता है कि दोनों अपना-अपना जीवन-स्रोत एक ही जड़ों के समूह से सुरक्षित रखते हैं। यह विधि दो शरीरों को एक कर देने की तरह है। प्रकृति में भी ऐसी घटनाएं अपने-आप होती रहती हैं। किसी बड़ के पेड़ की धड़ की एक कोटर से पीपल का पेड़ निकल पड़ता है। फिर कुछ काल पीछे एक यही जड़ और धड़ से बड़ और पीपल दोनों ही निकले हुए दिखाई देने लगते हैं।

फल तो वस्तुतः अपने गूदे से बीज की रक्षा करते हैं। परंतु अनेक ऐसे भी वृक्ष होते हैं जिन में बीजों के रक्षक गूदे नहीं होते, प्रायः बीज ही होते हैं। और बहुतेरे पौधों के बीज ही नहीं होते। कितने ही पौधों के वा घास के अत्यन्त बारीक बीज होते हैं जो रेणु की तरह होते हैं। यह रेणु एक ही सेलवाले पिंड होते हैं।

कितने ही पौधे केवल वार्षिक होते हैं जो बीज उत्पन्न कर के मुरझा जाते हैं। कई पौधे और वृक्ष बराबर अनेक वर्षों तक बने रहते हैं। कालीफोर्निया में दो-दोहजार बरस पुराने पेड़ मौजूद हैं। श्रीरामेश्वरम् में एक वृक्ष धर्मशाला के पीछे लगभग डेढ़ सौ गज पर है जो एक हजार बरसों से अधिक का अवश्य होगा। ऐसे पौधे और वृक्ष हर वर्ष के पतझड़ के लिये अपने शरीर में मंड और तैल की काफी रसद इकट्ठा रखते हैं जो वसन्त के आगमन पर नये पत्तों के लगने में उन्हें भोजन का काम देते हैं। गिरने के पहले वृक्ष को पत्ते अपनी सारी सम्पत्ति दे डालते हैं और प्रायः ठठरी-मात्र रह जाते हैं। जब गिरकर धरती पर आ जाते हैं तब धीरे-धीरे प्रायः खाद बन कर फिर पौधों के ही काम आते हैं।

६—परसत्वादों का उपकार

हम यह दिखा आये हैं कि उद्भिज्ज-संसार कर्बन-द्वयोषिद को तोड़कर कर्बन पचाता है और ओषजन वायुमंडल को देता है। नोषजनीय और अन्य पदार्थों को तोड़कर और प्राणियों का भोजन तैयार करता है। शाकभोजी प्राणी उद्भिज्जों को खाकर जीते हैं और शाकभोजियों को मांसभोजी खाकर जाते हैं। परन्तु सभी शाकभोजी मांसभोजियों द्वारा ही मारे नहीं जाते। जब पशु अपनी मौत मरता है और उस के शव को बड़े प्राणी काम में नहीं लाते तो वह सड़ने लगता है। पहले तो चील्ह, कौवे, गिद्ध आदि उसका मांस खा जाते हैं, फिर उसके बचे हुए भाग को कीड़े मकोड़े खाते हैं। उन से भी जो कुछ बचता है तो और भी छोटे प्राणी कीटाणु और उद्भिज्जाणु खाते हैं। बची हुई हड्डियाँ भी धीरे-धीरे गलकर मिट्टी में मिलती हैं और उद्भिज्जों के लिये भोजन बनाती हैं। इसी तरह पत्तियाँ, डालियां, छाल, फल, फूल, लकड़ियां जो कुछ उद्भिज्ज का शव उसकी व्यक्ति के मर जाने पर बचता है अन्य प्राणियों के काम आता है और अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म उद्भिज्जाणु उसे खाते हैं और सड़ गलकर वह सब भी खाद बन जाता है।

परन्तु इस अन्तिम अवस्था के आने से पहले ही, उद्भिज्जों का तो जन्म से ही असंख्य परसत्वभोजी लाभ उठाने लगते हैं। जो आदमी लकड़ी काटकर अपने काम में ला रहा है, जो बकरी पत्तियां चबा रही है, जो बागवाला फलों को चुनकर बेच रहा है, जो माली फूलों से काम ले रहा है, सभी पौधों के परसत्वाद हैं। अनाज के खानेवाले भी परसत्वाद ही हैं। फिर चिड़िये घोंसला बनाकर रहती हैं, यात्री पेड़ की छाया में सुख से सोता है, कोटरों में अनेक प्राणी रहते हैं। यह सभी पेड़ से लाभ उठाते हैं।

पशु-पक्षी भी अपने लिये ही नहीं जीते। इस प्राणिमय संसार में वह भी अपनी-अपनी तौर पर कोई न कोई सेवा करते हैं। एक दूसरे का आश्रय ऐसा घनिष्ट है कि एक के बिना दूसरे का काम नहीं चलता। प्रत्येक प्राणी का एक-एक स्थान है। उसकी जाति के नष्ट हो जाने पर भी दूसरी जाति को उसका काम सँभालना पड़ता है। एक केंचुआ भी इस जीवन-संसार में अनावश्यक नहीं है। केंचुआ न हो तो धरती ठंढी, कड़ी, खमीर से रहित और अनुवर ऊसर हो जाय। चींटियाँ न हों गुबरैले न हों, तो कीड़ों मकोड़ों की लाशें और अनेक गंदगियाँ बनी रहें। जिन कीड़ों-मकोड़ों ने अपना काम कर लिया है और अब उनका जीवन अनावश्यक है उन्हें चिड़िया न खा जाय तो चिड़िया का जीना भी कठिन हो जाय और गंदगी भी फैल जाय। शाकाहारी प्राणी घास पत्तियाँ आदि खाते रहते हैं, जिस से अधिक शाक और घास और पत्तियाँ उपजती हैं और फलादि के खानेवाले जीव उनके बीजों को बिखेरकर वृद्धि का सुयोग प्रदान करते हैं। मधु और मकरंद के लोभ से मधु-मक्खियाँ और भ्रमर परागों को एक फूल से दूसरे पर पहुँचाते हैं। इकट्ठे किये हुए शहद का अपहरण करनेवाला मक्खियों को अधिक मधु-संचय के लिये लाचार करता है। खेती को नष्ट करनेवाले अनेक कीड़ों-मकोड़ों को पक्षी खा जाते हैं और किसान को लाभ पहुँचाते हैं। परन्तु स्वार्थी किसान उन्हें मजूरी नहीं देना चाहता और मूस, घूस, तोतों आदि से अपनी हानि समझता है। हमें अनेक घातक प्राणियों की उपयोगिता का पता नहीं है। हम नहीं जानते कि टिड्डियों की क्या उपयोगिता है। परन्तु प्लेग, हैजा आदि फैलकर प्राणियों की आबादी घटा देते हैं। शायद जीवन के रगड़े में अयोग्य प्राणी अत्यधिक हो जाते हैं उनका छांटा जाना जरूरी होता है। निदान प्राणिमय संसार एक दूसरे से बड़े विषम जाल में बँधा हुआ और अन्योन्याश्रित है और उद्भिज्जों का हम से अत्यन्त घनिष्ट और अनिवार्य सम्बन्ध है।

इस चित्र से जीवन के रगड़े की अच्छी मिसाल मिलती है। एक मक्खी पर एक छोटी मछली ज्यों ही टूटना चाहती है, त्यों ही उसी पर दो शत्रुओं की निगाह पड़ती है। तिमिंगल ताकता ही रह जाता है और छोटी मछली को जल-विहंग उचक ले जाता है। परन्तु उसे भी खा जाने को ऊपर से बाज झपटा आ रहा है। जीवोजीवस्य जीवनम्।

७—ऋतुओं का हेर-फेर

मनुष्य और पशु-पक्षी हरियाली पर निर्भर करते हैं और हरियाली सूर्य्य की किरणों

पर निर्भर करती है और सूर्य्य की किरणें पृथ्वी की गति के कारण भिन्न-भिन्न देशों और कालों में भिन्न मात्राओं में आती हैं। धूल और हवा में से छनकर तो धूप सभी ऋतुओं में आती है परन्तु हवा और पानी के हेर-फेर से आंधी और बादल और धूप तीनों मिलकर ऐसा जोड़-तोड़ लगाते हैं कि स्वभाव से ही जाड़ा गरमी और बरसात इन तीन ऋतुओं में स्थूल रूप से हमारे वर्ष का विभाग हो जाता है जिस का फल खेती और पौधों के जीवन पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है, और शेष प्राणियों के जीवन पर अप्रत्यक्ष रूप से। जीवनमात्र ह्रास और वृद्धि का ही नाम है। एक समय प्राणी अपने शरीर में बाहरी पदार्थों को मिलाकर उसे बढ़ाने की कोशिश करता है, तो दूसरे समय भीतरी पदार्थ जो निकम्मे हो गये हैं बाहर निकालता है और घटा देता है। समय का यह फेरफार प्रतिक्षण भी होता रहता है और बड़ी अवधि में भी होता रहता है। प्रकृति में भी दिन और रात, अंधेरा और उंजाला, पाख, मास, ऋतु आदि के विभाग इन्हीं विविध अवधियों के विभाग हैं।

जगतीतल के सभी भागों में एक सी ऋतु नहीं होती। इसलिए हम प्रस्तुत प्रकरण में अपनी भारतीय ऋतुओं पर ही विचार करेंगे। हमारा देश भी इतना विशाल है कि उत्तर और दक्षिण प्रदेशों में भी ऋतुओं का बड़ा अन्तर पड़ जाता है। पूस माघ के महीनों में जब उत्तर में कड़ा जाड़ा पड़ता रहता है, हैदराबाद से जितने ही दक्षिण जाओ सरदी घटती जाती है, यहां तक कि मदरास हाते भर में रहनेवाले को उस समय एक कुरता भी पहनने की आवश्यकता नहीं रहती और बहुधा रात को मैदान में सोने की भी ज़रूरत मालूम होती है। बरसात भी मदरास हाते में कार्तिक अगहन पूस माघ तक हो जाती है। शेष बरस गरमी पड़ती है, परन्तु गरमी भी सह्य होती है। ऐसी भयानक गरमी नहीं पड़ती जैसी कि उत्तर प्रदेशों में। इस का कारण यह है कि पूरब पच्छिम और दक्षिण तीनों ओर समुद्र है। वायु आर्द्र रहती है। फलों में नारियल और केले की बहुतायत है। गेहूँ जौ बिलकुल नहीं होता। चावल ही वहां का प्रधान भोजन है। यह सभी बातें प्रचुर आर्द्रता की परिचायक हैं।

उत्तर प्रांत में पंजाब, संयुक्त प्रांत और मध्य प्रदेश समुद्र से दूर हैं। इन में जहाँ जैसी आवश्यकता है वहाँ वैसी आर्द्रता की कमी और बेशी है। पंजाब में गेहूँ के लिए भूमि अधिक उर्वरा है। संयुक्त प्रांत और मध्य प्रदेश उस की अपेक्षा नीचे हैं। इन प्रांतों में गेहूँ और चावल दोनों होते हैं। परन्तु बंगाल उड़ीसा बंबई गुजरात आदि में चावलों की ही प्रधानता है। नारियल और केलों की ही बहुतायत है।

यों तो प्रत्येक ऋतु में विशेष अनाज विशेष फल विशेष फूल हुआ करते हैं जिन पर विस्तार करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। तथापि जो फल फूल और बीज वार्षिक हुआ करते हैं उन के सम्बन्ध में यह एक साधारण नियम है कि नयी हरी पत्तियां बसन्त ऋतु में लगती हैं और फूल भी बसन्त में ही आते हैं। चैत बैसाख बसन्त के महीने हैं। इस ऋतु में शर्करा और कर्बोदेत अधिक बनते हैं। यही शर्करा मकरंद और मधु के रूप में दिखाई पड़ती है। गरमी के जेठ और असाढ़ के महीने हैं। इस में धूप की तेज़ी से रस सूखने लगता है, परन्तु यदि धरती में आर्द्रता हुई तो पौधे की रक्षा रहती है। सावन-भादों की

वर्षा से आर्द्रता काफी मिल जाती है। फिर तो सूखे धानों में पानी पड़ जाता है। धरती से खाने योग्य पदार्थ भी नमी के साथ काफी मिल जाते हैं। बीच बीच में धूप मिलते रहने से बरसात में पौधे की सर्वांग वृद्धि होती है। कर्ब्बोदेत प्रत्यमिन, तैल सभी कुछ बनता है। इसी समय फूल के भीतर बीज भी पनपने लगता है और फल का आवरण धारण करने लगता है। क्वार-कातिक की शरद ऋतु में फलों की बहुतायत हो जाती है। आगहन पूस के हेमंत में फलों का समय समाप्त हो जाता है। फिर माघ फागुन की शिशर ऋतु में पत्तियां अपना स्वत्व पेड़ को देकर झड़ने लगती हैं। हमारे देश में इस प्रकार छः ऋतुएँ होती हैं। इन सब की जान सबों का प्राण बरसात है। कवियों ने बसन्त को ऋतुराज कहा है, सही, परन्तु बसन्त यदि राजा है तो वर्षा जीवनदान करनेवाली, वनस्पति की प्रसविनी, ऋतुओं की रानी है।

आठवां खंड

परिस्थिति पर विजय

सत्ताईसवां अध्याय

शक्ति पर विजय

१—हमारी शक्ति का स्रोत

इस धरती पर सूर्य की अनन्त और असंख्य किरणें बराबर आती रहती हैं। धूप से हरियाली की प्रयोगशाला किरणें लेकर कर्बनद्वयोषिद को तोड़-तोड़ कर प्रतिदिन लाखों मन कर्बोज्जेत बनाया करती है। परन्तु इस से धूप का बहुत थोड़ा अंश खर्च होता है। उस का बहुत बड़ा अंश धरती की ऊपरी तह को गरमा देता है और फिर रात में यही गरमी जो काम में नहीं आयी होती अनन्त देश में बिखर कर हमारे लिये सदा के लिए खो जाती है। जो थोड़ा सा अंश धरती के काम आता है उस में बादलों का बनना और हवा का बहना भी शामिल है। हमारी खेती जिस पर असंख्य प्राणियों का जीवन निर्भर है सूर्य की किरणों के ही सहारे होती है। हरियाली जो काम करती है, किरणों के सहारे। बादल बरसता है किरणों के सहारे। आसमान से नमी मिलती है और उस में घुलकर खाद उसी के सहारे पौधों द्वारा चूसी जाती है—सब किरणों की ही शक्ति से। उसी अन्न से हमारे शरीर का पालन-पोषण होता है और गरमी मिलती है। भोजन न करें तो चलना-फिरना तो क्या करवट लेना भी असंभव हो जाय। इस लिये हमारा जीवन अन्न से है और अन्न सूर्य से। हमारे जीवन की शक्ति भी सूर्य से आती है। धूप की गरमी से पानी उड़कर बादल बनाता है। वही पहाड़ पर बरसता है या बरफ़ बनकर जमता और फिर गलता है तो नदी में बड़ी तीव्र धारा से बहता है। इस धारा में ऐसा बल है कि पर्वत तोड़-डालती है। यह ताकत कहां से आयी? क्योंकि ऊपर से गिर रही है। धूप ही अपनी ताकत से इसे ऊपर ले गयी थी। यह ताकत धूप की दी हुई है। इसलिये ऊंचे से नीचे की ओर बहनेवाले जल में भी धूप से बल मिलता है। इंजन चलता है भाफ या गैस के बल से। भाफ बनाने को कोयला जलता है। कोयला करोड़ों बरस पहले के जंगल के गलजाने और भूगर्भ की गरमी से इस रूप में परिणत हो

जाने से बना है। परन्तु वह पूर्व युग का जंगल भी तो धूप की ही करतूत थी। इसलिये धूप की ही गड़ी हुई ताकत कोयले के रूप में खोदकर निकाली गयी है और वही ताकत
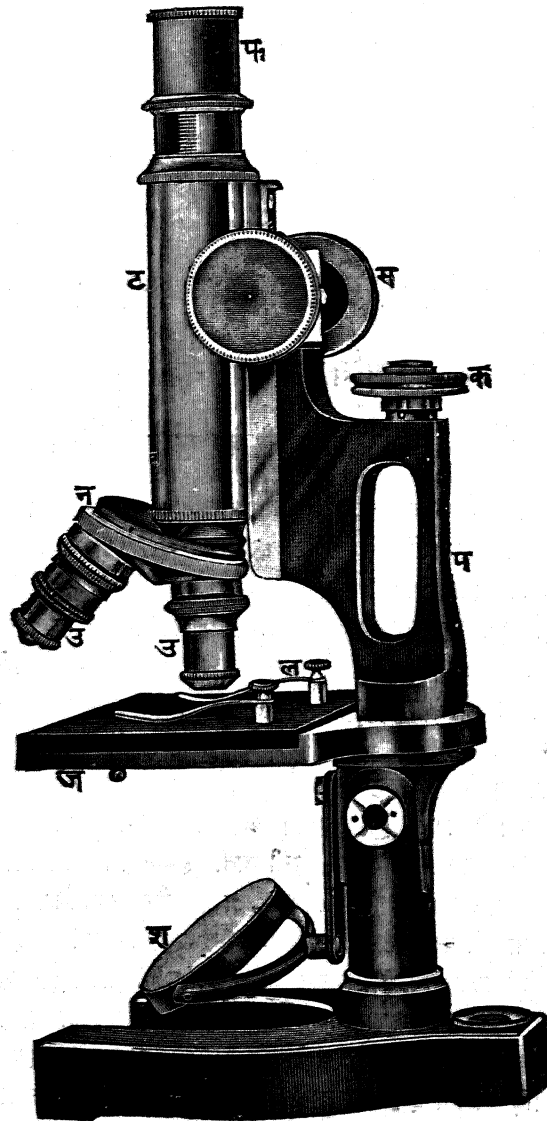
चित्र १६२—अणुवीक्षण यंत्र [परिषत् की कृपा

इंजन को चला रही है। हर तरह के ईंधन में इसी धूप की ताकत है। निदान सूर्य की शक्ति से ही हम अनेक रूपों में काम लेते हैं यहां तक कि लकड़हारा सूर्य की ही शक्ति

से लकड़ी चीरता है और पन-भरा उसी शक्ति से गहरे कुएं से पानी निकालता है और एक विद्वान् उसी शक्ति से पृष्ठ-पर-पृष्ठ लिखता और व्याख्यान-पर-व्याख्यान देता जाता है। लोहे में उसी की शक्ति से काटने-पीटने का सामर्थ्य है। जितनी कलें बनी हुई हैं सब में उसी की शक्ति काम करती है।

कलें या यंत्र बल के प्रयोग के साधन-मात्र हैं। उन में अपना बल तनिक भी नहीं है। घड़ी में कमानी का बल है। कमानी कसनेवाला ही घड़ी को अपना बल देता है। कसनेवाले का बल अन्न से और अन्न का बल सूर्य से आया है। निदान, भूतकाल से लेकर वर्त्तमान काल तक धरती पर आनेवाली धूप ही हमारे सारे बल का मूल है चाहे वह यंत्र-बल हो, और चाहे देह-बल हो। चतुर यंत्रशास्त्री चाहे जिस साधन से और शक्ति से काम ले उस का उद्देश्य यही होता है कि कम-से-कम साधन लगाकर अधिक-से-अधिक काम में लाने लायक बल पावे और उस से अधिक-से-अधिक काम ले सके।

उसने आरंभ से इस तरह के प्रयत्न किये हैं। दो हजार बरस हुए अर्कमीदिस ने कहा था कि मुझे अगर कहीं पावँ रखने की जगह मिले तो मैं धरती को टेकन के बल से हिला दूं। लंका में जाने को सागर में सेतु बांधती बेर बड़े-बड़े यंत्र काम में आये थे। मिश्र देश के सूचीस्तूपों के बनने में भी यंत्र का प्रयोग स्पष्ट है। यह सभी यंत्र भार-वहन करने के काम में आनेवाले थे। जो काम हाथ से धीरे-धीरे होता उसे ही जल्दी-जल्दी कराने के लिये भी यंत्र बने। तकली पर सूत धीरे-धीरे कतता है। चरखा इसी लिये बना कि काम जल्दी हो। वाट ने विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भाफ से चलनेवाला यंत्र बनाया जिस से बल लेकर अनेक काम लिये जाने लगे। पानी के नीचे आंच देकर खौलाने से भाफ बनता है। भाफ फैलना चाहता है। सब ओर मजबूती से बन्द रहे और केवल एक ही ओर कुछ ढकना सा खुले तो भाफ के बल से ढकना हट जायगा। बस, हटाने-मात्र का ही बन्दोबस्त तो यंत्र-निर्माण का मूल है। हटाने की क्रिया से तो लोग अनादि काल से काम लेते आये हैं। जैसे जल-धारा के बल से एक चरखी का पंखा हटता रहता है जिस से चरखी घूमती रहती है। इसी से पत्थर की चक्की का सम्बन्ध कर देने से चक्की घूमती और आटा पीसती रहती है। इसी तरह वायु का पंखा भी घूमकर चक्की चलाता है। पनचक्की और पवनचक्की तो अनादि काल से जाने हुए यंत्र हैं। भाफ की कल के सहारे भी चक्की चलने लगी। इसी भाफ के इंजन से चक्की के बदले जब पिचकारी के डाट सरीखे यंत्रों का चलाना संभव हो गया तो रेल का इंजन बना जो गाड़ी घसीटने लगा। कोयले को जलाने पर बहुत धुआं निकलता था। बन्द बरतन में जलाने से उस में से जलने के योग्य वायव्य निकले, असंख्य काम की चीजें निकलीं और कोलतार निकला। वायव्य या गैसों से तो रोशनी का और ईंधन का काम लिया गया। कोलतार तो वस्तुतः कुबेर की निधि सिद्ध हुआ। यह सब गड़ा हुआ सौर-बल था जो धन के रूप में प्रकट हुआ। तब से आटे की चक्कियां आदि
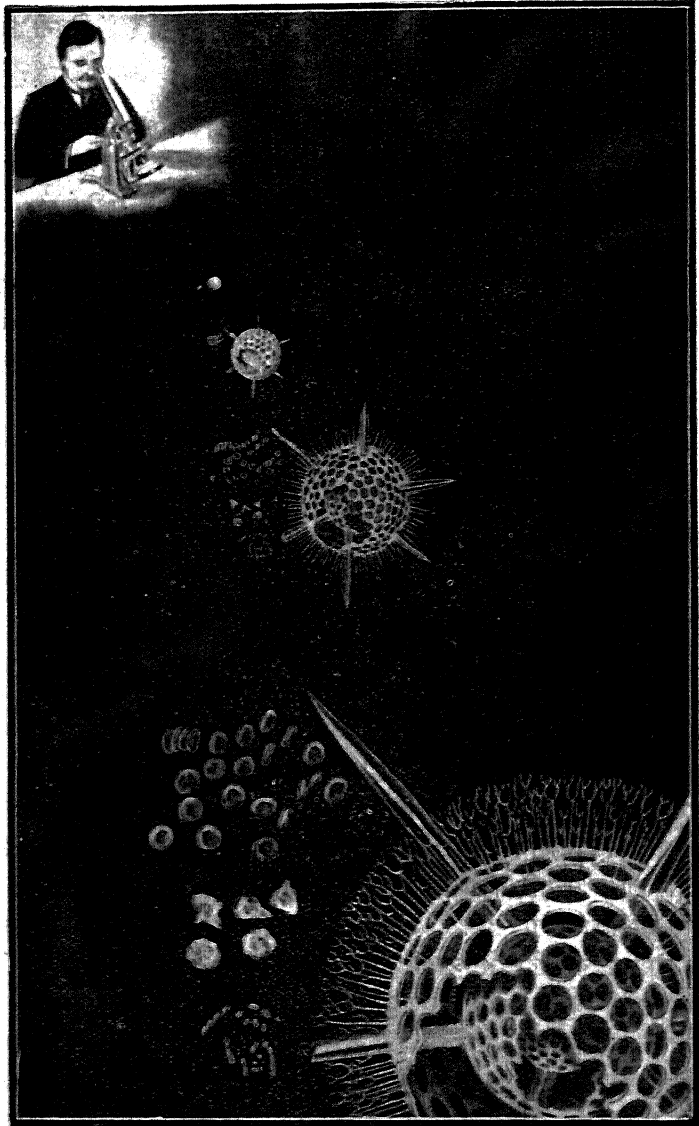
चित्र १८२—अणुवीक्षणयंत्र के चमत्कार [परिषत् की कृपा

अनेक यंत्र खान के निकले हुए तेलों से भी चलाये जाने लगे। तेल भी सौर शक्ति का भंडार है।

विज्ञान ने इस बात को अनेक प्रयोगों से सिद्ध कर दिया कि गरमी, रोशनी, बिजली, चुम्बकत्त्व, गति आदि सभी शक्ति वा बल के रूपान्तर हैं। विशेष स्थिति में होना भी बल का संचय सिद्ध करता है। ऊंचे पर का जलाशय ऊंचाई के कारण बल का भंडार है। ऊपर से पानी गिरता है तो उसके बल से काम लिया जा सकता है। इतना ही नहीं। गरमी को या गति को बिजली चुम्बकत्त्व में बदल सकते है। बिजली को रोशनी-गरमी वा गति में बदल

चित्र १६४—गंदे गड्ढे के जलसीकर को अणुवीक्षण यंत्र में देखने से यह दृश्य दिखाई पड़ता है।

सकते हैं, क्योंकि यह सब एक ही सत्ता है जिस का नाम शक्ति है। गिरते हुए पानी की ताकत को बदलकर बिजली कर ली और इस बिजली को जमा करके रख लिया। फिर जब काम लगा तो इसी बिजली से गति, रोशनी, आंच, सब कुछ ले ली। निदान सूर्य्य की शक्ति को अनेक प्रकार से लेकर अनेक रूपों में बदलकर अनेक तरह पर हम काम में लाते और ला सकते हैं और हमारी सारी शक्ति का मूल स्रोत सूर्य्य है।

२—करण और उपकरण

मनुष्य के पास अपनी इन्द्रियां की शक्ति चराचर से धीरे-धीरे विकास करती आयी है, परंतु उस के पास तो तब से मौजूद है जब से उस की सृष्टि हुई है। चराचर सृष्टि

परिस्थिति के साथ संघर्ष करती आयी है। इस संघर्ष में सबसे अधिक सफलता मनुष्य को अपनी भीतरी और बाहरी ज्ञान और कर्म्म की इद्रियों की बदौलत हुई है। वह परिस्थिति से

चित्र १६९—घरेलू मक्खी [परिषद् की कृपा
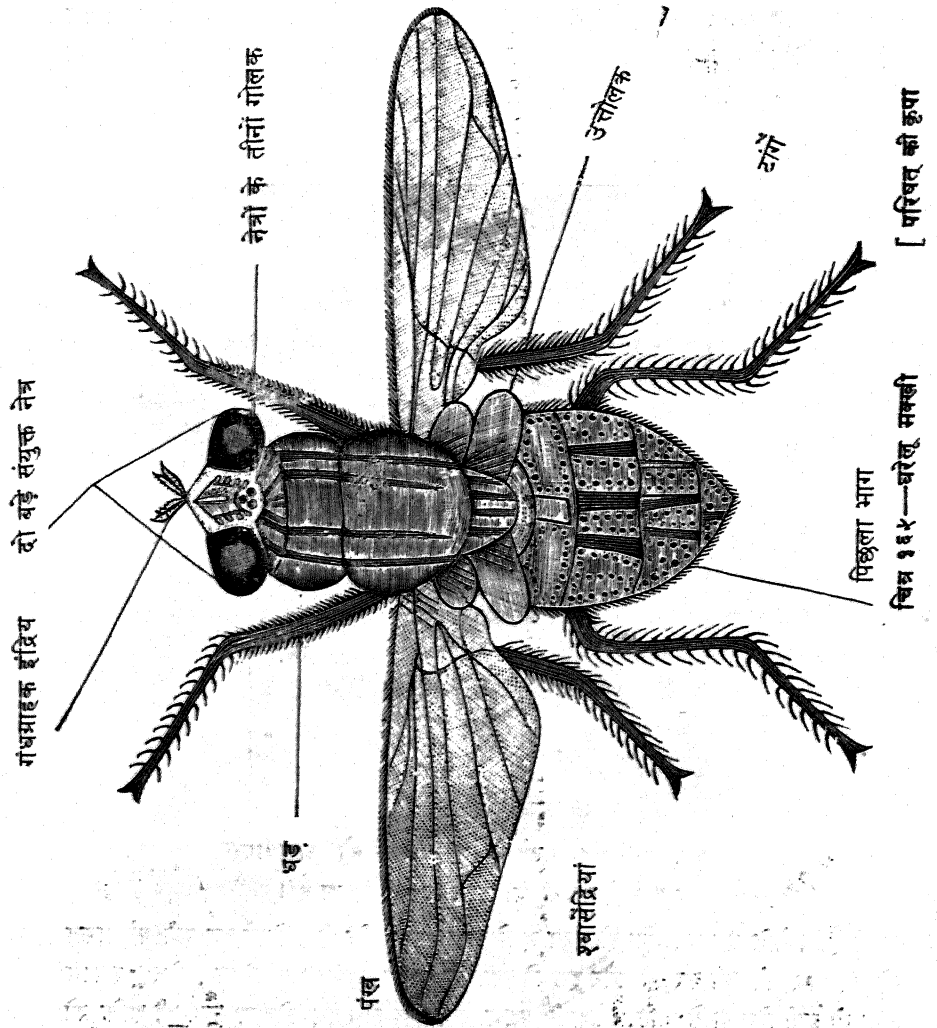
बराबर युद्ध करता आया है और इस लड़ाई में वह बराबर इद्रियों की ही शक्ति से विजयी होता आया है। परंतु अकेली इद्रियों की शक्ति तो परिमित है। वह देख सकता है परंतु न तो बहुत सूक्ष्म पदार्थों को देख सकता है और न दूर की वस्तुओं को देख सकता है। विज्ञान के बल से उस ने देखने के लिये अणुवीक्षण यंत्र बनाये जिससे कि वह मधुमक्खी के डंक

को यथार्थरीत्या देख सका। घर की मक्खी की असंख्य आंखों का पता लगा सका। इतना ही नहीं। उस ने वह जीवाणु देखे जो भांति-भांति के रोग फैलाते हैं। बल्कि उस ने अणुओं के सूक्ष्म समूहों की चंचल गति भी देख ली। उस ने दूरवीक्षण यंत्र भी रच डाले। उसने दूर के तारों ग्रहों और नीहारकाओं तक के देखने के लिये बड़े-बड़े दूरवीक्षण यंत्र निर्माण किये। उसने रश्मि-विश्लेषक यंत्र बनाकर यह जान लिया कि दूर-से-दूर के तारे जिनकी किरणें यहां लाखों बरस में पहुँचती हैं किन-किन मूल तत्त्वों के बने हुए हैं। उस ने अणुश्रावक यंत्र बनाकर सूक्ष्म-से-सूक्ष्म शब्द सुनने की शक्ति पैदा की। टेलीफोन दूरश्रावक और तार एवं बेतार के समाचारों में हजारों मील की दूरी के शब्द सुनने के उपाय किये।
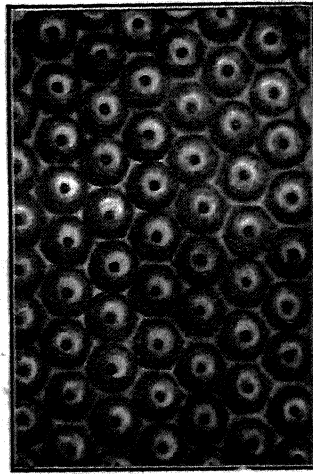
चित्र १६६—घरेलू मक्खी की असंख्य आंखें, अणुवीक्षण द्वारा देखी गयीं।

उसने गानेवालों की एवं बाजों की आवाजें रेकार्ड कर लीं और रेकार्डों की हजारों नकलें तैयार कीं। ग्रामोफ़ोन पर वह जब चाहे तब उन्हीं आवाज़ों को बार-बार सुन सकता है वह मरे हुए स्वजनों की फोटो से रूप और रेकार्ड से उनके शब्द को अमर बना सकता है। स्पर्श के ज्ञान के लिये उसने सूक्ष्म-से-सूक्ष्म यंत्र बनाये। बोलोमीटर और तापमापक यंत्र गरमी नापने के लिये हैं। ताप की मात्रा नापने के लिये कलारीमापक यंत्र बना। पृथ्वी का सूक्ष्मातिसूक्ष्म कंपन नापने को सैस्मोग्राफ़ बनाया। नाडी देखने के लिये यंत्र बनाया जिस से रक्त का दबाव नापा जाता है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों की सहायता के लिये जैसे यंत्र बनाये उसी तरह कर्म्मेंद्रियों की सहायता के भी साधन बनाये। भार उठाने के लिये अद्‌भुत क्रेन बनाये जो बिजली के बल से कारखाने के एक भाग से दूसरे भाग को हजारों मन का बोझ सहज में उठा ले जाते हैं और निर्दिष्ट स्थान में रख आते हैं। जमशेदनगर में ताता के

लोहे के कारखाने में यह तमाशे प्रत्यक्ष देखने में आते हैं। अमेरिका में बने बनाये लकड़ी के या कागज के मकान एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाकर स्थापित कर दिये जाते हैं। जहाजों में एक-एक बार में ढाई-ढाई सौ मन कोयला क्रेन से ढुलकर लदता है। घंटे भर में सवा सत्ताईस हजार मन कोयले की लदाई होती है। एक एक बार में क्रेन के द्वारा ढोने वाली टोकरी साठ-सत्तर मन माल, जैसे कोयला, बटोरकर धर लेती है। आदमी के हाथ लगाने की जरूरत नहीं है। बड़े-बड़े कारखानों में प्रायः सभी काम कलें करती हैं। इसी तरह सारा कारखाना कलों के जोर से चल रहा है। इस में एक भी आदमी की जरूरत नहीं है।

चित्र १६७—मधुमक्खी

निदान आदमी ने कलों के बनाने में वह कमाल पैदा किया कि करणों अर्थात् इन्द्रियों की ज़रूरत बाकी न रही और उपकरणों अर्थात् हथियारों से या कलों से वह सारे काम लेने लगा। टामसन ने यह सिद्ध किया कि केवल सूर्य्य ही हमें शक्ति दे सकता हो यह बात नहीं है। शक्ति का तो महासमुद्र यह संसार है और इस का एक-एक कण है। बात यह है कि वस्तु-सत्तामात्र बिजली ही घनरूप में है और हम को वह रहस्य मालूम होना बाकी है जिस से कि एक-एक कण से बल लेकर हम सैकड़ों कारखाने एक साथ चला सकें। हमारे हाथों के पास ही अनन्त बल का भंडार है, परन्तु अपने अज्ञान के कारण हम उस से काम नहीं ले सकते।

३—शक्ति के कुछ विशेष प्रयोग

ऊपर हम क्रेनों की चर्चा कर चुके हैं। ऐसे-ऐसे क्रेन भी हैं जो अष्टपद हैं और अपनी टांगों को उठा-उठाकर आगे बढ़ते जाते हैं। यद्यपि एक स्पष्टपद क्रेन घंटे में

केवल तीस फीट की चाल से चलता है तथापि यह लगभग साढ़े पांच हजार मन के भारी है और काम पड़ने पर किसी भारी पुल को भी उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर रख सकता है। इस में बिजली का बल लगा हुआ है।
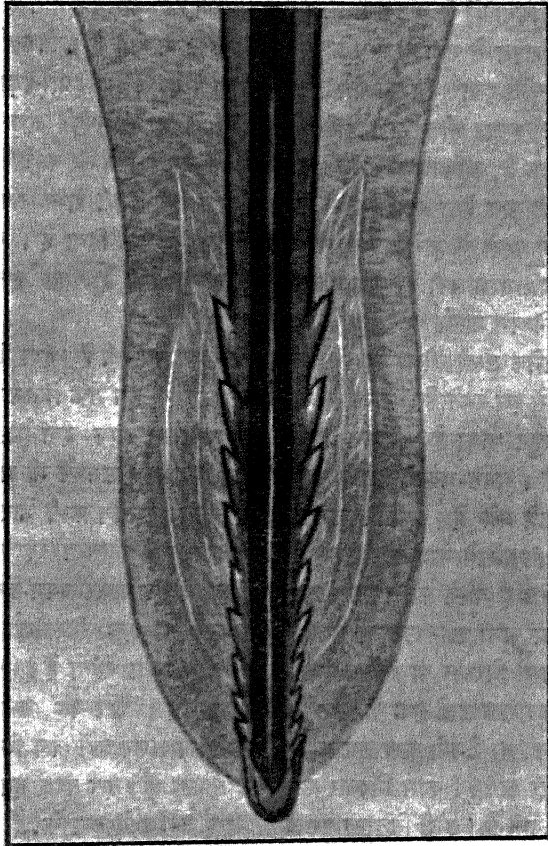
चित्र १६८—मधुमक्खी का डंक अणुवीक्षण द्वारा देखा गया।

ज्यार्ज न्यून्स की कृपा] [टामवन से

बिजली की शक्ति मनुष्य के हाथों में आने से सभी तरह के यंत्र के काम सहज हो गये। बिजली के बल से वह सभी यंत्र चलने लगे जो हाथ या भाफ या गैस के बल से चलते थे। आटा पीसने की चक्की, धान कूटने का यंत्र, तेल पेलने का यंत्र, कपड़ा कागज आदि छापने के यंत्र, कपास ओटने की चर्खियां, सूत कातने के पुतली-घर, कपड़े बुनने की मिलें, सभी काम बिजली के बल से होते हैं। घर-घर में आज पंखे चलते हैं और रोशनी होती है,

यह बिजली की ताकत के मामूली खेल हैं। अब बिजली की ताकत धीरे-धीरे और सब ताकतों को हटाकर उनका स्थान ले रही है। अब रेलें भी बिजली की ही ताकत से चलायी जाने लगी हैं, क्योंकि एक तो कोयले की खानें मुद्दत से खुदते खुदते खर्च हो चली हैं दूसरे उन के मुकाबले में बिजली सस्ती हो गयी है, तीसरे कोयले की गंदगी, बृहदायतन, धुआं आदि अनेक असुविधाओं से छुटकारा मिलता है। पहले जो काम किसी तरह मनुष्य से नहीं हो सकते थे या सहज से नहीं हो सकते थे, आज सहज में होते हैं। बिजली का बल ऊंचे पहाड़ों पर बीस-पचीस-हजार मन का बोझ उठा ले जाता है, रेलगाड़ियां चढ़ा ले जाता है। एक लाख छियासी हजार मील प्रति सेकंड के वेग से बेतार की खबरें दस-दस हजार मील समुद्र-पार पहुंचाता है, आकाश में उड़ते हुए विमानों से, जल में सैर करते हुए जहाजों से बेतार के बात-चीत करा देता है, खानों में कोयला काटता है, भारी बोझ ऊपर चढ़ा देता है, निदान उसने पहले के अनेक असंभव कामों को संभव कर दिया है। घरों में बिजली झाड़ू देती है, बासन मांजती है, खाना पकाती है, कपड़े धोती है, पंखा हांकती है, चौकी-दारी करती है, निदान अपने घर की बांदी हो गयी है।

परन्तु अनेक सस्ती चीजें पहले से मनुष्य के काम कर रही हैं। हवा के जिस विस्तीर्ण सागर या मंडल में हम रहते हैं, हर जगह मौजूद है। उस से अब तक जितना कुछ काम हम लेते रहे हैं वह बहुत थोड़ा है। विज्ञान के बढ़े हुए प्रयोग से अब हवा पहले से ज्यादा काम देने लगी है। पवन-चक्की यद्यपि पुरानी बात है तथापि उस से भी भारी-भारी काम लेने के उपाय किये गये हैं। हवा निरन्तर तो चलती नहीं रहती। कभी जोर की चलती है और कभी धीरे। इसलिये कोई कारखाना उस से बराबर नहीं चलता रह सकता। परन्तु हवा के बल का संग्रह करने का उपाय किया गया है। यंत्र लगाकर पवन-चक्की के बल से पहाड़ के नीचे का पानी ऊपर उठाया जाता है और उस से एक विस्तीर्ण जलाशय भरा जाता है। यह काम निरन्तर या रुक-रुक कर अपने आप होता रहता है। पहाड़ के ऊपर का भरा हुआ जलाशय उसी हवा के बल से भरा हुआ है। अब यह जल नीचे बहाया जाता है तो चक्की या डैनमो चल सकता है। डैनमो चलाकर यही बल बिजली में परिणत होकर अनन्त और असंख्य काम निरन्तर करता रह सकता है। इस तरह हवा की गति से बिजली बनायी जाती है। इसी सिद्धान्त पर चलते हुए जहाज में हवा के ही बल से बिजली की बत्तियां जलती हैं। पहले के जहाज बादबान या पाल लगाकर हवा के बल से चला करते थे। परन्तु हवा के अनुकूल दिशा में चलने पर ही यह सुभीते की बात थी। परन्तु हवा चाहे जिस दिशा में चलती हो, उस की चक्की चलाकर आजकल बिजली बना सकते हैं और उसी बिजली के बल से जहाज को इष्ट दिशा में सहज ही चला सकते हैं। इस तरह मनुष्य ने हवा को भी एक तरह से अपनी मुट्ठी में कर लिया है।

हवा के दबाव से यंत्र-निर्म्माण में बहुत लाभ उठाया गया है। यह तो जानी हुई बात है कि हमारे ऊपर प्रति वर्ग-इंच सात सेर के लगभग हवा का दबाव है। यदि हम किसी देश को वायु-शून्य कर दें तो उसपर चारों ओर से हवा का दबाव पड़ेगा। साथ ही हम चाहें तो किसी देश में अत्यधिक वायु कसकर भर दें जिस से बाहरी दबाव का मुकाबला कर सकें।

इसी प्रकार वायु के दबाव को तारतम्य से ठंडा और विस्तीर्ण करते हुए जमाकर द्रव रूप में कर दिया जाता है। वायु का दबाव वर्ग-फल के हिसाब से यथेष्ट बढ़ाया-घटाया जा सकता है। इस से हिलाने-हटाने का सभी तरह का काम ले सकते हैं। इसी सिद्धान्त पर भारी-भारी घन चलाये जाते हैं और वह आरे चलते हैं जो फौलाद को भी चीर देते हैं। चक्की आदि चलाने की तो कोई बात ही नहीं है। खानों के भीतर इसी सिद्धान्त पर कोयले की चट्टानों को काटने के लिये चक्र-यंत्र घुमाया जाता है जिस में आग का कोई काम नहीं है। छोटे-से-बड़े औजार तक इसी वायु-बल से चलाये जाते हैं। घर के झाड़-बुहार और सफाई के काम हवा के इसी सिद्धान्त पर लिये जाते हैं। वायु के बल से चलनेवाले बाजे को केवल हिलाकर एक अनजान बालक भी उत्तम-से-उत्तम गीत बजा लेता है। खबर पहुंचाने की नलिकायें इसी सिद्धांतपर बनती हैं। पुल के लिये पानी के भीतर काम करनेवालों को इसी ढंग पर यथेष्ट हवा पहुंचायी जाती है और पानी के ऊपर जहाज भी चलाये जा सकते हैं। पनामा की नहर के काटने में चट्टानों में छेद करने के विशाल यंत्र इसी वायु के बल से बने थे। दूर क्यों जायें, दबी हुई हवा के ही बल से रेल के सिगनल काम करते हैं और खतरे की जंजीर जो हर डब्बे में लगी रहती है इसी सिद्धांत पर काम करती है। सारी गाड़ी की लम्बाई भर एक लोहे की नलिका लगी हुई रहती है जिस के भीतर जंजीरें लगी रहती हैं। इस नलिका का सम्बन्ध शून्य-बकसों से होता है। इन बकसों में पिचकारी की मुठिया रहती है जो ब्रेकों से लगी हुई है। गाड़ी ज्यों ही चलने को होती है त्यों ही इंजन इस सारी नलिका से हवा को चूस लेता है। इस से ब्रेक हट जाते हैं। परन्तु जंजीर खींचते ही नलिका खुल जाती है और हवा भर जाती है। हवा ज्यों ही नलिका में जाती है त्यों ही वह पिचकारी की मुठिया जोरों से चलती है और ब्रेक लगा देती है। गाड़ी रुक जाती है। आजकल थर्मोफ्लास्क फैशन की चीज हो गयी है। वह,एक शीशी के भीतर शीशी है। बीच में वायु-शून्य है। शीशी की भीत पर चांदी की कलई है। वायु-शून्यता कलई और कांच तीनों मिलकर भीतर और बाहर की गरमी का वह पारस्परिक सम्बन्ध तोड़ देते हैं जिस से गरम चीज ठंडी और ठंडी चीज गरम हो जाती है। इस शीशी में रखी हुई चीज गरम या ठंडी जैसी रखी जाती हैं वैसी ही बनी रहती है। इसी सिद्धान्त पर थरमो बक्स भी बनते हैं।

जल के प्रपात से बिजली के बनने और पनचक्की के चलने की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। नाव जहाज आदि का चलना भी जल के ही बल से होता है। इस के सिवा जल-बल का एक और प्रयोग ब्रह्मप्रेस में होता है। लाखों मन रुई के गट्ठे विदेश जाते हैं। कसकर मजबूत गट्ठे का रूप देना इसी ब्रह्मप्रेस का काम है। रुई ऐसी कसी जाती है कि फौलाद की तरह ठस हो जाती है।

४—आग के गले में जुआ

जल, वायु, धूप, बिजली से जैसे भांति-भांति के काम मनुष्य लेता है उसी तरह आज वह भयानक आग के गले में भी जुआ डालकर काम ले रहा है। यों तो वह अनादि

काल से रक्षा और विनाश दोनों के लिये अग्नि को काम में लाता रहा है, भोजन भी पकाता रहा है और शत्रुओं को जलाकर राख भी करता रहा है परंतु सभ्यता की बढ़न्ती के साथ-ही-साथ दोनों के साधनों में भी वृद्धि होती गयी है। विनाश के लिये उस ने बहुत भयानक विस्फोटक बनाये। डैनामैट में विस्फोटन की लहर सेकंड पीछे पांच-हजार गज से अधिक चलती है। एक सेकंड के चौबीस हजारवें भाग में ही एक फुट लम्बा डैनामैट फट जाता है। एक मील लम्बाई के डैनामाइट के कारतूस एक सिरे से दूसरे सिरे तक चौथाई सेकंड में फट जाते हैं। नोषि काम्लयुक्त ग्लिसरीन और रुई में इस से भी तेज स्फोटन होता है। इस स्फोटन का कारण है आत्यंतिक वेग से जल उठना और इस जल उठने में जो पदार्थ आत्यंतिक वेग से बनकर एकाएकी उसी वेग से फैलते हैं वह अपने चारों ओर के बाधक पदार्थों को तोड़-फोड़कर चूर-चूर कर डालते हैं। साधारण मिट्टी का तेल थोड़ी हवा पाकर धीरे-धीरे जलता है। परन्तु अधिक उड़नशील मिट्टी का तेल पेट्रोल है। इसी पेट्रोल से बड़ी तेजी से जल्दी जल्दी ओषजन वायु मिलती है और विस्फोटन होता है तो उसके बल से मोटरकार और वायुयान भी चलते हैं। विस्फोटन जल्दी-जल्दी होते रहने से पिचकारी-वाली डाट जल्दी-जल्दी चलती है और उस से लगा हुआ पहिया घूमता है। हवा गाड़ी इसी लिये तेज दौड़ती है।

डैनामैट, कोरडैट, लिड्डैट आदि हैं तो भयानक विस्फोटक, परन्तु यदि इन्हें फाड़ने के लिये ऊंचे दरजे की आंच न मिले तो साधारण दियासलाई से जला देने से यह चुपचाप जलते हैं। विस्फोटन के लिये उत्तेजक की आवश्यकता होती है। रुई को नोषिकाम्ल में तर करने से नोषोछिद्रोज बनता है। नोषो-छिद्रोज, पारदस्फुटेत अथवा रगड़ अथवा आंच से विस्फोटन होता है। डैनामैट आदि सब से अधिक विस्फोटक पदार्थ पिक्रिकाम्ल के बने हुए होते हैं। एक भाग कारबोलिकाम्ल को आठ भाग धूमिल नोषिकाम्ल में डालने से पिक्रिकाम्ल बनता है। यह चखने में अत्यन्त कड़वा, और देखने में पीला रवेदार पदार्थ होता है। यह बहुत तेज पीला रंग है। इसे जब गलाते हैं तब शहद-सा लगता है और गली हुई दशा में इसे सिरकोन या मद्यसार में घुलाये हुए नोषोछिद्रोज के साथ मिला देते हैं तो आधुनिक बमगोले का फटनेवाला पदार्थ बन जाता है। पिक्रिकाम्ल के स्फोटक बंदूक आदि में रखकर चलाये जाने लायक नहीं होते। यह तो तोप के नल को चीथड़े-चीथड़े कर डालते हैं। हां, यह कोरडैट के साथ गोले में रखकर बन्द किये जा सकते हैं, परन्तु गोला तब तक नहीं फटता जब तक ठीक जगह तक पहुंचकर काफी रगड़ न खाय या इतनी रगड़ न खा जाय कि उत्तेजक पदार्थ फट पड़े। आज-कल के प्रायः सभी भारी स्फोटक जो तोपों और गोलों आदि के काम में आते हैं, रुई ऊन, जूट, सन, मूंज, आदि वानस्पतिक रेशों को नोषिकाम्ल में गलाने और नोषो-मधुरिन के मिलाने से बनते हैं। मंड, शर्करा, कोयला, शीरा आदि से भी यही काम लिया जा सकता है। यह सब शुद्ध पदार्थ हों, यह आवश्यक नहीं है। इसी लिये कूड़ा-करकट जो किसी काम में न आवे इस काम में आता है। आर्द्रता इन के स्फोटक गुण को नष्ट कर देती है। जल-शोषण के लिये गंधकाम्ल का भी प्रयोग करते हैं। इस तरह कूड़ा-करकट जैसी तुच्छ वस्तुएं हजारों मनुष्यों के अनमोल प्राणों को

एक क्षण में नष्ट करने के साधन बनाये जाते हैं। इस प्रकार विज्ञान को एक विपथ संसार अपने विनाश का साधन बनाता है।

परन्तु इन वस्तुओं से अच्छे काम भी लिये जा सकते है और लिये जाते भी हैं। जहां पहाड़ों को तोड़कर कोई सुगम मार्ग निकालना है वहां सुरंग बनाकर बड़े-बड़े विस्फोटक एक दम भीतर रख दिये जाते हैं और जब बिजली आदि किसी विधि से इन का प्रस्फोट होता है तो पहाड़ का भारी-से-भारी शिखर चूर्ण-चूर्ण हो जाता है। डैनामैट के बल से एक फलवाले वृक्ष को रोपने के लिये एक उपयुक्त गड्ढा बनाया जा सकता है अथवा यदि गहरी जोताई करनी हो जो हल-बैल से संभव नहीं है तो खेत में पांती बांधकर डैनामैट बो देने की जरूरत है। फिर प्रस्फोट होने से खेत अपने आप गहरा जुत जाता है। किसी नयी ऊबड़-खाबड़ ऊसर धरती को गहरी खुदाई करके बिलकुल उलट-पलट देने की जरूरत है तो गहरे गाड़ने से यह प्रस्फोटक धरती का रूप गुण ही बदल देते हैं। इस तरह मनुष्य अग्नि से विनाश के बदले रक्षा का काम ले सकता है और अमेरिका आदि सभ्य पाश्चात्य देशों में ले रहा है।

५—धन का कूड़ा और कूड़े का धन

मनुष्य उन्हीं वस्तुओं को कूड़ा करकट समझता है जिनका उपयोग नहीं जानता। जब तक पत्थर के कोयले का ठीक उपयोग उसे नहीं मालूम था तब तक जलाकर उसके धूएं को बरबाद करता था और कोक को फेंक देता था। आज पत्थर के कोयले का एक रत्ती भर भी व्यर्थ नही जाता। मनुष्य को कोयले की खान जिस दिन मिली, समझना चाहिये कि उसको सभी अर्थों में उसी दिन हीरे की खान मिली। सोडा के बनाने में लवणाम्ल वायव्य रूप में निकलकर हवा में उड़ जाता था और उससे आस-पास की धरती ऊसर हो जाती थी। जब नमक के तेजाब की उपयोगिता समझ में आयी तो उसका कारखाना बन गया और उससे अपरिमित लाभ होने लगा। रेह और सज्जी से जमीन ऊसर थी। इनसे धोने का काम लिया जाने लगा। नोना लग-लगकर मिट्टी खराब हो जाती थी। नमक निकालने पर नोना उपयोगी बन गया। छिलके पत्ते आदि पदार्थों से मद्यसार, मिट्टी से चीनी के बरतन, मैले से खाद आदि उपयोग में आने से इन चीजों की भी कीमत हो गयी। आजकल बहुधा समझदार म्युनिसिपलिटियों में मैले की बिक्री होती है और किसी नदी को गंदा करने के बदले मैले से खाद बनायी जाती है। मूत्र तो तुरंत ही खाद के काम में आता है। जो लोग मैले की बस्ती की हवा या जल बिगाड़ने देते हैं वह मूर्खतावश अपने अनमोल धनका केवल कूड़ा ही नहीं कर देते बल्कि उससे अपने ही विनाश के लिये विष तैयार करते हैं। जो लोग देहातों में गोबर के उपले पाथते हैं और उसे ईंधन की जगह लगाते हैं वह प्रत्यक्ष ही अपने धन को फूंक देते हैं। बुद्धिमानी इसी में है कि कूड़े को धन में परिणत करे और एक कण भी व्यर्थ न जाने दे। शक्ति का ही दूसरा नाम धन है। खाद से हम

अन्न की बहुतायत की शक्ति पैदा करते हैं। कूड़े से काम लेकर हम कूड़े की शक्ति का उपयोग करते हैं।

वैज्ञानिक की बुद्धि सदा इस बात की खोज में रहती है कि कोई शक्ति वृथा न जाय। ईंधन में से धुएं का निकलना सिद्ध करता है कि ईंधन का पूरा उपयोग नहीं हो रहा है, उस का एक बड़ा अंश धुआं बनकर निकला जा रहा है। जब रोशनी के साथ ही साथ गरमी भी पैदा होती है जिसकी जरूरत नहीं है और जो व्यर्थ ही जाती है तो उस गरमी का उपयोग नहीं हो रहा है बल्कि उसके उपजाने में व्यर्थ शक्ति लगायी जा रही है। मनुष्य इस कोशिश में है कि जितनी शक्ति लगाता है कि रोशनी हो उतनी शक्ति या तो लगानी न पड़े या उतनी ही शक्ति के लगाने में गरमी बिल्कुल न पैदा हो और रोशनी अधिक हो। परन्तु अभी तक उसे इसमें सफलता नहीं मिली है। गाड़ियों, ट्रामों और इंजनों के चलने में जो भयानक शोर होता है वह भी इन यंत्रों के प्रयोग में ठीक विधि से काम लेने की कचाई है। रगड़ से ही आवाज़ होती है और रगड़ गति में बाधा डालनेवाली चीज़ है। रगड़ का मुकाबला करने के लिये भी कुछ आवश्यकता से अधिक शक्ति लग जाया करती है। यह शक्ति का अपव्यय है। विज्ञान बराबर इसी कोशिश में है कि इन व्यर्थ शब्दों से छुटकारा मिले, रगड़ कम-से-कम होते-होते मिट जाय और वृथा शब्द न हो, जिससे कि कम से कम शक्ति लगा कर अधिक-से-अधिक काम हो सके।

व्यवसाय में रद्दी कागज, चीथड़ों और पुराने टाट रस्सी आदि से कागज की लुगदी का बनना कूड़े के सदुपयोग का एक उत्तम उदाहरण है। इसके लिये शहरों में गूदड़ खरीदनेवाले अच्छा व्यापार करते हैं, यद्यपि इनके कारण इनके पड़ोस में गन्दगी फैलती है। पुराना लोहा और धातु की पुरानी चीज़ें तो काम में आती ही हैं। इन्हें गलाकर बड़े काम की चीज़ें बनती हैं।

सब से अधिक प्रचुरता से प्रकृति में जो अपरिमित और अनमोल शक्ति का अपार धन भगवान् भास्कर नित्य लुटाते हैं, वह है धूप। भारतवर्ष में इस धूप का धन हम लोग पाकर भी काम में नहीं लाते। ग्रेग्ग् ने "खद्दर के सम्पत्ति शास्त्र"* में यह अटकल लगायी है कि भारतवर्ष के क्षेत्रफल पर धूप के द्वारा साल भर में जितनी सौर शक्ति आती है उसका मोटा हिसाब अश्वबल में करें तो ४९ संख ९६ पदम अश्वबल होगा। इतने अश्वबल की शक्ति यदि हम कोयले से लेना चाहें तो सन् १९२० में दुनियां भर में जितना कोयला निकाला गया उसके २९ हजार गुने कोयले की जरूरत होगी। इतनी अपार और अपरिमित शक्ति को हम कूड़ा कर देते हैं और सर्वथा खो देते हैं। प्रयाग के स्वर्गीय पंडित श्रीकृष्ण जोशी ने भानुताप-यंत्र लगभग तीस बरस पहले बनाया था। उससे भाफ का इंजन भी चलता था। डैनमो भी चल सकता था। परन्तु भारतीय पूंजीपतियों ने उसे आश्रय न दिया। एक अत्यन्त उपयोगी आविष्कार व्यर्थ गया।

---

* ग्रेग् लिखित "खद्दर का सम्पत्तिशास्त्र" पृ० ३९।

भानुताप बहुत सीधी सादी चीज़ है। नतोदर दर्पण के सम्पूर्ण क्षेत्र पर जितनी धूप पड़ती है सब उत्केन्द्रित होकर एक बिन्दु पर इकट्ठी होती है। इसमें इतनी उग्रता होती है कि रुई आदि दह्य पदार्थ वहाँ रखने में जल उठते हैं। यदि बहुत बड़ा नतोदर दर्पण हो तो वह उत्केन्द्र बहुत उग्र ज्वालावाला होगा। परन्तु जोशी जी ने यथेष्ट बड़ाई के दर्पण के मिलने की कठिनाई दूर करने के लिये एक ही नाप के अनेक छोटे दर्पण लेकर एक बड़े नतोदर चौकटे में इस तरह लगाया कि सब दर्पणों की प्रतिफलित धूप उत्केन्द्र पर पड़ने लगी। इस तरह बड़े-से-बड़ा इष्ट नतोदर दर्पण बन गया। ऐसे बड़े-बड़े दो या अनेक महादर्पणों से एक ही जगह उत्केन्द्रित धूप के बल से यथेष्ट गरमी पैदा हो सकती है। परन्तु यह दर्पण जब तक सूर्य्य के सन्मुख होंगे तभी यह सुभीता हो सकेगा। इस लिये घड़ी के यंत्रों का सा प्रबन्ध करके इन दर्पणों को घूमते हुए सूर्य्य के सम्मुख बराबर रक्खा गया। एक बार चाबी देने पर दिन भर एक ही स्थान पर बड़ी कड़ी धूप बनी रहती है जो यदि बैलट पर पड़े तो पानी खौले और भाफ बने और इस तरह भाफ का इंजन और टरबैन चरखी चलाकर चाहे सीधे काम लिया जाय चाहे डैनमो चलाकर बिजली बना ली जाय और बिजली का संग्रह कर लिया जाय और जब चाहे जिस तरह उससे काम लिया जाय।

धूपकी ताकत से काम लेने की कोशिशें संवत् १९०७ से लेकर संवत् १९३७ तक बराबर होती रहीं। फिर इसकी चर्चा ही उठ सी गयी। संवत् १९५७ में जोशीजी ने इस प्रयत्न को फिर से जाग्रत किया था। इस प्रयत्न के कई बरस पीछे अमेरिका के श्री शुमन ने एक दूसरे ढंग पर सूर्य्य के ताप से सफलता पूर्वक काम लिया।

शुमन का यंत्र इस सिद्धांत पर बना कि जिस जगह सूर्य्य का ताप इकठा हो उसी जगह भाफ तैयार करने का भी यंत्र हो। इस उद्देश्य से कांच जड़ा हुआ ऐसा बक्स बनाया कि उसके ऊपर कांच लगा हो जिस पर से धूप पड़ के पानी को गरम करे। कांच के दहने बायें दो और दर्पण जरा बाहर को झुके हुए इस तरह खड़े हैं कि उनकी धूप प्रतिफलित हो कर बक्सवाले कांच पर पड़ती है। इस तरह कांच में इतनी गरमी हो जाती है कि भीतर का पानी खौलने लगता है। इस बक्स की एक ओर नलिका से पानी आता है दूसरी ओर नलिका से भाफ निकल जाती है। इसी तरह के सैकड़ों बक्स एक पंक्ति में लगा दिये जाते हैं। सब की मिलित शक्ति से बड़ी मात्रा में भाफ बनती है और उस से टरबैन चरखी और इंजन चलता है और मन चाहा काम होता है। मिस्र देश में इस यंत्र को सफलता से चलाया गया है।

अमेरिकावाला धूपयंत्र बहुत बृहदाकार है क्योंकि उस में उत्केन्द्रण का प्रबन्ध नहीं है। उसकी बृहत्ता के कारण उसका सारा प्रबन्ध बहुत व्ययसाध्य हो गया। जोशीजी का यंत्र इतना व्ययसाध्य नहीं है। भानुताप में एक और सुभीता यह है कि यह सदा सूर्य्याभिमुख रहता है। शुमन के यंत्र में यह सुभीता नहीं है। शुमन के यंत्र में जितने क्षेत्रफल की धूप से काम लिया जाता है उतने क्षेत्रफल से यदि भानुताप को चलाया

जाय तो भानुताप में अधिक सुभीता दीखेगा। भानुताप के द्वारा भारत में शायद अधिक सुभीते से काम हो सके यदि कोई पूंजीपति उसे आश्रय दे।

भानुताप में उन्नति और विकास की भी गुंजाइश है। भारतवर्ष की ऋतु जिस में लगभग आठ मास के धूप रहती है इस यंत्र से काम करने से अनुकूल है। बिजली का संग्रह कर के भानुताप से सभी काम लिये जा सकते हैं। इस में ईंधन के खर्च का भारी बचाव है। धूप से ही ईंधन का काम लिया जाता है।

चित्र १६२ की व्याख्या

अणुवीक्षण यंत्र के अंगों के

संकेताक्षर

क = चक्षुताल	ल = कमानी
स = मोटा पेंच	ज = मंच
न = नाक	श = शीशी
ठ = वस्तुताल	ट = बड़ी नली
क = छोटा पेंच	प = शरीर

अणुवीक्षण-यंत्र के विविध भाग

अंग्रेज़ी नाम	हिन्दी नाम
मैक्रॉस्कोप	अणुवांक्षक, खुर्दबीन
आई-पीस	चक्षुताल
ड्रो-ट्यूब	भीतर की नली
वाडी-ट्यूब	बड़ी नली
कोअर्स-अडजस्टमेंट-स्क्रू	मोटा पेंच
फ़ैन अडजस्टमेंट-स्क्रू	छोटा पेंच
लो-पावर लेंस	छोटा वस्तु ताल
नोज़-पीस	नाक
हाई-पावर लेंस	बड़ा वस्तु ताल
इमर्शन-लेंस	तेलवाला वस्तु ताल
स्लाइट	पट्टी, काचखंड
क्लिप	कमानी
स्टेज	मंच
मिकयनिकल स्टेज	मंच का पैमाना
डायाफ्रम	परदा
सेंटारंग स्क्रू	परदे का पेंच
वाडी	शरीर
कंडेंसर	उजाला बटोरने का शीशा
मिरर	शीशा
लेग	पैर
टिल्टिङ् स्क्रू	घुमाने का पेंच
कवर-ग्लास	शीशे की पत्ती

पंडित ओंकारनाथ शर्मा की कृपा
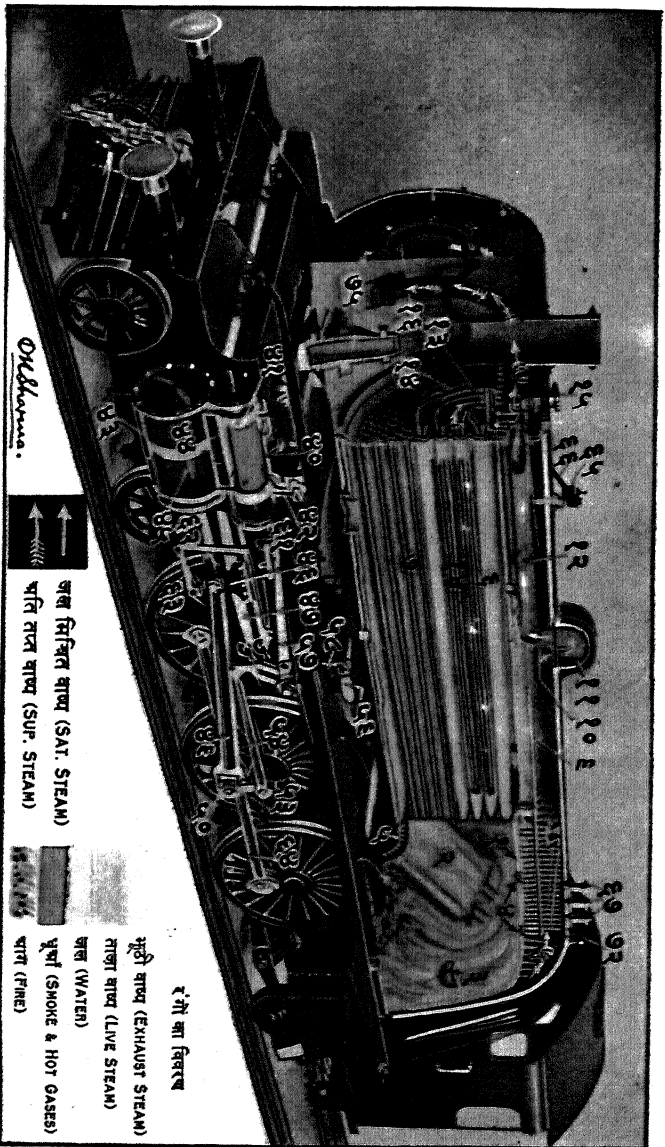
चित्र १६६—रेलवे इंजन के भीतरी अंग।
(विज्ञान-हस्तामलक पृ० ४११ के सामने)

विज्ञान-परिषत् से

इंजन के पुरजे

१—फायर बॉक्स (भट्ठी) । २—ब्रिक आर्च (ईंटोंका छज्जा) । ३—फायर-होलडर (भट्ठीको खिड़की) । ४-लेडप्लग (सीसेकी डाट) । ५- फायर बॉक्स स्टे । ६- बोयलर फ्ल्यू (बोयलर का धुँआनल) । ७—स्मोक ट्यूब (बौयलर की धूम्र नलिकायें) । ८—रेग्युलेटर हेण्डिल (वाष्पनियामक हेण्डिल) ९—रेग्युलेटर रॉड (बाष्पनियामक डंडा) । १०—रेग्युलेटर कनेक्टिंग रॉड (वाष्पनियामक संयोजक दंड) । ११—रेग्युलेटर वाल्व (वाष्प नियामक ढकना) । १२—मेन स्टीम पाइप (मुख्य वाष्प नल) । १३—सुपरहीटर हेडर (अति-तप्तकारक घर) । १४—सुपर हीटर ऐलीमेन्ट (अति-तप्तकारक नलिकाएँ) १५—ब्रीदिंग वाल्व (सांस लेने का द्वार) । १६—सिलींडर स्टीप पाइप (सिलींडर बाष्पनल) । १७—फायर. डोर हेण्डिल (भट्ठीके दरवाजे का हेण्डिल) । १८—सिलिण्डर ल्यूबरीकेटर (सिलिण्डर का तेल-वाहक यंत्र) । १९—ब्लोअर वाल्व (अग्निप्रदीपक) । २०—स्कमकॉक । २१—सूट ब्लोअर स्टीम वाल्व । २२—टरबाइन स्टीम वाल्व । २३—मास्टर वाल्व । २४—प्रेशरगेजस्टीम वाल्व । २५—ड्रिप्टिंग वाल्व स्टीम कॉक । २६—ईजेक्टर स्टीम वाल्व । २७-स्टीम प्रेशर गेज (वाष्पभारमापक) । २८—कैब लेम्प (लालटैन) । २९—वैक्युम गेज (शून्यदर्शक) । ३०—ईजेक्टर (वायुनिःसारक) । ३१—सैण्ड बॉक्स स्टीम कॉक । ३२—ड्रिप्टिंग वाल्व । ३३—कैब लेम्प (लालटेन) । ३४—वाटर गेज ग्लास । ३५—सूट ब्लोअर । ३६—रिवर्सिंग ह्वील । ३७—फीड कॉक हेण्डिल । ३८—वाश आउट प्लग । ३९—इंसपेक्शन डोर । ४०—स्टीम चेस्ट । ४१—पिस्टन वाल्व । ४२—बाइपास वाल्व । ४३—सिलिण्डर । ४४—पिस्टन हेड । ४५—पिस्टन रॉड । ४६—क्रासहेड । ४७—स्लाइड बार । ४८—गजेन पिन । ४९—कनेक्टिंग राड । ५०—क्रेंकपिन । ५१—बैलेंस वेट । ५२—ड्राइविंग ह्वील । ५३—रिटर्न क्रेंक । ५४—एक्सेंट्रिक रॉड । ५५—काउंटरेंट लिंक । ५६—डाई ब्लाक । ५७—रेडियस रॉड । ५८—लिफ्टिंग लिंक । ५९—रिवर्सिंग आर्म । ६०—ब्रिडल रॉड । ६१—वाल्वस्पिंडल गाइड । ६२—काम्बिनेशन लिवर । ६३—कनेक्टिंग लिंक । ६४—कपलिंग राड । ६५—क्लेक बकस । ६६—डिलिवरी पाइप । ६७—सेफ्टी वाल्व । ६८—स्टीम टरबाइन । ६९—ईजेक्टर एग्ज़हास्ट पाइप । ७०—इन्जेक्टर स्टीम पाइप । ७१—इन्जेक्टर स्टीम वाल्व । ७२—ह्विसल (सीटी) । ७३—सर्च लाइट ७४—स्मोक बॉक्स डोर । ७५—एग्ज़हास्ट पाइप । ७६—स्क्रयू जैक । ७७—ड्रेन पाइप । ७८—सिलिन्डर वाटर कॉक । ७९—बोगी ह्वील । ८०—सेंड पाइप । ८१—ब्रेक ब्लॉक । ८२—ब्रेक ब्लॉक हेंगर । ८३—कम्पेन्सेटिंग बीम । ८४—कम्पेन्सेटिंग बीम हेंगर । ८५—बीयरिंग स्प्रिंग । ८६—स्प्रिंग हेंगर । ८७—स्प्रिंग हेंगर पैड । ८८—इंजेक्टर । ८९—ओवर फ़्लो पाइप । ९०—टूल बॉक्स । ९१—हेण्ड ब्रेक पिलर ९२—टेन्डर वाटर गेज ९३—टेंडर फीड कॉक हेण्डिल । ९४—वाटर टैप (पानी की टोंटी) । ९५—ड्राबार । ९६ इंजेक्टर फीड पाइप होज । ९७—ड्रेन पाइप होज । ९८—वैक्युम चेम्बर होज । ९९—कपलिंगलिंक और हुक । १००—होज कपलिंग ।

चित्र २ । इंजन की भीतरी खड़ी काट । [पं० ओंकारनाथ शर्मा के अधीन कापीरैट विज्ञान-परिषत् की कृपा]

अट्ठाईसवां अध्याय

देश और काल पर विजय

१—देश-काल का संकोच

यदि इस धरती पर किसी अन्य लोक को सौ बरस पहले गया हुआ प्राणी आज एका-एकी लौट आवे और एक बड़े शहर में उस की आँखे खुलें तो वह एक दम चकित हो जायगा। अपने समय में उसने उस शहर को जैसा देखा था उसे उससे इतना विभिन्न देख पड़ेगा कि वह पहचान न सकेगा। यदि वहीं का रहनेवाला हुआ तो उसे शायद अपने घर पहुँचना कठिन हो जाय। उस के समय में बिजली की रोशनी और पंखे आदि तो क्या, मिट्टी का तेल भी न था। आज-कल की एवररेडी बत्तियां तो क्या, मिट्टी के तेलवाली लालटेनें भी न थीं। पुराने मकानों की जगह नये खड़े होने की तो बात स्वाभाविक है, परन्तु वह तो बिल्कुल नये चिह्न पावेगा। लालटेनों के खंभों की जगह तार के खंभे और पानी के लिये जगह-जगह पेंच और कल उसने कहां देखे थे? पहरावा बदला हुआ, छतरियां नयी बनावट की, जूतों का ढंग नया, बाबुओं का ढाचां निराला, तेजहीनता और फैशन दोनों का असंगत सम्बन्ध देखेगा। फिर वह सिगरेट बीड़ी देखकर हैरान होगा। बाबू जब दियासलाई की डिबिया निकालकर जलायेगा तो उसके आश्चर्य्य का कुछ ठिकाना न रहेगा। यह डिबिया के भीतर के तिनके से आग कैसे बन गयी? यह गंधक में डुबोई सनई के टुकड़ोंवाली दियासलाई तो नहीं है जिसे उसके समय में मेहतर बेचते थे और जो टांकी और पथरी से निकलती हुई चिनगारियों से जलती थी! इतने में बैसिकिल पर चढ़े हुई दौड़ते हुए मनुष्यों को देखकर उसे काठ मार जायगा। दो पहिये आगे पीछे इस तरह चल कैसे सकते हैं! फिर मोटरकार और रेल देखकर तो उसे यह कभी विश्वास न होगा कि वह सौ बरस पहिले जिस लोक से विदा हुआ था उसी में आया हुआ है। इस अविश्वास पर हवा में उड़ता हुआ विमान मुहर लगा देगा। वह कहेगा कि अवश्य ही मेरी भूल है। मैं उसी दुनिया में नहीं आया हूँ। मैं देवलोक में हूँ जहां के निवासी स्वर्ग-सुख

भोग रहे हैं। जहां के वैद्य नाड़ी नहीं देखते बल्कि सीने पर एक चोंगा और नली लगाकर आवाज सुनते हैं और कांच की सुई लगाकर ज्वर नापते हैं, जहां एक शहर से दूसरे शहर वाले अपनी-अपनी बैठक में एक दूसरे से हजारों मील पर बैठे मुँह के पास चोंगा और कान के पास एक डिबिया लगाये आसानी से बातचीत कर रहे हैं। उस के जमाने में जब इलाहाबाद में कोई घटना हो जाती थी तो बनारस से सांड़नी-सवार दौड़ाये जाते थे जो कम-से-कम केवल १०० मील की दूरी की खबर बारह घंटे में पहुंचाते थे। हाँ, डाक बैठी हुई थी। खर्च करनेपर घोड़ा-गाड़ियों पर चिट्ठियां, समाचार और आदमी भी आते-जाते थे। इन्हीं को डाक-गाड़ी कहते थे। परन्तु आज तो अजीब हाल है कि श्री मेकडोनेल्ड लंडन में स्पीच देते हैं और उसे अमेरिका, जापान, भारतवर्ष आस्ट्रेलिया आदि सभी देशों में लोग अपने-अपने घर बैठे सुनते हैं और चाहें तो इसी उपाय से बातें भी कर लें। कलकत्ते बम्बई के व्यापारी बाजार-भाव जानने के लिये इसी तरह बातें कर लेते हैं अथवा "तार" से समाचार मंगवा लेते हैं। उस के समय में अखबार निकलते थे ज़रूर, परन्तु वह महीने में कहीं एक बार निकलते थे सो भी कहीं-कहीं किसी बड़े शहर में यह नयी बात शुरू हो रही थी। परन्तु आज तो दिन में दो बार ताज़ी खबरों के अखबार दरदर मारे-मारे फिरते हैं। सात समुन्दर तेरह नदी पार लन्दन में सवेरे किसी मंत्री ने कुछ कहा और शाम को हमारा दो पैसेवाला अखबार वह खबर हमारे पास ला रहा है। छापेखाने तो विचित्र वस्तु हैं। इन से तो छपी पोथियां कौड़ियों के मोल बिक रही हैं। घंटे-घंटे में चार-चार हजार नकलें छापकर फेंक देते हैं। कटाई, भंजाई, मोड़ाई, यहां तक कि लपेटकर कैदक लगाकर अखबार को भेजने के लिये पूरी तौर पर तय्यारी भी कल ही करती है। आदमी हाथ नहीं लगाता। रेल, तार, डाक, छापाखाना, मोटरकार, बैसिकिल, दियासलाई, लालटेन, फौंटेनपेन, पानी का नल, सभी कुछ नयी चीज़ें हैं, चूल्हे का काम देने के लिये तरह-तरह के स्टोव और कुकर हैं। इन सब को देखकर उस मनुष्य को कभी यह विश्वास नहीं हो सकता कि हम उसी जगत् में आये हैं जिस से सौ बरस पहले हम चले गये थे।

विज्ञान के बल से जगत् का बड़ी जल्दी-जल्दी परिवर्त्तन हो रहा है। कारखानों और मिलों में जो कलें आज चल रही हैं, कल ही वह बदलने-योग्य हो जाती हैं, क्योंकि उन्नति प्रतिक्षण हो रही है और ऐसे वेग से हो रही है कि हम समझ नहीं सकते। क्रिया से देश और काल का और देश और काल से क्रिया का मान होता है। नपे हुए समय में नपे हुए देश की लम्बाई में गति का होना ही क्रिया का मान है। आजकल विज्ञान के विकास ने क्रिया के अनन्त सुभीते कर दिये हैं और बड़े वेग ने देश और काल की लम्बाई घटा दी है। परस्पर हजारों मील दूरी पर बैठे दो आदमी जब एक दूसरे से बातचीत कर सकते हैं तो न तो दूरी का भेद रहा और न समय का। यह दोनों घटक बातचीत रूपी क्रिया के लिये लगभग शून्य के बराबर हैं। इसी तरह घंटे में दो सौ मील चलनेवाले विमान पर यात्रा कर के एक आदमी काशी से हरद्वार सवा दो घंटे में पहुंच सकता है और स्नान कर के लौटने में उसे ढाई घंटे और लगेंगे। इस
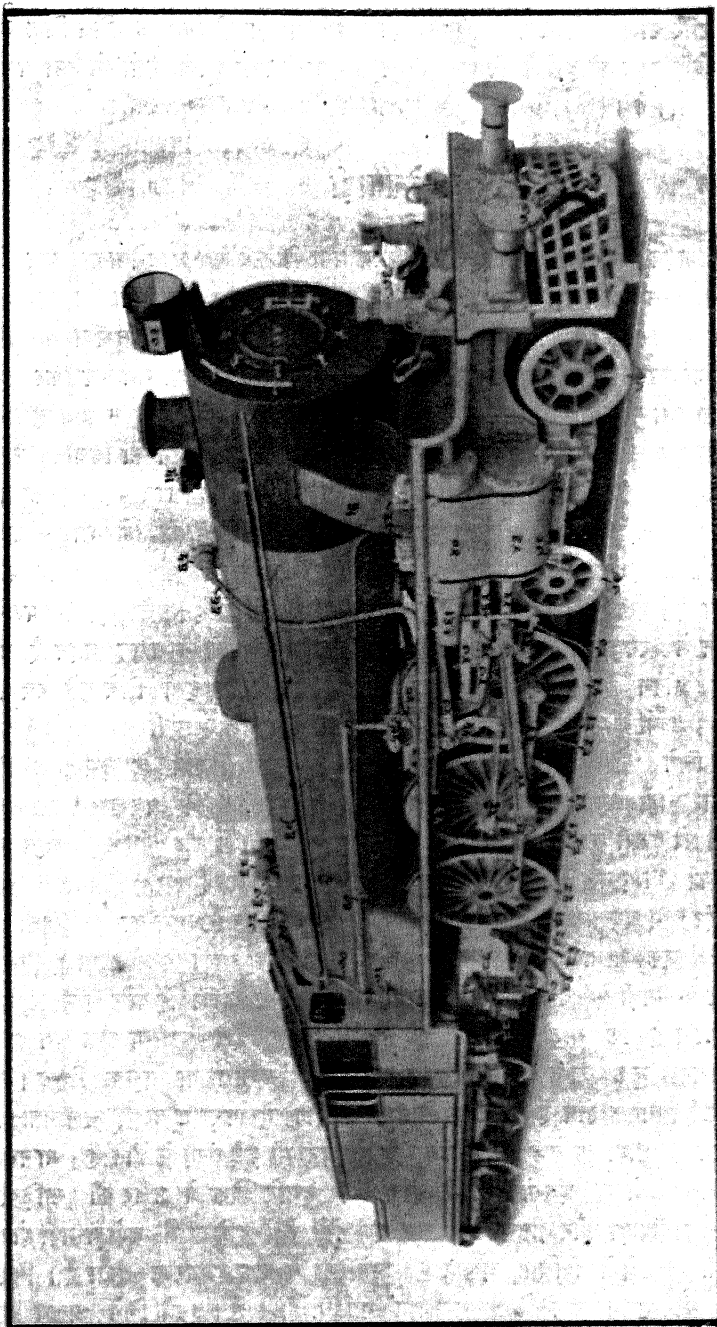
चित्र १७०—रेलवे-इंजन का आधुनिक रूप [परिषत् की कृपा

तरह देश और काल दोनों अत्यन्त संकुचित हो गये हैं। एक ही जिले के भिन्न-भिन्न गांवों में जितनी देश काल की दूरी है, विज्ञान के बल से हजारों कोस दूर के देशों में भी परस्पर उतनी दूरी नहीं है।

२—रेलगाड़ी

"अश्व" घोड़े का नाम इसी लिये रखा गया कि वह तेज दौड़नेवाला पशु है। संसार में सौ बरस पहले तक घोड़ा ही तेज चलने का साधन माना जाता था। परन्तु घोड़ा जल्दी थक जाता था, इस लिये बीच-बीच सवारों रथों या गाड़ियों के सुभीते के लिये डाक का बन्दोबस्त रहता था। जरूरत पड़ने पर इस विधि से दिन-रात चलकर बहुत जल्दी यात्रा पूरी की जाती थी। घोड़े के सिवा, ऊंटनी, हाथी, खच्चर आदि से काम लेते थे। सौ बरस के कुछ ऊपर हुए कि भाफ के इंजन के बल से गाड़ी खिचवाने का विचार उत्पन्न हुआ, और इंगिलस्तान में पहले-पहल रेलगाड़ियों का आरंभ हुआ। परंतु पहले इसका बड़ा विरोध था। विक्रम की बीसवीं शताब्दी के लगते-लगते रेलगाड़ियों का जोर-शोर से प्रचार चला। भाफ का इंजन भाफ के बल से पिचकारी की डाट को फेंकता है और पहिये को चलाता है। इसी सिद्धांत पर आज तक रेलगाड़ी चलती है। इसे छड़ों या पटरियों पर चलाने में रगड़ की कमी है, सीधा गमन है, भार का सुरक्षित वहन है, और सड़क का जीवन है। पटरियों या छड़ों को रेल कहते हैं। इसी लिये इसे रेलगाडी कहने लगे। डब्बों की एक पांती-की-पांती लगी रहती है और पांती को "ट्रेन" कहते हैं। इसी लिये "रेलवे-ट्रेन" भी इस का नाम है। सड़क बदलने के सुभीते के लिये पटरियों की जोड़ों पर नोकदार पतली रेल रहती है जिस से कि यंत्र-द्वारा एक सड़क की पटरियों को दूसरी सड़क की पटरियों से जोड़ देते हैं। इसे "पोइंट" कहते हैं। "पोइंट" का "सिगनल" से सम्बंध इस लिये लगा रहता है कि "सिगनल" बिना दिये "पोइंट" न बदला जाय, नहीं तो रेल के पटरी पर से उतर जाने का डर रहता है। "सिगनल" एक खंभा होता है जिस में हाथ की तरह एक आड़ी पटरी रहती है जिस के सीधी रहने पर गाड़ी के रुक जाने की आवश्यकता सूचित होती है और झुके रहने से समझा जाता है कि गाड़ी के लिये कोई रुकावट नहीं है। पटरियां ठीक लग जाती हैं, तब सिगनल झुक जाता है। सिगनल का अर्थ है इशारा या सूचक चिन्ह। पास और दूर कई सिगनल होते हैं। स्टेशन से दूर वाले को देखकर ड्रैवर (चलानेवाला) अपने इंजन को धीमा या तेज किया करता है। इंजन भी कई तरह के होते हैं। मालगाड़ी और सवारी-गाड़ियों के इंजनों में भेद होता है। हमारे देश में उत्तर की गाड़ियों में पहला, दूसरा, ड्योढ़ा और तीसरा यह चार दर्जे होते हैं। दक्षिण में ड्योढ़ा नहीं होता। यूरोप में भी यह दोनों विधियां चलती हैं। अमेरिका में एक ही दरजा होता है। विदेशों में भोजन और शयन के लिये अलग-अलग गाड़ियां होती हैं। इनके लिये अलग दाम देने पड़ते हैं। हमारे देश में शयन के गाड़ियों का कोई प्रबन्ध नहीं है। संसार में

सभी सभ्य देशों में रेलगाड़ियां चलती हैं। अब तक सात लाख मील से अधिक रेल की पटरियां बिछ चुकी हैं। बहुत जगह भाफ के इंजन के बदले बिजली के बल से रेलगाड़ियां चलने लगी हैं। कई जगह एक ही पटरी या रेल पर चलनेवाली गाड़ियों का अनुभव हो रहा है। यह गाड़ियां बहुत तेज चलती हैं।
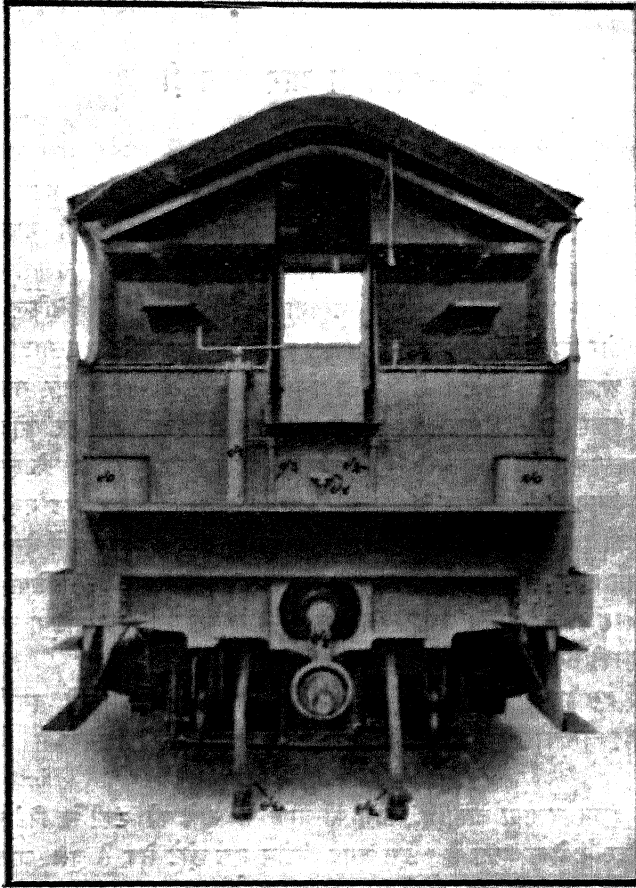
चित्र १७१-इंजन के पीछे का भाग [परिषत् की कृपा

रेलगाड़ियों के चलाने के लिये पटरियों की सड़क प्रायः सीधी और विशेषतः समतल चाहिये। परन्तु ऐसा सुभीता लम्बे फासलों में नहीं मिल सकता। इसलिये जगह-जगह मिट्टी के धुस, पुल, पुलिया आदि बनाकर लैन समतल पर ले जाते हुए भी ऊंची नीची धरती के अनुसार चढ़ाव-उतार पड़ता है। यह चढ़ाव उतार बहुत ज्यादा होने पर क्रमशः अधिक

बल या ब्रेक (रुकावट) लगाने की जरूरत पड़ती है। पहाड़ की चढ़ाई में एक से अधिक इंजन लगाने की जरूरत पड़ जाती है। यही हाल सुरंग की रेलों का है। लंडन और पारी (पेरिस) बड़े-बड़े नगर हैं जहां एक भाग से दूसरे की दूरी दस-दस बारह-बारह मील की होती है। धरती के ऊपर रेलगाड़ियां चलें तो बहुत सी जगह घेर लें और नगर का सौन्दर्य्य बिगाड़ दें। इसीलिये धरती के नीचे सुरंग खोदकर रेलगाड़ियों की पटरियां बिछायी हैं। इनमें सुरंग-गाड़ियां चलती हैं। उनके स्टेशन जगह-जगह बने हुए हैं।

३—हवागाड़ी और पैरगाड़ी

हवागाड़ियों के बनाने की कोशिशें तो तब से हो रही हैं जब से भाफ के इंजन का आविष्कार हुआ। विचार वही था जो रेलगाड़ी के निर्माण में उत्तेजक हुआ, कि गाड़ी साधारण सड़क पर इंजन के बल से चले। कोई सौ बरस हुए कि पहली मोटरकार बनी जो सौ मन के लगभग भारी थी और भाफ के बल से घंटे में दस मील चलती थी। संवत् १६४२ में डैमलर ने पेट्रोल जलाने का इंजन बनाया और उसे एक (बैसिकिल) पैरगाड़ी में लगाया। कोई पंद्रह बरस तक इसका प्रचार रुका रहा। इस बीच पैरगाड़ी में तेजी से उन्नति हुई। आज-कल जिस ढंग की पैरगाड़ी प्रचलित है उसका आविष्कार संवत् १६४८ के लगभग हुआ। इसी पैरगाड़ी में छोटा पेट्रोलवाला इंजन लगाकर मोटर-पैरगाड़ी बनाने का प्रयत्न १६४२ से लगभग १६७२ तक जारी रहा। संवत् १६४८ के लगभग यही पेट्रोल इंजन हवागाड़ियों में लगाया गया और भाफ के इंजन की चाल उठ गयी। आज-कल के ढंग की हवागाड़ी का आरंभ तभी से समझना चाहिये। आरंभ में वेग घंटा पीछे पन्द्रह मील था परन्तु वेग बढ़ने लगा। पहले-पहल किराये की हवागाड़ियां लंडन में संवत् १६६० में चलने लगीं। संवत् १६६२ में लंदन में कुल १६ हवागाड़ियां चलती थीं। १६६७ में इनकी संख्या ४६४१ हो गयी थी।

कोई दस हजार के लगभग वस्तुओं के मेल से एक हवागाड़ी बनती है परन्तु शिल्पी का यह चमत्कार है कि ठीक घड़ी की तरह सब पुरजे बड़ी उत्तमता से बैठाये हुए रहते हैं।

जब इंजन चलाया जाता है, बैठने की जगह के नीचे की टंकी से पिट्रोल नली के द्वारा कारबुरेटर में भेजा जाता है। इस जगह पेट्रोल एक छोटे छेद से घुस जाता है और हवा से मिलकर वायव्य बन जाता है। गाड़ी के आगेवाली मुठिया से जब घुमाकर इंजन को "स्टार्ट" करते हैं, तब इस क्रिया का आरंभ होता है। सुधरी गाड़ियों में अपने आप "स्टार्ट" करने का प्रबन्ध होता है। इसी क्रिया से सारा यंत्र चलने लगता है और चलना अपने आप जारी रहता है। "स्टार्टर" के चलाते ही चालकचक्र घूमता है। उस के घूमने से डाट ऊपर को उठती है और वायव्य को थोड़े-से-थोड़े स्थान में बलपूर्वक चाप देती है और साथ ही भीतर लानेवाले पट को भी बन्द कर देती है जिस से गैस को निकलने का मार्ग नहीं मिलता। अब, बिजली की चिनगारीवाला

ढकना इस तरह पर लगा रहता है कि ठीक उसी समय चिनगारी निकाले जब वायव्य अत्यन्त दबी हुई दशा में हो, इस क्रिया से विस्फोट होता है जिसके बल से डाट फिर नीचे को तुरन्त ढकेली जाती है। इससे चालकचक्र घूम जाता है, जिससे चलनेवाले पहिये घूम जाते हैं और गाड़ी चल पड़ती है। अब फिर चालकचक्र डाट को ऊपर
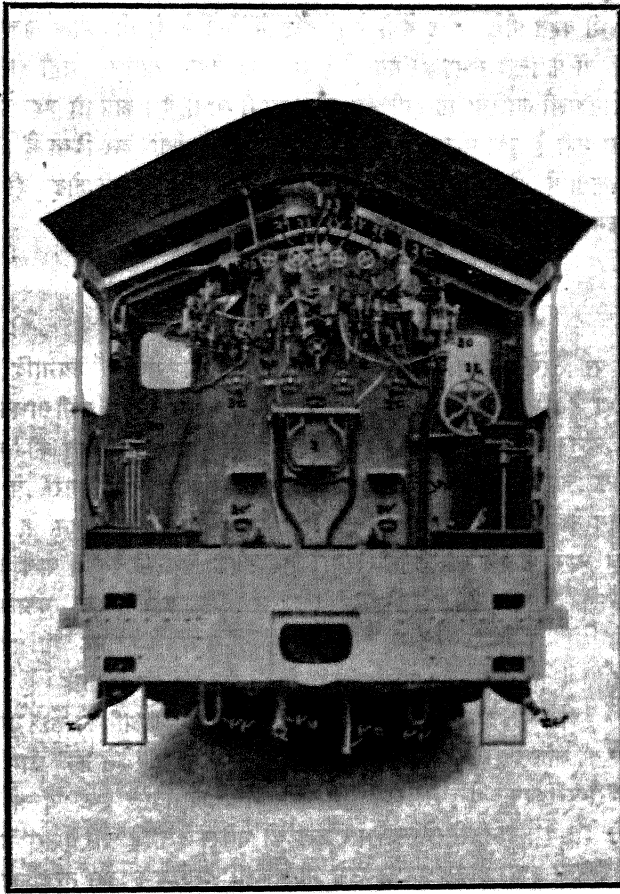
चित्र १७२-ड्राइवर के काम के सब यंत्र सामने लगे हैं।

[परिषत् की कृपा

की ओर ढकेल देता है और फिर वही क्रिया दोहरायी जाती है, जिससे गाड़ी का दौड़ना जारी रहता है। इसी क्रिया के दोहराये जाने के ठीक पहले इतना काम हो चुकना और जरूरी है कि विस्फोट के बाद भीतर ले जानेवाला पट अपने आप बन्द हो जाय और वायव्य को बाहर निकालनेवाला पट खुलकर उसे बाहर निकाल दे। इस तरह निकलनेवाली

नलिका से वायव्य भागता है और आवाज़-नष्ट करने वाले यंत्र से होकर बाहर निकल जाता है। पहले बहुत सा बे-जला बदबूदार वायव्य निकला करता था, परन्तु अब ऐसे सुधार हुए हैं कि पेट्रोल प्रायः पूरे तौर पर जल जाता है और बदबूदार वायव्य काम में आ जाता है।

हवागाड़ी इस समय स्थलचारी गाड़ियों में सब से तेज सवारी है जो रेलवाली डाकगाड़ी को भी बहुत पीछे छोड़ देती है। दौड़ में घंटे में दो सौ मील चलना विशेष प्रकार की गाड़ियों के लिये संभव हो गया है। परंतु यह सवारी गाड़ियां नहीं होतीं। सवारी और बोझ ढोनेवाली लारियां भी इसी ढंग पर चलायी जाती हैं। अब तो जहां रेलगाड़ी के जाने में सुभीता नहीं है वहां मोटरलारियों ने यात्रा का सुभीता कर दिया है। मोटर-पैर-गाड़ियां भी चलती हैं जिनके साथ एक गद्देदार कुरसी गाड़ी भी जोड़ दी जाती है। इस में खर्च कम पड़ता है और तेजी अधिक होती है।

४—जलयान

जल पर तैरनेवाले अनेक प्रकार के यानों को मनुष्य अनादि काल से काम में ला रहा है। घड़नई, तुम्बेड़, डोंगी, नाव, बजरा, जहाज़, बेड़ा, सभी साधन देशकाल और वस्तु के अनुकूल काम में आते रहे हैं। पहले जमाने में वायु की अनुकूलता इन जलयानों के लिए आवश्यक थी। पाल बांधकर वायु के बल से धारा के प्रतिकूल और अधिक वेग से नाव या जहाज़ ले जाते थे। परन्तु भाफ के इंजन के आविष्कार के बाद जहाज़ भाफ के बल से चलने लगा और उसका वेग भी बढ़ा। पाल बांधने की ज़रूरत इंजनवाले जहाज़ में नहीं रही। इस तरह के जहाजों को धुआंकश और बड़ी नौकाओं को अग्निबोट, स्टीमर आदि नाम दिये गये। स्टीमर भी पहले उतने तेज़ नहीं चलते थे जितने कि अब चलते हैं। उस का कारण यह है कि पहले इंजनों को सीधे डाट को ढकेलना पड़ता था। यह डाट ही पहिये को घुमाती थी। इस तरह भाफ की ताकत बंट जाती थी। यदि भाफ सीधे चक्कर देने का काम करती तो उसकी शक्ति पूरी-पूरी चक्कर देने में लगती। पनचक्की चलानेवाले एक चरखी के फलों पर पानी गिरने देते हैं। पानी गिरने का भार फल को धकेल देता है और दूसरा फल सामने आ जाता है। गिरता हुआ पानी पड़कर उसे भी धकेल देता है। इस तरह चरखी घूमने लगती है। इंजीनियर पार्सन्स के मनमें पचास बरस पहले यह बात आयी कि अगर डाट पर बल लगाने के बदले सीधे चरखी पर या पहिये पर भाफ का बल लगे और पहिया घूमे तो सीधे पहिया का घुमाना ही अधिक सुभीते की बात होगी। पहले भाफ को बिजली में बदलने के लिए डाट को चलाकर एक विकट यंत्र से बिजली बनाते थे, क्योंकि डायनमो चलाने के लिए इंजन की शक्ति काफी तेजी से चक्कर को घुमा नहीं सकती थी। इसी पर विचार करके पार्सन्स ने एक ऐसी चरखी बनायी जिसपर भाफ अपने वेग से लगे और उस के फलक को हटा दे। उस के हटने पर दूसरा सामने आवे और वह फलक भी

हटाया जाय। इस तरह चरखी बड़े वेग से घूमने लगी। डायनमो में जहाँ साधारण इंजन उस के चक्कर को मिनिट पीछे १५०० बार घुमाता था और शक्ति का कुछ घाटा भी सहता था, वहाँ चरखीवाली विधि ने कितनी महाभयानक वेग से मिनिट पीछे अठारह हज़ार चक्कर के हिसाब से, चलाना शुरू किया। इसमें जोखिम यह थी कि डायनमो
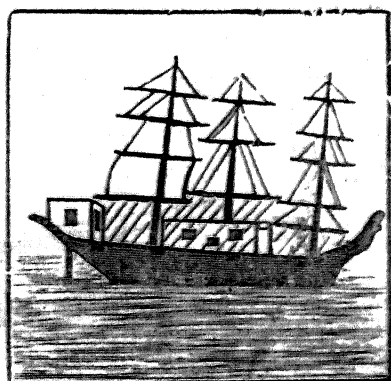
चित्र १७२ पुराने ढंग का जहाज़ जो साधारणतया पालों के द्वारा चलता था। अब पालवाली नावें भारत में देखी जाती हैं। पालवाले जहाज़ों का रवाज अब उठ गया।

[परिषत् की कृपा

का बेलन चीथड़े-चीथड़े होकर घातक वेग से चारों ओर छितरा जाता। पार्सन्सने इस कठिनाई से बचने के लिये डायनमो को ही बहुत मज़बूत बनवाया जो ऐसे वेग को सह सके। इस तरह चरखी की विधि को डायनमो चलाने और बिजली बनाने में लगाया गया। चरखी में पार्सन्सने अनेक सुधार किये और अब जहाँ-जहाँ इंजन के द्वारा चक्कर पैदा करने का काम लगता था वहाँ भाफवाली चरखी काम आने लगी। भाफ को बहुत पतली नलिका से बड़े वेग से निकालने और चरखी को वेग से चलाने की विधि अब फैलने लगी। पहले के इंजिनियरों ने भाफ के दबाव पर ध्यान दिया और उस के वेग पर नहीं। दबाव से डाट दबती और उठती थी। इसी से इंजिनियर काम लेते थे। पार्सन्सने देखा कि किसी नलिका से जिस वेग से भाफ निकलती है उस वेग से काम लिया जाय तो चरखी बहुत ही तेज़ चलती है। इस सिद्धान्त ने चरखी के यंत्रों को जन्म दिया। पार्सन्सने तरह-तरह से चरखियों में परिवर्तन और सुधार किये। एक ही वाष्प-धारा से कई-कई चरखियां, चरखी के भीतर चरखी, भिन्न-भिन्न गतियों से चलायी।

इसी चरखी के बल से जहाजों का वेग बढ़ाया गया। जहाँ साधारण इंजन से अग्निबोट अधिक-से-अधिक ३२ मील प्रतिघंटे चलती थी, इसने ४२ मील जाना संभव कर दिया।

वाट ने भाफ के ढकेलनेवाले बल का उपयोग किया था, पार्सन्स ने उसके वेग से लाभ उठाया। भाफ के साथ चरखी ने बल के प्रयोग का एक अद्भुत साधन तैयार कर दिया जिसने जल में जल यानों की गति और स्वतंत्रता दोनों बढ़ा दी। पनडुब्बियां निकलीं जो पानी के भीतर-ही-भीतर बड़े वेग से दौड़ कर बड़े-बड़े फासले तय करती हैं। अपने शत्रुओं पर बड़े वेग से चलनेवाले अग्निबाण (टारपीडो) छोड़ती हैं। चरखी ने जल-युद्ध की भीषणता बढ़ा दी और युद्ध-पोतों की गति अव्याहत बना दी।
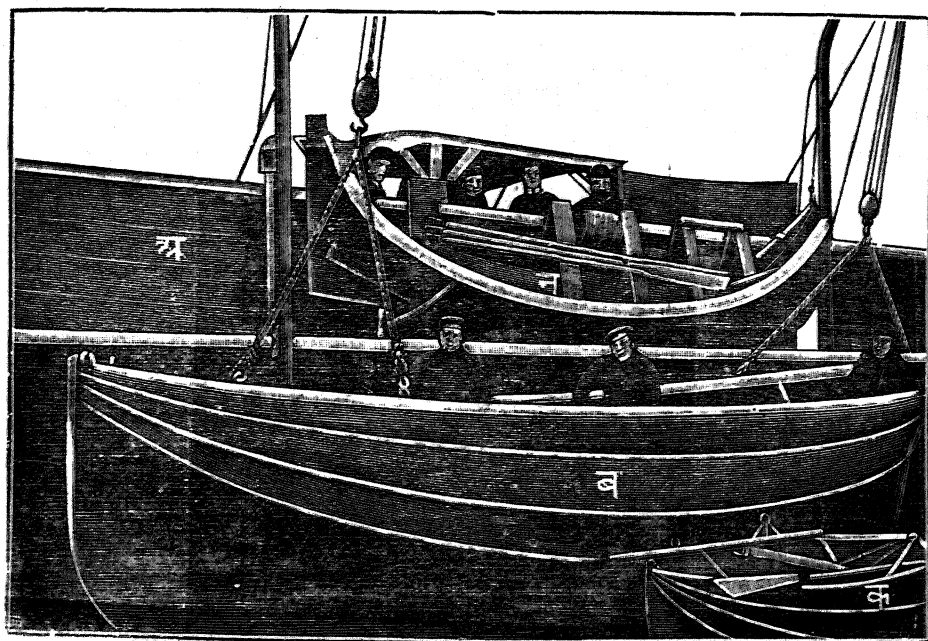
चित्र १७४—ब = लिपटी हुई नाव। अ = जहाजों में बँधी हुई नाव। ब = किरमिच की लपेटी हुई नाव जो समुद्र में तैरा दी गयी है। आजकल यात्री की रक्षा के लिये जहाज में कई-कई फालतू नावें बँधी रहती हैं।

[परिषत् की कृपा

युद्ध-पोत फौलाद के पत्रों का बना जहाज़ होता है जो पानी से ऊपर उठा रहता है, जिसकी लम्बाई दो सौ गजों के भीतर-ही-भीतर और चौड़ाई तीस गज मुश्किल से होती होगी। दोनों सिरों पर बहुत तंग हो जाना तो आवश्यक ही है। बिल्कुल ऊपरी भाग में केन्द्रवाली रेखा के बराबर समानान्तर रूप में जोड़ी-जोड़ी करके दस तोपें रखी हुई रहती हैं और हर जोड़ी के ऊपर उस के पास ही रक्षार्थ मंडप सा बना रहता है। केवल बाहर निकले

हुए तोपों के मुहाने दिखाई पड़ते हैं। इन के सिवा बाहर से केवल एक छोटे मस्तूल और कारखानों की कटी हुई चिमनी के शकल की चीज दिखाई पड़ती है।

चित्र १७९—उभयचयान, जलयान-वायुयान संयुक्त [टामसन से अनुकृत जार्ज न्यूनस की कृपा]
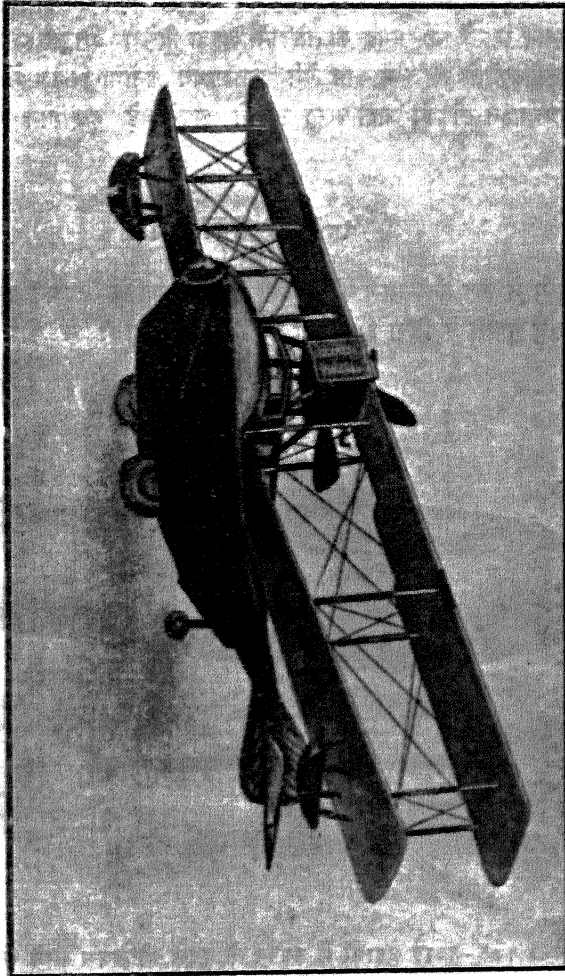
पनडुब्बी में बैठे हुए जो लोग जल के भीतर उसे चीरते हुए चले जाते हैं वह बाह्यदर्शक (पेरिस्कोप) के द्वारा भीतर बैठे-बैठे यह देख लेते हैं कि ऊपर चारों ओर क्या हो रहा है। परन्तु पनडुब्बी का मुख्य काम टारपीडो या अग्निबाण छोड़ना ही होता है। अग्निबाण के भीतर घुमना पहिया होता है उसी के बल से वह चलता है। यह छूट कर जिस जहाज को लगता है उसे छिन्न-भिन्न कर डालता है। अभी तक मनुष्य ने पनडुब्बियां

से संहार का ही काम लिया है। परन्तु इन पनडुब्बियों में उचित और आवश्यक सुधार करने पर आगे बहुत संभव है कि समुद्र-तल का अनुशीलन करने में ये सहायक हों। परन्तु अब तक तो इस दिशा में मनुष्य ने अपनी इस बढ़ी हुई शक्ति को विनाश में ही लगाया है। उस ने जैसे पनडुब्बियों से अग्निबाण छोड़वाये वैसे ही जहाजों को नष्ट करने के लिये विस्फोटक द्रव्यों से भरे पीपे समुद्र की तली में बिछवा दिये। इस तरह उन्होंने इन जल-यानों को विस्फोटकों से सहज में काम लेने का साधन बनाया। जल में उस की गति बढ़ गयी और अव्याहत सी हो गयी परन्तु उस ने अपने बढ़े हुए ज्ञान का सदुपयोग नहीं किया।

५—हवाई सवारियां

मनुष्य ने जल और स्थल पर अपनी गति के यांत्रिक साधन बड़ी मुद्दत से बना रखे थे। परन्तु गुब्बारों के सिवा इधर ईसा की पिछली शताब्दी में कोई साधन मालूम न
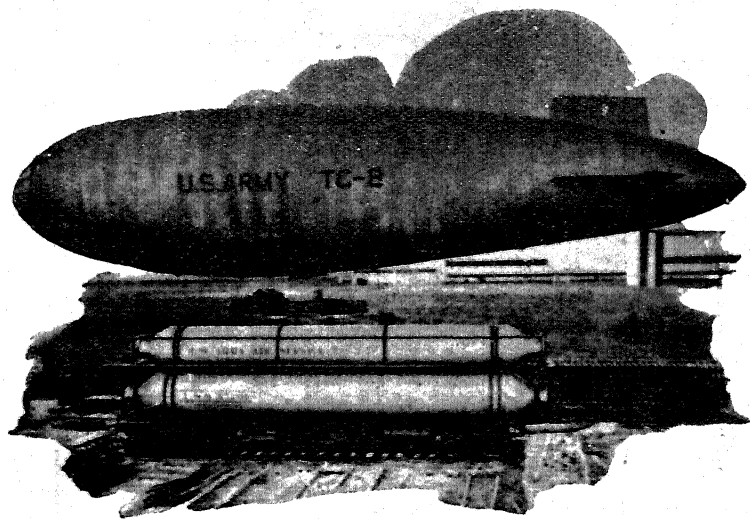
चित्र १७६—हवाई जहाजों में उज्जन के बदले हीलियम भरने से आग लगने का डर नहीं रहता। [सौर परिवार से

पापुलर सायंस से]

था। हिन्दू साहित्य में प्राचीन काल में विमानों का वर्णन आया है। रामायण से पता चलता है कि श्रीरामचन्द्र जी लंका से पुष्पक पर चले और और अधिक से अधिक चौबीस घंटे में और कम से कम छः घंटे में अयोध्या जी पहुँचे। अतः लगभग अस्सी से लेकर तीन सौ मील प्रति घंटे के हिसाब से पुष्पक चला होगा। यह वेग आजकल के वायुयानों के लिये भी बहुत असाधारण नहीं समझा जाना चाहिये। पुष्पक पर बैठे श्रीरामचन्द्रजी

सीताजी से बातें करते जाते थे। इससे स्पष्ट है कि शोर नहीं होता था। तेल भरने और विमान के रोकने की जरूरत न पड़ी। इससे प्रकट है कि पुष्पक विमान आजकल के विमानों के कई दोषों से मुक्त था। निस्सन्देह रचना का विवरण नहीं मिलता।

गुब्बारा बहुत काल से बनता आया, परन्तु उसे इष्ट दिशा में ले जाने का कोई साधन नहीं था। जब वाट ने भाफ का इंजन बनाया उस समय यह कोशिश की कि गुबारे को निर्दिष्ट दिशा में और इच्छित वेग से चलाया जाय। इसी प्रकार किसी यंत्र में हाथ पैर और
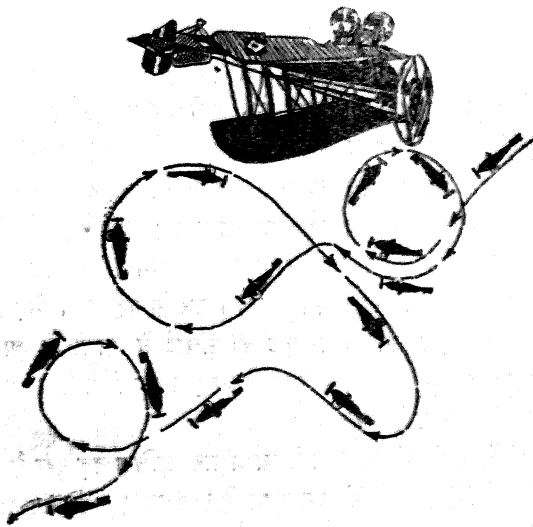
चित्र १७७–वायुयान की फंदेनुमा मंडलाती हुई गति जिसका शिक्षार्थियों से अभ्यासकराया जाता है।

किसी में बिजली लगा कर भी यही कोशिश की गयी। जेपलिन ने हवाई जहाज बिजली से ही चलाने का पहले प्रयत्न किया था, परन्तु जब पिट्रोल का इंजन बना तब उसने ऐसा जहाज बनाया जिसमें साढ़े तीन लाख घन फुट गैस अमाये और ४०-४५ मनुष्य बैठ सकें। लगभग ३५ हजार घनफुट उज्जन लगभग साढ़े सत्ताईस मन का बोझ उठा सकता है। इस तरह उस हवाई जहाज में पौने-तीन-सौ मन का बोझ उठाने की शक्ति थी। पेट्रोल इंजन इन पवनपोतों में ३५ से लेकर ४०० अश्वबल का लगता है। परन्तु उज्जन वायु से भरा जाना ही इसका भारी दोष है क्योंकि उज्जन में आग सहज में ही लग जाती है और शत्रु इस का सहज ही विनाश कर सकता है। इसके बदले हीलियम भरना ही सुरक्षित है क्योंकि हीलियम हलका भी है और अदाह्य भी।

पवनपोत में भी नावों की तरह दिशा-निर्देश के लिये पतवार लगी होती है। परन्तु

यह किरमिच की होती है और बहुत बड़ी होती है और जिस ओर फेरना होता है पतवार भी उसी ओर घुमायी जाती है। जलयानों की पतवारों से यही अन्तर होते हैं। ऊपर नीचे ले जाने को एक पड़ी पतवार काम में आती है। पवनपोतों को गति देने के लिये बिजली के पंखे की तरह दो या चार फलकोंवाला एक प्रेरक चक्र होता है जो बड़े वेग से घूमता रहता है। फलक लकड़ी के कई टुकड़ों को जोड़कर बना होता है और बहुत बड़ा होता है। पेट्रोल के इंजन के बल से ही चलता है। इस पंखे के घूमने से वायु में वही क्रिया होती है जो लकड़ी के भीतर पेंच के घूमकर प्रवेश करने की होती है। प्रेरक चक्र वायु को काटता हुआ उसमें घुसता जाता है। बस यही आजकल के पवनपोतों (बैप्लेन) विहंगों, और (मानोप्लेन) पतंगों के चलने का रहस्य है।

आरंभ के विमान बनानेवाले पूंछ की आवश्यकता पर ध्यान नहीं देते थे। परन्तु जब से विमानों में चिड़ियों की पूँछ की नकल होने लगी तब से उस का इष्ट दिशा में घुमाना अधिक सरल हो गया। एक सुभीता और हो गया है। इस तरह के विमान बनाये गये हैं कि वह यदि जल के ऊपर पड़ें तो स्थल की तरह जल पर भी बराबर तैरते रह सकें। इनका नाम हिन्दी में जल-विहंग वा जल-पतंग रखा जा सकता है।

यदि विमानों की होड़ पनडुब्बियों से लड़ाई की सामग्री की उपयोगिता में लगे तो निस्सन्देह बाजी विमानों के हाथ रहेगी क्योंकि जांच कर के यह बात निश्चय कर ली गयी है कि विमान पर बैठा मनुष्य तीन हजार फुट की ऊँचाई से पानी में अठारह फुट की गहराई में सरकती हुई पनडुब्बी को देख लेता है परंतु पनडुब्बी में बैठा मनुष्य पंद्रह सौ फुट से ऊँचे विमान को देख नहीं सकता।

हवाई सवारियों में विहंगों और पतंगों का प्रचार अधिक बढ़ रहा है। भारत में भी इस कला के सीखने-सिखाने के लिये संगठन हुआ है। संभव है कि भविष्य में बम गिराने और शत्रु का नाश करने के बदले यह हवाई सवारियां शांति और अहिंसावले ही कामों में लायी जायँ और इन की उपयोगिता संसार की उन्नति और रक्षा में ही समझी जाय।

विमानों में अभी बहुत उन्नति होनी है। इंजन का भयानक शोर मिटाना है। पेट्रोल के बदले बेतार की बिजली की शक्ति से चलाने की जरूरत है। इन में ऐसा प्रबंध करना है कि धरती पर उतरने या धरती छोड़ने के लिये मैदान की जरूरत न पड़े। चिड़ियों की तरह किसी मकान की छत पर भी उतर सके और छत से ही उड़ सके। अपने झोंके को इतना काबू में रख सके कि उतरने में आसानी हो। इन बातों के लिये कोशिश हो रही है, और किसी हद तक सफलता भी मिल चुकी है।

६—तार द्वारा और बिना तार के समाचार और बात-चीत

तार द्वारा समाचार भेजने के उपाय विक्रम की बीसवीं शताब्दी के आरंभ से चल रहे हैं और उस में बराबर उन्नति होती रही है। यदि किसी (गेलवेनोमीटर) धारामापक का संबंध बिजली के किसी (सरकिट) चक्र से कर दिया जाय तो जिस दिशा में बिजली की धारा बहती होगी उसी के अनुकूल उसकी सुई दहने या बायें को घूम जायगी

और (स्विच) सूच के द्वारा जब चाहें तब दिशा बदल सकते हैं। इस तरह धारामापक की सुई को इष्ट दिशा में घुमाकर हम दूरस्थ किसी को किसी बात की सूचना दे सकते हैं, यदि हम धारामापक की सुई की गति देखनेवाले से संकेत ठहरा लें कि किस दिशा में किस-किस प्रकार से सुई के घुमाने का क्या अर्थ समझना होगा। आरंभ में इसी विधि पर तार समाचार अवलंबित थे, पीछे विद्युत्-चुम्बकी काम में आने लगी। उसके बेठन में से होकर जब धारा बहती थी तब एक दंड जो आर्मेचर का काम करता था उस से खिंचकर लग जाता था और जब धारा रुक जाती थी कमानी के खिंचाव से वह तुरंत अपनी जगह पर आ जाता था। इस दंड में चिन्ह करने का साधन लगा होता था जिस से जितनी देर तक धारा चलती कागज पर उतना ही लम्बा चिन्ह बन
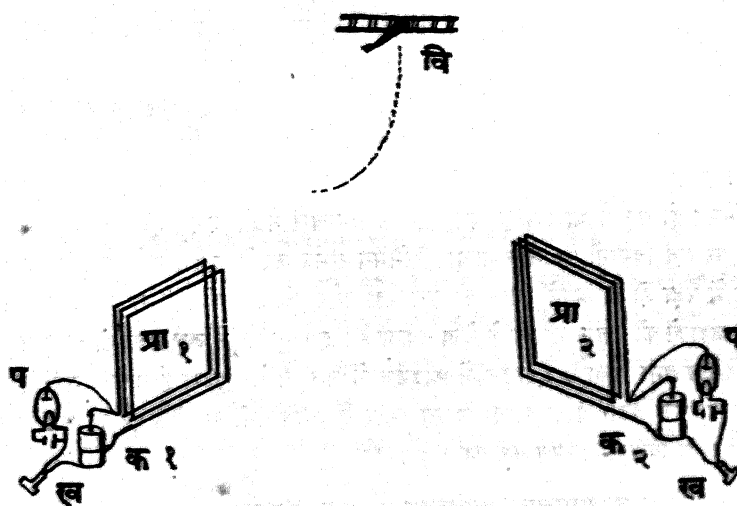
चित्र प्रापक चौकठे १ और २ जिस देशतल में हैं उसी देशतल से समाचार प्राप्त कर सकते हैं। इन देशतलों से समकोण पर होनेवाले देशतलों से समाचार नहीं पा सकते। चित्र में दिये हुए वायुयान का ठीक स्थान इस प्रकार के दो दिग्तल प्रापकों द्वारा मालूम किया जा सकता है। दोनों प्रापकों तब तक घुमाये जा सकते हैं जब तक स्पष्ट शब्द न सुन पड़ें। स्पष्टता ही दोनों दिग्तलों के काटने के स्थान पर प्रेषक विमान का होना बताती है।

जाता था। इस तरह लम्बे और बिन्दु-मात्र दो तरह के चिन्ह चल पड़े हैं परन्तु यह देखा गया कि पहले लिखकर पीछे पढ़ने के बदले काम करनेवाले आदमी शब्द से ही अन्तर परख सकते हैं। इस लिये शब्द सुनकर ही लिख लेने की रीति चल पड़ी जो इस समय अधिक प्रचलित है। तार समाचार इसी सिद्धांत पर चलते हैं। सामान

भी बहुत नहीं चहिये। बिजली की धारा के लिए बाटरी चहिए। चक्र को जोड़ने और तोड़ने को प्रेषक यंत्र चाहिए। तार का एक सिलसिला चहिये। और फिर दूसरी ओर एक ग्राहक यंत्र भी चाहिए। जिस में प्रेषित शब्द दोहराये जायं। तार का सिलसिला या तो ऊपर हवा में रहनेवाला होता है या धरती के भीतर चलनेवाला चक्र पूरा करने को दूसरी धारा स्वयं धरती से होकर आती है। किसी विशेष यंत्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसी तार की पद्धति में सुधार करके ऐसे उपाय किये गये हैं कि एक ही तार से होकर एक साथ ही अनेक समाचार दोनों दिशाओं में भेजे जाते हैं।

धरती के ऊपर तार के प्रबन्ध तो प्रत्यक्ष हैं और उनमें कोई अनोखापन नहीं है। बिजली का वेग तो प्रकाश के वेग की तरह हमारे व्यवहार के लिये अपरिमेय है और प्रबंध सीधे-सादे हैं। तार-समाचार आजकल मनुष्य के लिये एक मामूली सी बात हो गयी है। समुद्र के भीतर उस की तली में से तार का जो रस्सा गया है वह इंजिनियरी की अद्‍भुत क्रिया है। यद्यपि बेतार के समाचार का विनिमय संभव होने से इन दानवी रस्सों की आवश्यकता आगे चलकर बिलकुल न रह जायगी, तथापि यह काम जो हो चुका है, मनुष्य के देश काल और वस्तु पर विजय पाने का एक नमूना है। बेतार के समाचारवाले आविष्कार ने तो कमाल कर दिया। तार और रस्सों के द्वारा जलस्थल से होकर स्थल पर ही समाचारों का विनिमय हो सकता था। परंतु बिना तार के समाचार ने तो चलते हुए जलीय तथा हवाई जहाजों पर एवं विमानों पर भी समाचार-विनिमय संभव कर दिया है। आज एक जहाज किसी जोखिम में पड़ा हो तो अपने स्थान का पूरा पता और जोखिम की पूरी सूचना उसके चारों ओर के जहाजों को पलक भांजते में देख सकता है। इस सुभीते ने जलयात्रा को अत्यन्त सुगम और सुरक्षित बना दिया है। लंडन में क्राइडन में उतरती बेर कुहरा होगा या नहीं, विमान को इस का पता बेतार द्वारा बराबर लगता रहता है। विमानों पर बैठे दूर-दूर उड़ते हुए मनुष्य परस्पर विचार-विनमय कर सकते हैं।

इस विधि में समाचार भेजनेवाला एक यंत्र (इंडक्शन कोइल) आवेश-बेठन है। इस में तांबे की दो घुंडियां रुद्ध मुठियों के सिरों पर इस तरह लगी रहती हैं कि जब धारा चलती होती है तब इन दोनों के अन्तरवकाश में से, एक से दूसरे की ओर चिनगारियों की एक धारा चटचट शब्द करती हुई बहने लगती है। इनमें से एक घुण्डी को धरती से सम्बद्ध कर देते हैं और दूसरी का सम्बन्ध एक सीधे लम्बे तार से कर देते हैं जो ऊँचे खंभे में लगा होता है और जिस का ऊपरी सिरा रुद्ध रहता है। जब चिनगारियां निकलती हैं तब बिजली इस तार के ऊपर-नीचे लहराने लगती है और फल यह होता है कि बिजली की लहरों के लच्छे निकलने लगते हैं जो दशों दिशाओं में चलने लगते हैं। भेजनेवाला चाहे तो इन लहरों के छोटे या बड़े लच्छे अपनी इच्छा के अनुसार भेजे। इसी के अनुसार संकेत निश्चित कर लिये जाते हैं। मार्स के संकेत जैसे तार में चलते हैं उसी तरह बेतार में भी काम आते हैं। समाचार को ग्रहण करने के लिये (कोहियरर) संकोचक से काम लेते हैं, जिस का एक सिरा धरती से और दूसरा हवाई तार से उसी तरह सम्बद्ध रहता है जैसे

भेजनेवाले यंत्र का। जो बिजली की लहरें हवाई तार पर लगती हैं उस के भीतर कम्पन उत्पन्न करती हैं जिन का प्रभाव संकोचक पर पड़ता है। संकोचक से बाटरी का और बाटरी से तार-समाचार के से ही ग्राहक यंत्र का सम्बन्ध रहता है। ग्राहक यंत्र में उसी तरह समाचार ग्रहण किया जाता है जैसे तारवाले प्रबंध में।

टेलीफोन, दूरश्रावक या तारवाणी दूर से बैठे-बैठे बातें करने का यंत्र है। इस यंत्र के दो भाग होते हैं, एक प्रेषक दूसरा ग्राहक, सुभीते के लिये दोनों ओर दोनों एक साथ लगे होते हैं। प्रेषक में मैक्रोफोन (सूक्ष्म श्रावक) रहता है जिस में दो विद्युत् पट रहते हैं। दोनों के बीच कर्बन के टुकड़े होते हैं। परदे में जो स्फुरण पैदा होता है वह कर्बन को भिन्न-भिन्न दबावों से स्पर्श करता है जिस से कि चक्र के वैद्युत बाधा में विविध परिवर्त्तन उत्पन्न होते हैं जिन के ज्यों-के-त्यों प्रभाव ग्राहक यंत्र के चुम्बक-वेठन पर पड़ते हैं। चक्र के लिये बिजली की धारा किसी केंद्र-कार्य्यालय के डैनमो से ली जाती है। जो प्रभाव प्रेषक के पर्दे पर बोलने से कम्पन का पड़ता है, बिजली की धारा दूसरी ओर ग्राहक यंत्र पर भी ठीक वैसा ही कम्पन उत्पन्न करनेवाला प्रभाव डालती है। इस से ग्राहक यंत्र से वैसे ही शब्द सुन पड़ते हैं जैसे बोले गये थे। जहाँ बहुत से घरों वा कार्यालयों में टेलीफोन लगे होते हैं वहां एक विनिमय-कार्य्यालय भी होता है। सभी लोगों के तार वहां आये हुए हैं सब के नम्बर लगे हुए हैं। यहां जिस नम्बर से जिस का सम्बन्ध करना होता है उन उनके तार जोड़ दिये जाते हैं। तब दोनों पक्षवाले बातें कर लेते हैं।

अब बहुत दूर-दूर से बैठे-बैठे बातें हो सकती हैं। कलकत्ता और बम्बई के बीच भी बातें कर सकते हैं। परन्तु खर्च तार की अपेक्षा अधिक लगता है।

जैसे बिना तार के समाचार का आना-जाना होता है उसी तरह बिना तार के बैठे-बैठे बातचीत भी हो सकती है। पहले तार के सहारे ही समुद्रपार से बात-चीत संभव थी। परन्तु अब तो तार के बिना ही दक्षिण अमेरिका में मौजूद राजकुमारों से इंगलैण्ड का राजा लंडन से बातचीत कर सकता है।

बिजलीवाले कर्बन के लम्पों के बीच की समान और अनवरत बहती हुई बिजली की धारा के बीच कुछ ऐसी काररवाई पहले का जाती है कि लम्प की शिखा कर्बन की नोकों के आगे-पीछे चलने लगती है। इस गति के कारण उसमें से शब्द नकलने लगता है। उस समय हवाई तार में उसके कारण बहुत द्रुत अनवरत बिजली की तरंगमालाएं पैदा हो जाती हैं। इन्हीं तरंगमालाओं में मनुष्य की वाणी के जाने का मार्ग बन जाता है। आदमी जब टेलीफोन के प्रेषक में बोलता है तब विविध तीव्रताओं की विद्युत्धारा चला देता है। वह धारा एक वेठन में से होकर बहती है। अब जो तार कि कर्बनलम्पों को बड़ी शक्तिमती धारा देते हैं वह जिस वेठन से सम्बद्ध हैं उस के ऊपर पहले वेठन का प्रभाव पड़ता है। फल यह होता है कि बोलनेवाले के हर एक शब्द का शब्दवाले लम्पों के कम्पन पर विशिष्ट प्रभाव पड़ता है। प्रेषक के पास बिजली की धारा में जैसा परिवर्त्तन होता है ठीक-ठीक वही परिवर्त्तन ग्राहक यंत्र की धारा में भी होता है। साधारणतया तारवाले टेलीफोन में

जो ग्राहक यंत्र काम में आता है वही इसमें भी काम में आता है। परन्तु अब कर्बन लम्पों-वाली विधि बहुत काम में नहीं आती। अब रेडियो की विधि ही बहुत बरती जाती है।

रेडियो सब से बड़ा चमत्कार है। आजकल सभ्य संसार भर में "प्रचार" (ब्राड-कास्टिंग) कार्य्य के लिये अन्ताराष्ट्रीय संघ बन गया है। इस से संसार के एक स्थान में कोई अच्छा गवैया गाता है तो संसार भर में उस के गाने का प्रचार हो जाता है।

अब कोई बड़ा आदमी व्याख्यान या संदेश देता है तो संसार सुन लेता है। अब बेतार के टेलीफोन के काम के लिये साधारण टेलीफोन की विधि बरती जाती है, केवल तार के द्वारा सम्बन्ध करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। भेजनेवाले की ओर के स्थिर झोटे की लगातार लहरों की माला पहले रवाना होती है जिसे अक्रमोनगत तरंगमाला कहते हैं। परन्तु इस में बड़े वेग के स्फुरण होते हैं, इसलिये यह स्वयं ग्राहक यंत्र को प्रभावित नहीं करती। परन्तु भेजनेवाले चक्र के बीच में टेलीफोन का एक प्रेषक यंत्र लगाकर स्फुरणों को इसी में से होकर बहाया जाता है और जब हम प्रेषक यंत्र में बोलते हैं तो जो स्फुरण हम भेजते हैं उस के बल को हम उसी तरह घटा-बढ़ा सकते हैं जिस तरह साधारण तारवाले टेलीफोन के चक्र में चलनेवाली धारा के बल को घटा-बढ़ा सकते हैं। जैसे तार में नियमित तरंगमाला के चलते हुए स्वरों के उतार-चढ़ाव का उत्पन्न किया जाना संभव है, उसी तरह बेतार में भी संभव हो जाता है। जो लहरें भेजी जाती हैं उन में बोले जानेवाले शब्द से उतार-चढ़ाव पैदा हो जाता है, लहरों का बल घट-बढ़ जाता है और इस तरह अनुकूल की हुई तरंगमालाएं इष्ट स्थान पर ग्राहक यंत्र में पहुँचती हैं और मानव कंठानुरूप शब्द बनकर सुन पड़ती हैं। व्यवहार में विशेष कठिनाई प्रेषक यंत्र के बनाने में पड़ती है, क्योंकि साधारण तार टेलीफोन की धारा की अपेक्षा बेतारवाली धारा बहुत बड़ी होती है। इस से साधारण प्रेषक यंत्र अत्यन्त गरम होकर व्यर्थ हो जाता है। इस कठिनाई को दूर करने के कई उपाय हैं। एक यह है कि कई प्रेषक जोड़ दिये जाते हैं और पानी से ठंढे रखे जाते हैं।

प्रेषक और ग्राहक यंत्र मुँह और कान के पास ही रखकर काम में आते हैं। प्रेषक यंत्र में अब ऐसी उन्नति हुई है कि बोलनेवाला (लौड-स्पीकर) तारोच्चारक के सान्निध्य में बोलता या गाता है। वही प्रेषक यंत्र का काम करता है। प्रेषक यंत्र से चली हुई नियमित और अनुकूलीकृत तरंग मालाएं बेतार की विधि से चारों ओर जाती हैं और जिन-जिन स्टेशनों से स्वर मिला हुआ है उन-उन स्टेशनों के हवाई तारों के द्वारा ग्राहक यंत्रों में शब्दानुरूप स्फुरण होता है। उन-उन रेडियो स्टेशनों पर भी तारोच्चारक की ही विधि के यंत्रों के सहारे धीमें शब्दों को ऊंचा कर दिया जाता है। इस विधि से किसी रेडियो स्टेशन पर इकट्ठे मनुष्य दूसरे साधारण दूरी के स्टेशन पर की किसी वक्तृता के शब्दों को स्पष्ट सुनते हैं अथवा संगीत का आनन्द उठाते हैं। कोई बारह तेरह बरसों से यही बात अत्यन्त दूर-दूर के स्थानों के बीच, धरती के एक छोर से दूसरे तक भी संभव हो गयी है।

संवत् १९७५ वि० के पहले रेडियो का यह चमत्कार संभव ही न था। बात यह है कि ज्यों-ज्यों दूरी बढ़ती थी शब्द धीमा होता जाता था, और सुन नहीं पड़ता था क्योंकि

कम्पन का वेग दूरी से घटता जाता है। उस साल फारेस्ट नामक इंजीनियर ने बिजली के लम्पों में दोनों तारों के सिवाय उनसे अलग एक बारीक सी जाली और उसके बाद एक धातु के पत्र का धनोद इस ढंग पर लगाया कि विद्युत्कण की धारा जाली से छनती हुई धनोद पर पड़े। इस प्रबन्ध में यदि बिजली का कम्पन जाली पर पड़ता है तो धातु-पत्र-धनोद पर आकर उस का वेग आठ-दस गुना बढ़ जाता है। यह लम्प "वाल्व" या पट कहलाते हैं। इन के आविष्कार ने बिजली के सारे कामों को बहुत ही सरल कर दिया। प्रेषक और हवाई तार के बीच ऐसा लम्प एक लगा दें तो कम्पन यदि दस गुना बढ़े तो दो लगा देने से सौ गुना, तीन लगा देने से हजार गुना, चार से दस हजार और पांच से लाख गुना बढ़ जायगा। इस तरह बीच बीच में इन लम्पों के लगा देने से बड़ी दूर-दूर तक शब्द का सुन पड़ना संभव हो गया। इसी तरह हवाई तार और ग्राहक यंत्र के बीच ऐसे ही लम्प लगाने से सुनना भी संभव हो जाता है। अब तो संकोचक की जगह इस लम्प को ही काम में लाते हैं। पहले बहुत दूर तक टेलीफोन नहीं लग सकते थे। अब कलकत्ता-बंबई के बीच बातचीत इसी लम्प के सहारे संभव हो गयी है। इसी से और भी सुभीते आगे संभव हैं। अब तक दूरश्रवण अनवरत धारा से ही संभव था। इस के लिये अलग-अलग तारों की जरूरत थी। अब तो एक ही तार में एक ही समय में विविध कम्पनों की धाराएं प्रायः चल सकती हैं। इस सम्बन्ध में दिनों-दिन खोजों के द्वारा उन्नति हो रही है।

अब बिजली के द्वारा चित्र भेजने की विचित्र बात भी जानने योग्य है। प्रकाश के प्रभाव से सेलेनियम के पट पर वैद्युत बाधा में विविध परिवर्तन उत्पन्न हो जाते हैं। यदि अंधेरी डिबिया में सेलेनियम (शशिम्) रखकर उस में से दो तार निकाले जायँ और इस डिबिया के बारीक छेद को किसी चित्र के सामने धीरे-धीरे चलावें तो उस की विद्युत-बाधा छाया और प्रकाश की कमी-बेशी के अनुसार घटती-बढ़ती जायगी। इसे तार या बेतारवाली धारा के प्रेषक यंत्र से लगाकर चित्र भेज सकते हैं। ग्राहक यंत्र में एक विद्युतलम्प लगा रहता है जिसमें बाधा की कमी-बेशी के अनुसार प्रकाश में भी कमी-बेशी होती रहती है। यह भी सब ओर से ढका रहता है। इस के सूक्ष्म छेद के सामने घूमनेवाले बेलन के सहारे अंकग्राही पत्र बराबर चलता रहता है और चित्र बनता जाता है। तार और बेतार दोनों विधियों में इसी तरह चित्र भेजे जाते हैं।

बिजली की तरंगों का यह अद्भुत चमत्कार है। आगे बिना तार के सहारे चलनेवाली बिजली की लहरों से और भी काम संभव हो सकते हैं। भारतीय योगियों में यह कहा जाता है कि योगबल से वायुमंडल में स्थित परमाणुओं को अनुकूलता पूर्वक एकत्र कर के विविध इष्ट वस्तुओं की रचना की जा सकती है। तरंगों के द्वारा चित्र-प्रेषण इसी प्रकार की क्रिया है। इस में और भी उन्नति हो सकती है। कौन जाने कभी ऐसा भी संभव हो जाय कि आवश्यकता पड़ने पर किसी विशेष वस्तु का भी प्रेषण हो सके।

बेतार के तार का बल अभी जितना चाहिये उतना आजमाया नहीं जा सका है। यह बहुत संभव है कि भविष्य में रोशनी हो, पंखे चलें, बड़े-बड़े कारखाने बेतार की विद्युत् धाराओं के बल से चलने लगें। रेलगाड़ियां चलें। मोटर गाड़ियां चलें। हवाई जहाज

चलें। निदान जहां कहीं शक्ति लगाने की आवश्यकता पड़े वहां बिना तार के बिजली की धारा से काम लिया जाने लगे।

विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दो महत्व के आविष्कारों का आरंभ हुआ। एक तो विमान आदि वायुयान और दूसरे बेतार का तार। दोनों के विकास के साथ ही साथ पारस्परिक अटूट सम्बन्ध भी देखने में आया। जैसे रेलगाड़ियों के संचालन में विनिमय के साधन तारवाले तड़ित् समाचार भी साथ-ही-साथ आविष्कृत हुए और बड़े सहायक सिद्ध हुए. उसी तरह हवाई यानों के साथ ही साथ बेतार का तड़ित् यंत्र उन के लिये परम सहायक सिद्ध हुआ। जल के जहाजों के लिये भी बेतार के यंत्र परम सहायक सिद्ध हो रहे हैं। निदान जल और स्थल और वायुमंडल तीनों में मनुष्य की विजय-पताका फहराने में हवाई-वाले बेतार के यंत्र ने दंड का काम दिया है।

उन्तीसवां अध्याय

शरीर पर विजय

१—भोजन की शक्ति

जन्म, व्याधि, जरा और मृत्यु इन चारों से कोई प्राणी बचा नहीं है। यह निश्चय है कि इन से मनुष्य को कष्ट होता है। इन से छुटकारा पाने के लिये मनुष्य अनादिकाल से विचार करता और उपाय सोचता आया है। हमारे देश के प्राचीन विद्वानों ने आयुर्वेद में व्याधियों के निवारण के उपाय बताये हैं और ऐसे-ऐसे रसायनों के प्रयोग दिये हैं जिनसे जरा और व्याधि दोनों के कष्ट दूर करने का दावा किया जाता है। फिर भी सफलता कहीं देखी नहीं जाती। योग-साधन के लिये कहा जाता है कि व्याधि जरा और मृत्यु तीनों से रक्षा करता है, परन्तु उस पर विचार करना यहां इष्ट नहीं है। आयुर्वेद में स्वास्थ्यरक्षा के अनेक उपाय बताये हैं जिन के व्यवहार में लाने से मनुष्य स्वस्थ और सुखी रह सकता है। वर्त्तमान प्रसंग में हम उन वैज्ञानिक उपायों पर विचार करेंगे जो स्वास्थ्यकर हैं और जिन से मनुष्य रोगों से बचा रह सकता है।

विज्ञान की दृष्टि से स्वस्थ मनुष्य वह है जिस के शरीर की गरमी ९८·४° फ है, जिस के हृदय की गति नियमित है और उस से शब्द ठीक-ठीक आता है, जिस का रक्त शुद्ध है, जिस की शिराओं में कोई बाहरी जीवाणु नहीं हैं, जिस की नाड़ी एक मिनिट में ७२ के लगभग चलती है और उस की गति भी नियमित और सुस्थ है, साथ-ही-साथ जिस का मस्तिष्क शुद्ध है और जो सुख से आहार-विहार, काम-काज करता है।

स्वस्थ मनुष्य भोजन नियम से करता है। जितना काम-काज करता है, खेलता या व्यायाम करता है सब में शक्ति लगाता है। बल का व्यय करता है। यह बल आता है उस के भोजन से। यदि वह भोजन न करे तो निर्बल हो जायगा और काम-काज करने का सामर्थ्य उस में न रह जायगा। यदि भोजन से मिल सकनेवाली शक्ति का हम अन्दाजा लगाना चाहें तो उस से मिलनेवाली गरमी की मात्रा से जान सकते हैं। यह बात हम अन्यत्र

बता आये हैं कि गरमी, गति, प्रकाश, शब्द, बिजली, चुम्बकत्व आदि प्रत्येक सामर्थ्य या बल के किसी न किसी रूप का नाम है जो एक दूसरे में परिणत हो सकते हैं। अतः भोजन में जो शक्ति मौजूद है वही शरीर में जाकर विविध रूपों में बदल जाती है और खानेवाले मनुष्य की विविध चेष्टाओं और कर्म्मों में दिखाई पड़ती है। मनुष्य का शरीर दिन-रात लगभग ९८·४° फ की आंच देता रहता है और सांस लेने का और रक्त उछालने का, भोजन के एक स्थान से दूसरे तक पहुँचाने का, रसों के बनाने का, एवं मलों और विषों को बाहर निकालने का शरीर के भीतर काम का निरन्तर होता रहता है। मनुष्य के बाहरी काम जैसे चलना-फिरना, हाथ के काम करना, व्यायाम करना इत्यादि पहले बताये हुए दिन-रात होनेवाले कामों की अपेक्षा बहुत थोड़े हैं। तो भी शरीर की गरमी के रूप में निरन्तर बहुत सी शक्ति बिखरती रहती है।

वैज्ञानिक विधि से हर एक जल सकनेवाले पदार्थ से मिल सकनेवाली तापमात्रा कलारीमापक के द्वारा निकाली जा सकती है। इस तरह यह मालूम किया गया कि भोजन के किस पदार्थ से कितनी तापमात्रा निकलती है। एक साधारण जवान भारतीय जितना भोजन करता है उससे लगभग सवातीन हजार कलारी तापमात्रा निकलती है। एक कलारी तापमात्रा उतने सामर्थ्य के बराबर है जितने से चार-सौ-साढ़े-पचीस ग्राम का भार एक मीटर ऊंचा, अथवा नम्बरी सेर भर (८० तोले भर) भार बजाजे के बड़े गज भर ऊंचा उठाया जा सकता है। परन्तु मनुष्य भोजन के द्वारा जितनी गरमी अपने शरीर में ले जाता है, उतनी सारी मात्रा कभी खर्च नहीं करता। शरीर के भीतर जितने काम होते रहते हैं उन के लिये साढ़े अट्ठाईस सौ कलारी के लगभग तापमात्रा खर्च करता है। शेष में से वह अधिक-से-अधिक पंचमांश खर्च कर लेता है। इससे मांसपेशियों और विविध अंगों के हिलाने का काम लेता है। बाकी चार भाग तापमात्रा गरमी के रूप में चारों ओर बिखर जाती है।

२—स्वाभाविक और अस्वाभाविक जीवन

जो जितना काम करता है उतना ही अधिक भोजन के पदार्थों को काम में लाता है। जो लोग शारीरिक परिश्रम अधिक करते हैं उन्हें अधिक भोजन की आवश्यकता होती है। उन से भी अधिक कसरती पहलवानों को जरूरत पड़ती है। जो लोग दिमागी काम करते हैं उन्हें कम भोजन से ही काफी खूराक मिल जाती है। परन्तु न तो कसरती पहलवान का जीवन स्वाभाविक है और न मेज-कुरसी से लगे हुए दिमागी काम करनेवाले का। स्वाभाविक जीवन उसी मजूर और किसान का है जो खुले मैदान खेतों और बागों में वह काम करता है जिस से उस के शरीर की सभी मांसपेशियां खूब हिलती डोलती हैं, और अंग-अंग को पूरा और आवश्यक परिश्रम करना पड़ता है। लकड़ी काटने में घन या फावड़ा चलाने में, पानी खींचने में, धरती खोदने में हल जोतने में जो परिश्रम पड़ता है उस में सभी अंशों की पूरी कसरत हो जाती है और वह कसरत होती है काम की। इसलिये उसे इससे अधिक व्यायाम की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। साथ ही अन्न

उपजाने में जितनी बातें उसे सोचनी पड़ती हैं, कृषिकला में जितनी जानकारी चाहिये वह सब प्राप्त करने में, उस के दिमाग को भी काफी कसरत मिल सकती है। मजूर भी किसी वस्तु की तैयारी में जो कलाकौशल का काम करता है अपने मस्तिष्क से काम लेता है। हलवाहों और मजूरों के द्वारा खेती करनेवाले रईस आराम-तलब किसानों, और खानों और कारखानों के दूषित वायुमंडल और अस्वाभाविक परिस्थिति में काम करनेवाले मजूरों को हम स्वाभाविक किसानों और मजूरों में नहीं गिनते।

शहरों का जीवन बिलकुल अस्वाभाविक है। पास-पास सटे मकान, हवा की गंदगी, आरामतलबी का जीवन, सभी कुछ अस्वाभाविक है। इसीलिये शहरवालों को नित्य नियम से व्यायाम की जरूरत है। वह मोटा अन्न नहीं खाते इस से उन के पाचन-यंत्रों में भी निर्बलता आ जाती है। रोग फैलता है तो घनी बस्ती में सब पर चढ़ाई करता है। यही हाल गन्दे गांवों का भी है। जहां गन्दगी है, फिर चाहे वह शहर की बस्ती हो या गाँव की, वहीं अस्वाभाविकता है। इसीलिये स्वाभाविक जीवनवाले मजूर और किसान जिन गांवों में रहते हैं उन की दशा भी आदर्श सफाई की होनी चाहिये।

अस्वाभाविक जीवनवाले लोग भोजन से प्राप्त होनेवाली गरमी को कम काम में लाते हैं। फल यह होता है कि शरीर उतना भोजन ग्रहण नहीं करता जितना वह खाते हैं। इसी को अपच कहते हैं। गरमी को कम काम में लाने का यह भी अर्थ है कि भीतर की पूरी सफाई नहीं हो पाती। गहरी सांस कम लेने से खून की सफाई कम होती है। श्रम न पड़ने से सारा पाचन-यंत्र शिथिल सा रहा करता है। इसीलिये कभी कब्ज होता है और कभी दस्त आते हैं। मन्दाग्नि अर्थात् गरमी की कमी की शिकायत रहा करती है। रक्त के दूषित होने से सैकड़ों तरह के शारीरिक रोग हो जाते हैं। कुछ ऐसे भी अस्वाभाविक जीवन-वाले हैं जो भोजन की गरमी को सामान्यतर अधिक काम में लाते हैं। पहलवान और अत्यधिक व्यायाम करनेवाले मात्रा और गुणों में अपरिमित भोजन भी करते हैं और अति व्यायाम से उसे पचाते हैं। इस विधि से उन की मांसपेशियां खूब तय्यार और मजबूत हो जाती हैं परन्तु वह भीतरी शक्तियों से और अंगों से अत्यधिक काम लेकर उन्हें थका डालते हैं। यह जीवन भी इसीलिए अस्वाभाविक है। मनुष्य का जीवन युक्त हो तभी स्वाभाविक कहला सकता है। आहार, विहार, चेष्टा, सोना, जागना, सभी अपनी हद के भीतर होना चाहिये। यही युक्त जीवन है। बाल्यावस्था से युक्त और स्वाभाविक जीवनवाला संयमी मनुष्य रोग और बुढ़ापे का कष्ट न उठाकर सौ बरस तक जी सकता है, ऐसा भारतीय ऋषियों का भी विश्वास है।

३—भोजन की कौन सामग्री किस काम आती है ? विटामिन।

मनुष्य जितनी कुछ चीज़ें खाता है रासायनिकों ने उन सब का विश्लेषण किया है और कुल छः प्रकार के पदार्थ पाये हैं, (१) जल (२) कई प्रकार के लवण, (३) प्रोटीड वा प्रत्यमिन, (४) चरबी और तेल अथवा चिकनाई या मेद, (५) शकर, मंड आदि

चित्र १७६—मांस और डिम्ब की सामग्री
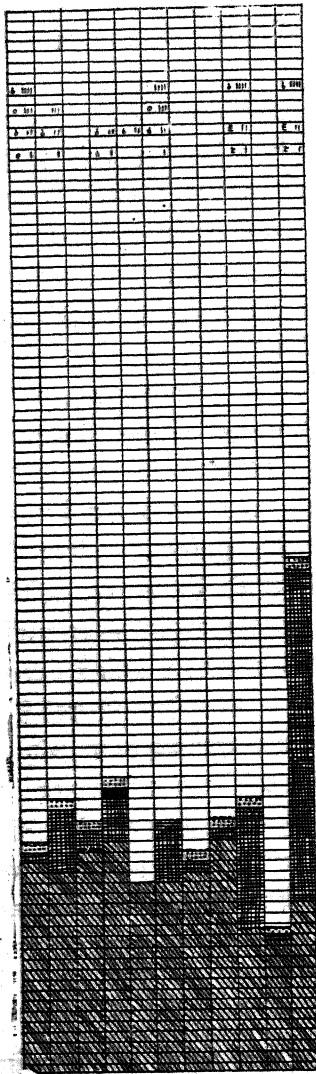
ऊपर के नकशे से यह पता चल जयगा कि कुल में कितने भाग प्रोटीन या प्रत्यामिन, कितने भाग वसा, कितने भाग शर्करा या कर्बोदेत, कितने भाग लवण और कितने भाग जल है। जलवाले सादे अंश में अंत में विटामिन या खाद्योज के प्रकार और मात्रा का भी निर्देश है। बहुत बारीक अंकों में १, २, ३, ४, आदि से खाद्योज ए, बी, सी, डी आदि की क्रमशः सूचना होती है। और ।, ॥, ।॥, से प्रत्येक खाद्योज की मात्रा सूचित होती है। चित्र १८०, १८१, १८२, १८३ और १८४ में भी पाठक इन्हीं संकेतों को प्रयुक्त समझें। चित्र में संकेतों की व्याख्या दहनी ओर दी हुई है।
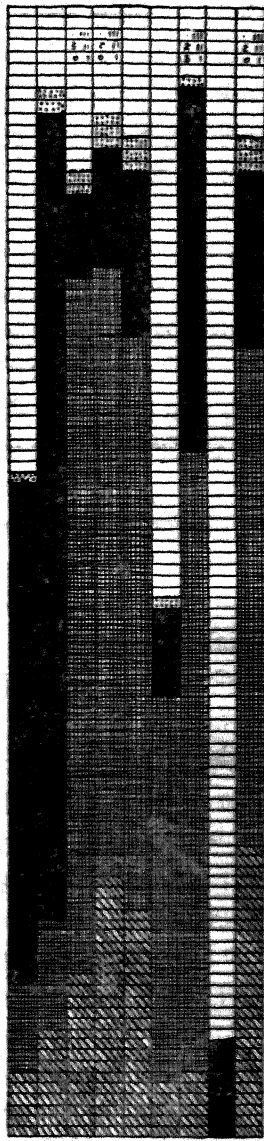
चित्र १८०—कुछ मेवों में भोजन-सामग्री [रा० गौ०
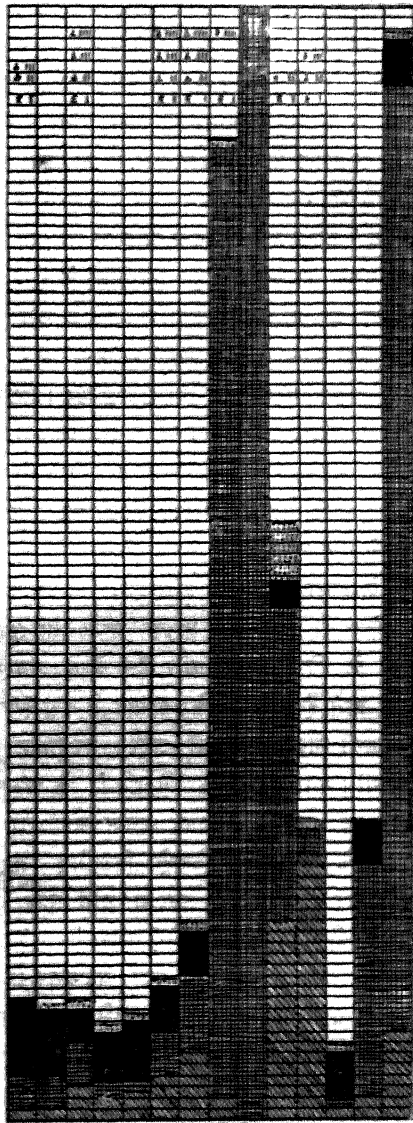
चित्र १८१—दूध और पायसों की भोजन-सामग्री [रा० गौ०

कर्बोदेत और (६) विटामिन नाम के सूक्ष्म अवयव। जैसे गेहूं में अधिक अंश कर्बोदेत और प्रत्यमिनों का है और थोड़े-थोड़े अंश में शेष चारों पदार्थ हैं। दालों में प्रत्यमिन अधिक होते हैं। शेष थोड़े-थोड़े। जल तो सब में होता ही है परंतु भोजन के पदार्थों की तैयारी में तो जल मिलाना भी जरूरी होता है। जल की जरूरत शरीर के एक-एक कण को है। फिर स्वाल फेफड़ों और वृक्कों से जो जल निकलता रहता है उस की कमी को पूरा करने के लिये भी जल की जरूरत होती है। शरीर के सभी अवयवों को अनेक तरह के नमक चाहियें। इन नमकों में कमी आने से उन का कारबार बंद हो जाता है। रक्त में तो खाने-वाले नमक का घोल ही है। प्रत्यमिनों के दो काम होते हैं। एक तो क्षीण अवयवों की मरम्मत या वृद्धि के काम में आते हैं और अवयवों की रचना करते हैं, दूसरे बल और गरमी पैदा करने के लिये जलन के काम आते हैं। स्नेहों और कर्बोदेतों का भी यही काम है कि जलकर गरमी और बल उत्पन्न करें। विटामिनों की मात्रा इतनी सूक्ष्म होती है कि अब तक रासायनिक कई को अलगा कर अच्छी तरह विश्लिष्ट नहीं कर पाया है, परन्तु इन पदार्थों के बिना स्वास्थ्य रह नहीं सकता और वृद्धि हो नहीं सकती, यह बात पूर्णतया सिद्ध हो चुकी है। यह सभी पदार्थ वनस्पति से मिलते हैं और वनस्पति मूर्तिमान सूर्य्य की शक्ति है। इसलिये एक तरह से यह कहना बिलकुल सच है कि भोजन द्वारा हम सौर शक्ति को शरीर के भीतर ले जाते हैं और शारीरिक बल और चेष्टा में उसे परिणत कर देते हैं।

खोज से यह बात बराबर जानी जा रही है कि किन-किन वस्तुओं में किन-किन प्रकारों के विटामिन हैं और कैसी कैसी अवस्था में बने रहते हैं। किन अवस्थाओं में नष्ट हो जाते हैं और उनके अभाव से क्या-क्या और कैसे-कैसे भयानक परिणाम होते हैं। बहुत बासी भोजन करने से जहाज़ पर महीनों की यात्रा करनेवालों को खाज हो जाया करती थी। पता चला कि विटामिनों के अभाव से यह रोग फैलता है। भारत में जब पहले-पहल धान कूटनेवाले इंजन चले तो वह चावल का ऐसा पालिश कर देते थे कि ऊपर के अंश में रहनेवाले विटामिन नष्ट हो जाते थे। इन चावलों को खाकर लोग बीमार पड़ने लगे। इस में टांगें फूल आती हैं या एक प्रकार का सन्यास रोग हो जाता है और लोग इस बेरी-बेरी कहलाने वाले रोग में मर जाते हैं। सुनते हैं कि अब इन मशीनों में परिवर्तन कर दिया गया। यह दूसरे प्रकार के विटामिन थे। तीसरे प्रकार के विटामिन घी चरबी आदि में मिलते हैं। सब से अधिक काड मछली के यकृत से निकाले हुए तेल में काडलीवर आइल में पाये जाते हैं। भोजन में इन के रहने से हड्डियों की बाढ़ ठीक होती है और ढांचा ठीक बनता है। कई प्रकार के स्वच्छ ताजे भोज्य पदार्थ जो साधारणतया खाकर मनुष्य रहता है ऊपर बताये गये छःहों प्रकार के पदार्थों के मिश्रण होते हैं। इनमें चारों प्रकार के विटामिन होते हैं। तो भी कभी-कभी मनुष्य भूल से इस मिश्रण में किसी-न-किसी प्रकार के विटामिन की कमी कर देता है और बीमार पड़ जाता है। इस लिए भोजन के पदार्थों की जांच करते रहना चाहिए। चौथे प्रकार के विटामिन कच्चे दूध में मौजूद हैं। परन्तु उबालने से नष्ट हो जाते हैं। कच्चे दूध में रोगाणुओं का डर रहता है। ६६° श तक गरमाने से विटामिन नष्ट नहीं होते और रोगाणु नष्ट हो जाते हैं। मक्खन
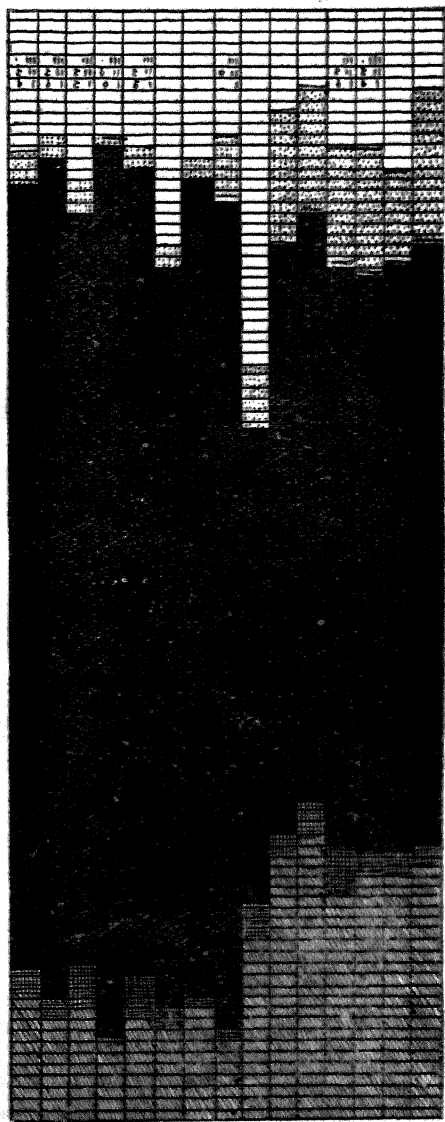
चित्र १८२—कुछ अन्नों की भोजन-सामग्री [रा० गौ०

घी में भी वही विटामिन हैं। फलों और बीजों के छिलके और गूदे के बीच के अंश विटामिन से भरे होते हैं। धूप में पके फल और तरकारियों में विटामिन सुरक्षित रहते हैं। भोजनों में विटामिन न हों तो कितनी ही मात्रा में खाये जायँ, उनसे कितनी ही गरमी और शक्ति पैदा हो सकती हो, उनमें कितना ही घी, कर्बोदेत और प्रत्यमिन मौजूद हो, स्वास्थ्य-रक्षा नहीं कर सकते।

भोजन की एक सबसे महत्व की सामग्री है जिस के बिना विटामिन भी अपना पूरा प्रभाव नहीं डाल सकते। यह सामग्री है स्वाद का सुख। भोजन स्वादिष्ट तो होना ही चाहिए। उसमें सुगन्ध का होना भी आवश्यक है। वह सुगन्ध कृत्रिम न हो, भोजन का स्वाभाविक सुगन्ध हो। उग्र न हो, बहुत ही मृदु मधुर हो। ऐसा हो कि दूर से घ्राण होते ही मुँह में पानी भर आये, आमाशय में उसकी भीतों से रस टपकने लगे या कम-से-कम आर्द्रता बढ़ जाय। यह अत्यन्त आवश्यक है। जब हम उस के ग्रास को मुँह में डालें तो उस के स्वाद से मन प्रसन्न हो जाय। भोजन प्रसन्न मन से ही होना चाहिये और एक-एक ग्रास का पूरा आनन्द लेना चाहिये। इस आनन्द में किसी तरह की बाधा न होनी चाहिये, बल्कि सभी इंद्रियां और मन एकत्र होकर इस आनन्द को पूर्ण करने में लग जायँ। आंखों के सामने जो दृश्य हो स्वच्छता और रमणीयता का हो, परिस्थिति उस आनन्द के सर्वथा अनुकूल हो। कानों को प्रिय और मधुर शब्द या संगीत सुनने में आ रहे हों। हर ग्रास को उस के स्वाद का आनन्द लेने के लिये अच्छी तरह देर तक चबाते और लाला से लपेटते हुए मुँह में रखना चाहिये क्योंकि पचाने की क्रिया यहीं शुरू होती है। यह प्रसन्नता और स्वाद का आनन्द मानसिक सामग्री है और अत्यन्त आवश्यक सामग्री है जिस के बिना यथोचित रीति से न तो पाचन हो सकता है और न भोजन शरीर में "लग" सकता है। प्रसन्नता और आनन्द से भोजन के अवयव ठीक-ठीक स्थानों में पहुंचते हैं और नाड़ीमंडल की क्रियाएं यथावत् होती हैं।

कितने मनुष्य कम खाते हैं, बहुत से अधिक खा जाते हैं। परंतु भोजन जरूरत भर ही करना चाहिये। कम करने से आमाशय भर नहीं पाता इस से उस की गति अच्छी नहीं होती और जठर रसों से पूरा मिश्रण नहीं हो पाता। अधिक करने से भोजन के लिये पर्याप्त रस नहीं मिलता, पेट के यंत्र को प्रमाण से अधिक काम मिलता है। दोनों दशाओं में अपच हो जाता है।

४—आयाम

शुद्ध स्वच्छ वायु और प्रकाश, अनुकूल परिस्थिति में आनन्दपूर्वक सुख से सुगन्धित और स्वादिष्ट भोजन एवं खेतों में और बागों में कृषिकलाभिज्ञता के साथ श्रम-पूर्वक काम तथा साधारण निश्चिन्त रखनेवाले मनबहलाव मनुष्य के शरीर को शुद्ध स्वच्छ और स्वस्थ रखने के साधन हैं। ऐसे मनुष्य को दंड-बैठक आदि व्यायाम करने की जरूरत नहीं है। शहर के मनुष्यों को खेतों और बागों में मेहनत करने का मौका नहीं
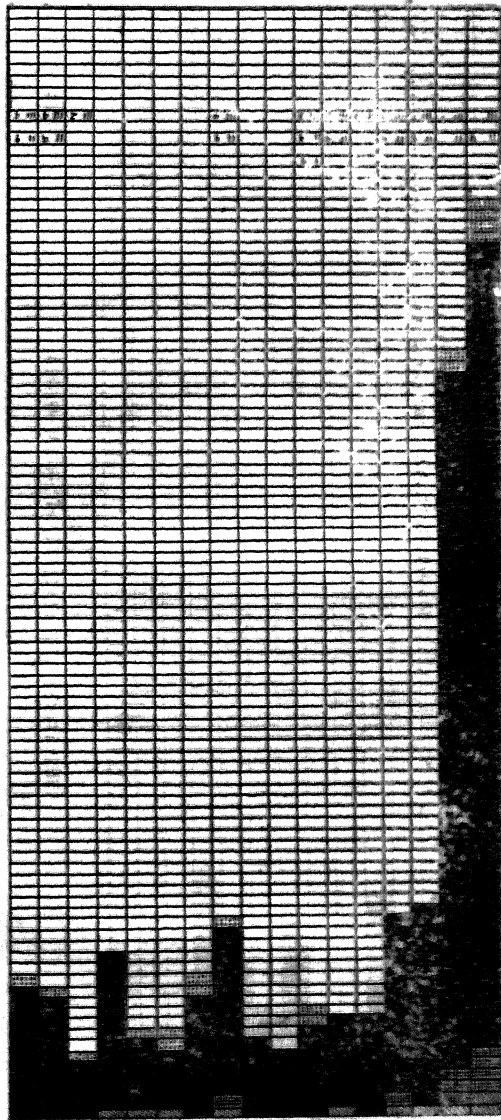
चित्र १८३—कुछ फलों की भोजन सामग्री [रा० गौ०
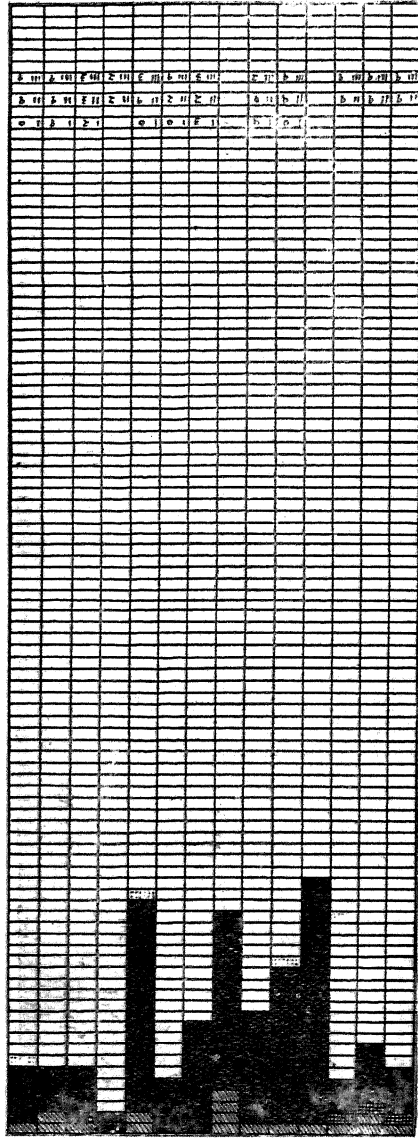
चित्र १८४—कुछ तरकारियों की भोजन-सामग्री [रा० गौ०

मिलता इसलिये उन्हें नित्य नियम से कुछ व्यायाम करने चाहिये। अत्यधिक व्यायाम अनुचित और अस्वाभाविक है। व्यायाम वहीं तक उचित है जहां तक उस से थकान न पैदा हो और अधिक मेहनत करने की ओर अरुचि न उत्पन्न हो। खेल, कूद, कबड्डी, फुट-बाल, हाकी, क्रिकेट, दौड़ तैरना, घुड़सवारी, टहलना आदि अच्छे व्यायाम हैं जिनसे मांस-पेशियों और सभी अंगों को काम भी मिलता है और चित्त में उत्साह और आनन्द भी रहता है। व्यायाम करने की जगह खुला मैदान है जहां बराबर ताज़ी हवा मिलती हो और सांस से दूषित वायु बदलती जाती हो। बंद जगह में दंड-बैठक करने से मांसपेशियां अवश्य ही विकसित और दृढ़ होती हैं, परन्तु ताजी हवा नहीं मिलती। मैदान में व्यायाम करने से शुद्ध वायु भीतर जाती और मैली वायु सांस से बाहर निकलती है। इस क्रिया से रक्त का शोधन होता है। बन्द जगह में व्यायाम से रक्त शुद्धि नहीं हो पाती। व्यायाम की सिद्धि खुले मैदान में ही होती है। रक्त शुद्धि के साथ-ही-साथ शरीर के भीतर की सभी क्रियाएं उत्तेजित हो जाती हैं, मनुष्य में काम करने का अधिक उत्साह हो जाता है, अधिक शक्ति आ जाती है, पाचन ठीक रहता है, रक्त का संचार उचित रीति पर होने लगता है। निदान शरीर के सारे कल-पुरजे आसानी से चलने लगते हैं, मानों सब में तेल लग गया है और सभी ठिकाने-ठिकाने हो गये हैं।

व्यायाम करने में मनुष्य को लाचार होकर गहरी सांस जल्दी-जल्दी लेनी पड़ती है। गहरी सांस लेने से रक्त शुद्धि सहज में होती है। प्राच्य योग्यसाधन की विधियों में प्राणायाम को बड़ा महत्व दिया गया है। मोटी रीति से इस की विधि यह है कि सीधे पद्मासन बैठकर पहले सांस धीरे-धीरे खींचे, फिर रोक रखे और फिर धीरे-धीरे निकाल बाहर करे। खींचने में जितना समय लगे उसका दूना रोकने में और चौगुना निकाल बाहर करने में लगना चाहिये। लिंडलार का मत है कि रोकने की कोई आवश्यकता नहीं। स्वास्थ्य के लिये केवल चढ़ाना-उतारना काफी है। प्रत्येक व्यायाम में यदि इस तरह प्राणायाम की विधि बरती जाय तो सारे शरीर का बहुत उत्तम व्यायाम हो जाता है। आजकल व्यायामों के विशेषज्ञ साथ-ही-साथ प्राणायाम पर भी बड़ा जोर देते हैं और उचित जोर देते हैं। संडाउ और मूलर की विधियों में भी गहरी सांस का बड़ा महत्व है। इन विधियों से मनुष्य अपने शरीर को मनचाहे रूप में विकसित कर लेता है। इन सब के सिवा तरह-तरह की कसरतें और खेल हैं जिनमें व्यायाम-कला के अद्भुत चमत्कार देखे जाते हैं। हठयोगियों के आसनों में तो बड़ी विचित्रता पायी जाती है। जान पड़ता है कि व्यायामी के शरीर में हड्डियां हैं ही नहीं। सरकसों में व्यायामियों के अद्भुत खेल देखे गये हैं। इन सब से यह स्पष्ट है कि मनुष्य अभ्यास से अपने शरीर को सब तरह से अपने बस में कर सकता है।

मन शरीर का ही अंश है। तो भी इस को वश में करने का विशेष अभ्यास आवश्यक है। इस के लिये लोग मनः संयम का साधन करते हैं। मन बड़ा ही चंचल है। विषयभोग-वाले पदार्थों पर दौड़ता रहता है। थोड़ी सी प्रतिकूल बात पर बिगड़ बैठता है और क्रोध के वश

हो जाता है। पराया धन देखकर लालच करने लगता है। सुंदर रूप देखकर मुग्ध हो कामवश हो जाता है। इन सब बातों से मन को रोककर काबू में रखने का अभ्यास भी मनुष्य करता है। अच्छे-अच्छे अभ्यासी इस बात में भी सफल होते हैं। मन पर जो विजयी होता है वह आधे संसार पर विजयी हो जाता है। मनुष्यों ने इस तरह अपने आपे पर भी अभ्यास के द्वारा विजय पायी है। इस तरह के अभ्यास को मानसायाम कह सकते हैं। व्यायाम, प्राणायाम और मानसायाम थोड़ा-थोड़ा करके प्रत्येक मनुष्य अपने स्वास्थ्य को ठीक अवस्था में रख सकता है।

५—शरीर का ताप और कपड़े

भोजन से जितनी शक्ति और गरमी मनुष्य को मिलती है उस का सौ में अस्सी भाग गरमी के रूप में निकलता रहता है। स्वस्थ शरीर निरन्तर ९८·४° फ तापक्रम पर गरम रहता है। इस का अर्थ यह है कि शरीर निरन्तर इतनी आंच बाहर फेंकता रहता है। अब जितना ही परिश्रम हम अपनी मांसपेशियों से लेते हैं उतनी ही अधिक गरमी भी पैदा होती है और उस गरमी का बाहर निकल जाना भी जरूरी है। अगर ऐसा न हो तो शरीर का तापक्रम बढ़ जायगा। मान लो कि २०० कलारी शारीरिक बल लगा, तो ८०० कलारी आंच बढ़ेगी और अगर यह आंच बाहर न निकल जाय,—फिर वह चाहे पसीने को भाफ बनाने में खर्च होकर निकले या आंच के रूप में ही बिखर जाय,—तो भयानक ज्वर के रूप में शरीर की गरमी बढ़ी हुई दिखाई पड़े। सार यह कि शरीर-बल जितना ही लगता है उतनी ही गरमी बढ़ती है और खर्च होती है। इसीलिए परिश्रम करने से पसीना होता है। जितनी ही अधिक मेहनत करे उतना ही अधिक पसीना होता है। परिश्रम से तापक्रम या गरमी में जो वृद्धि होती है वह आंच होकर जब काफी बिखर नहीं पाती तब खाल में नमी आती है कि वह अपने उड़ने में फालतू गरमी को खर्च करे। परन्तु यदि बाहरी वायुमंडल भी उतना ही या अधिक गरम हो और नम हो और हवा थमी हुई हो तो शरीर की आंच न तो बाहर निकल पायेगी और न पसीना ही उड़ पायेगा। बरसात में ऐसी ऊमस की दशा का हमारे देश में सब को अनुभव है। लू चलनेवाली तेज गरमियों में हमें वह कष्ट नहीं होता जो ऊमस में होता है, क्योंकि लू में पसीना उड़ता रहता है और ठंढक आती रहती है। ऊमस में पसीना नहीं सूखता और आंच भी निकल नहीं पाती। जब ऐसी ऊमस की बाहरी दशा होती है तब प्रकृति भीतर से बल का काम बन्द कर देती है। आदमी शिथिल हो जाता है। उस से कोई काम किया नहीं जाता। उस की भूख मारी जाती है। और यदि वह ऐसे समय में जबरदस्ती मेहनत करता है तो उसे गरमी लग जाती है और बीमार पड़ जाता है। जैसे बाहरी ऊमस से तकलीफ होती है उसी तरह कपड़ों के भीतर या कमरे के भीतर की ऊमस से भी कष्ट होता है। आदमी कपड़े ज्यादा पहनता है तो उस के चमड़े और कपड़े के बीच का वायुमंडल, स्थिर गरम और नम हो जाता है। तब भी काम बन्द हो जाता है। भूख रुक जाती है। शिथिलता आ जाती है। कमरे के बन्द रहने से भी यही

दशा होती है। सरदी के दिनों में लोग यह दशा कृत्रिम रूप से पैदा कर देते हैं और अपने को शिथिल और रोगी बना लेते हैं। हवा का थमा रहना नमी का बना रहना और ऐसी दशा में गरमी का होना हानिकर है। जो लोग सरदी के मारे अपना शरीर कपड़े से ढके रहते हैं उन के लिये प्रकृति खुले हुए भागों द्वारा कुछ बचाव कर देती है। उन का सिर और हाथ-पाँव खुला रहता है तो इन अंगों से काफी आंच निकलती रहती है जिस से ढके हुए अंगों के दोषों का निराकरण हो जाता है। भारत जैसे देश में अभिनव पाश्चात्य

चित्र १८९—मैकेल-फेरेडे [सं० १८४८-१९२४ बि०]

सभ्यता की बाढ़ से लोग गरमियों में भी जरूरत से ज्यादा कपड़े लादने लगे हैं। जिन लोगों को खुले मैदान में मेहनत का काम करना पड़ता है उन्हें साल में आठ महीने तो सिवाय लज्जा ढकने के और किसी तरह के कपड़े की जरूरत नहीं पड़ती। परन्तु शहर के लोगों को फैशन मजबूर करता है तो गरमियों में भी मोजे डाटे रहते हैं। फैशन की यह नकल स्वास्थ्य की दृष्टि से दूषित है। वर्ष के अधिकांश भाग में आवश्यक हो तो ढीला-ढाला कुरता बहुत उपयुक्त और काफी है। जिस मनुष्य की देह में ताप-प्रकाश और हिलती डोलती हवा बराबर लगती रहती है वह कपड़े से ढके मनुष्य की अपेक्षा अधिक स्वस्थ होता है।

सूरज की रोशनी और खुली बहती हुई हवा अनेक रोगों की अचूक दवा है। क्षय रोग

के नाश का तो यह एकमात्र उपाय है। रोशनी से अनेक रोगाणु मर जाते हैं और अनेक बढ़ने नहीं पाते। दिन की हवा में ताज़ा ओषजन वायव्य सूर्य्य की किरणों से धुला हुआ मौजूद होता है और यही प्रचुरता से नाक और चमड़े की राह से शरीर में प्रवेश करता है तो मनुष्य को नये सिरे से जीवन देता है। सूर्य्य की किरणों का प्रभाव रक्त पर बहुत स्वास्थ्यकर पड़ता है। इसलिये खुले मैदान में रहना सबके लिये हितकारी है।

६—नींद

नींद क्यों इतनी आवश्यक है इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर अभी विज्ञान नहीं दे पाया है। भोजन के बिना मनुष्य महीनों रह सकता है पर नींद बिना वह कई दिनों तक नहीं रह सकता। नींद बिना उस की शक्ति बहुत जल्दी क्षीण हो जाती है, चाहे अन्न जल वायु की कैसी ही मदद पहुँचती रहे। निद्रा में जो आंशिक बेसुधी आती है वह अनेक मिले जुले कारणों से हो सकती है, जैसे कुछ रक्त-वाहिनियों की शिथिलता और कुछ विश्राम, मलों का इकट्ठा होना, ज्ञाननाड़ियों में थकान से कुछ रुकावट, इत्यादि। निद्रा की दशा में भीतरी प्राणेंद्रियां बहुत धीमे काम करने लगती हैं और ओषजन का खर्च कम होता है, शोषण अधिक होता है। जो आदमी अपनी शक्तियों का आनन्दपूर्वक पूर्ण उपयोग चाहता है उसे गहरी निद्रा में सोना ही चाहिये। जो अधिक जागता है उस के शरीर में आलस्य रहता है, बदन टूटता रहता है और श्रम के काम में उत्साह नहीं होता। जिन लोगों को रात में जल्दी और खूब गहरी नींद आती है और जितने घंटे चाहें उतने घंटे बराबर बे खटके सोते रह सकते हैं वह धन्य हैं और सचमुच वह स्वस्थ और सुखी हैं। यह बहुधा देखा जाता है कि दिमागी काम करनेवाले कम ही सोकर स्वस्थ रह लेते हैं, और उन्हें नींद भी कम आती है। शरीर का श्रम करनेवाले अधिक सोते हैं। विविध मनुष्यों में नींद की आवश्यकता भी विविध होती है। निद्राभंग रोग में शारीरिक और मानसिक शक्ति घट जाती है, परन्तु यह रोग अनेक कारणों से हो सकता है। अजीर्ण, ज्वर, शारीरिक या मानसिक थकान, या फालतू शक्ति की अधिकता, किसी प्रकार की आत्यन्तिक मानसिक वा शारीरिक उत्तेजना, इत्यादि कुछ भी कारण हो सकता है। निद्राभंग होने पर पहले उस का कारण ही दूर करना कर्त्तव्य है। फालतू शक्ति की अधिकता हो तो थोड़ा सा व्यायाम, थकान हो तो आगे से अधिक श्रम से बचना, अजीर्ण हो तो उपवास या संयत भोजन, उत्तेजना हो तो उसका निवारण निद्राभंग का इलाज है। निद्रा लाने के लिये नशे का सेवन या निद्रा लानेवाली दवा खाना तो सर्वथा हानिकारक है। पेट बोझल होने पर जब बारंबार मस्तिष्क से बोझ हलका करने के संदेशे आ रहे हों उस समय अफीम खाकर बेहोश होना मूर्खता है। झंझट या चिन्ता के कारण निद्राभंग का होना कठिन रोग है। कभी-कभी चिन्ताओं को दूर करना और समस्याओं को सुलझाना अनिवार्य्य हो जाता है और उपाय नहीं सूझता। परंतु जब ऐसी स्थिति सामने हो तो यह निश्चय है कि नींद खोने से लाभ कुछ न होगा। इसलिये अपने मन पर जोर देकर चिन्ताओं और झंझटों को कुछ काल के लिये दूर कर देना चाहिये। दिल इतना

मजबूत न हो, मनपर इतना काबू न हो तो किसी मन-बहलाववाले अत्यन्त आकर्षक व्यापार में लग जाय। कुछ लोग झंझटों और चिन्ताओं से बचने को नशे का सेवन करके अपने को बेसुध कर लेते हैं और सो जाते हैं। परन्तु यह उपाय सफल होते हुए भी अनेक भावी रोगों का कारण बन जाता है। एक रोग के निवारण के लिये अनेक रोगों का बीज अपने शरीर-रूपी क्षेत्र में बो देना बुद्धिमानी नहीं है। सोने के पहले पाँव धो लेना, स्नान कर लेना, कच्ची प्याज खा लेना, भैंस का गरम दूध पी लेना, आम और दूध का सेवन, इत्यादि छोटे-छोटे लटके नींद लाने में बहुधा समर्थ पाये गये हैं। यदि कोई उपाय न सधे तो चुपचाप पड़े-पड़े आनन्दमय और सुखकर मंसूबे बाँधना और उन्हीं में डूब जाना समय को

चित्र १८६—मारकोनी, जन्म सं० १६३१
आकाशवाणी और बेतार के तड़ित् का प्रसिद्ध आविष्कारक

अच्छी तरह कटवा देता है और बहुधा नींद भी लाता है। परन्तु निद्रा न आने पर उन्निद्रता के लिये खीझना, घबराना, तड़पना और करवटें बदलते हुए निद्रा की चिन्ता में भी बुरी तरह से समय काटना उन्निद्र रोग को बढ़ाता है। शोक, चिन्ता, क्रोध, भय, द्वेष, निराशा आदि दुर्भाव केवल निद्रा का ही हरण नहीं कर लेते, इन से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। भूख मारी जाती है, पाचन क्रिया बिगड़ जाती है, रक्त का संचरण अनियमित हो जाता है, ज्वर आदि अनेक लक्षण दीखते हैं। इसी तरह हर्ष, उत्साह, आनन्द, प्रेम आदि सद्भाव मनुष्य के स्वास्थ्य को बढ़ाते हैं। जब ऐसी बात है तो कोशिश कर के बुरे भावों को भगाना चाहिये और अपने पास भी फटकने न देना चाहिये, साथ ही बलपूर्वक अपने मन में सुखकर भाव भरने चाहिये, हर्षित और आनन्दित और उत्साहित रहना चाहिये।

इससे स्वास्थ्य की भलीभांति रक्षा हो सकती है और होती है। शोक, चिन्ता, क्रोध, भय, द्वेष, निराशा आदि वास्तव में मानसिक रोग हैं जिन को कि दृढ़ संकल्पवाला मनुष्य अपने सच्चे संकल्पमात्र से बात-की-बात में दूर कर सकता है। मानसिक आनन्द तो मन के स्वस्थ होने की दशा है। बाहरी आमोद-प्रमोद से उसे उत्तेजना मिलती है।

७—रोगाणु और रोग सहिष्णुता

हमारे स्वास्थ्य के बैरी चारों ओर फैले हुए हैं। वायु में, जल में, हमारे आसपास की सामग्री में सर्वत्र रोगाणु मौजूद रहते हैं। यह अवसर पाते ही शरीर पर चढ़ाई करते हैं और भांति भांति के रोग उत्पन्न करते हैं। जल और वायु द्वारा, भोजन द्वारा, घाव द्वारा शरीर में प्रवेश करते हैं और इन की संख्या बड़े वेग से बढ़ती है। यह विष बनाते हैं और शरीर के भीतर उँडेल देते हैं जिस से अपरिमित हानि होती है। बड़े भयानक ज्वर उत्पन्न हो जाते हैं, झिल्लियां फाड़ देते हैं और अंग की बनावट में फेरफार डाल देते हैं। अनेक सेलवाले रोगाणु एक प्रकार के, और एक सेलवाले रोगाणु दूसरे प्रकार के रोग उत्पन्न करते हैं। क्षयरोग, मोतीज्वर या आंत्रज्वर,* वलयरोग, धनुर्वात, जहरवात, हैजा, रोगाणिवक आमातिसार और नाड़ी-ज्वर अनेक सेलवाले रोगाणुओं से उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक रोग के लिये विशिष्ट रोगाणु होते हैं। फसली ज्वर, अमीबी आमातिसार, निद्रारोग आदि कई रोग एक सेलवाले रोगाणुओं से होते हैं। उदर्धज्वर,* छोटी सीतला, कुकुर-खांसी और प्रतिश्याय-ज्वर आदि कई रोगों के रोगाणु इतने सूक्ष्म हैं कि वैज्ञानिक के छन्ने से भी निकल जाते हैं और अणुवीक्षण से भी देखे नहीं जा सकते। आये दिन स्वस्थ से स्वस्थ शरीर पर रोगाणुओं की चढ़ाई होती है और शरीर के भीतर घोर संग्राम होने लगता है। रक्त में श्वेताणु उस की रक्षा के लिये कमर कसे तैयार रहते हैं। रोगाणु रक्त में आये नहीं कि रक्त के श्वेताणुओं ने उन्हें चारों ओर से घेर लिया और उन्हें पचा डाला। एक गन्दी आलपीन बदन में कहीं चुभ गयी। उस के साथ हजारों घातक रोगाणु घाव में घुस पड़े। रक्त में पड़ते ही भयानक वेग से उन की सन्तति बढ़ने लगती है और क्षण भर में हजारों से लाखों की संख्या हो जाती है और इसी वेग से बढ़ना जारी रहता है। श्वेताणुओं की सेना रक्तवाहिनियों की भीत को फोड़कर निकल आती है और लाखों करोड़ों की संख्या में डाकुओं को घेर लेती है और खाने लगती है। यदि श्वेताणुओं की परिस्थिति अनुकूल रही तो एकएक रोगाणु को घेरकर पचा डालते हैं और शरीर फिर स्वस्थ हो जाता है। घाव तुरन्त भर जाता है। यदि श्वेताणुओं की सेना हारी और शत्रुओं की संख्या बढ़ती गयी और मोरचे-पर-मोरचा सर होता गया तो करोड़ों श्वेताणु मरते जाते हैं और टूट-टूट कर प्रतिविष उगलते जाते है। शत्रु रोगाणु भी करोड़ों की संख्या में काम आते हैं और विष उगलते जाते हैं। परन्तु शत्रुओं की संख्या

---

* आंत्रज्वर=टैफ़ोइड। वलयरोग=डिपथीरिया। धनुर्वात=टिटेनस। जहरवात=ऐन्थ्रैक्स। नाड़ी ज्वर=सेरिब्रो-स्पैनल-फ़ीवर। उदर्धज्वर=स्कार्लेट फ़ीवर। प्रतिश्याय-ज्वर=इन्फ्लुएंज़ा।

बढ़ती ही गयी तो विष अधिक पैदा होता है जो प्रतिविष के द्वारा उदासीन होने पर भी अपना घातक परिणाम उत्पन्न करने को बच जाता है। आलपीन के चुभने से जो घाव हुआ उससे सारा रक्त विषाक्त हो गया और मनुष्य चल बसा।

शरीर बाहरी रोगाणुओं के उँडेले हुए विष का मुकाबला करने के लिये प्रतिविष भी बनाता है। प्रतिविष विविधि प्रकार के होते हैं। कुछ तो विष ही हैं जो बाहरी विष को मारते हैं। लाइसिन और अग्लुटिनिन जाति के प्रतिविष सीधे रोगाणुओं को ही मार डालते हैं। आप्सोनिन जाति के पदार्थ चटनी की तरह होते हैं जिन के सहारे श्वेताणुओं को रोगाणुओं के चट कर जाने में सुभीता होता है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि रोग के एक आक्रमण से शरीर उसका मुकाबला करने को अभ्यस्त हो जाता है और जब कभी दूसरी चढ़ाई होती है तो आरंभ में ही शरीर उस रोग को नष्ट कर देता है। यह स्वभाव स्थायी रूप से विशेष रोगों से शरीर की रक्षा करता रहता है। यह ठीक पता नहीं चला है कि इस अभ्यास में क्या क्रिया होती है अथवा इस का रहस्य क्या है। इतना तो मालूम है कि रोगाणुओं को मारने के लिये शरीर प्रतिविष बनाता है। परन्तु यह प्रतिविष बनाता है देर में, और चढ़ाई करनेवाले रोगाणु अपना काम आन-की-आन में पूरा कर लेते हैं। वैज्ञानिकों ने इस पर यह विचार किया है कि क्या यह प्रतिविष पहले से शरीर के भीतर नहीं बन सकता, अथवा बाहर ही बनाकर आवश्यकता पड़ने पर काम में नहीं लाया जा सकता। शरीर के भीतर प्रतिविष बनाने की विधि तो हमारे देश में शीतला के टीका के रूप में अनादिकाल से बरती जाती रही है। शीतला के विस्फोटक से मवाद लेकर टीका लगाते थे। डाक्टर जेनर ने गोस्तन से मवाद लेकर टीका लगाने की विधि तो कोई सवा सौ बरस से ऊपर हुए निकाली है। प्लेग आदि के टीके हमारी पुरानी विधि के उदाहरण हैं। आंत्रज्वार से रक्षा के लिये गर्मी से मारे हुए रोगाणुओं से ही टीका लगाते हैं। इस तरह विष की परिमित मात्रा शरीर में पहुँचायी जाती है, क्योंकि विष के बढ़ानेवाले रोगाणु तो मारे गये होते हैं। इस विधि से कुछ वर्षों के लिये ही रक्षा होती है। शरीर से बाहर प्रयोगशाला में भी प्रतिविषों के निर्म्माण की चेष्टा होती परंतु लाचारी यह है कि जो प्रतिविष शरीर के भीतर बनते हैं उन की रासायनिक रचना अभी तक समझ में नहीं आयी है। इसीलिये अभी तक यही उद्योग हुआ है कि विष जानवरों के शरीर में ही पहुँचाकर प्रतिविष बनाये जायँ और उन से लेकर सुई-पिचकारी द्वारा मनुष्य के शरीर में पहुँचाये जायँ। अभी तक जितने प्रतिविष इस तरह बने हैं उन में सब से अच्छा उदाहरण बलयरोग का प्रतिविष है। यह रोगी को किसी तरह की हानि नहीं पहुँचाता और रोगाणुओं को मारता भी है। कई ऐसे प्रतिविष भी हैं जो रोगाणु और उन के विष दोनों के मारक होते हैं। निदान अनेक रोगों को सह जाने के लिये स्वाभाविक और कृत्रिम दोनों तरह के उपाय मनुष्य जानता है। वह बराबर और सभी रोगों को सह सकने के उपायों की खोज में रहता है। जब संसार में रोगाणुओं को और मनुष्यों को दोनों को रहना ही है तब सहिष्णुता के सिवा आत्मरक्षा का और कोई समुचित उपाय हो भी नहीं सकता।

८—बुढ़ापे से छुटकारा

हम अन्यत्र प्रणाली-विहीन ग्रंथियों की चर्चा कर आये हैं। यह ग्रंथियां हारमोन नाम के सूक्ष्म पदार्थों की रचना करके सीधे रक्त में उँडेलती रहती हैं। इन में से अनेक हारमोन ऐसे भी हैं जिन का शरीर की बाढ़ पर, उस की चेष्टा की गतिविधि पर और उस के अंग-अंग की पारस्परिक सहकारिता पर, बड़े महत्त्व का प्रभाव पड़ता है। इन ग्रंथियों में से कोई अगर अपने काम में शिथिलता करे या रुकावट डाल दे तो बड़े कष्ट की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। सारे शरीर की रासायनिक प्रक्रिया गड़बड़ा जाती है। स्वास्थ्य चौपट हो जाता है। कभी-कभी जानवरों की ग्रंथियों से बने हारमोनों के व्यवहार से इस तरह के उपद्रव की शांति हो जाती है। ग्रंथियों की क्रिया में गड़बड़ होने से भी इस तरह के अनेक रोग हो जाते हैं। चुल्लिग्रंथि जो कौवे के पास होती है एक तरह से जीवन की कुञ्जी कहला सकती है। इस में कमी हो तो शरीर की आग धीमी हो जाती है और ऐसा रोग हो जाता है जिस से विजातीय द्रव्यों से विविध अंग बेढंगी रीति से फूल आते हैं और शारीरिक और मानसिक सारी क्रियाएं शिथिल पड़ जाती हैं। यदि इस में बेशी हो तो भूख के बढ़े हुए होने पर भी शरीर-क्षय होता जाता है, नाड़ी का वेग बढ़ा रहता है और वातविकार बढ़ा हुआ रहता है। चुल्लिग्रंथि की कमी और बेशी दोनों से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और बुढ़ापा जल्दी आ जाता है। जननेन्द्रियों का ही भाग है अन्तराल-तन्तु। यह भी ग्रन्थि की ही तरह काम करता है और एक प्रकार का स्राव बनाता है जो स्त्रियों में स्त्री के और पुरुषों में पुरुष के अनुकूल सभी विशिष्ट अंगों की बाढ़ पर अपना प्रभाव डालता है, मस्तिष्क को उत्तेजना देता है, मन को उभारता है और दाम्पत्य भाव को चेष्टित करता है। वीना के एक वैज्ञानिक स्टैनाख ने कुछ बूढ़े होते हुए चूहों की परीक्षा करके देखा है कि अंतराल-तंतु पर शल्य क्रिया करके उसे उत्तेजित करने से अथवा उन के शरीर में जवान चूहों की जननेन्द्रिय लगा देने से वह फिर से जवान हो गये। उसने यह देखकर शरीर की और प्रणालीहीन ग्रंथियों को उत्तेजित किया। इस तरह क्षीण होता हुआ मस्तिष्क और मुरझायी हुई मानसिक शक्तियां और सारा शरीर फिर से जवानी के लक्षण दिखाने लगे। इतना ही नहीं। चूहों की आयु सैकड़ा पीछे चालीस के लगभग बढ़ गयी। अभी हाल में एक वैज्ञानिक ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि आल्फा बीटा और गामा (अ, ब और ग) किरणों के द्वारा छीजते हुए परमाणुओं को फिर से नया किया जा सकता है और इस प्रकार बुढ़ापा और मृत्यु को बहुत काल तक टाल दिया जा सकता है। इस तरह के और भी उद्योग हो रहे हैं। इन प्रयोगों की अभी पर्य्याप्त परीक्षा नहीं हुई है। जब तक बहुत काल तक बहुत से मनुष्यों पर इस तरह की परीक्षाएं न हो जायँ तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य बुढ़ापे पर विजय पा सका है। परन्तु संयमी लोग विशेषतया जो योग-साधन में सफल समझे गये हैं अपनी जवानी और जीवन दोनों को बहुत काल तक सुरक्षित रखने में समर्थ देखे गये हैं। यह कहना कठिन है कि कौन से विशेष साधन में यह क्षमता है. परन्तु संभव है कि संयमी जीवन ही इन ग्रंथियों को बहुत काल तक कार्य्यक्षम रखने में समर्थ हो। यही स्वाभाविक भी है।

९--वातसंस्थान का स्वास्थ्य

मनुष्य का शारीरिक बल अक्षुण्ण रहना ही स्वास्थ्य का लक्षण नहीं है। उस बल का स्वस्थ मन के आदेश से उपयुक्त रीति पर काम करते रहना स्वास्थ्य के लक्षणों के अन्तर्गत है। शरीर में अपरिमित बल मौजूद हो परन्तु नाड़ीमंडल में कुछ ऐसा गड़-बड़ पड़ गया हो कि सहकारिता न हो सके तो कोई काम न हो सकेगा। शराबी के पाँव इसलिये लड़-खड़ाते हैं कि उस के पांवों के नाड़ीमंडल में सहकारिता कुछ ही घट गयी है। मांसपेशियों का का हिलना-डोलना भी नड़ीमंडल पर निर्भर है। सच पूछो तो वास्तविक बल तो नाड़ियों में ही है। यदि केवल शरीर भर की नाड़ी का ही ढांचा हो और उसे किसी प्रकार भोजन और ओषजन दिया जा सके तो उस के मनुष्य प्राणी हो जाने में कोई कसर नहीं रह जाती। तात्पर्य्य यह कि नाड़ीमंडल के सिवा मानव शरीर का शेष ढांचा केवल अन्न और प्राण-वायु को उस में पहुंचाने के लिये है। कुछ अंश सम्पूर्ण ढांचे की रक्षा के लिये भी है। अतः स्वस्थ शरीर में स्वस्थ नाड़ी-संस्थान का होना अनिवार्य्य है। परन्तु नाड़ी-संस्थान तभी स्वस्थ रह सकता है जब शरीर स्वस्थ हो। नाड़ीमंडल का इस तरह शरीर के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। इतनी बात अवश्य है कि शरीर को पोषण चाहे न भी मिले तब भी अन्त तक नाड़ीमंडल जवाब नहीं देता। शरीर के रोगी होने का प्रभाव नाड़ीमंडल पर अन्तिम दशा में ही पड़ता है। तभी बेसुधी और बकझक की नौबत आती है। मकस्वीनी और जितेन्द्रनाथ-दास ने अन्न छोड़कर शरीर छोड़ा परन्तु अंत तक इन दोनों के होशहवास बिलकुल दुरुस्त रहे, क्योंकि इनके शरीर नीरोग थे, नाड़ीमंडल वा वातसंस्थान क्यों रोगी होता।

वातसंस्थान का प्रधान केन्द्र मस्तिष्क है और मस्तिष्क का स्वास्थ्य केवल अन्न जल और वायु पर निर्भर नहीं है। उस का स्वास्थ्य बहुत कुछ शिक्षा पर भी निर्भर है। सद्विचार भी उस की स्वस्थता के लिये आवश्यक हैं। किसी पुस्तक की एक पंक्ति उसे कई दिनों तक उलझाये रख सकती है। तार-समाचार के चार शब्दों से हजारों कलारी ताप और बल शरीर से निकलकर काम करने लगते हैं। उस की सहयोग-शक्ति, निर्देश-शक्ति, मौलिकता, आमोद-प्रमोद की शक्ति और दूसरों को सुखी करने की क्षमता, शिक्षा के बल से हजार-गुनी बढ़ सकती है। तन की तरह मन को भी व्यायाम चाहिये, आराम चाहिये, उपयुक्त भाव और विचार रूपी भोजन चाहिये।

जब थकान का ख्याल नहीं किया जाता और शरीर काम में लगातार जुता रहता है अथवा जब नाड़ीमंडल निर्बल होता है जिस से बाहरी उत्तेजना का उत्तर उस की नाड़ियां सहज में और उपयुक्त रीति पर नहीं देतीं तब वातसंस्थान भी रोगी हो जाता है। इन्हीं अवस्थाओं से मिली-जुली अवस्था योषापस्मार मूर्च्छा उन्माद आदि की है। नाड़ीमंडल जन्म से जैसा होता है उसी के अनुसार मनुष्य को वातजनित रोग भी प्रायः हुआ करते हैं। तो भी संकल्प-शक्ति के अभ्यास से, उस की ठीक शिक्षा से, और स्वास्थ्य के नियमों के पालन से नाड़ीमंडल सुधर सकता है।

रोग और बुढ़ापा नाड़ीमंडल के प्रधान दोष हैं। यदि नाड़ीमंडल रोग और बुढ़ापे से बचा रहे तो मनुष्य न तो रोगी हो न बूढ़ा। यह दोनों बातें प्राप्त करने में मनोविज्ञान की अभिनव रीतियां लगी हुई हैं जिन का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है।

१०—सर्वतोभद्र विकास

मनुष्य का शरीर दार्शनिक दृष्टि से पांच भूत, पांच ज्ञानेंद्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार यह चार भीतरी इंद्रियाँ, और जीवात्मा, इन बीस तत्वों का बना हुआ है। शरीर विज्ञान, व्यवच्छेद, मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण और परान्वेषण द्वारा मनुष्य ने इन सब तत्वों का अध्ययन किया है और योगसाधन द्वारा इन को अपने वश में किया है। जिन दुर्गम स्थानों में कर्म्मेंद्रियों की पहुंच न थी, जिन कर्म्मों के करने में उन की क्षमता न थी, जो साधारणतया असंभव प्रतीत होते हैं, उन्हें संभव करने के लिये उसने यंत्र-विद्या के बल से नाना प्रकार के यंत्र बनाये और शारीरिक शक्तियों के बदले प्रकृति के शक्ति-समुद्र से शक्ति ले लेकर उन्हें मनचाही रीति पर चलाया और चला रहा है। इस में उसने भौतिक विज्ञान, यंत्र-विज्ञान रसायन-विज्ञान, गणित-विज्ञान, आदि से काम लिया। इन विज्ञानों का उसने सैद्धांतिक और व्यावहारिक परिशीलन किया। ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति बढ़ाने और ज्ञान के विकास के लिये उसने अनेक उपयुक्त यंत्र और उपकरण बनाये जिस में उस ने फिर उन्हीं विज्ञानों की जानकारी से काम लिया और उन्हीं के सहारे उन्हीं की जानकारी का अधिकाधिक विकास किया। उसने भौतिक और रसायन विज्ञानों के द्वारा पांचों महाभूतों का भी पूरा परिशीलन किया, और व्यावहारिक विज्ञान में उनके गुणों की जानकारी के बल से एक तरह से पांचों महाभूतों को अपने वशीभूत कर लिया है। उस ने अन्तःकरण के परिशीलन से ही मनोविज्ञान और मनोविश्लेषण पर विचार किये और इन दोनों विज्ञानों का विकास किया। उसने परान्वेषण द्वारा मरणोत्तर अवस्था का पता लगाया और मनस्तत्त्व की भीतरी तहों तक गोता लगा कर उसने खोज की, उसने समुद्र की तह में तत्त्व की तलाश की, आकाश में उड़कर अनन्त की अजेय और अगम सीमाओं को पार-करने की कोशिश की, भूगर्भ का पता लगाया, अपने ब्रह्मांड का अनुशीलन किया और अनन्त विश्वों के दर्शन किये। देश काल और वस्तु को उस ने अपने हाथों में लेकर मानों हिला-डुलाकर उलट-पलटकर देखा। उसकी जांच अभी पूरी नहीं हुई। बल्कि सच पूछो तो अभी शुरू हुई है। प्रकृति के रहस्य की तहें अब उस के सामने खुलनी शुरू हुई हैं। प्रकृति के तत्व कितनी गहराई रखते हैं, उनका कितना विस्तार है, यह जानना तो अभी दूर की बात है। अभी तो उसे अणुवीक्षण-शक्ति को इतना बढ़ाना है कि वह सूक्ष्म विद्युत्कणों की भी धज्जियां उड़ा सके और टुकड़ों को देख सके, उसे दूरवीक्षण शक्ति को इतना बढ़ाना है कि वह विश्वों का दर्शन करने की पूरी क्षमता प्राप्त कर सके, उसे हवा और बिना हवा के उड़ने की शक्ति यहां तक बढ़ानी है कि वह सहज में अपने ब्रह्मांड के भीतर जिस ग्रह में चाहे जाकर सैर कर सके। उस को ऐसे साधन उपजाने हैं जिनसे उसे

हमीभूत उज्जन का आत्यन्तिक शीत और सूर्य्य का आत्यन्तिक ताप असमर्थ न कर सके। उसे भूगर्भ के अन्तराल में उसके केन्द्र में घुसकर देखना है कि वहां क्या है। निदान, उसे अणोरणीयान् महतोमहीयान् को हाथ में के आंवले की तरह अच्छी तरह परीक्षा की कसौटी पर कसना है। अभी तो वह कैलाश, गौरीशंकर, कंचनगंगा आदि शिखरों के ऊपर चढ़ने, मेरुप्रदेश को देखने, समुद्र के भीतर की सैर करने में लगा है। चन्द्रमा की सैर के लिये राकेट बना रहा है। आगे चलकर उसकी सर्वज्ञता के हौसले कहां तक पूरे होंगे, यह देखना है। कौन जाने कोई ईर्षालु परमेश्वर ज्ञान के वृक्ष के किसी फल के खाने पर उस से चिढ़ जाय और उसे संसार की इस मनोरम वाटिका से, जिस में उस ने सारे भूगोल को समेटकर अपनी आंखों और कानों के पास कर लिया है, निकाल बाहर कर दे, गिरा दे, एकदम निर्मूल कर दे। बाबा आदम के पतन की इस कहानी को याद कर के ही शायद उसके दार्श-निक भाई उस परमात्मा की खोज में भी लगे और अद्वैत वेदान्तवादी ने तो यही पता लगाया कि यह जगत् जिस के तत्वों की खोज में विज्ञान हलाकान हो रहा है मिथ्या है, मृगमरीचिका है, तत्व-हीन है। एक ब्रह्म ही सत्य है और खोजनेवाला चेतन आत्मसत्ता भी उस ब्रह्म की सत्ता से अलग नहीं है। यदि वेदान्तों का यह कथन सत्य है तो सचमुच ज्ञान के वृक्ष का फल खाकर मनुष्य को नशा हो गया है और इस नशे में उसका ऐसा पतन हुआ है कि वह प्रकृति की गहराई में डूब रहा है। वह मायाजाल में ऐसा उलझ गया है कि अपने आपे की भी उसे सुधि नहीं रही है। वह परमात्मा तो क्या आत्मा की ओर भी भूलकर निगाह नहीं डालता। उसे प्रकृति की मोहिनी छवि ने, उस के मुग्धकारी नाच ने, उसके मायावी हावभाव ने अपना पालतू मेंढा बना लिया है। उसे प्रकृति के सिवा कुछ नहीं सूझता। वह उसी के पीछे मतवाला है, हैरान है। उस से परमात्मा की चर्चा चलाओ भी तो वह कुढ़ जाता है। इस खयाल से भी घबराता है। वह प्रकृति के रहस्यों पर ऐसा रीझा हुआ है कि परमात्मा की सत्ता से भी इनकार करता है, क्योंकि उस की इतनी गहरी और विस्तृत तलाश में परमात्मा का तो कहीं पता नहीं लगा। परन्तु इस में उस का कोई दोष नहीं, क्योंकि आरंभ से ही उस ने प्रकृति को ही जानने की कोशिश की, पुरुष का ज्ञान उस का उद्देश्य भी न था। उस की सर्वतोभद्र विजय है, वह जिधर जाता है उधर ही विजयी होता है। वह जिस वस्तु पर अंगुली रखता है, सोने की हो जाती है, जिधर निगाह डालता है उधर ही सत्यं शिवं सुन्दरम् देखता है। क्या अजब है कि उस के ही रूप में पुरुष स्वयं अपनी अनूढ़ा नायिका प्रकृति की तलाश में निकला हो और प्रकृति और पुरुष के बीच यह आंखमिचौनी का खेल हो जिस में प्रकृति, और असंख्य रूपों में होकर परमपुरुष, खेल रहे हों और इस खेल का आनन्द इस मायावी जगत् के हम सभी प्राणी उठा रहे हों। अथवा यह अखिल विश्व उसी कन्हैया की अखंड रासलीला हो जो सब को नचा रहा है और सब के बीच मौजूद होते हुए भी सब की आंखों से ओझल है।

तीसवां अध्याय

विजय के साधन और साधक

१—विज्ञान की परिभाषा

मनुष्य की सर्वतोभद्र विजय जिन साधनों से हुई है उन पर भी कुछ निगाह डालने की जरूरत है। उस ने जिस बुद्धि और विवेक से काम लेकर, शक्ति, देश, काल और अपने शरीर पर भी विजय पायी है उस का विकास जीवन के आदिकाल से होता आया है। विकास के प्रकरण में सहज और अर्जित बुद्धि पर विचार करते हुए हम ने देखा है कि कि किस प्रकार मानव शरीर में अर्जित बुद्धि ने प्रत्यगात्मा की प्रेरणा के रूप में विकास पाया है। बाहर के परीक्षण-निरीक्षण आदि से अर्जित बुद्धि ने विचार और विवेक का जैसे विकास किया है उसी तरह नैसर्गिक बुद्धि ने श्रद्धा, विश्वास और सद्प्रवृत्ति का विकास किया है। विचार और विवेक ने परीक्षण और निरीक्षण ही अपनी कसौटी बनायी है। परीक्षण और निरीक्षण से ही तर्क-बुद्धि की उत्पत्ति हुई। तर्क के विकास की भी दो विधियां बनीं। एक आदर्शकल्पना की और दूसरी वास्तविकता की। तर्कशैली दोनों का आश्रय लेती रही, कभी एक विधि की प्रबलता होती थी कभी दूसरी की। आदर्श कल्पनाओं ने दर्शनशास्त्रों को जन्म दिया। वास्तविकता की प्रबलता ने विज्ञान को पैदा किया। आदर्शकल्पनाओं का उड़ान आत्यन्तिक जड़वाद से उठकर अद्वैतवेदान्त के "सर्वखल्विदं ब्रह्म" "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" तक पहुंचा और ब्रह्म से जगत् का अभेद दिखाया। वास्तविकता के मार्ग से गोचर और अगोचर सृष्टि का परिशीलन हुआ। साधारण जड़ पदार्थों के रासायनिक और भौतिक गुणों का, प्रकृति की शक्तियों और उसके विविध रूपों का, अनुशीलन हुआ। धीरे-धीरे सूक्ष्म-से सूक्ष्म विद्युत्कणों से लेकर बड़े-बड़े ब्रह्मांडों और विश्वों का अध्ययन हुआ। आदि-जीवों से लेकर आजकल की मानव जाति तक का पूरा इतिहास पढ़ा गया। फिर भी वास्तविकता के मार्ग से प्रकृति की पोथी समाप्त नहीं हुई है। अभी तो उस के थोड़े से ही पन्ने उलटे गये हैं। उन्हीं का समझना कठिन हो रहा है। दोनों मार्गों से मनुष्य के ज्ञान

और विज्ञान का जो कुछ क्रमविकास हुआ है उस का श्रेय है तर्क को और गणित विद्या को। तर्क विद्या ने विचार के विकास की नींव डाली है और गणित ने उसी पर दृढ़ जोड़ाई करके कुरसी तक नींव को पहुँचाया है। मनुष्य ने ज्ञान-विज्ञान दोनों में जो कुछ विकास का आरंभ किया है उस का सबसे प्राचीन प्रमाण भारत में ही

चित्र १८७—श्री रामानुजम् [सं० १९४४-१९७७ वि०]
गणित-विज्ञान का एक प्रतिभाशाली विद्वान् जो इस विषय के लिये रायल सोसायटी का पहला भारतीय फेलो हुआ।

मिलता है। वेदों से अधिक पुरानी प्रामाणिक पोथी संसार में नहीं है। इन के उपवेद और अंग और उपांग भी स्वासे पुराने हैं। इन में ज्ञान-विज्ञान का प्रचुर साहित्य है। भाषा-विज्ञान, शब्द विज्ञान, ज्यौतिष, तीनों का आरंभ वेद के षडंगों में हुआ है। इन में सब से पहले तर्कशास्त्र और गणितशास्त्र का उपयोग देख पड़ता है। दर्शनों का चाहे जब से आरंभ माना जाय परन्तु उन में से सांख्य-शास्त्र का प्राचीनतम होना निर्विवाद है। सांख्य-शास्त्र विज्ञान का प्राथमिक दर्शन है जिस में तर्कशास्त्र और गणित विद्या दोनों का उपयोग हुआ है। भौतिक विज्ञान की नींव वैशेषिक

शास्त्र में पायी जाती है। इस के पीछे के ज्यौतिष शास्त्र की नीव ही गणित-विद्या है और दोनों का विकास भारत में बराबर प्राचीन काल से चला आ रहा है। यह तो मानना पड़ेगा कि इधर पिछले दो तीन सौ बरसों के भीतर गणित का विकास यहां कम और पच्छाहीं देशों में अधिक हुआ, परन्तु आज भी उस कमी को पूरी करनेवाले विद्वान् मौजूद हैं। उस के सिवा भौतिक, रसायन, जीव-विज्ञान आदि के खोजी विद्वान् भी हमारे देश में बढ़ रहे हैं। इस समय संसार के सभी सभ्य देशों में विज्ञान का अन्वेषण जोरों से हो रहा है। दार्शनिक भी शिथिल नहीं हैं परन्तु दर्शन के मुकाबले विज्ञान का विकास अधिक वेग से हो रहा है।

आदर्श कल्पना और वास्तविकता दोनो विधियों का लक्ष्य है वास्तविक सत्य का ज्ञान। इसलिये जब दोनों रास्ते एक ही मंजिल पर पहुँचाते हैं तब विधि चाहे जो हो परिणाम एक ही हुआ। इसीलिए हम यदि दर्शनों के लिये भी "विज्ञान" शब्द का प्रयोग करें तो अनुचित नहीं है। अनुभवजन्य ज्ञान का ही नाम विज्ञान है तो योगदर्शन अनुभव का ही विषय है इसलिये योग भी विज्ञान ही है। आत्मा का अनुभव वेदान्त का विषय है अतः एक तरह से वह भी विज्ञान है, यद्यपि उस में अनुभव साधन नहीं है, साध्य है। प्रकृत इतिहास किसी समय की सत्य घटनाओं का वर्णन करता है अतः वह भी विज्ञान है।

परन्तु विज्ञान के भावों, उस की रीतियों और उस के विस्तार में भी पिछले विकास के कारण विशेषताएँ आ गयी हैं जो उल्लेख्य हैं। विज्ञान का लक्ष्य यही है कि जो कुछ हो या हो रहा हो उस का यथार्थ वर्णन किया जाय। पृथ्वी आदि पिंड घूम रहे हैं और किस नियम से घूम रहे हैं, इतना जानना विज्ञान का उद्देश्य है। परन्तु क्यों घूम रहे हैं इस बात का जानना न तो उसका ध्येय है न वह बता सकता है। उस का यह भी दावा नहीं है कि वह 'क्यों" का उत्तर दे सकेगा अथवा वह जिस दृष्टि से परिशीलन कर रहा है वही ठीक विधि है और दूसरों की विधियां अशुद्ध हैं। वह फुलवारी की शोभा कवि की दृष्टि से नहीं देखता और न माली की दृष्टि से। उस की दृष्टि ही अलग है। वह यदि उद्भिज्ज विज्ञानी है तो विशेष पौधों की जीवनी, उनके सम्बन्ध के गुण-धर्म्म, सभी पौधों के लिये समान स्वाभाविक नियम आदि की खोज की ही दृष्टि से वह फुलवारी को देखता है। परन्तु उसे इस काम में बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है जिस में वह एक ओर तो कोरी कल्पना के कुएँ से बचे और दूसरी ओर शुद्ध जड़वाद के कारण अन्य सत्यों और तथ्यों की संगति के अज्ञान की खाईं में न पड़े। वह जितनी परीक्षाएँ करता है उन की ठीकठीक नापजोख करता है और चाहे कितना ही समय और श्रम लगे वह भरसक एक पद्मांश की भी भूल अपने काम में नहीं होने देता। जहां गणित केवल कागज के ऊपर अत्यन्त शुद्धता की रक्षा करता है वहां विज्ञान का खोजी यंत्रों और नपनों से लगभग उतनी ही शुद्धता से नापता-तोलता है। इस प्रकार सावधानी से निकाले हुए अंकों और मात्राओं को वह ऐसे सुभीते के सामूहिक रूप में वक्रों और रेखाओं द्वारा उपस्थित करता है कि सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं, और जो ही विज्ञानी उसे देखता हैं उसे परिणाम या निष्कर्ष स्पष्ट हो जाता है। फिर अनेक

निष्कर्षों को एकत्र करके उन्हें बारम्बार जांचकर नियम के रूप में स्थापित करना है। एक बार जिस नियम को स्थापित कर चुका उसे भी बारम्बार प्रयोग करके देखना है। वह नियम तभी पक्का समझा जाता है जब हर बार प्रयोग में बिल्कुल ठीक ठीक पाया जाता है।

चित्र १८८—सर सी० वेंकट रामन, जन्म सं० १९४५ वि०
रामन-असर की खोज के लिये जगत्प्रसिद्ध नोबेल-पुरस्कार विजेता।

विज्ञानों में अनेक विभाग हैं। गणित की जांच में ठीक उतरनेवाले जितने विज्ञान हैं उन में कोई सन्देह नहीं होता। भौतिक और रसायन-विज्ञान के नियमों और निष्कर्षों में सन्देह की गुंजाइश नहीं होती। परन्तु जीव-विज्ञान-सम्बन्धी निष्कर्षों में बहुत कुछ संदेह रहता है, कोई नियम बिल्कुल ठीकठीक चुस्त नहीं बैठता, जिन घटनाओं पर जांच निर्भर होती है वह अलग-अलग हो नहीं सकतीं बल्कि ऐसी मिली-जुली होती हैं कि एक निष्कर्ष को अनेक कारणों से उद्भूत माने बिना काम नहीं चलता। इस तरह यह तो स्पष्ट है कि गणिताधार विज्ञानों की अपेक्षा तर्काधार विज्ञान कुछ ढीले-ढाले और अस्पष्ट होंगे, परन्तु फिर भी ऐसा न समझना चाहिये कि सपने पर विचार करनेवाला सभी दशाओं में किसी रासायनिक परीक्षा करनेवाले से कम खोजी होगा, क्योंकि संभव है कि सपनेवाला ठीक-ठीक

परीक्षण और निरीक्षण करता हो जो प्रयोग की कसौटी पर कसे जा सकें। **विज्ञान के अन्तर्गत वह सभी ज्ञान हैं जो दूसरों को बताये जा सकते हैं और जिन की सचाई की परख हो सकती है, जो नियम से परीक्षण और निरीक्षण द्वारा प्राप्त हुए हैं और जिनका स्पष्ट, सुसंगत और शुद्ध नियमन हो सकता है।**

२—विज्ञान के विभाग

संसार में जितने पदार्थ गोचर हैं सब को जड़ और चेतन इन दोनों भागों में बांटा जा सकता है। इनके सम्बन्ध के ज्ञान को भी हम जड़-विज्ञान और चेतन-विज्ञान कह सकते हैं। जड़ पदार्थों में भी दो विभाग हो सकते हैं, एक वस्तु और दूसरा शक्ति। वस्तु के सम्बन्ध का विज्ञान **रसायन** है। शक्ति सम्बन्धी विज्ञान भौतिक है। चेतन सम्बन्धी विज्ञान के हम मोटे-मोटे तीन विभाग करेंगे, **जीव विज्ञान, मनोविज्ञान और समाज विज्ञान**। दोनों जड़ विज्ञान अन्योन्याश्रित हैं परन्तु जीवविज्ञान का अनुशीलन इन के बिना नहीं हो सकता। इसी तरह जीवविज्ञान के बिना मनोविज्ञान और समाजविज्ञान का अनुशी-लन भी दुःसाध्य है। इन पांचों विज्ञानों में से प्रत्येक की शाखाएं और उपशाखाएँ भी हैं। जीवविज्ञान के अन्तर्गत चरविज्ञान और उद्भिज्ज विज्ञान भी हैं। अधिकांश ज्यौतिष शास्त्र भौतिक के और खनिज-विज्ञान रसायन के अन्तर्गत हैं। कई विज्ञान ऐसे हैं जो शुद्ध रूप से इन में से किसी एक की शाखा नहीं समझे जा सकते। जैसे, भूगर्भ, भूगोल और मानव-विज्ञान जो अपने-अपने प्रयोजन से सभी विज्ञानों से सहायता लेते हैं। इनके सिवा कई व्यावहारिक विज्ञान ऐसे हैं जिन में किसी एक विज्ञान का एक अंश या कई विज्ञानों के कुछ-कुछ अंश मिलाकर मनुष्य के किसी कार्य्य-साधन में लगते हैं। जैसे विविध कलाएं, कृषि-विज्ञान, आयुर्वेद, शिल्प-विज्ञान, शिक्षा-विज्ञान इत्यादि।

इन विज्ञानों से नितान्त भिन्न कुछ कल्पना-मूलक विज्ञान भी हैं जिन का सम्बन्ध वास्तविकता से कम और आदर्श से ही मुख्यतः है। तर्कशास्त्र, गणित-विज्ञान, स्थित्यंक-विज्ञान, और रेखांकन आदि ऐसे ही विज्ञान हैं। यह विचार-विमर्श में काम आते हैं और सभी विज्ञानों के मूल हैं।

समाज-विज्ञान के अन्तर्गत **जाति-विज्ञान** एक विशेष शाखा है और उस के कई अंगो से मिला-जुला **इतिहास-विज्ञान** है। समाज के लिये उसी से सम्बद्ध व्यावहारिक विज्ञान **अर्थ-शास्त्र** है। इसी तरह मनोविज्ञान की एक विशेष शाखा **भाव-विज्ञान**, और कई विज्ञानों से मिला-जुला, तो भी इस का विशेष अंग, **मानव-विज्ञान** भी है। इस की व्यावहारिक शाखा **शिक्षा-विज्ञान** है। जीव-विज्ञान की कई शाखाओं से मिला-जुला **चराचर का स्वाभाविक इतिहास** है और व्यावहारिक विज्ञान सभी तरह के **आयुर्वेद** हैं। रसायन-विज्ञान का व्यावहारिक अंग **धातु-शोधन** और **कृषि विद्या** है जो दोनों-के-दोनों बड़े भारी शास्त्र बन गये हैं।

३—साधन की कठिनाइयां और साधक

विज्ञान के परिशीलन में कुछ अनिवार्य्य कठिनाइयां भी हैं। पहली तो यह कि लाचार होकर अनेक कारणों से अलगाये हुए काल्पनिक कार्य्य का अध्ययन करना पड़ता है, क्योंकि बहुत से कारणों के मिलने से ठीक निष्कर्ष निकालना कभी-कभी असंभव हो जाता है। अतः विज्ञान लाचार होकर काल्पनिक अवस्थाओं का अनुशीलन करता है। दूसरी यह कि बहुधा ऐसे विचारों या शब्दों को मानकर चलना पड़ता है जो स्वतः सिद्ध नहीं हैं और अगर उन्हें मानकर न चलें तो एक पग आगे बढ़ना कठिन होता है। यद्यपि आगे चलकर वही स्वतः सिद्ध माने हुए तथ्य सिद्ध कर लिये जाते हैं, तो भी अनेक अज्ञात बातें रह ही जाती हैं। तीसरी कठिनाई यह है कि कभी-कभी कार्य्य-कारण के सम्बन्ध के गड़बड़ को भी सहना पड़ता है। कारणों की व्याख्या बहुधा अंशतः ही ठीक हुआ करती है। चौथे जिस मूल से वैज्ञानिक आरंभ करता है वह स्वयं बहुधा अज्ञात अथवा अज्ञेय रहता है परन्तु उस के माने बिना गति ही नहीं है। इस तरह की कई कठिनाइयों के होते हुए भी वैज्ञानिक की प्रगति रुकने नहीं पायी है। वह विकास के मार्ग में पहले तो धीरे-धीरे चला, फिर छलांगें भरीं, और अब तो सरपट दौड़ता दीख रहा है।

साधकों ने बुद्धि और विवेक से भरपूर काम लिया। करणों और उपकरणों से बाहरी और भीतरी जगत् की पूरी जांच की और करते जा रहे हैं। उन्होंने उपकरणों की विचित्र रीति से रचना की और अब तक ज्ञान के साधन के सुभीते के लिये उपकरण-पर-उपकरण बनाते जा रहे हैं। ऊपर जो मोटे-मोटे विभाग बताये गये हैं उन के सिवा अनेक शाखाएं और उपशाखाएं बनायी हैं जिन का विस्तार यहां करना अनावश्यक है। उन्होंने अपने उपकरणों से जांच-पर-जांच करके अनेक निष्कर्ष निकाले और उन्हें उन्हीं के विभागों में यथोचित स्थानों में बांटा। उन्होंने बड़े परिश्रम से अर्जित ज्ञान का उचित वर्गीकरण किया और ठीक-ठीक रूप दिया। प्रत्येक साधक जी-तोड़ परिश्रम करता गया और जानकारी के खज़ाने में अपना-अपना अर्जित धन डालता गया। अन्त में आज हम देखते हैं कि कितने विज्ञान बन गये और कितने नये विज्ञानों की नींव पड़ गयी है। आज मनुष्य ने अपने को अपनी परिस्थिति का जो स्वामी बना रखा है आज जो वह परिस्थितियों पर विजयी की तरह काबू पाये हुए है, वह इन्हीं साधकों की बदौलत है जिन्होंने विविध विज्ञानों के साधनों से और मूलतः अपनी बुद्धि और विवेक के बल से परिस्थिति को मुट्ठी में कर लिया, अपनी दासी बना ली।

४—कुछ साधकों की चर्चा

मनुष्य की सर्वतोमुखी विजय में वास्तविक काम तो अनेक ऐसे सिपाहियों ने किये हैं जिन का किसी को नामोनिशान भी नहीं मालूम है। अनेक महत्व के मोरचे बड़े-बड़े सेनानियों ने सर किये हैं परन्तु उन की संख्या भी हजारों है। उन की जीवनियों के

लिये तो अलग हजारों पृष्ठ चाहियें। स्थान के आत्यंतिक संकोच के कारण अकारादि क्रम से यहां कुछ के ही नाम दिये जाते हैं।

अरीनिउस—स्वान्ते अरीनिउस का जन्म सं० १६१६ के लगभग हुआ। स्कन्दनवीय थे। अपने देश की राजधानी स्टाकहोल्म में भौतिक शास्त्र के आचार्य थे। "विश्व-भारसाम्य और अकर्म्मण्य तमोगुण की ओर प्रवृत्त है" इस प्रचलित मत का आपने विरोध किया है। अयन-वाद द्वारा आपने सिद्ध किया है कि "सृष्टि की घड़ी चलते-चलते रुक नहीं सकती क्योंकि इसके रुकने की क्रिया भी साथ-ही-साथ चलती रहती है।" सं० १६८४ में इन की मृत्यु हो गयी। चित्र पृष्ठ २५२ पर देखिये।

अकमींदिस—कलिसंवत् २८१४ में जन्म और २८८६ में एक मूर्ख सैनिक के हाथों वीर-गति। शत्रुसेना से घिरे अपने नगर सैराक्यूज़ की अपनी विद्या, कौशल और कला से मृत्यु से पूर्व तीन बरस से रक्षा करता आया था। भौतिक, यंत्र और गणित विज्ञान के उसने अनेक आविष्कार किये। जल में तौलकर खोटे-खरे सोने की परखने की विधि उसी ने निकाली थी।

आर्यभट—आर्यभटीय नामक ग्रंथ के रचयिता प्रथम आर्यभट ज्यौतिष के बड़े भारी आचार्य थे। इन्होंने उक्त ग्रंथ में अपना जन्मकाल इस प्रकार दिया है।

षष्ट्यब्दानां षष्टिर्यदा व्यतीतास्त्रयश्च युगपादाः।
त्र्यधिका विंशतिरब्दास्तदेह मम जन्मनोऽतीताः॥
कालक्रिया पाद, १०

अपने जन्मस्थान के सम्बन्ध में यह लिखते हैं—

आर्यभटस्त्विह निगदति कुसुमपुरेऽभ्युचितं ज्ञानम्॥
गणितपाद १४, उत्तरार्द्ध

कुसुमपुर को लोग पटना कहते हैं।

इन्होंने १२० आर्या छन्दों में ज्यौतिषसिद्धांत और इससे सम्बन्ध रखनेवाले गणित को सूत्ररूप में लिखा है। परंतु इतने में ही कई नवीन बातों की चर्चा भी की है जिसे पीछे के ज्यौतिषियों ने शास्त्र विरुद्ध समझकर उन की निंदा की है। इनमें से दो-तीन बातें महत्त्व की हैं। पहली तो यह कि इन्होंने सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग को समान माना है और युगसंधियों की कोई चर्चा नहीं है। इन के अनुसार १ कल्प में १४ मन्वंतर और १ मन्वंतर में ७२ महायुग (चतुर्युग) तथा १ चतुर्युग में सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग समान हैं।

दूसरी बात यह लिखी है कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है जिस से नक्षत्र-चक्र उलटे घूमते हुए देख पड़ते हैं। यह समझाने के लिए इन्होंने चलती हुई नाव का उदाहरण दिया है।

अनुलोम गतिर्नौस्थः पश्यत्यचलं विलोमगं यद्वत् ।
अचलानि भानि तद्वत् समपश्चिमगानि लङ्कायाम् ॥
गोलपाद, ९ ॥

संख्या लिखने की रीति भी इन की विचित्र है पर विस्तार भय से नहीं दी जाती। किसी वृत्त की परिधि और व्यास का जो सम्बन्ध होता है उसे इन्होंने इस प्रकार प्रकट किया है—

चतुरधिकंशतमष्ट गुणं द्वाषष्टिस्तथा सहस्राणां ।
अयुतद्वय विष्कंभ स्यासन्नो वृत्तपरिणाह ॥
गणितपाद, १० ॥

जिस से परिधि और व्यास का सम्बन्ध ६२,८३२ : २०,००० आता है जो ४ दशमलव स्थान तक शुद्ध है।

—महावीरप्रसाद श्रीवास्तव्य

एडिसन—[सं० १९०४—१९८८ वि०]—टामस अलवा एडिसन अमेरिका के प्रसिद्ध वैज्ञानिक आविष्कारक थे। ओहिओ राज्य के मिलान नगर में संवत् १९०४ में पैदा हुए। बारह बरस की अवस्था में गाड़ी में अखबार बेचा करते थे। उन्होंने मालूम किया कि भिन्न तीव्रता की दो धाराएं एक साथ एक ही समय एक ही तार में चल सकती हैं। इस खोज के आधार पर उन्होंने तार भेजने की दोहरी चौहरी और छहरी पद्धति बनायी। कम्पनी कागज के बाजार-भाव के समाचार को तारद्वारा छपे रूप में प्रचार करने की विधि के आविष्कार पर सवा लाख रुपये इनाम में मिले। यह उन का पहला आविष्कार था जिस ने धन का द्वार खोल दिया। फिर तो उन्होंने फोनोग्राफ आदि सैकड़ों आविष्कार कर डाले हाल तक इस बुढ़ापे में भी असंख्य आविष्कार करते आये। सं० १९८८ में उन्होंने अपने कामों से अवकाश ग्रहण किया। इसी साल उनका देहान्त भी हो गया।

ऐन्स्टैन—अलबर्ट ऐन्स्टैन का जन्म सं० १९३६ में हुआ। यह जर्मन यहूदी हैं। इनकी शिक्षा स्वीरिख में हुई। अठारह वर्ष की अवस्था में इन्होंने अपने प्रसिद्ध सापेक्षवाद पर विचार करना आरंभ किया। इनका विशेष सापेक्षवाद सं० १९६२ में और साधारण सापेक्ष-वाद दो बरस बाद प्रकाशित हुआ। संवत् १९७१ से यह बर्लिन में अपनी खोजों का काम कर रहे थे। गणित विद्या के प्रसिद्ध आचार्य्य हैं। राजनीतिक कारणों से आजकल इंगलिस्तान में रहते हैं।

कुरी– [सं० १९२४–१९९१ वि०] मेरी कुरी के पिता पोल जाति के थे। वारसा में प्रोफेसर थे। यह वारसा में ही सं० १९२४ में पैदा हुईं और पिता की प्रयोगशाला में ही बचपन में खेलीं। बड़ी होने पर फ्रांस की राजधानी पारी में पढ़ने को गयीं। वहीं अपने प्रोफेसर (आचार्य्य) कुरी से विवाह कर लिया। दम्पति ने बेकरेल से युरेनियम के रश्मि-विकीरण का हाल समझा। फिर स्वयं खोज करने लगे। अपनी दरिद्र प्रयोगशाला में

इन्होंने अट्ठाईस मन पिचब्लेंडी से विश्लेषण कर के कई रत्ती रेडियम के लवण निकाल पाये। प्रोफेसर कुरी जब जगद्विख्यात हो गये तभी सं० १९६३ में अकस्मात् उन की मृत्यु हो गयी। इस दुर्घटना के बाद ही देवी कुरी ने पोलोनियम और रेडियम दो धातुएं अलग निकाल लीं। इनकी भी संवत् १९९१ में मृत्यु हो गयी। चित्र पृष्ठ २८० पर देखिये।

केलविन—लार्ड विलियम टामसन केल्विन (वि० सं० १८८१-१९६४) बेलफास्ट के रहनेवाले एक गणिताध्यापक के पुत्र थे। दस बरस के भी नहीं हुए थे जब वाल्टेई बाटरियों के प्रयोग किया करते थे। केम्ब्रिज में शिक्षा पाकर ग्लासगो आये और वहां के विश्वविद्यालय में चौअन वर्ष तक प्राकृतिक विज्ञान के आचार्य्य रहे। सामुद्रिक तार इन्हीं की बदौलत है। इन्होंने अनेक सामुद्रिक यंत्र आविष्कृत किये। भौतिक विज्ञान के सभी अंगों का इन्होंने गंभीर अनुशीलन किया था। इन का चित्र पृ० ६७ पर देखिये।

क्रुक्स— सर विलियम क्रुक्स (वि० सं० १८८९-१९७६) जन्म से लंडनी थे। रसायन पढ़ाते थे और विज्ञान की त्रैमासिक पत्रिका का सम्पादन किया करते थे। इन्हीं ने पहले-पहल विद्युत्कणों का टूटना और उनकी गति का निरीक्षण किया था जिसे उन्होंने पदार्थ की चौथी अवस्था ठहरायी थी। इन की खोज विज्ञान की सभी शाखाओं में बड़े महत्व की हुई। परलोक-विद्या में भी इन के अन्वेषण बड़े महत्व के हैं। चित्र पृष्ठ २६३ पर देखिये।

गणेशप्रसाद—[सं० १९३३-१९९१ वि०]—डाक्टर गणेशप्रसाद का जन्म सं० १९३३ वि० के अगहन मास में एक प्रतिष्ठित श्रीवास्तव्य ब्राह्मण कुल में बलिया में हुआ। सं० १९५१ में म्योर कालिज से सायंस लेकर विश्वविद्यालय में प्रथम श्रेणी में बी० ए० में सर्व-प्रथम हुए। आप प्रयाग के पहले डी० एस-सी होकर सरकारी छात्रवृत्ति से केम्ब्रिज गये। फिर वहां से जर्मनी में अध्ययन किया। सं० १९६२ से अन्त तक बराबर गणित विषय के आचार्य्य रह आये। इधर सर तारकनाथपालित के सायंस इंस्टिट्यूट कलकत्ता में हार्डिंज गणिताचार्य्य थे। आपने बनारस की गणित परिषद् स्थापित की। संसार की बड़ी-बड़ी गणित-परिषदों के सदस्य थे। आप के गणित-विषयक अन्वेषण असंख्य हैं और अन्त समय तक जारी थे। बड़े-बड़े गणित शास्त्रियों ने अपने ग्रन्थों में आप की अनमोल खोजों के प्रमाण आदरपूर्वक और उद्धरण सम्मानपूर्वक दिये हैं। अन्त समय में आप कलकत्ता, और बनारस की गणित परिषदों के तथा प्रयाग की विज्ञान परिषत् के सभापति थे। आपने भारत के प्रायः सभी विश्वविद्यालयों के उच्च गणित के छात्रों को गणित-सम्बन्धी गवेषणाओं की शिक्षा दी और खोज के काम की एक परम्परा स्थापित कर दी। आप के गवेषणात्मक निबन्ध पचास से ऊपर हैं और दस पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं जो संसार के प्रमुख विद्यापीठों में पाठ्य ग्रंथ हैं। आप अँगुलियों पर गिने जानेवाले विश्वविख्यात गणिताचार्य्यों में थे। जीवन अत्यन्त सादा, घोर परिश्रमी, शुद्ध ब्रह्मचर्य्य-पालन के साथ-साथ अखंड संयमी, परन्तु सरल, था। शिक्षा अन्तःस्तल में प्रवेश करनेवाली और धारणा अद्भुत थी। परिशीलन ही व्यसन था। छात्रों को आप का संदेश चार शब्दों का था "अपना लक्ष्य ऊंचा रखो"। भारतीय युवकों की तन-मन-धन से सभा समिति विद्यालय घर जागते सोते सहायता करने का सदा ध्यान रहता था।

इसी ध्यान में मौर २६ फाल्गुन (६ मार्च) संवत् १९६१ वि० को आगरा विश्व-विद्यालय की कौंसिल में अचानक बैठे-बैठे ही बेहोश हो गये। फिर होश में न आये। सात बजे शाम को शरीर छूट गया। आप का चित्र पृष्ठ १५५ पर देखिये।

टामसन—सर जोजफ जान टामसन मंचेस्टर के पास संवत् १९१३ के लगभग पैदा हुए, और हाल में ही केम्ब्रिज विद्यापीठ के केवेंडिश आचार्य्य की गद्दी से अवकाश ग्रहण किया है। यह प्रायौगिक भौतिक विज्ञान पढ़ाते थे। इनकी महत्व की खोज यह है कि डालटन के परमाणु वादवाला परमाणु अखंड नहीं है, प्रत्युत एक-एक परमाणु अनेक विद्युत्कणों का बना होता है, और यह विद्युत्कण प्रकाश के वेग से अपने परमाणु के भीतर चक्कर मारते रहते हैं। इन्होंने मूल पदार्थों की पारमाणविक संख्या निकाली और रासायनिक योगशक्ति की विविधता की व्याख्या की। इन्होंने यह भी दिखाया कि मूल पदार्थ के परमाणु में विद्युत्कणों की अत्यधिकता उन की अस्थिरता का कारण होती है। यह विद्युत्कणवाद के विधाता समझे जाते हैं।

डारविन—(संवत् १९६६–१९३९) इन का जन्म श्रूसबरी में हुआ था। जब आठ बरस के थे तभी प्रकृति के अनुशीलन की इन की सुरुचि का विकास हो चुका था। केम्ब्रिज में पादरी का काम सीखते थे तभी उन्होंने हम्बोल्ट और हर्शेल का अध्ययन किया। यह पाश्चात्य विकासवाद के विधाता थे। इन्होंने यह सिद्ध किया है कि एक सेल-वाले अणु से विकास करते-ही-करते बड़े-बड़े वर्त्तमान प्राणी बने हैं। एक प्रकार के "वानर" से ही मनुष्य का विकास होता आया है। अब उस "वानर" का लोप हो चुका है। चित्र पृ० १६४ पर देखिये।

नोबेल - आलफ्रेड बर्नहार्ड नोबेल (सं० १८९२-१९५३ वि०) स्टाकहोल्म के एक यंत्रशास्त्री के लड़के थे। संयोग से बहुत सा नोषो-मधुरिन बालू में बह गया था। इसी पर प्रयोग करते-करते उन्होंने एक विस्फोटक बनाया जिस का नाम डैनामाइट रक्खा। इस से तथा अन्य विस्फोटकों से शिल्पियों और यंत्रशास्त्रियों ने बड़ा लाभ उठाया और नोबेल को अपार धन मिला। इस धनराशि के सूद से उस ने वार्षिक पारितोषिक रक्खे जो नोबेल पुरस्कार के नाम से प्रसिद्ध है।

न्यूटन—सर आइजक न्यूटन (सं० १६९९-१७८४ वि०) एक किसान के घर लिंकन शहर के वुल्सथार्प गाँव में पैदा हुए। इन्होंने केम्ब्रिज में शिक्षा पायी। चलन-कलन, श्वेत प्रकाश का विश्लेषण, गुरुत्वाकर्षण आदि अनेक बातें खोज निकालीं। गणित और विज्ञान में इस ने नया युग स्थापित कर दिया।

पास्त्यूर—लूई पास्त्यूर (सं० १८७९-१९५२ वि०) फ्रांस के डोल नामक स्थान में पैदा हुए, पारी में शिक्षा पायी और सोरबोन में सं० १९२४ में रसायनाचार्य्य नियुक्त हुए। इन्होंने यह सिद्ध किया कि खमीर उठना रासायनिक क्रिया नहीं है। यह जीवाणुओं के कारण होता है। उस ने उस रोगाणु का पता लगाया जो रेशम के कीड़ों पर परमत्वाद की तरह आक्रमण करता था। इससे फ्रांस को अपरिमित लाभ हुआ। उस ने भांति-भांति की

रोगाणु-निवारक और नाशक ओषधियां निकालीं । संसार रोगाणु सम्बन्धी सैकड़ों खोजों के लिये इनका ऋणी है । चित्र पृ० १७७ पर देखिये ।

फेरेडे—माइकेल फेरेडे (सं० १८४८-१९२४ वि०) । यार्कशहर के एक लोहार के घर पैदा हुए । सर हम्फ़्रे डेवी के यहां बोतल धोने पर नौकर हुए । धीरे-धीरे यह ऐसे कुशल वैज्ञानिक हो गये कि जब सर हम्फ्रे डेवी ने रायल इंस्टिट्यूशन नामक विद्यालय के आचार्यत्व से सं० १८८४ वि० में अवकाश ग्रहण किया तब उन की जगह पर इन की ही नियुक्ति हुई । इस पद पर यह चौअन बरस तक रहे और रसायन, विद्युत् और चुम्बकत्व पर सोलह हजार के लगभग खोजें कीं । कपड़े के कारबार के लिये हरिन् संबंधी उस की खोज सब से अधिक महत्व की थी । उस के व्याख्यान सुबोधता के आदर्श होते थे । यह इंग्लिस्तान का बहुत बड़ा खोजी विद्वान् हो गया है । चित्र पृ० ४४३ पर देखिये ।

फ्रूइड—सिगमुंड फ्रूइड सं० १९१३ वि० में मोरेविया देश के फ्रेईबर्ग नामक नगर में पैदा हुए । वीना विश्वविद्यालय में यह ओषधि-विज्ञान के आचार्य्य डाक्टर हैं । मनोविश्लेषण द्वारा मानसिक और वातजनित रोगों की चिकित्सा-विधि के यह आविष्कारक हैं ।

बरबंक—लूथर बरबंक (जन्म सं० १९०६ वि०) अमेरिका में मासाचुसेट्स जिले के लांकास्टर गाँव में पैदा हुए । साधारण शिक्षा पायी परन्तु उद्भिज्ज विज्ञान का बड़ा शौक था । स्कूल से निकलकर बाप के कारखाने में काम भी करते थे और बागबानी भी करते थे । इनकी प्रतिभा तभी चमकी । आलू के एक विशेष बीज तैयार करने पर इन्हें उस के दाम तभी ४५०) के लगभग मिले थे । कुछ काल पीछे स्वास्थ्य के कारण लाचार होकर अपने आलू और थोड़े से रुपये के बल पर किस्मत की बाजी लगाकर कालिफोर्निया गये । वहां कुछ दिनों तो भूखों तड़पे, परन्तु फिर भाग्य चमका । इनकी चीज़ें धीरे-धीरे बिकने लगीं । यश फैला । सं० १९५० से इन्होंने बीज आदि बेचने का काम छोड़कर केवल नये पौधे, नये फल और नये बीजों के पैदा करने का काम उठा लिया और अनेक काम ऐसे किये कि इन्हें अभिनव विश्वामित्र कहें तो अनुचित न होगा । सं० १९६२ में कारनेगी संस्था ने इन्हें चिन्तामुक्त होकर खोज का काम करने के लिये दस बरस तक तीस हजार रुपया सालाना देने का निश्चय कर लिया । इस समय में इन्होंने जो काम किया वह वनस्पतिविद्या के इतिहास में बिलकुल अनोखा और अत्यन्त विस्मयकारक है । नागफनी के कांटे और चेंफे दूर करके इन्होंने खाने योग्य गूदेदार अच्छी निर्दोष नागफनी की एक जाति पैदा की । नागफनी मरुस्थल में होती है । अतः अनुर्वरा धरती में इसे इतना उपजाया जा सकता है कि संसार भर के मनुष्यमात्र के इसीपर जीवन व्यतीत करने पर भी इस के भंडार में टोटा नहीं हो सकता । इन्होंने ऐसे पेड़ उपजाये जिन की पत्तियां कलियां और फूल पाले से नहीं मरते, जो फूलते जल्दी हैं और फलते बहुत देर में हैं । बेर और खूबानी का मेल करके गुठलीहीन "बेरानी" नाम का नया फल रचा । सेबों और नासपातियों के

असंख्य विभेद पैदा किये। तीन लाख तरह के बेर बनाये, पांच हजार तरह के बादाम। किसी विश्वविद्यालय में शिक्षा न पाकर भी केवल पोथी के ज्ञान से इन्होंने यह काम किये जो सुशिक्षित उद्भिज्ज विज्ञानियों से न बन आयी।

बोस—सर जगदीशचंद्र बोस का जन्म सं० १६१५ वि० में ढाका जिले के प्रसिद्ध विक्रमपुर के राढ़ीखाल स्थान में हुआ था। इंग्लिस्तान में अपनी शिक्षा पूरी कर के डाक्टर का पद लेकर भारत आये तो प्रेसिडेंसी कालिज में भौतिक विज्ञान के आचार्य्य नियुक्त हुए। बेतार के तड़ित के एक यंत्र की परीक्षा में इन्हें पता चला कि चांदी भी "थक" जाती है। इन्होंने इस थकान पर खोज की। सं० १६५६ में इन्होंने अपने ग्रंथ रेस्पान्स इन दि लिविङ् ऐंड नानलिविङ् द्वारा यह प्रकाशित किया कि चेतन की तरह धात्वादि जड़ पदार्थ भी थकते हैं, चंचल होते हैं, विष से मुरझाते हैं, मर जाते हैं, नशे से मस्त हो जाते हैं। निदान वह भी जीवन की तरह काम करते हैं। इस के बाद उन्होंने उद्भिज्जों पर इतनी परीक्षाएं कीं कि शरीरविज्ञान की एक अलग शाखा ही स्थापित हो गयी। इन्होंने यह दिखाया कि चर प्राणियों की तरह अचर प्राणी भी बाह्य जगत् का अनुभव करते हैं, बाहरी मात्रा-स्पर्श से प्रभावित होते और चर प्राणियों की तरह उत्तर देते हैं, खाते, पीते, सोते हैं, काम करते हैं, आराम करते हैं और मरते हैं। सुखी और दुःखी होते हैं। इन्होंने यह स्थापित किया है कि जड़चेतन एक ही नियम पर चलते हैं, सभी जीवित हैं और सब का विकासक्रम एक सा ही है, सबके शरीर भी आवश्यक बातों में एक से ही हैं। सत्ता एक ही जीवन की है, विविध नामों से पुकारी जाती है। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति"। इनकी खोजों को पहले विज्ञान जगत् ने अवहेलना करनी चाही परन्तु लाचार होकर मानना पड़ा और अंत को इनका पूरा सम्मान करना पड़ा। सारे सभ्य संसार ने इन का लोहा माना। इन्होंने अपना गवेषणालय कलकत्ते में स्थापित किया है जहां संसार के चुने हुए विद्वान आकर इस सम्बन्ध की खोज करते रहते हैं। इन्हें अमेरिका और यूरोप की प्रमुख संस्थाओं ने निमंत्रण देकर सम्मानपूर्वक बुलाया, व्याख्यान सुने। यथोचित आदर किया, डिग्रियां दीं। रायलसोसायटी ने अपना सदस्य बनाया और ब्रिटिश राज्य ने इन्हें "सर" की उपाधि दी और प्रेसिडेंसी कालिज ने आजीवन सम्मान्य आचार्य्य का पद प्रदान किया। चित्र पृ० ३८८ पर देखिये।

भास्कराचार्य्य—(सं० ११७१-१२३६ वि०) दक्षिणी ब्राह्मण, कवि और ज्योतिषी माहेश्वर उपाध्याय इन के पिता स्वयं आचार्य्य थे। लीलावती बीजगणित, सिद्धान्तशिरोमणि आदि अनेक गणित ग्रंथ लिखे। इन्होंने अनेक भावी पाश्चात्य अन्वेषणों को पहले से ही खोज लिया था। व्यावहारिक ज्योतिष में यंत्रों के प्रयोग का एक ग्रंथ भी इन्होंने लिखा था।

मारकोनी—गुग्लिएलमो मारकोनी सं० १६३१ वि० में बोलोग्ना में पैदा हुए। बेतार के विद्युत् समाचार भेजने का प्रबन्ध इन्हीं के उद्योगों का फल है। जो बातें पूर्वगामी वैज्ञानिकों को मालूम थीं उन्हीं के व्यावहारिक प्रयोग का इन्हें श्रेय है। चित्र पृष्ठ ४४५ पर देखिये।

मारगन—टामस हंट मारगन सं० १६२३ वि० में उत्पन्न हुए। वह कोलम्बिया

विद्यापीठ में प्रायौगिक चरप्राणि विज्ञान के आचार्य्य हैं और मेंडेलवाद एवं डारविनीय विकासवाद के सब से बड़े प्रमाण माने जाते हैं। यह कहते हैं कि दम्पति के रजस और शुक्र में "जनि" नामक एक सूक्ष्म कण होता है जो सन्तान के शील और भावी चरित्र को प्रभावित करता है।

मेंडल—ग्रेगर योहन मेंडेल (सं० १८७६-१९४१ वि०) आस्ट्रिया के सैलेशिया में पैदा हुए थे। शायद एक यहूदी किसान की सन्तान थे। ब्रून के मठ में पादरी नियुक्त हुए। फिर वीना विद्यापीठ में पदार्थ-विज्ञान की शिक्षा ग्रहण की। इन्होंने मठ के बगीचे में मटर पर अनेक प्रयोग कर के विकासवाद के बड़े महत्व के नियम और सिद्धान्त निकाले। चित्र पृष्ठ १६८ पर देखिये।

मेंडेलेएफ—डिमित्रि इफानोविच मेंडेलेएफ (सं० १८९१-१९६४ वि०) सिबेरिया में टोबोल्स्क नामक स्थान में जन्मे थे। इन के पिता शिक्षक थे। इन्होंने ने भी इसी काम की शिक्षा ली। रूस की राजधानी के विद्यापीठ में रसायनविज्ञान की शिक्षा पायी। रासायनिक मूल पदार्थों के आवर्त्त-संविभाग के नियम को स्थापित करके पहले-पहल सब मूल पदार्थों के पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्ध का पता इन्हीं ने लगाया।

मैअर्स—फ्रेडरिक विलियम हेनरी मैअर्स (सं० १९००-१९५८ वि०) स्कूलों के इंस्पेक्टर थे। साथ ही कवि और साहित्यसेवी भी थे। इन्होंने अपने जीवन का एक बड़ा अंश व्यक्ति की मरणान्तर अवस्था की खोज में लगाया और इसी उद्देश्य से लंडन में इन्होंने परान्वेषणपरिषत् की स्थापना की और अन्त समय तक उस के प्रधान रहे। इन्होंने परलोक विषयक बहुत से अन्वेषण किये। (चित्र पृष्ठ २५७ पर देखिये)

रदरफ़ोर्ड—लार्ड अर्नेस्ट रदरफोर्ड सं० १९२८ वि० में निउज़ीलैंड में पैदा हुए। सं० १९५१ में केम्ब्रिज की केवेंडिश प्रयोगशाला में सर जे० जे० टामसन की अधीनता में नियुक्त हुए। युरेनियम के यौगिकों से निकलनेवाली किरणों का ठीक पता इन्हींने पहले पहल लगाया। सं० १९५७ में इन्होंने थोरियम से वायव्य की उत्पत्ति का पता लगाया और फ्रेडरिक साडी के सहयोग से मालूम किया कि थोरियम टूट रहा है। इसके बाद तो दोनों ने परमाणुओं के बिगड़ने और बनने के सम्बन्ध की सैकड़ों बातें ढूंढ़ निकालीं जिससे कि विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण नया विभाग ही बन गया। अन्त में जब सर टामस ने अवकाश ग्रहण किया तब ये ही उन के स्थान पर आचार्यत्व के पद पर आये। (चित्र पृष्ठ २८७ पर देखिये।)

रामजे—सर विलियम रामजे (सं० १९०९-१९७३ वि०) ग्लासगो में पैदा हुए और केल्विन की अधीनता में शिक्षा पायी। टुबिंगेन से डाक्टर की पदवी लेकर पहले ग्लासगो में सहायक और फिर ब्रिस्टल विद्यापीठ में रसायनाचार्य्य और अन्त में लंडन विद्यापीठ में रसायनाचार्य्य रहे। इन्होंने साधारण वायुमंडल में पांच अकर्मण्य वायव्यों का पता लगाया और रश्मिविकरण सम्बन्धी अगणित अन्वेषण किये। डेवी के सौ बरस बाद इन्हीं का काम उस की बराबरी के महत्त्व का समझा जाता है। (चित्र पृष्ठ २९० पर देखिये।)

रामन—सर चन्द्रशेखर वेंकट रामन् का जन्म सं० १९४५ वि० में तिरुच्चिरापल्लि में एक ब्राह्मण अध्यापक के घर हुआ। मद्रास में एम० ए० में पढ़ते थे तभी प्रतिभा चमकी और यह विलायत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक लार्ड रेले की निगाहों में जँच गये। आरम्भ में अकौंटट-जेनरल के पद पर नियुक्ति हुई। जब इस पद पर कलकत्ते में थे तभी अपनी खोजों के कारण ख्याति पा गये। फिर वह पद छोड़कर भौतिक विज्ञान के आचार्य्य हो गये जिसे आज भी सुशोभित कर रहे हैं। नाद और प्रकाश पर आपके अगणित अनुसंधान आज विज्ञान-संसार में प्रसिद्ध हैं। सब से अधिक महत्व की खोज है "रामन असर" जो रश्मिचित्र पर विशेष रमन रेखाओं के रूप में देख पड़ता है। आगे की खोजों के लिये यह अनुसंधान एक महत्त्व का द्वार खोल देता है और निकट भविष्य में इससे विज्ञान के सूक्ष्म रहस्यों के उद्घाटन की आशा देख पड़ती है। भौतिक विज्ञान के लिये इन्हें सं० १९८७ का नोबेल पुरस्कार भी मिला है और संसार में विविध रीतियों से सम्मान हुआ है। चित्र पृष्ठ ४५५ पर देखिये।

रामानुजन—श्रीनिवास रामानुजन संवत् १९४४ के अगहन मास में मद्रास प्रांत के ईरोद नामक बस्ती में एक उच्च निर्धन ब्राह्मण कुल में पैदा हुए। कठिनाई से शिक्षा पायी, परन्तु बाल्यकाल में ही प्रतिभा चमक उठी। सं० १९६० में जब मैट्रिक्युलेशन पास किया तभी किसी डिग्रीधारी से अच्छी गणित स्वाध्याय से सीख चुके थे। कालिज की कुछ पढ़ाई हुई, फिर छूट गयी। दो बार एफ० ए० पास करने का उद्योग किया। असफल हुए। परन्तु गणित शास्त्र का अध्ययन जारी था। ये और किसी काम के न रहे। छोटी-छोटी क्लर्की की नौकरियां करते रहे। पहला खोज का लेख मद्रास की इंडियन मैथेमेटिकल सोसैटी के १९११ के फरवरी अंक में निकला। फिर और भी निकले। ख्याति बढ़ी। केम्ब्रिज के हार्डी ने इन्हीं लेखों को देखकर मद्रास विश्वविद्यालय की ओर से ७५) मासिक की विशेष छात्रवृत्ति दिलवायी और विलायत बुलाया। कई साल सामाजिक धार्म्मिक एवं आर्थिक कठिनाइयों के दमन में लगाकर, ये संवत् १९७० के अंत में विलायत गये। मद्रास विश्वविद्यालय ने इन्हें २५० पौंड वार्षिक की छात्रवृत्ति दी थी। वहां अनेक गवेषणात्मक लेख लिखे। २८ फरवरी सन् १९१८ को ये रायल सोसैटी के फेलो बना लिये गये। ये पहले भारतीय फेलो थे। एक साल पहले से इन्हें यक्ष्मा हो गया था। इलाज हो रहा था। १३ नवम्बर १९१८ को ये ट्रिनिटी कालिज के फेलो नियुक्त हो गये। छः वर्ष के लिये २५० पौंड सालाना पुरस्कार नियत हुआ। मद्रास विश्वविद्यालय ने भी पांच वर्ष के लिये २५० पौंड देना स्वीकार किया और लौटने पर गणिताचार्य्य का पद भी उन के लिये निश्चित किया। परन्तु होनी कुछ और थी। मार्च १९१९ में श्रीरामानुजन् मद्रास वापस आये। इलाज की पूरी और उत्तम व्यवस्था से भी लाभ न हुआ। अंत को संवत् १९७७ के २३ सौर वैशाख को भारत के गणिताकाश का यह उज्ज्वल नक्षत्र अनंत में विलीन हो गया। इन की अधिकांश गवेषणाएं अंक-मीमांसा पर हुई हैं। आबेल की तरह अपनी थोड़ी सी उमर में रामानुजन् ने बहुत बड़े काम किये। इनके कुछ निबंधों का संग्रह, हार्डी ऐयर और विल्सन ने छपवाया है। युनिवर्सिटी प्रेस केम्ब्रिज में छपी है। दाम है ३० शिलिंग। अभी अन्य अनेक लेख अप्रकाशित पड़े हुए हैं। चित्र पृष्ठ ४५३ पर देखिये।

राय—सर प्रफुल्लचंद्रराय का जन्म खुलना जिले में संवत् १६१८ वि० में हुआ। शिक्षा इंग्लिस्तान में पूरी हुई। आते ही प्रेसिडेंसी कालिज में रसायनाचार्य्य हो गये। सं० १६७३ के बाद से विश्वविद्यालय के विज्ञान-पीठ के प्रधान रसायनाचार्य्य हैं। आप अनेक रासायनिक संस्थाओं के सम्मान्य सदस्य हैं। कई के निर्माता हैं। रसायन विज्ञान में आपकी खोजें असंख्य हैं। विशेषतया पारे के संबंध में आपने महत्व का परिशीलन किया है। हिंदू रसायन शास्त्र के संबंध में आपने खोज करके दो जिल्दों में उस का इतिहास लिखा है। आपकी खोजों के सम्मान में आपको सं० १६७६ वि० में ब्रिटिश राज ने "सर" की उपाधि दी। आजकल आप चरखा-प्रचार में प्रवृत्त हैं और स्वयं चरखा कातते हैं। आप बाल ब्रह्मचारी हैं। बाढ़ पीड़ितों और अकाल पीड़ितों की सहायता में लगे रहते हैं। आपकी सारी कमाई दीनों दुखियों विद्यार्थियों आदि की सहायता में शुरू से लगती आयी है। आपने बंगाल केमिकल वर्क्स की स्थापना करके स्वदेशी का तब उद्भावन किया जब किसी को इस का विचार न था।

चित्र १८६—डाक्टर सर प्रफुल्लचन्द्र राय, जन्म सं० १६१८।
[इण्डियन प्रेस की कृपा

राइंटगेन्—विल्हेल्म कोनराड रोइंटगेन सं० १६०२ वि० में प्रूस्सिया देश के लेन्नेप नामक स्थान में पैदा हुए, ज़्यूरिख और विट्ज़बर्ग में शिक्षा पायी और परोक्त विद्यापीठ में भौतिकाचार्य्य नियुक्त हो गये। कांच फूंकना और फोटो उतारना इन दोनों का बड़ा शौक था। एक बार अपनी फूंकी शून्य काचनलिका में बिजली दौड़ायी। यह नलिका एक पुस्तक पर रखी थी, और पुस्तक के भीतर एक चाबी थी और उस पुस्तक के नीचे फोटो लेने के

प्लेटों का पैकट था। प्लेट धोने पर चाबी का चित्र आ गया। इसी आकस्मिक प्रयोग से एक्स किरणों का पता लगा जिन्हें उन्होंने १९५२ वि० में प्रकाशित किया।

लनकेस्टर—सर एडविन रे लनकेस्टर का जन्म सं० १९०४ वि० में हुआ. यह एक वैज्ञानिक के पुत्र हैं और बराबर विज्ञान का आचार्यत्व करते आये हैं। सं० १९५५ से १९६४ तक ब्रिटिश संग्रहालय के अध्यक्ष रहे हैं। इनका परिशीलन समस्त चर-संसार के संबंध में बहुत विस्तृत रहा है। इन्होंने आदि जीवाणु और अपर जीवाणुओं का अच्छा अनुशीलन किया है। गर्भ विज्ञान और वर्गीकरण विषयक इन के अनेक अन्वेषण हैं। यह प्राणि-विद्या के प्रामाणिक आचार्य्य माने जाते हैं। (चित्र पृष्ठ २२५ पर देखिये)

लाज—सर आलिवर जोजफ लाज एक कुम्हार के घर सं० १९०८ में स्टाफर्ड के जिले में पैदा हुए। टिंडल से लंडन-विद्यापीठ में शिक्षा पायी। पहले लिवरपूल में भौतिकाचार्य्य थे। फिर बरमिंघम में मुख्याचार्य्य हो गये। बेतार की बिजली की इन्होंने एक विशेष विधि निकाली। सं० १९५८—१९६१ तक यह परान्वेषण परिषत् के सभाध्यक्ष थे। इन्होंने पारलौकिक विषय में अनेक खोजें की और कई पुस्तकें लिखी। चित्र पृष्ठ २६२ पर देखिये।

लिन्निउस—करोलस लिन्निउस (सं० १७६४-१८३५ वि०) स्वीडेन के रशुट नामक स्थान के एक पादरी के बेटे थे। लुंड और उपसाला के विद्यापीठों में शिक्षा पायी। उपसाला में ही एक वाटिका के अध्यक्ष हुए। इन्होंने वनस्पतियों का वर्गीकरण करके वनस्पति विज्ञान की नींव डाली। इसी प्रकार प्राणिविद्या का भी इन्होंने वर्गीकरण किया। एक प्रकार से जीव-विज्ञान के यह पिता थे।

लिस्टर—लार्ड जोज़फ लिस्टर (सं० १८८४-१९६९ वि०) एसेक्स जिले के उपटन स्थान के एक भक्त ईसाई परिवार में जन्मे, लंडन में शिक्षा पायी, और एडिनबरा, ग्लासगो एवं किंग्स कालेज में नौकरियां कीं। पास्टूर की रीतियों का अनुशीलन करके रोगाणुनाशक और निवारक विधियों की शल्य-चिकित्सा निकाली। यह बड़े हट्टे-कट्टे मोटे ताज़े मजबूत तैराक थे। इन का सम्मान इनकी खोजों के कारण यहां तक हुआ कि यह लार्ड बना दिये गये। चित्र पृष्ठ २३५ पर देखिये।

लेनार्ड—फिलिप लेनार्ड संवत् १९१९ में जन्मे। यह हर्ट्ज़ के शिष्य हैं। इन्होंने संवत् १९५१ वि० में ऐसी बलवती ऋणोद किरणें निकालीं जो कई धातुओं में इस तरह प्रवेश कर जाती हैं जैसे सूर्य की किरणें अल्प पारदर्शी संगमर्मर के पत्र में से प्रवेश करती हैं। इनका नाम लेनार्ड-किरणें पड़ा। सं०१९६२ में इन्हें भौतिक विज्ञान के लिये नोबेल पुरस्कार मिला। इन्होंने हर्ट्ज़ की खोजों को जारी रखा है।

वाट—जेम्स वाट (सं० १७९३-१८७६ वि०) लड़काई में मरियल से थे, गणित सम्बन्धी उपकरण बेचने का रोजगार करते थे। भाफ का इञ्जन बनाकर इन्होंने पाश्चात्य संसार में युगान्तर उत्पन्न कर दिया। इन्होंने और भी वैज्ञानिक अन्वेषण किये थे।

वाऽल्स—युवानेस डिडरिक फन डेर वाऽल्स संवत् १८९४ वि० में जन्मे थे। इन्होंने द्रवों और वायव्यों की अभेद दशा, वैद्युत विश्लेषण और विघटीकरण इत्यादि सम्बन्धी

कई महत्व के अन्वेषण किये और एक अत्यंत महत्व का समीकरण निकाला जो इन्हीं के नाम से चलता है। इन्हें सं० १६६७ वि० में भौतिक विज्ञान के लिये नोबेल पुरस्कार मिला।

साडी—फ्रेडरिक साडी इंग्लिस्तान में ईस्टबोर्न में सं० १६३४ वि० में जन्मे। मांट्रीअल (कनाडा) के विद्यापीठ में रदरफोर्ड से अन्वेषण-विधि सीखी, फिर लंडन में रामजे से शिक्षा पायी। पहले ग्लासगो में भौतिक रसायन के उपाचार्य्य हुए, फिर अबर्डीन में रसायनाचार्य हुए। अब आक्सफ़र्ड में अनांगारिक और भौतिक रसायन के आचार्य्य हैं। रश्मिविकिरण संबंधी खोजों के द्वारा इन्होंने एक नया साहित्य पैदा कर दिया है। इन्हें इसी सेवा के लिये नोबेल पुरस्कार मिला। चित्र पृष्ठ १४७ पर देखिये।

साहा—डाक्टर मेघनाथ साहा (जन्म सं० १६५० वि०) इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिक विज्ञान विभाग के आचार्य्य और प्रधान हैं। इन्होंने ज्यौतिष सम्बन्धी भौतिक विज्ञान में बड़े महत्व की खोज की जिस के उपलक्ष्य में लंडन की रायल सोसायटी ने आप को अपना सदस्य बनाया है। यह कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट हैं। इनकी शिक्षा इंग्लिस्तान में पूरी हुई। इनका चित्र पृष्ठ ३८५ पर देखिये।

स्पेंसर—हर्बर्ट स्पेंसर (सं० १८७७–१६६० वि०) डार्बी में एक शिक्षक के घर पैदा हुए थे। कुछ काल तक रेलवे इञ्जिनियर थे। फिर छत्तीस बरस तक उन्होंने इस मंडनात्मक दर्शन का निर्म्माण किया कि विकासवाद का प्रयोग समस्त ज्ञानों विज्ञानों में हो सकता है। उन्होंने वस्तुतः संसार की सभी बातों में दार्शनिक ढंग से विकास-विचार का प्रयोग किया। अंग्रेजों में यह सब से बड़े वैज्ञानिक दार्शनिक समझे जाते हैं।

हक्सले—टामस हेनरी हक्सले (सं० १८८२–१६५२ वि०) ईलिंग में जन्मे, चेरिंगक्रास अस्पताल में शिक्षा पायी, और वहीं पता लगाया कि बाल की जड़ों में एक विशेष तह होती है। इसका नाम हक्सले-तह पड़ा। पीछे डारविन के विकासवाद के बड़े प्रचारक और समर्थक हो गये। यह बड़े अच्छे चर-विज्ञानी थे अद्वितीय व्याख्याता थे, और निर्भीक वक्ता थे।

हर्ट्ज़—हैनरिख रुडोल्फ़ हर्ट्ज़ (सं० १६१४–१६५१ वि०) हाम्बुर्ग-निवासी जर्मन थे और बर्लिन विद्यापीठ में हेल्महोल्ट्ज़ के सहायक नियुक्त हुए। इन्होंने मैक्सवेल के स्वच्छन्द चलनेवाली बिजली की लहरोंवाली धारणा को ठीक सिद्ध किया और प्रमाण दिये कि प्रतिफलन, त्रोटन और दिग्प्रधानता से ठीक ताप और प्रकाश की लहरों की तरह बिजली की लहरें भी प्रभावित होती हैं।

हर्शेल—सर विलियम हर्शेल (सं० १७६५–१८७६ वि०) हनोवर के एक बजनिये के यहां उत्पन्न हुए और इंग्लिस्तान में लड़काई में ही आकर बाथ में एक बजाने-वाली मंडली के अध्यक्ष हो गये। पीछे ज्यौतिष शास्त्र पढ़ने से उन्हें इस विज्ञान का शौक हो गया। उन्होंने अपने हाथ से दूरबीन और दूरबीन के दर्पण बनाये। इस काम में वह इतने कुशल हो गये कि उन्होंने अपने ढंग की एक नयी दूरबीन का आविष्कार किया। उन्होंने अपनी नयी दूरबीन के सहारे ज्यौतिष में इतनी खोजें कीं और विज्ञान को इतना समुन्नत किया कि यह आधुनिक ज्यौतिष के विधाता समझे जाते हैं।

इति शम्

परिशिष्ट

सुबोध वैज्ञानिक ग्रंथावली

हिन्दी

विज्ञान प्रवेशिका भाग पहला और दूसरा – (विज्ञान परिषत्)
ताप—(प्रो० प्रेमवल्लभ जोशी) (विज्ञान परिषत्)
मनोरञ्जक रसायन—(प्रो० गोपाल स्वरूप भार्गव) (विज्ञान परिषत्)
सूर्य्य सिद्धान्त—विज्ञान भाष्य (विज्ञान परिषत्)
सुवर्णकारी—(विज्ञान परिषत्)
चुम्बकत्व—प्रो० सालिगराम भार्गव (विज्ञान परिषत्)
वैज्ञानिक परिमाण—प्रो० सेठी तथा डा० सत्यप्रकाश (विज्ञान परिषत्)
वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द—प्रथम भाग (विज्ञान परिषत्)
कार्बनिक रसायन—प्रो० सत्यप्रकाश (विज्ञान परिषत्)
साधारण रसायन—प्रो० सत्यप्रकाश (विज्ञान परिषत्)
पशु-पक्षियों का शृंगार-रहस्य—(विज्ञान परिषत्)
हमारे शरीर की रचना—भाग १ और २—डा० त्रिलोकीनाथ वर्माकृत—(मंगला-प्रसाद पारितोषिक प्राप्त)।
सौर-परिवार—प्रो० डा० गोरखप्रसाद (अकाडमी)
फोटोग्राफी—प्रो० डा० गोरखप्रसाद (मं० प्र० पारितोषिक प्राप्त)
स्वास्थ्य और रोग—डा० त्रिलोकीनाथ वर्म्मा।
साधारण रसायन—भाग १-२ प्रो० फूलदेव सहाय वर्म्मा, हि०-वि०-वि०

अंग्रेजी

सर राबर्ट बाल—(१) स्टारलैंड
(२) दि स्टोरी आव दि हेवेन्स
लवेल—मार्स ऐंड इट्स केनेल्स
लल्ल—अर्गेनिक एवोल्यूशन
ई० क्लाड—स्टोरी आव् क्रिएशन
जे० ए० टामसन—दि वंडर आव् लैफ
सर आर्थर कैथ—अंटीकिटी आव् मैन

चार्ल्स डार्विन्—डिसेंट आव् मैन
ई० बी० टैलर—(१) अंथ्रोपोलोजी
(२) प्रिमिटिव् कल्चर्
फ्रडरिक् साडी—(१) मैटर ऐंड् एनर्जी
(२) दि इंटरप्रेटेशन अव् रेडियम
सर् आलिवर् लाज्—(१) एलेक्ट्रोन्स
(२) दि ईथर् आव् स्पेस
(३) सर्वैवल् आव् मैन्
सर जे० जे० टाम्सन्—दि कर्पस्क्युलर् थिअरी आव् मैटर्
स्वान्ते अरीनिउस—वर्ल्ड्स इन्दि मेकिङ्
मैक्स्वेल्—मैटर ऐंड मोशन
सर नार्मन् लाक्यर् - इनोर्ग्यनिक एवोल्यूशन्
जीअ। पेरिन—ब्रौनिअन मूवमेंट ऐंड मोलेक्युलर रिआलिटी
ईलैंड—दि रोमांस आव् दि मैक्रस्कोप
हक्सले—एलिमेंटरी लेसंस इन् फ़िज़ियालोजी
सर् आर्थर् कैथ् - (१) दि ऐंजिन्स आव् दि ह्यूमन् बाडी।
(२) दि ह्यूमन् बाडी (होम-सीरीज़)
मैअर्स्—(१) एक्सपेरिमेंटल सैकोलोजी
(२) ह्यूमन पर्सनलिटी ऐंड इट्स सर्वैवल अव् बाडिली डेथ।
मार्गन—(१) कम्पेरिटिव सैकोलोजी
(२) रिजेनरेशन।
लो—सैको-अनालिसिस
फ्रोइड्—इंटर् प्रेटेशन् आव् ड्रीम्स
क्रुक्स—रिसर्चेज़ इन् स्पिरिट्युअलिज़म्
बोस—(१) एलेक्ट्रो-फिज़ियालोज़ी
(२) रेस्पांस इन् दि लिविङ् ऐंड नान-लिविङ्
राय—हिस्ट्री अव् हिंदू-केमिस्ट्री, १ और २।
मेचनीकाफ़—दि प्रोलंगेशन अव् लैफ़
मार्टिन् - ट्रैअम्फ़्स ऐंड वंडर्स अव् माडर्न केमिस्ट्री
मेलोर—माडर्न इनार्ग्यनिक केमिस्ट्री
(सीली-सर्विस-कम्पनी)—दि सायंटिफिक ऐडिआज़ अव् टुडे
गिब्सन्—एलेकट्रिसिटी अव् टुडे
फ़्लेमिंग - फ़िफ़्टी इअर्स अव् एलेकट्रिसिटी
वेज—एलेकट्रिकल पावर ट्रांसमिशन्
विम्परिस—एअर नैविगेशन्

ग्रेगरी— दि मेकिङ् अव् दि अर्थ
स्काट्— दि एवोल्यूशन अव् प्लांट्स
मरे—दि ओशन्
एन्स्टैन्—रेलेटिविटी
डिंगिल—रेलेटिविटी फर् आल्
स्लासन्—ईज़ी लेसन्स इन् एैंस्टेन्
क्लाड—स्टोरी अव् प्रिमिटिव मैन
हिल—दि सायंस अव् वेंटिलेशन् एंड ओपेन एअर ट्रीटमेंट्, भाग १ और २
कार्ल पिअर्सन—दि ग्रामर अव् सायंस
हार्म्सवर्थ पाप्युलर सायंस—सात जिल्दों में
हार्म्सवर्थ सेल्फ-एज्युकेटर—सात जिल्दों में
जे० ए० टामसन—दि आउटलैन अव् सायंस, दो जिल्दों में

हिन्दी में सामयिक वैज्ञानिक साहित्य

विज्ञान की फैलें—(विज्ञान परिषत् प्रयाग की)
विज्ञान—सचित्र मासिक, विज्ञान परिषत् प्रयाग का मुखपत्र